णमो समणस्स भगवओ महावीरस्स ।

श्री यतीन्द्रसूरि अभिनंदन ग्रंथ

(विद्वानों के सारगर्भित लेखों का संग्रह)

संपादक मण्डल

मुनिराजश्री विद्याविजयजी, मुनिश्री सागरानन्द विजयजी ।
मुनिश्री कल्याण विजयजी, मुनिश्री देवेन्द्र विजयजी ।
मुनिश्री जयन्तविजयजी, पं. जुहारमलजी जैन, न्याय काव्य तीर्थ
कीर्तिकुमार हालचन्द वोरा थराद
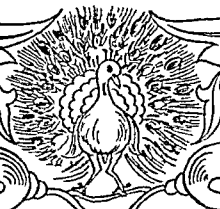
— प्राप्तिस्थान —

श्री राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय
मु. खुडाला, पो. फालना
(राजस्थान)

शाश्वत-धर्म कार्यालय
वर्धमान चौक
निम्बाहेड़ा (राजस्थान)

श्री भूपेन्द्रसूरि साहित्य समिति
मु पो. आहोर (राजस्थान)
वाया - एरणपुरा

मुद्रक :

कीर्तिकुमार हालचन्द वोरा
वीठलदास जेसींगभाई पटेल
कान्तिलाल चुनीलाल महेता

— सम्राट प्रीन्टर्स —
खेमकाचाल अनंतवाडी.
भूलेश्वर बम्बई २.

श्री यतीन्द्रसूरि अभिनंदन ग्रंथ
विद्वानों के सारगर्भित
लेखों का संग्रह
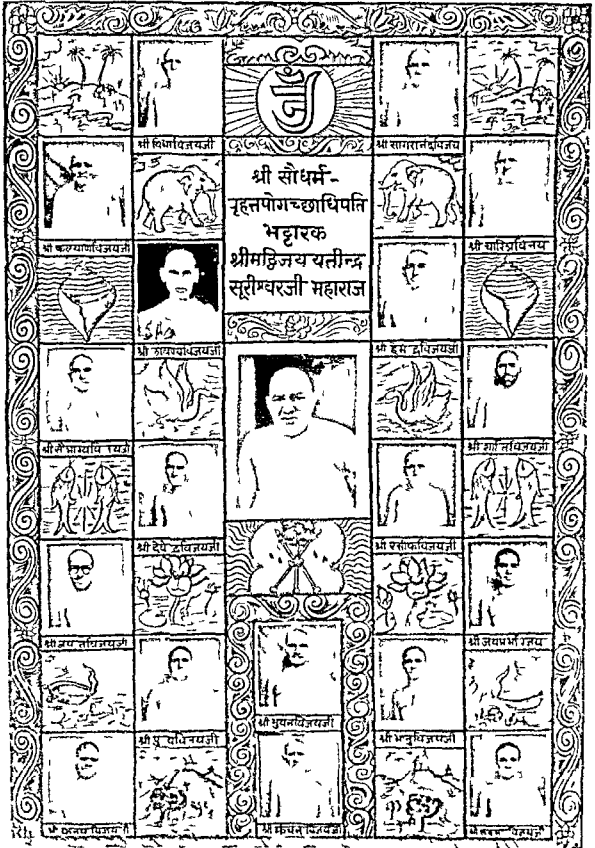
श्री सौधर्म-
बृहत्तपोगच्छाधिपति
भट्टारक
श्रीमद्विजय यतीन्द्र
सूरीश्वरजी महाराज
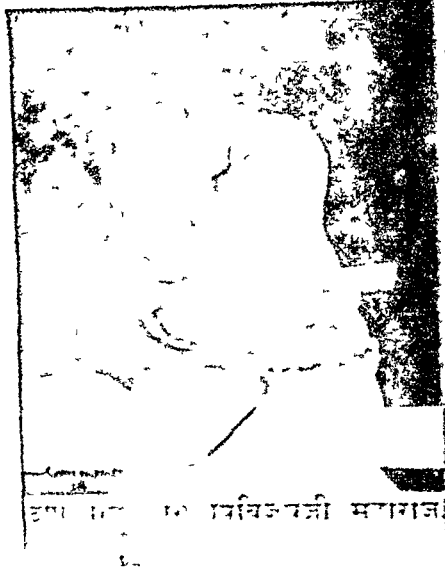
स्व. उपाध्याय श्री गुलाबविजयजी म

संयमवयस्थवीर
मुनिश्री लक्ष्मीविजयजी

स्व. तपस्वी मुनिश्री हर्षविजयजी।

—: दो शब्द —

जिस मनुष्य का जीवन ज्ञान, ध्यान और तप में निरन्तर रहता है, तथा जो बड़ों को सम्मान की दृष्टि से देखता है, और परगुणानुरागी बन कर गुणवानों की सेवा करता है, वही सेव्य बन जाता है। ससार की जनता उसको पूज्य भाव से मानती है, उसके उपकारों को नहीं भूलती है, उसके शुद्धाचरणों का अनुकरण कर अपने हित के लिये कल्याणकारी मार्ग को पकड़ लेती है। दया धर्म की भावना भारत की प्रजा में सर्व श्रेष्ट मानी जाती है और श्रद्धालु विनयी, विवेकी भक्तिभाववाली जनता विश्व में सुख शान्ति धाम को प्राप्त करती है। भगवान महावीर प्रभु के सदेश में सर्व प्रथम मैत्रीय भावना का सर्वोत्तम सूत्र है। इस सूत्र का उद्देश्य यह है कि जीव मात्र को प्रेम की दृष्टि से देखो। जहाँ हिंसा है वहाँ कारुण्य भाव का अभाव है। कारुण्य भाव के अभाव में अधोगति प्राप्त होती है। जहाँ अहिंसा है वहा धर्म-सत्य-धैर्य आदि गुणमयी महा विभूतिया आत्म स्वरूप में रमने लगती हैं। उसीसे पथिकों का आत्म-उत्थान होता है "समभाव भावी अप्पा" जो प्राणी इस पाठ को ध्यान मे रखता है और शने शनै सम-भाव की शुभ श्रेणी में निजकृत कर्मों की आलोचना करता है। जो मुनिवर प्रमाद रहित चारित्र की आराधना में विचरते हैं। उन त्यागी महापुरुषों का जीवन चरित्र पढ़ना उनके सद्गुणों की श्लाघा करना, उनके उत्तम गुणों को अपने जीवन में उतारना यही मानव के जीवन की सफल साधना है। उपन्यास और सिनेमा आदि के साहित्य से आत्मोत्थान नहीं होता, किन्तु मोहरूपी अन्धकारमें आत्मगुणों को गवॉ कर प्राणी ससार म भटकते रहते हैं। मनुष्य बिगड़ता है तो बुरी सोबत से और सुधरता है तो अच्छी सोबत से। इससे महा पुरुषों की सोबत करना, उनके उत्तम साहित्य से प्रेम करके लाभ उठाना चाहिये और उसी से ही मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है। फिर भी जनता का नायक बन कर पूज्य पद को प्राप्त करता है।

इसी उद्देश्य को लेकर वर्तमान जैनाचार्य श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का दीक्षा पर्याय ५० वर्ष का हुआ, यह जान कर हमको बड़ी खुशी है कि ऐसे महापुरुष का अभिनदन करने का सौभाग्य प्राप्त हो इस के साथ साथ गुरुदेव के शिष्य मुनि मडल के भाव हमारे साथ में मेलजोल करने लगा जब सोने में सुगध हो उठी तब।

अभिनन्दन ग्रन्थ का कार्य सुचारु रूप मे चलने लगा। मुनि-मडल ने अभिनदन ग्रथ के लिये जो अपना अमूल्य समय दिया उसके लिये हम धन्यवाद करते हैं और चहते हैं कि इस प्रकार समय-समय पर समाज के उत्थान के हेतु सहयोग देते रहें, उत्साह बढ़ाते रहें। श्री राजेन्द्रसभा के सदस्यों की बैठक श्री मोहन खेड़ा तीर्थ में बुलाई गई। मुनि मडल की ओर से सभा में प्रस्ताव रखा कि अभिनदन महोत्सव कहाँ मनाया जाय। सभा के सदस्यों ने कहा कि जहाँ मुनि मडल की इच्छा हो वहाँ मनावें। कुछ दिनों के बाद में राजगढ़ से विहार करते हुए गुरुदेव खाचरोद में पधारे। गुरुदेव का दीक्षा स्थान खाचरोद ही है, यह जान कर मुनि मडल ने खाचरोद श्री सघ के समक्ष अभिनन्दन महोत्सव मनाने

का प्रस्ताव रखा, श्री संघने सहर्ष प्रस्ताव को स्वीकार करके अष्टाह्निका महोत्सव प्रारंभ किया। चैत्र सुदि पूर्णिमा शुक्रवार को गुरुदेव के करकमलों में अभिनंदन ग्रन्थ हस्त लिखित समर्पण किया। इस ग्रन्थ मे भारत के प्रसिद्ध विद्वानों के सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक लेख है जो स्तुत्य और खोज पूर्ण है। ईन विद्वानों को क्या! धन्यवाद दिया जाय, ये संसार में कीर्तिमान बने यही भावना। संपादक मण्डल ने इस ग्रन्थ में जो लेख सामग्री जुटाने में भरसक प्रयत्न किया है और सफलता प्राप्त की, उन्हें हम आन्तरिक सद्भावना से धन्यवाद देते है।

प्रूफ संशोधन करने के लिये जब व्यक्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई तो श्री. दौलतसिंह लोढ़ा बी. ए. को नियुक्त किया और उन्होंने 'विविध विषय खण्ड' के फार्म ?? से फार्म ५० पर्यंत प्रूफ संशोधन किया।

उन्होंने प्रेस में रह कर बड़ी दिलचस्पी के साथ सहयोग दिया है, अतः उनको हार्दिक धन्यवाद देते हैं। इसी प्रकार जिन जिन महानुभावों ने तन, मन, धन का सहयोग दिया है उनको धन्यवाद है।

प्रकाशक : श्री संघ

सम्पादकीय

परिवर्तनशील इस संसार में प्रत्येक आत्मा को स्वकर्मानुसार मानव-देह धारण कर, आयुष्य कर्म जितना हो-पूर्ण कर यहाँ से प्रयाण करना पड़ता है, परन्तु महान् आत्माओं के जीवन कुछ अनोखी सुगंध फैलानेवाले होते हैं। उनके चले जाने पर भी उनकी स्मृति हमेशा वैसी ही बनी रहती है। क्यों कि वो अपने जीवनकाल अन्तर्गत स्वयं को ज्ञान तेज पुञ्ज से आलोकित किया करते हैं और पश्चात् अखिल विश्व को उसी प्रकाश से प्रकाशित करने के लिये कटिबद्ध रहते हैं उनकी प्रखर प्रभा से सभी अपना ध्येय साधन करते हैं। महान् आत्माएँ इस जगत् को अपने वाणी, विचार और व्यवहार की एकता से श्रेयस्कर पथारूढ करते हैं एवं मानव-समाज के वर्तमान और वर्तिष्यमाण को सुधार देते हैं।

वयोवृद्ध वर्तमान जैनाचार्य श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी म० भी वैसी ही विभूतियों में से एक हैं। जिन्होंने कि बाल्यावस्था से ही सभी स्नेही सम्बन्धियों का त्याग कर अपने मार्ग को बदल लिया। भौतिक परम्परा से अलग होकर यौगिक परम्परा को अपना लिया।

अपने श्रेय के लिये। स्व० प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म० के शुभकर कमलों से कल्याणकारी परम पावनी भागवती प्रव्रज्या को अंगीकार कर ज्ञान ध्यान और तपश्चर्या से जीवन को निर्मल बनाया जो आपके ६१ वर्षों के दीर्घ दीक्षा पर्याय से उद्घोषित होता है। इस अवधि में आपने मानव समाज की उन्नति के लिये जो कार्य किये हैं वे अवर्णनीय हैं। आपकी साहित्य सेवा इतिहास पृष्ठों पर हमेशा के लिये स्वर्णाक्षरों से अंकित रहेगी।

ऐसे उपकारी महान् पुरुषों का सन्मान करना प्रत्येक सभ्य समाज का परम कर्तव्य हो जाता है, क्यों कि इस प्रकार समूचे जीवन को स्व पर हित समर्पित करनेवाले विरल व्यक्ति ही पाये जाते हैं।

सं २०१३ ज्येष्ठ वदि ७ को रतलाम में अर्धशताब्दि उत्सव का निर्णय करने के लिये आयोजित किये गये अ० भा० राजेन्द्र समाज के प्रथम अधिवेशन में अर्धशताब्दि उत्सव के निर्णय के साथ ही साथ मुनिराजश्री-विद्याविजयजी एवं मुनिमण्डल के मार्गदर्शन से उपस्थित प्रतिनिधियोंने वर्तमानाचार्यश्री को भी अभिनन्दन ग्रन्थ अर्पित करने का शुभ निश्चय किया। अर्धशताब्दि उत्सव को समाज ने सानन्द सम्पन्न किया, उस अवसर पर स्व० गुरुदेव प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म० को स्मारक ग्रन्थ समर्पित किया गया।

पश्चात् अभिनन्दन ग्रन्थ की योजना तैयार की गई और उसका सम्पादन कार्य हमें दिया गया। यद्यपि यह कार्य हमारी शक्ति के बाहर का था परन्तु फिर भी हमारे सहयोगी मुनिवर एवं विद्वानों के अमूल्य सहकार से हम इस कार्य को सम्पूर्ण कर सके हैं और ग्रन्थ का कलेवर सुन्दर एवं पठनीय, मननीय सामग्री देने का प्रयास किया गया है।

(पीछे चालु)

बीकानेर निवासी श्री अगरचन्दजी नाहटा का यहाँ पर हम आभार प्रदर्शित किये बिना नहीं रह सकते कि जिन्होंने संभव से भी ज्यादा इस कार्य में हमें सहकार दिया है।

अंत मे हम उन विद्वान लेखकों का भी हार्दिक अभिनन्दन करते हैं-जिन्होंने हमारे इस कार्य में लेख रूप बिन्दु बिन्दु देकर ग्रन्थ को स्मरणीय बना दिया है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य में सहयोग देते रहेंगे।

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ को श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय जैन समाजने सं० २०१५ वैशाख वदि २ शनिवार को समारोह पूर्वक वर्तमान आचार्यश्री को खाचरोद मे हस्त-लिखित रूप में समर्पित किया जो आज प्रकाशित होकर जगत प्रांगण में आया है।

—सम्पादक मण्डल।

★ ★ ★

★ मारा उद्गारो ★

संपादक मंडळमां मारुं नाम मूकवामां आव्युं छे, परंतु खरेखर कहुं तो आ ग्रंथमां में जे कंई करवुं जोईतुं हतुं-संपादक तरीके-एमांनुं कंईज कर्युं नथी कारण हुं ए करवा शक्तिशाळीज नथी.

गुरुदेवना मारा पर थएल, थता अने थनारा अनंत उपकारोना रुण पेटे कंइक पण करी छुटवानी एक घेलछा जागी अने में पू. मुनीमंडळनी आज्ञानो स्वीकार कर्यो अने गुजराती लेखोना संपादननी जवाबदारी स्वीकारी. परंतु आ तो मारी एक घेलछा ज हती. उश्केराट अने आवेशमां-गुरुप्रेमनी लगनीमां एक भगीरथ कार्य करवानी जवाबदारी में झडपी लीधी. अने ए जवाबदारी लेतां मारी शक्तिनो ख्याल मने न रह्यो, नहि तो मोटा मोटा विद्वान लेखकोना लेखोनु संपादन माराथी शु थइ शके?

अने ए घेलछा-आवेश-उश्केराट के गुरुप्रेम जे कहो तेने वश गुजराती विद्वानोना लेख में मेळव्या खरा. अने ए लेख आपनार विद्वानोनो आभारी छु के जेमणे आजना जमानामा थती रक झक के पुरस्कारनी मागणी कर्या सिवाय मने लेखो सहर्ष आप्या परंतु ए मेळव्या बाद हुं एनुं संपादन पण बराबर नथी करी शक्यो.

अने एटलेज गुरुदेवनुं मारा पर चडेल रुण प्रतिशत पण उतारी नथी शक्यो, छतां मारु नाम संपादकोनी श्रेणीमां मूकी मने मुनी मंडळे एक वधु रुणना बोजाथी भारी कर्यो छे. कोण जाणे क्यारे चूकवाशे आ रुण? ज्यारे अने त्यारे पू. गुरुदेवश्रीनी कृपाथी आ रुण चूकवीनेज रहीश—एज अभिलाषा आजे छे.

मारा नवा नवा प्रेसमां छपावाना कारणे ग्रंथमां रहेली त्रुटीओ विद्वद समुदाय अने अन्य वांचकगण सुधारीने वांचशे तो आगळ पर मने बीजी वखत साहस करवानी तक मळशे. एज अभ्यर्थना साथे

—कीर्तीकुमार हालचंद वोरा थराद

श्री यतीन्द्रसूरि अभिनंदन ग्रंथ

विषय सूचि

(जीवन खण्ड)

हिन्दी गुर्जर

विविध विषय खण्ड

(हिन्दी विभाग)

(ગુર્જર વિભાગ)

प्रस्तावना

आज मगलमय शुभ आनद-प्रसग उपस्थित हुआ है कि परम गुरु-भक्त सज्जनोंका चिरकाल-चिन्तित मनोरथ सफल हो रहा है। निज कृतज्ञताका प्रतीकरूप यह श्रीयतीन्द्र सूरि-अभिनन्दन ग्रथ इस स्वरूपमें प्रकाशमें आ गया है। विविध देशोंके, विविध भाषाओंके, विविध विषयोंके विशिष्ट विज्ञ-विद्वज्जनोंके, लेखकोंके और कवियोंके परिश्रमसे सकलित यह ग्रथ सन्मान्य सूरिजीको समर्पित करनेका धन्य अवसर प्राप्त हुआ है, जिसकी प्रतिकृति सज्जनोंके कर-कमलोंको शोभा रही है। ऐसे विशिष्ट चिरस्मरणीय ग्रन्थ के दीर्घदर्शी विश्वस्त सम्पादक-मण्डलने इसकी प्रस्तावना का भार मुझ पर छोडा है। मेरेमें इतनी योग्यता न होने पर भी मैंने यह स्वीकार लिया है, क्योंकि उनके सद्भावका अनादर करना मैंने उचित नहि समझा। जो तक मुझे दी गई है, उसमें गुरु-कृपासे मैं सफल होऊगा-ऐसे विश्वाससे मैं यथामति यथाशक्ति प्रयत्न करता हू।

वर्तमान युगमें प्रशसनीय साहित्य सेवा, इतिहास-सेवा, धर्म-सेवा, समाज-सेवा, देश-सेवा करनेवाले विशिष्ट विभूतियोंका-सम्माननीय सज्जनोंका सन्मान सिर्फ सन्मान-पत्रोंसे अथवा अभिनन्दनपत्रोंसे ही नहि किया जाता, सुयोग्य विरल व्यक्तियोंका सन्मान इस प्रकार अभिनन्दनग्रथ द्वारा होता है। महावीरप्रसाद द्विवेदीजी, गौरी-शकर हीराचन्द ओझाजी, डॉ सर रामकृष्ण भाण्डारकर, आनन्दशकर बापुभाई ध्रुव और डॉ कुन्हनराज जैसे सुप्रसिद्ध विद्वानोंका सन्मान अन्यत्र अभिनन्दनग्रन्थों द्वारा हुआ प्रतीत है।

दि० जैन-समाजमें श्रीगणेशप्रसाद वर्णीजी, और प नाथूराम प्रेमीजीका भी सन्मान इस तरह अभिनदनग्रन्थ द्वारा हुआ था।

श्वे० जैन-समाजमें सद्गत जनाचार्य श्रीविजयानन्दसूरिजीका श्रीआत्मानन्द-जन्म शताब्दी स्मारक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, तथा उसके रचानेवाले सद्गत आचार्य श्रीविजय वल्लभसूरिजीका भी स्मारक ग्रन्थ प्रकट हुआ है। तीनसो वर्षों पहिले के महोपाध्याय श्रीयशोविजयजीका स्मृतिग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है, एव सद्गत श्रीबहादुरसिंहजी सिंघीका स्मृति-ग्रन्थ प्रकट हुआ है।

इसी तरह जिन्होंने दो वर्ष पहिले गुरु-भक्तिसे श्रीराजेन्द्रसूरि-स्मारक ग्रन्थकी विशिष्ट योजना सफल की थी, उनही आचार्य-श्रीयतीन्द्रसूरिजीका सन्मान हालमें इस अभिनन्दनग्रन्थ द्वारा किया जाता है। यह कहावत यहाँ चरितार्थ होती है कि पूज्योंकी पूजा करनेवाला क्रमश पूजनीय होता है, गुरुजनोंका गुण-गौरव करनेवाला स्वयं गौरवशाली गुण-गरिष्ठ होता है, सन्माननीयोंका सन्मान करनेवाला स्वयं

सन्मान्य बनता है। सद्गुणी सज्जन-विद्वज्जनोंका सत्कार सन्मान करनेवाला खुद सत्कृत सन्मानार्ह बनता है। अभिनन्दनीय आचार्य श्रीयतीन्द्रसूरिजी उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। कहीं कहीं लोग विशिष्ट विद्वानोंका सत्कार, पुरस्कार, सन्मान-थेलीसे भी करते हैं। कई जगह कदरदानोंने-गुणज्ञ गुणरागी सज्जन श्रीमानोंने और अधिकारीओंने भी ऐसी उचित कदर की है, और कई जगह कर रहे हैं, वे अपनी कृतज्ञता दर्शा कर विद्वज्जनोंको विद्या-प्रचार द्वारा समाज-हित करनेके लिए प्रोत्साहित करते हैं। कर्तव्य-निष्ठोंको विशेष कर्तव्य-परायण बननेके लिए प्रेरित करते हैं, एवं अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करते हैं। कई जगह मान्य गुरुको रुपा-सोना-हीराओंसे और महामूल्य धातुओंसे तोल कर तुला-दान करके रजत-सुवर्ण-हीरक महोत्सव मनाते हैं। लेकिन जैनाचार्य महात्मा तो निष्परिग्रही निर्ग्रन्थ होते हैं, वे द्रव्यका परिग्रह-स्वीकार क्या, स्पर्श भी करते नहि हैं, उनके लिए ऐसे अभिनन्दनग्रन्थकी योजना-सन्मान-पुरस्सर उनको समर्पण करनेका विचार विचारकोंने किया उचित प्रतीत होता है।

विशेषमें, ऐसे अभिनंदन ग्रन्थोंमें सन्मानार्ह व्यक्तिका सद्गुणमय सत्कर्तव्य-विशिष्ट जीवनका प्रेरक परिचय कराया जाता है। और इसके साथ धार्मिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजकीय, दार्शनिक, तात्त्विक, विविध विद्या-कला-विषयक विशिष्ट विद्वानोंके लेख-निबन्धों भी रहते हैं। जो देशके अभ्यासी जिज्ञासु विद्यार्थीओंकी और विद्वानोंकी ज्ञान-वृद्धिमें सहायक हो सकते हैं। इससे उच्च प्रकारकी शिक्षा-संस्कार-प्रेरणा भी मिल सकती है।

(१) जीवनखण्ड

अभिनन्दनीय श्रीयतीन्द्रसूरिजी एक विशिष्ट व्यक्ति हैं, जो प्रशंसनीय जीवनके ७५ वर्ष व्यतीत कर चूके हैं, और ७६ वे वर्षमें प्रविष्ट हैं। साधु-जीवनके ६१ वर्ष पसार कर चूके हैं। और बीस वर्षोंसे आचार्य-पदका सुयोग्य पालन कर रहे हैं। उनके जीवनका दिग्दर्शन-परिचय करानेवाला जीवनखण्ड इस अभिनन्दनग्रन्थमें प्रथम विभाग पृ. १ से ८० तक है। इसमें संस्कृतमें, हिन्दीमें, और गूजराती भाषामें कवित्व-काव्योंमें-पद्योंमें और गद्यमें विविध दृष्टि-कोणसे सूरिजीकी सद्गुणमय सत्कर्तव्य-स्तुत्य सुवास सूचित है। सिर्फ गुरु-भक्त शिष्योंने ही नहि, भिन्न भिन्न देशके विशिष्ट विद्वानोंने, कवियोंने और ख्यातनाम लेखकोंने भी अपनी कविता-विद्वत्ता-लेखनशक्तिको इसमें सफल की है। सूरिजीको गुण-गानमय श्रद्धांजलि, पुष्पांजलि-कुसुमाञ्जलि समर्पित करनेवाले मुख्य ये हैं-मुनिमण्डलमें (१) स्व. उ. श्रीगुलाबविजयजी, (२) स्व. वल्लभ-विजयजी, (३) विद्याविजयजी, (४) जयन्तविजयजी, (५) शान्तिविजयजी, (६) सागरानन्दविजयजी, (७) जयप्रभविजयजी, (८) सौभाग्यविजयजी, (९) साध्वीजी मुक्तिश्रीजी, और (१०) श्रमणी-संघकी गुरु-भक्ति इसमें उल्लसित हुई है।

तथा विद्वन्मण्डलमें (१) पं श्यामसुन्दराचार्यजी, (२) पं विश्वेश्वरजी, (३) पं अवध किशोरजी, (४) पं विश्वेश्वरनाथजी (५) पं व्रजनाथजी, (६) पं मदनलालजी, (७) पं विहारीलालजी, (८) पं रमाकान्तजी (९) पं विश्वनाथजी, (१०) पं गजानन रामचन्द्र करमलकरजी जैसे अनेकपन्थीधर प्रसिद्ध विद्वानोंने सूरिजीके सद्गुण सन्मान-पूजनमें औदार्यसे सहयोग दिया है।

एव जैन-समाजके सद्गृहस्थ साक्षर-लेखकोंमें (१) दौलतसिंहजी लोढा बी ए कवि 'अरविंद', (२) विख्यातनाम अगरचन्दजी नाहटा, (३) लक्ष्मीचन्दजी, (४) राजमलजी लोढा ('दैनिक ध्वज' पत्रकार), (५) निहालचन्दजी फोजमलजी (मन्त्री, राजेन्द्र-प्रवचन-कार्यालय, खुडाला), (६) कुन्दनमलजी डागी (प्र स 'शाश्वतधर्म'), (७) कीर्तिकुमार हालचन्द वोरा, (८) विनुभाइ गुलाबचन्द शाह बी ए, (९) बालचन्द्रजी आदि कई लेखकोंने सूरिजीकी साहित्य-साधना, इतिहास-प्रेम, तीर्थयात्रा, तीर्थोद्धार, प्रतिमा-प्रतिष्ठा, ग्रन्थ-रचना आदि सद्गुणमय जीवन-कर्तव्यका परिचय कराया है, जिज्ञासु सज्जन स्वय पढ कर परिचित हो सकते हैं।

(२) विविध विषय-खण्ड

दूसरा विविध विषय-खड विविध विषयोंके विज्ञानसे भरा हुआ है। यह खण्ड विविध भाषामें है। इसमें मुख्यतया २७ लेख हिन्दीमें और १६ लेख गूजरातीमें है, तथा महत्त्वका १ लेख इग्लीशमें और १ लेख राजस्थानीमें भी है। छोटे-बडे ४५ लेख प्रकाशित हुए हैं। पृ १ से २८३ तक हिन्दी विभाग, पृ २८४ से २८७ तक राजस्थानी, पृ २८८ से ३०५ तक इग्लीश, और पृ ३०६ से ३७१ तक गूजराती विभागकी योजना हुई है, और पृ ३७२ से ३७६ में पूर्ति-पुरवणी हिन्दीमें जोड दी गई है।

इसमें महत्त्वके लेख इस प्रकारके हैं-हिन्दी २७ लेख -

(१) भारतीय दर्शनोंमें आत्म-स्वरूप, (२) तुलनात्मक दृष्टिसे जैन-दर्शन, (३) स्याद्वाद और उसकी व्यापकता, (४) स्याद्वादकी सैद्धान्तिकता, (५) अहिंसाका आदर्श, (६) प्रवृत्ति और निवृत्ति, (७) विश्व-शान्तिका अमोघ उपाय-अपरिग्रह, (८) मोक्ष-पथ, (९) निवृत्ति ले कर प्रवृत्तिकी ओर, (१०) राकेट युग और जैनसिद्धान्त, (११) वीतरागकी ही उपासना क्यों ?, (१२) नमस्कार महामन्त्र, (१३) नमस्कारमन्त्र-माहात्म्यकी कथाएं, (१४) सगीत और नाट्यकी विशेषता, (१५) आदिकालका हिन्दी जैन साहित्य और उसकी विशेषताएं, (१६) मन्त्री मण्डन और उसका गौरवशाली वश, (१७) जैन श्रमणोंके गच्छों पर सक्षिप्त प्रकाश, (१८) अग-विज्जा, (१९) खरतरगच्छकी प्राचीन धातु-प्रतिमायें (सचित्र), (२०) सस्कृतमें जैनोंका काव्य-साहित्य, (२१) विश्व-मैत्री और विश्वशान्तिके सच्चे विधायक विश्व-वत्सल भगवान् महावीर, (२२) कर्म और आत्माका

संयोग, (२३) निश्चय और व्यवहार, (२४) उपाध्याय मेघविजयजी एवं उनका देवानन्द-महाकाव्य, (२५) सम्राट् अकबरका अहिंसा-प्रेम, (२६) पुनरुद्धारक श्रीमद् राजेन्द्रसूरि, (२७) खरवाटक भिणाय और श्रीचवलेश्वर पार्श्वनाथ। राजस्थानीमें— (१) जैन गीतांरी रसधारा। इंग्लीशमें—(१) 'शकुन' विषयक महत्त्वका लेख है।

गूजरातीमें १६ लेख

(१) बहुश्रुत-पूजा, (२) जैनधर्मनी अतिविशालता, (३) नवपदो अने तेनुं स्वरूप, (४) वेदनानी छवी, (५) त्रिवेणी-स्नान, (६) समाजमां धर्मनुं स्थान, (७) आत्म-संयम, (८) श्रीहेमचन्द्राचार्यनुं राजकारण, (९) भोजनुं कीर्तिशिखर, (१०) प्राचीन तीर्थक्षेत्र श्रीलक्ष्मणी, (११) अहिंसा अने विश्व-शांति, (१२) अहिंसा, राष्ट्रभाषा अने समाज, (१३) परिग्रह-परिमाण व्रत अने समाजवादी समाज-रचना, (१४) जैननुं जीवन, (१५) आजनो जैन अने गृहस्थधर्म, (१६) शुं लखवुं?

ऐसे विविध विषयोंमें सुज्ञ लेखक महाशयोंने जो विविध विज्ञान दर्शाया है, उनकी प्रत्येककी समालोचना करना यहाँ अशक्य है। अभीष्ट विषयके जिज्ञासु स्वरुचिके अनुसार उनका अवलोकन कर अपनी जिज्ञासा पूर्ण कर सकते हैं। लेखकोंका शुभ आशय समझ कर उनका परिश्रम सफल कर सकते हैं। और अपनी समुचित ज्ञान-वृध्धि कर सकते हैं। इसमें कई लेख इतने बड़े है कि जिनकी पृथक् पुस्तिकाएं हो सकती हैं। हालमें प्रसिद्ध 'अंग-विज्जा' प्राचीन प्राकृत ग्रन्थसे उद्धृत विविध विषयक नाम-सूची भी प्राचीन भारतकी सम्पत्ति, संस्कृति आदि पर विशिष्ट प्रकाश डाल सकती है।

इस विभागके विद्वान् लेखकोंमें मुनि-मण्डलमेंसे (१) मुनि श्रीकल्याणविजयजी, (२) मनोहर मुनिजी साहित्यरत्न शास्त्रीजी, (३) मुनि विद्याविजयजी 'पथिक' (४) साहित्यप्रेमी मुनि देवेन्द्रविजयजी, (५) उपाध्याय पं. रत्नमुनि श्रीआनन्दऋषि, (६) शतावधानी कविवर्य श्रीजयन्तमुनिजी, (७) मुनि श्रीजयन्तविजयजी 'मधुकर' और (८) जैनसिद्धान्ताचार्या महासती कौशल्याकंवर आदिका हिस्सा है।

अन्य लेखकोंके संस्मरणीय नाम इस प्रकार है—

(१) मास्टर खुबचन्द केशवलालजी सिरोही, (२) लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज' बी.ए. शास्त्री साहित्यरत्न, (३) अगरचन्दजी नाहटा, (४) सूरजचन्दजी सत्यप्रेमी (डांगी), (५) मोहनलालजी जैन, (६) डांगी शान्तप्रकाश 'सत्यदास' (७) भँवरलालजी नाहटा, (८) माधवलाल डांगी, (९) हरिशंकर शर्मा 'हरीश' (रिसर्च स्कॉलर हिन्दीविभाग-इलाहाबाद युनिवर्सिटी), (१०) दौलतसिंहजी लोढ़ा बी.ए. कवि 'अरविन्द' (११) डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, (१२) डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, (१३) डॉ. गुलाबचन्द्रजी चौधरी एम्. ए. पीएच्. डी. (१४) पं. लालचन्द्र भगवान् गान्धी, (१५) पं. जुहारमलजी

याय-साहित्यतीर्थ, (१६) प मिश्रीलालजी बोहरा, (१७) दिवाकर शर्मा एम् ए (१८) प्रतापमल सेठिया, (१९) शाह इन्द्रमल भगवानजी, (२०) रावत सारस्वत, (२१) डॉ ए एन् उपाध्याय, (२२) शतावधानी प धीरजलाल टोकरशी शाह, (२३) फतेहचन्द झवेरभाई, (२४) वैद्य मोहनलाल चुनीलाल धामी, (२५) मोहनलाल दीपचंद चोकशी, (२६) चदुलाल एम् शाह, (२७) नागकुमार मकाती बी ए एल् एल् बी (२८) फूलचन्द हरिचन्द दोशी, (२९) शाह रतिलाल मफाभाई, (३०) साहित्यचन्द्र बालचन्द हीराचन्द, (३१) मफतलाल सघवी, (३२) पूनमचन्द नागरदास दोशी, (३३) जगजीवनदास कपासी आदि नामाङ्कित विद्वान् लेखकोंका सहयोग मिला है। यह जान कर पाठकोंको अधिक प्रसन्नता होगी।

उन लेखोंमें कहीं कहीं सुधारने योग्य कतिपय स्खलनाएं लक्ष्यमें आती हैं, यहाँ उनका सूचन करना आवश्यक समझता हू; जिससे लेखक, पाठक सुधार सकें, और भविष्यके लिए भूल परम्परा बढ़ने न पावे।

पृ ६६ में श्रीहरिभद्रसूरिके अष्टक प्रकरणके टीकाकारका नाम अभयदेवसूरि बताया है, लेकिन वहाँ उनके गुरु श्रीजिनेश्वरसूरिका नाम मिलता है।

पृ ११० में दामोदरका युक्ति-व्यक्ति प्र० नाम बताया है, यहाँ उक्ति-व्यक्ति नाम उचित है।

पृ १११ में लेखकने कुछ विचित्र विधान किया है कि-"१५वी शताब्दीके पूर्वकी गुजराती कही जानेवाली लगभग समस्त रचनाएं आदिकालीन हिन्दी साहित्यकी ही सम्पत्ति है।" -शायद लेखकने ऐसा समझ लिया मालूम होता है कि उस समयके पहिले गूजरात देशका नाम नहि था, नाम होगा, लेकिन यहाँके लोग अपने देशकी भाषामें नहि बोलते होंगे या उसमें कविता-रचना नहि बनाते होंगे। अथवा वहाँ कोइ कवि उस समयमें नहि हुआ होगा। अथवा होगा तो हिन्दी साहित्य ही रचता होगा! लेखककी कल्पना भ्रान्तिवाली मालूम होती है। इसी वजहसे ही लेखकने पृ १२१ में हिन्दी साहित्यकी सम्पत्ति करके दिखलाई हुई यही नामावली, जो प्राचीन गूर्जर साहित्य-सम्पत्ति है, उसको 'जैन गूर्जर कविओ' ग्रथसे उद्धृत की है। शायद लेखकने मूल ग्रन्थोंको विना देखे पढे ही ऐसा भ्रान्त विधान किया मालूम होता है। वि सं १२४१ के गूजराती भरत-बाहुबलि-रासका सम्पादन करते समय प्रस्तावनामें हमने भाषा-विषयक विस्तारसे उल्लेख किया है।

पृ ११२ में हमारे सम्पादित भरत-बाहुबलिरासके प्रकाशकका नाम प्राच्यविद्यामन्दिर बताया है, लेकिन यहाँ प्र नाम अभयचन्द्र भगवान् गान्धी स्पष्ट प्रकाशित है।

पृ ११५ में श्रीजिनप्रभसूरिने मुहम्मदशाह (तुगलक) से भेट स १३५५ में की बताई है, लेकिन यह भेट स १३८५ में हुइ थी, ऐसा उल्लेख उनके तीर्थकल्पमें मिलता है, 'श्रीजिनप्रभसूरि और सुलतान महम्मद' पुस्तिकामें हमने सविस्तर दर्शाया है।

पृ.१४७में गुर्वावलीके कर्ताका नाम मुनिचन्द्रसूरि वताया है. लेकिन मुनिसुन्दरसूरि नाम मिलता है। पृ. १४७ में वताया है कि पूर्णतलगच्छका नाम त्रि. श. पु. चरित्र की प्रशस्तिमें लिखा है, लेकिन वहाँ देखनेमें नहि आता है।

पृ. १६१ में वताया है कि—'रतनपक्ष गच्छ-किसी पट्टावलीके अनुसार १३ वी में विद्यमान होना लिखा है, पर अन्य उल्लेख प्राप्त नहीं है'—वास्तविकमें अंचलगच्छ (विधि-पक्ष) को इस नामान्तरसे सूचित किया है—ऐसा समझना चाहीए।

पृ. १६१ में वताया हुआ पुरंदरगच्छ-नाम कैसी भ्रान्तिसे प्रचलित हुआ है. इसका स्पष्टीकरण करना यहाँ उचित है। राणकपुरतीर्थ-प्रासादकी प्रतिष्ठाका जो विस्तृत सं. १४९६ का सं. शिलालेख वहाँ है, उसमे प्रतिष्ठा करनेवाले वृहत्तपागच्छके सोमसुंदरसूरिजीके जो विशेषण दिये हैं, उसमे 'परमगुरुसुविहितपुरंदरगच्छाधिराज'-को नहि समझनेसे, विचित्र पदच्छेद करनेसे प्रचलित हुआ है। वहाँ परमगुरु, सुविहित-पुरंदर, गच्छाधिराज ऐसे विशेषण, पहिले शिलालेख प्रकट करनेवाले नहि समझें, फिर उसकी नकल करनेवालोंने इधर उधर उल्लेख किया है।

पृ. २६,२१३ में उमास्वामी नाम आता है, प्राय: दिगम्बर-समाजमें उमा+स्वामी ऐसी समझसे प्रचलित है, वास्तविकमें स्वातिके तनय होनेसे तत्त्वार्थसूत्रकारका नाम उमा-स्वाति उचित मालूम होता है। सुप्रसिद्ध आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरिजीने अपने शब्दानुशासनके 'उत्कृष्टेऽनूपेन' २-२-३९ सूत्रके उदाहरणमें 'उपोमास्वातिं संग्रहीतारः' सूचित कर न्यासमें भी उमास्वाति नामका समर्थन किया है। वहाँ वृहद्वृत्तिके नीचे पत्र ३१ में प्रकाशित न्यासमे इस तरह उल्लेख है- "उमां कीर्ति सुष्ठु अततीति 'पादाच्चात्यजिभ्याम्' इति इः णित्। यद्वा उमा कीर्तिः स्वातिरिवोज्ज्वला यस्य, यद्वा उमा माता, स्वातिः पिता. तयोर्जातत्वात् पुत्रोऽप्युमास्वातिः।"

पृ २२९ में लेखकने वताया है कि-" आचार्य हेमचन्द्रका 'योगशास्त्र प्रकाश' है। इसमें योगका अर्थ न तो ध्यान है और न ध्यानकी पद्धति। ग्रन्थमें धर्मात्माओंके नित प्रति कर्तव्यके लिए धार्मिक उपदेश ही सुभाषित वाक्योंके रूपमें दिये गये हैं।"

-मालूम होता है, लेखकने सावधानतासे यह ग्रंथ पूरा देखा नहि होगा-इसकी वजहसे वहाँ नाम 'योगशास्त्र प्रकाश' और उसका प्रकाशन-स्थल जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर वताया है। उसका वास्तविक नाम 'योगशास्त्र' है, वह १२ प्रकाशोंमें विभक्त है। मूल ग्रन्थ वाक्योंमें नहि, श्लोकोंमें है. उसके उपर अपनी स्वोपज्ञ वृत्ति वारहजार श्लोक-प्रमाण है, वृत्तिके साथ वह ग्रन्थ श्रीजैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगरसे सं. १९८२ मे प्रकाशित है। सूरिजीने योगको मोक्षका कारणभूत वता कर, उसको ज्ञान. श्रद्धान और चारित्ररूप रत्न-त्रयरूप जरूर वताया है, तदनुसार उसके साधक अधिकारीका स्वरूप दिखलाते गृहस्थ-धर्म, साधु-धर्म आदिका वर्णन किया है। उसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम. ध्यान, धारणा, समाधि आदि प्राचीन अष्टांग योगका स्वरूप भी है, गौरसे देखे।

पृ २१६ में शान्तिनाथ-चरितके कर्ताका नाम 'देवसूरि' (सं. १२८२) ऐसा दर्शाया है, लेकिन उसका वास्तविक नाम 'मुनिदेवसूरि' मिलता है, और उसका रचना-संवत् १३२२ मिलता है।

पृ २१९ में कथारत्नकोषके कर्ताका नाम 'देवप्रभसूरि' ऐसा दिखलाया है, लेकिन उसका नाम 'देवभद्रसूरि' मिलता है।

पृ २२० में ग्रन्थका नाम 'भरटकत्रिंशिका' बताया है लेकिन उसका नाम 'भरटकद्वात्रिंशिका' प्रसिद्ध है। तथा 'रत्नचूडा-कथा' छपा है, वहाँ रत्नचूड-कथा नाम चाहिए। वज्रायुद्ध नाम छपा है, वहाँ वज्रायुध होना चाहिए।

पृ २२२ में 'प्रबुद्धरौहिणेय' के कर्ता रामभद्रको जिनप्रभसूरिका शिष्य बताया है, लेकिन उसने तो अपनेको जयप्रभसूरिका शिष्य कहा है।

पृ २२३ में वादीभसिंहके साथ कवि धनपालका नाम-निर्देश कर 'ये दोनों मान्य जैनाचार्य थे' बताया है लेकिन महाकवि धनपाल गृहस्थ था, वह जैनाचार्य नहि कहा गया है।

पृ २२४ में यशोविजय-ग्रन्थमाला-प्रकाशित शान्तिनाथ-चरितके कर्ताका नाम 'मुनिचंद्रसूरि' बताया है, लेकिन वास्तविकमें उसका नाम 'मुनिभद्रसूरि' मिलता है।
—नरनारायणनन्द नाम छपा है, वहाँ नरनारायणानन्द समझना चाहीए।

पृ २२५ में 'अष्टलक्षी'को काव्य कहा है, वास्तविकमें 'राजानो ददते सौख्यम्' इसकी व्याख्यारूप होनेसे आठ लाख अर्थवाली यह कृति अर्थरत्नावली 'अष्टलक्षार्थी' कही जाती है।

'चरित्रसुन्दर' नाम छपा है, वहाँ चारित्रसुन्दर' होना चाहीए, और 'अरसिंह' छपा है, वहाँ 'अरिसिंह' होना चाहीए।

पृ २२६ में 'इन्दुदूत' काव्यके कर्ताका नाम 'जिनविजयगणि' दर्शाया है, वास्तविकमें 'विनयविजयगणि' होना चाहीए।

पृ २२९ में 'काव्यशृंगारमंडन' ऐसा बताया है, वास्तविकमें 'काव्यमंडन' और 'शृङ्गारमण्डन' दो भिन्न ग्रन्थ हैं।

'मध्याह्नव्याख्या' नाम बताया है, उसका स्पष्ट नाम 'मध्याह्नव्याख्यान-पद्धति' मिलता है, और उसके कर्ताका नाम 'हर्षमदनगणि' बताया है, लेकिन वास्तविक नाम 'हर्षनन्दनगणि' मिलता है।

पृ २३० में उपदेशचिन्तामणिको राजशेखरसूरि-कृत बताया है, लेकिन यह ग्रन्थ जयशेखरसूरि-रचित है।

पृ. २६४ में 'एसउ०'गाथाको अभयदेवसूरिने 'साहस्मिकच्छलकुलक' की बताई है, लेकिन उससे प्राचीन सं. ९१५ के धर्मोपदेशमाला-विवरणमें (सिंघी जैन ग्रं. २८, पृ. १२२) जयसिंह-सूरिने उस प्राचीन आर्ष गाथाको उद्धृत की है।

पृ. ३१६-३१७ में लेखकने पादलिप्तसूरिकी आकाश-गमनद्वारा अष्टापदादि तीर्थ-यात्रा सूचित की है, लेकिन उसके चरितोंमें शत्रुंजय, गिरनार आदिकी यात्राका उल्लेख है, उसमें अष्टापदका नाम नहि मिलता।

'वप्पभट्ट' नाम छपा है, वहाँ 'बप्पभट्टि' नाम चाहीए।

पृ. ३२२ में 'सिरिवालकहा' को मागधी बताई है, वास्तविकमें वह प्राकृत है।

पृ. ३३७ में गूजरात पर हेमचन्द्राचार्यकी पूरी असरका समय 'सं. १९१६ से १९३०' तक छपा है, वहाँ 'सं. १२१६ से १२३०' समझना चाहीए। परमार्हत महाराजा कुमारपालने जैनधर्मका स्वीकार किया, वहाँसे लेके उसका जीवन-काल वहाँ तक प्रसिद्ध है।

—विशेषमें यह निवेदन करते हमे अत्यन्त दुःख होता है कि ऐसा महत्त्वका चिरस्मरणीय ग्रन्थ जैसा विशुद्ध छपना चाहीए, वैसा नहि छपा। इसमें थोडीसी सामान्य स्खलनाएं-त्रुटियाँ होती तो हम उपेक्षा करते; लेकिन स्थूल दृष्टिसे अवलोकन करनेवाले सुज्ञ संशोधककोभी इसमें सैंकडों भूलें दिखाई देती हैं, जिनका उद्धरण शुद्धि-पत्रक द्वारा करना मुश्किल है, और इसके लिए अधिक पत्र छपाकर अधिक व्यय करना भी अनुचित प्रतीत होता है। इसके लिए सम्पादक-मण्डलको हम क्या उपालम्भ दें? वे तो मुद्रणालयसे बहोत दूर रहे होंगे; लेकिन वे इस प्रकारके ज्ञाता, सुज्ञ संशोधककी योजनामें सफल नहि हुए-ऐसा मालूम होता है। जिसको शुद्धि, अशुद्धिका अच्छा परिज्ञान हो, जो व्याकरणादिका, संस्कृत आदि भाषाका व्युत्पन्न हो, और ग्रन्थस्थ विषयोंका भी ज्ञाता हो, साथमें प्रूफ-संशोधनादिकार्य जिसने किये हो, उस विषयका अनुभवी हो और जो सावधानतासे विचार-विमर्श कर संशोधन करनेवाला हो; लेकिन वैसी व्यक्तिकी योजना नहि हो सकी-इसका यह परिणाम है कि यह ग्रन्थ सैंकडों भूलोंका भोग बन गया है। इससे लेखोंका वास्तविक भाव जो खुलना चाहीए, वह खुलता नहि है, उनका प्रकाश-तेज न्यून हो जाता है, लेखकोंका महत्त्व घट जाता है, ग्रन्थके गौरवको हानि पहुँचती है। कागज और छपाईका व्यय सफल नहि होता है। यथायोग्य संशोधन किया गया हो, तो उसका तेज अन्तरङ्गसे चमकता है। और जो भूलें-अशुद्धियाँ एक नकलमें छपती हैं, वे हजारों नकलोंमें छप जाती हैं, रह जाती हैं, ऊठ आती हैं। अतः छपानेके पहिले ही सावधानतासे, दक्षतासे शुद्धि कर लेनी सम्पादकोंके और प्रकाशकों के लिए आवश्यक होती है, तब वे यशस्वी बनते हैं। सम्भव है, अशुद्धि रहनेमें अन्य भी कारण हो सकते हैं-लेखोंकी कॉपियां यथायोग्य शुद्ध न होना, उनके अक्षर बराबर न पढ़ सके-ऐसा होना, ग्रन्थको त्वरासे अवधिमें प्रकाशित कर देनेकी जवाबदारी, और प्रेसवालोंके भी कुछ दोष कम अनुभव, टाइपोंकी साधनोंकी, अनुभवी कार्यकरोंकी न्यूनता, मशीनमें छपते समय अक्षर, मात्रा, ह्रस्व,

दीर्घ, रेफ, बिन्दु आदि उड जाना। यह सब होने पर भी संशोधक सावधान दक्ष हो तो ग्रन्थको अधिक विशुद्ध कर सकता है। और इतनी त्वरा करनी अनुचित है, जिससे ग्रन्थ अत्यन्त अशुद्ध भद्दा बन जाय। जिस ग्रन्थको महान् चिरस्थायी बनाना है, जगत्के विद्वानोंके समक्ष रखना है, देश-विदेशोंमें भेजना है-ऐसे महत्त्वके ग्रन्थके लिए अधिक दक्षतासे, पूरी सावधानतासे, समुचित संशोधन करना चाहीए-वैसा नहि हो सका-इसका हमे अत्यन्त खेद होता है। संस्कृत लेखोंमें ही अशुद्धिया है, और भाषाके लेखोंमें नहि है-ऐसा नहि है। हमारे हिन्दी, गूजराती लेख उसमेंसे बच गये हैं-ऐसा भी नहि है। ह्रस्व-दीर्घकी, वर्ण-व्यत्ययकी, पदच्छेद, पद-योजना करनेकी और अन्य प्रकारकी अशुद्धिया इधर-उधर दृष्टि-गोचर होती हैं। पृ २३० में जहा 'ॐ नम सिद्धेभ्य ' लेखका मङ्गलाचरण छपना चाहीए, वहा लेखके नाम उपर बडे टाइपोंमें लेखका मुख्यनाम हो इस तरहसे छपा है, और वहा 'ऊ नमो' करके छपा है, और 'सिद्धे' अलग, और 'भ्य ' पदच्छेद करके अलग छपा है। ग्रन्थ-नायक सूरिजीका पूर्व-नाम रामरत्न प्रसिद्ध है, उसके बदलेमें वहा रातरत्न छपा है। बेचरदास नाम चाहीए, वहा बेचारदास, पट्टावलीकी जगह पट्टावल्ली, परिपाटीकी जगह परिपाठी, महाकविकी जगह मकाकवि, मनुस्मृतिकी जगह भनुस्मृति, बालभारतकी जगह बाल्मारत, चिन्तामणिकी जगह चित्रामणि, अर्धमागधीकी जगह अर्धमागधी, और अर्धमार्गधी, नयचन्द्रकी जगह नथचन्द्र, बनासकाठाकी जगह बनास्काटा, सरस्वतीकी जगह सरश्वती, पञ्चमाङ्गकी जगह पन्चमाग, श्रद्धाञ्जलिकी जगह श्रद्धाञलि, पुञ्जकी जगह पुण्ज, अध्यक्षताकी जगह अक्षध्यता, अट्ठाईकी जगह अट्टाई, सैद्धान्तिक की जगह सौधान्तिक, बहुश्रुतकी जगह बहुश्रूत, बहुश्रुति, बहूश्रुत, स्थविरावलीकी जगह स्थिरावली, शताब्दीकी जगह सताब्धि, षोडशाक्षरीकी जगह शोडषाक्षरी, नेमिनाथ चतुष्पदिकाकी जगह नेभिमान-चतुस्पदिका, आत्मोद्धारकी जगह आत्मोद्वार, क्रियोद्धार की जगह क्रियोद्वार सदुपयोगकी जगह सदूपयोग छपा है। स्थूलदृष्टिसे अवलोकन करनेवाले संस्कृतज्ञ सुज्ञको भी यह शल्यकी तरह खटकता है। दिग्दर्शनरूप यह दिखलाया है। थोडे और नमूने भी देखे-अक्षरक्ष की जगह अक्षरक्ष , स्वस्ति के बदले स्वास्ती, वचनातिशय के बदले वशनातिशय, उपास्यके बदले उपाप्य, विमुच्य के बदले विमुध्य, आलोच्य के बदले आळोच, विदरकी जगह विदय, स्रग्धराकी जगह स्त्रग्रा, सर्जनकी जगह स्नजन, शुश्रूषाकी जगह सुश्रुषा, विद्वान् की जगह द्विवार, विद्वान, घृणकी जगह घृण, ऋणकी जगह रुण, मुक्तकी जगह मूक्त, शुभकी जगह शूभ, पुण्यकी जगह पूण्य, पुण्यवत, पुण्यशाली, मुख्यमे बदले मूख्य, मूख्यता, मुखके बदले मूख, मूत्रकी जगह मुत्र, कल्पसुत्र, पूर्वकी जगह पुर्व, प्रचुर की जगह प्रचूर, राहुकी जगह राहू, वीतरागकी जगह वितराग सूरिकी जगह सुरि, सूरीश्वर की जगह सूरिश्वर, मुनीन्द्रकी जगह मुनिन्द्र, अघटक की जगह अघटक, सुवर्ण की जगह सूवर्ण छपा है। अपरिग्रहकी जगह अपरिगृह, तथा निःस्पृही की जगह निस्पृहि, गृहस्थकी जगह गृसहथी गीष्पतिकी जगह गीष्पति, समृद्धिकी जगह स्मृध्धि, जितेन्द्रियकी जगह जितेन्द्रीय, माहात्म्यकी जगह महात्म्य, ध्वसितकी जगह ध्वंशित, प्रशसा की जगह प्रसशा, सूक्ष्म की जगह सुक्ष्म, चूलिका की जगह चुलिका,

दुर्लक्षकी जगह दूर्लक्ष, दुराचारी की जगह दूराचारी, विन्दु की जगह बींदु, दृष्टिके बदले दृष्टि, दृष्टिपथ, अदृश्यकी जगह अद्रश्य, विस्मितकी जगह विश्मित. व्रतकी जगह वृत, वृत्तिकी जगह वृती, जरासन्धकी जगह जरासिन्ध, तिर्यंच की जगह तिर्थंच, अर्बुदकी जगह अवुर्द, प्रक्षणकी जगह मुक्षर्ण, गुणकी जगह गुहा, खेमङ्करीकी जगह एमङ्करी, शास्त्रकी जगह शास्त्र, मातृष्वसाकी जगह मातृश्वसा. पितृष्वसाकी जगह पितृश्वसा, नमामि की जगह नमाभि, कामिनीकी जगह कामीनी, स्थूलकी जगह स्थुल, पूज्यकी जगह पुज्य, हीरककी जगह हरिक, अष्टापदकी जगह अस्टापद, नंदीश्वरकी जगह नंदीस्वर, पिपासुकी जगह पीयासु, वृद्धिकी जगह वृद्धि, वृध्दिशाली, शुद्धकी जगह शूध्द, मूर्तिकी जगह मुर्ति, लघुकी जगह लुघु, वैशाखकी जगह वैसाख, सर्पकी जगह स्पर्प, तन्दुलकी जगह तन्दूल, जिनचंद्रकी जगह जितचंद, धम्मोकी जगह धम्मो. कुकर्मकी जगह कुकर्म, शिलाभित्तिकी जगह शिलामिन्ति, पौषधोपवासकी जगह पौलधोपवास, श्वशुरालयकी जगह श्वसुरालय, वेष्टितकी जगह वेष्ठित, भण्डारकी जगह भन्डार, शार्दूलकी जगह शार्डुल, भुजंगप्रयातकी जगह भु० प्रपात, स्याद्वादकी जगह स्यद्वाद, स्यायद्वाद, प्रव्रज्याकी जगह प्रव्रृज्या, शिथिलाचारीकी जगह सीथीलाचारी, नरमेधकी जगह नरमेघ, अश्वमेधकी जगह अश्वमेघ, मरुधरकी जगह मरुघर, चेदिकी जगह चेटि, धंधूकीया-की जगह धुंधकिया, भर्त्स्नाकी जगह भर्तस्ना, तद्विजयोपायकी जगह ० पाप, फाल्गुन मासकी जगह मांस, रजतमापककी जगह रजकमापक, अभिशापकी जगह अभिशाय, उल्लापकी जगह उल्लत्य, गभस्तिभिः चाहीए वहाँ गभमस्तिभिः, काष्ठ की जगह काष्ट, विनष्टकी जगह विनष्ट. प्रतिष्ठाकी जगह प्रतिष्ठा, उत्कृष्टकी जगह उत्कृष्ठ छपा है। तथा निश्चित को निश्चित्, निष्णातको निष्णात् विख्यातको विख्यात् प्रवचन को प्रवचन्. दर्शन को दर्शन्, वर्तमानको वर्तमान्, विद्यमान को विद्यमान्, सन्मान को सन्मान् इस तरहसे अकारान्तके बदले व्यञ्जनान्त छपा है. उनको संस्कृतज्ञ विशेषज्ञ शुद्ध नहि समझते हैं। विस्तारके भयसे इतनेसे ही सन्तोष मानते हैं। आशा है कि पाठक-वाचक लोग अशुद्धियाँ दूर कर शुद्ध पाठ कैसा होना चाहीए, उसको समझ कर सुधार ले। खास पत्र-निर्देश नहि किया, क्यों कि अनेक पत्रोंमें अनेक वार अशुद्ध पाठ आया है।

कर्तव्य-पालनके कारण, और भविष्यमे ऐसी अशुद्धियाँ प्रचलित न रहे, यथायोग्य संशोधन कर लिया जाय-ऐसे शुभ आशयसे यह निवेदन हमे करना पडा है-इसमें अनुचित हुआ हो तो सम्पादक-मण्डल, विद्वन्मण्डल, लेखक-मण्डल, और संशोधक सज्जनों हमे क्षमा करें।

अभिनन्दनीय सूरिजीके सद्गुणोंको मैं वर्षोंसे सुन रहा था, जब उनकी प्रेरणासे 'प्राग्वाट इतिहास' तैयार हो रहा था, तब उसको पहिलेसे अवलोकन कर उचित सूचना करनेका कार्य मुझे सौंपा गया था; वहाँ तक सूरिजीसे मिलना नहि हुआ था। लेकिन दो वर्ष पहिले, श्रीराजेन्द्रसूरि स्मारक महोत्सवके प्रसंग पर राजगढमें मोहनखेडा तीर्थमें श्रीयतीन्द्र-सूरिजीका साक्षाद् दर्शन करनेका हमे सुयोग मिला था। सपरिवार सूरिजीके सौजन्य,

औदार्य, धैर्य, गाम्भीर्य, प्रभावकता, विद्वत्ता, विद्वज्जन सत्कार आदि कई सद्गुणोंका साक्षात् अनुभव हुआ था, जिसको मैं भूल नहिं सकता। उन्हीं सूरिजीके इस हीरक-महोत्सव-अभिनन्दन-प्रसंग पर परमात्मासे हम अन्तःकरणसे प्रार्थना करते हैं कि वे जिनशासनकी—अहिंसामय प्रवचनकी उन्नति करते हुए आरोग्यके साथ चिरकाल विजयवन्त रहें।

मेरी मातृभाषा गुजराती होने पर भी हिन्दी भाषामें यहां प्रयास किया है, इसमें जो कुछ त्रुटि हो, उसको सुज्ञ पाठक सुधार कर पढ़ें। ऐसी तक देनेके लिए मैं सम्पादक-मण्डलका आभार मानता हूँ।

विक्रमसंवत् २०१५
माघपूर्णिमा
वटपद्र (वडोदा)

सद्गुणानुरागी-
लालचन्द्र भगवान् गान्धी
[निवृत्त जैनपण्डित-वडोदाराज्य]

शुद्धि-पत्रक

(जीवन-खण्ड)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	२१	तिसुमहै	तिसुमहे
४	२४	सर्व्वद्धित	सर्वद्धिस्त
७	४	यसा	गशा
७	१९	ध्यान्तो	ध्वान्तो
७	२१	कत्म	कल्म
८	४	युन	युत
८	४	लोकात्तमो-मोदीत्	लोकान्परो-ऽमोहयत्
८	६	करणपरः	कारणपरः
८	५	साध्वुप-कारकरो हि	साधुनामु-पकारकृद्धि
९	८	मच्छति	मच्छमति
९	१४	कार्यकलन-करण	कार्याकलन-करणे
९	२१	कान्त्या(च) स्वर्णो	कान्त्या सुवर्णोपमः
९	२२	द्रारैश्वर्य	द्वारैश्वर्य
९	२६	(हि)	(ह्य)
९	२८	सरिहिं	सूरिहिं
१०	२	द्धं (श्व)	द्धश्च
१०	१०	सुधवलित-यशो	सुधावलि यशो
११	१५	मण्डलाऽ ग्रयमाणः	मण्डला-ग्रणीर्यः
११	२६	संभासते	संभास्यते
११	२८	धन्यात्मनो	धन्यात्मतां
१२	४	ह्रदः	ह्रदः
१२	८	स ह्रीतो दीसो	सह्रितो दीप्तो
१३	१	सुचितः	सुचित्तः
१३	११	श्रद्धानां	श्राद्धानां
१४	१४	गीण्यति	गीष्पति
१४	२३	विजयो जयोवतु	विजयोऽ वतु
१४	२८	परिदधन्	परिदधत्
२०	१५	१९५७	१९७७
२३	२९	भेडगाँव	छेड़गाँव
२६	८	छाणेड	छाजेड
२७	४	रावबटी	रावटी
३०	१२	वरमण्ड	वरमन्डल
३०	१२	खतगढ	खतगढ

विविध विषय खण्ड

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४६	२६	शिल्पकार	शिल्पकला
४६	२९	रक्षक	रक्षा
५५	२१	त्रयस्ट-त्रिंषद्	त्रयत्रिंपद्
५५	२१	मणनीयं	भणनीयं
६४	१०	रागा-नीपत्कर	रागा निविपत्कर
६५	१४	प्रासोऽसि	प्राप्तोऽसि
७४	१	अंग	उपांग
७५	२	पयाभ्याम्	पवाटा-भ्याम्
७८	२४	सन्द्व्ध	सन्द्व्ध
८६	५	तुल्या	तुल्या
८९	३	स्वताएँ	रचनाएँ
९०	२६	प्रमाण	प्रणाम
२४१	२२	मान	ज्ञान
२५८	५	आचर्य	आचार्य
२६१	१२	चत्यवास	चैत्यवास
२६७	१०	से	इससे
२६८	३६	हय	यह
२८३	१०	अममरढ़	अमरगढ
२९२	२९	Con-taing	Contai-ning

श्री अभिधानराजेन्द्र कोशाद्यनेक ग्रन्थ प्रणेता

परम योगी परमज्ञानी

सरस्वतीपुत्र - प्रात स्मरणीय प्रभु

श्रीमद्विजयराजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ।

श्री यतीन्द्रसूरि अभिनंदन ग्रंथ
जीवन खंड
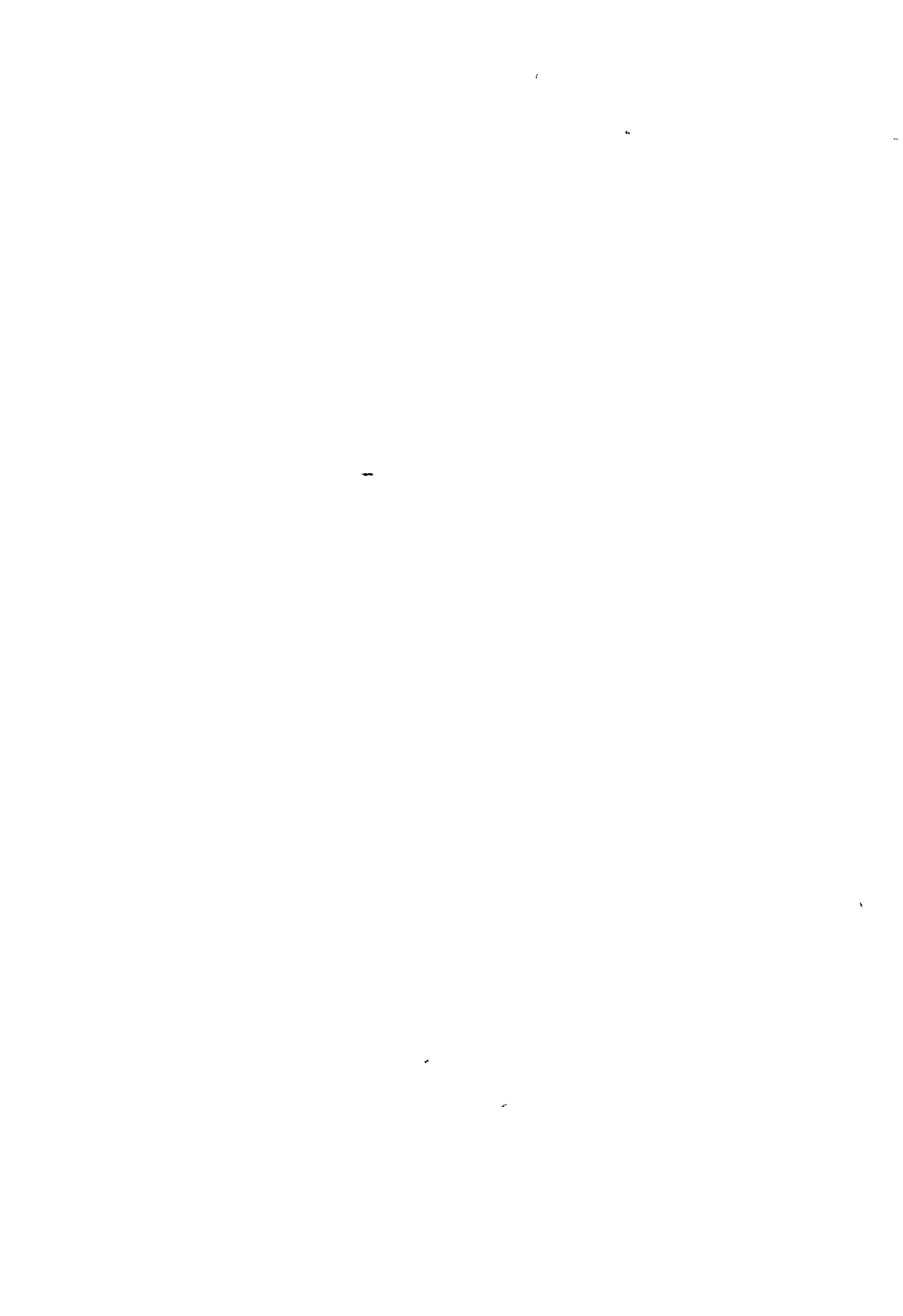
गुरुगुणाष्टक और श्रद्धाञ्जलि

* संस्कृत *

श्रीमद् यतीन्द्रसूरि-वदन

(१)

श्रीधौल्पत्तनवरे व्रजलाल इभ्य —
श्चम्पाऽभिधा च ललनाऽजनि तस्य पुत्र ।
योनेदनन्दनिधुगे शुचिरामरत्न —
स्त सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ १ ॥

राजेन्द्रसूरिसुगुरोरुपदेशमाप्य,
श्रीखाचरोदनगरे रुचिरोत्सवेन ।
दीक्षा ल्लौ गतिशराङ्कधरासुवर्षे,
त सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ २ ॥

साधुक्रिया च समधीत्य जवात्सुबुद्धया,
लेभेऽपरा पुनरथ महतीं सुदीक्षाम् ।
आहोर मध्य इषुपञ्चनवाचला दे,
त सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ ३ ॥

काव्यादिजैनवचनस्फुटशब्दशास्त्रे,
सम्यग् विबोधकरणे सुमतिश्च यस्य ।
व्याख्यानपद्धतिवराखिल बोधदात्री,
तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ ४ ॥

सद्वाचकेतिसमुपाधि विभूषितात्मा,
देशांतरे विचरणे प्रियतास्ति यस्य ।
श्रीलक्ष्मणौ ह्यजनि पद्मजिनस्य तीर्थे :
तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ ५ ॥

संघेन सार्द्धमसुना बहुतीर्थयात्रा,
भद्रेश्वरस्य विहिता विमलाचलस्य ।
प्रीत्या पुनर्विकट जैसलमेरुकस्य.
तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ ६ ॥

अन्योपकारकरणार्थमनेन भूरि—
शास्त्राणि मञ्जुलतराणि विनिर्मितानि ।
ख्यातानि तानि च बहून्यपि मुद्रितानि,
तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ ७ ॥

उद्यापनादिसुकृतानि बहून्यभुवन्,
यस्योपदेशमनुसृत्य तथा प्रतिष्ठा : ।
शिष्यावलिश्च शुभधर्मपथप्रवृद्धि—
तं सज्जना हि सुनमन्ति यतीन्द्रसूरिम् ॥ ८ ॥

पश्चाङ्काङ्कधराब्दके ऽतिसुमहे, राधे सिताशातिथौ,
यं सूरिं सकलो ऽन्यसंघसहितश्चा ऽहोरसंघो व्यधात् ।
भक्त्यैतस्य जनो हि यो ऽष्टकमदो नित्यं मुदा सम्पठेत्,
सर्व्वद्धितमियाद् गुलावविजयो वक्तिस्फुटं वाचकः ॥९॥

स्व.—उपाध्याय मुनि श्री गुलावविजयजी

सूरिचक्रवर्ती श्रीमद् यतीन्द्रसूरि

(२)

कलानिधानवन्धुरं धुरन्धरं निमज्जतां,
भवोदधाववाप्य भारतीं शिशावनर्गलाम् ।

दिनेशवद् विराजित जगत्त्रये ऽ पराजित
भजे यतीन्द्रसूरिण सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ १ ॥

कुशेशय यथोपयान्ति पदपद्मास्तथैव य,
श्रयन्ति भावुका मुदा वचोविलासलोलुपा ।
कुतो ऽ पि ना ऽ त्मनीनमाश्रय प्रपद्य सान्द्र,
भजे यतीन्द्रसूरिण सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ २ ॥

समस्तमानसान्धकारमाशु सम्प्रलीयते,
यदीय देशनादिनेश दीपितेऽनिश भृशम् ।
जगन्ति मोदमावहन्ति हन्यते च किल्बिष,
भजे यतीन्द्रसूरिण सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ ३ ॥

कृपाकटाक्षधोरणीनिरुद्धदीनदैन्यकम्,
जिनोक्तधर्मधारणाज्जितोरुकामसैन्यकम् ।
अगण्यपुण्यसञ्चयाज्जनैरत प्रपूजितम्,
भजे यतीन्द्रसूरिण सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ ४ ॥

अनेक जीर्णशीर्ण तीर्थमन्दिरस्य कारिता,
समुद्धृतिश्च तच्च येन मानवस्य तारिता ।
अधोगति सता मत मुमुक्षुभिश्च वन्दित,
भजे यतीन्द्रसूरिण सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ ५ ॥

प्रतिष्ठितास्तु बिम्बमर्हतामनेकमर्हता,
चिरागतप्रभूतकर्मकर्तने पटीयसाम् ।
व्रतोपधानधर्मकारीतञ्च येन भूरिशो,
भजे यतीन्द्रसूरिण सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ ६ ॥

अनेककामकोपलोभमोहमत्सरानरीं,
सुदेल्या विजित्य शेमुषीमिवाप्य सत्तरिम् ।
ततार योऽनिदुस्तर भव तमानतोऽहक,
भजे यतीन्द्रसूरिण सुसूरिचक्रवर्तिनम् ॥ ७ ॥

गुरो ? गुणैगरिष्ठतावकीनकीर्तिकीर्तना—
दियत्तया न सह्यत प्रचस्त्वशक्तितो मया ।
तथापि तत्तवेप्सित पद सुनाम सरटन्,
भजे यतीन्द्रसूरिण सुसूरिचक्रवर्तिनम ॥ ८ ॥

शार्दुलविक्रीडितछन्द :

य : प्रात : स्मरणीयनामुपगतो राजेंद्रसूरीश्वर--
स्तच्छिष्यप्रवरस्य सूरिनृपते : श्रीमद्यतीन्द्रप्रभो : ।
पादाम्भोरुहचञ्चरीकसदृशं श्रीवल्लभेनाष्टकं,
देयाच्छं मुनिनाकृतं सुपठतां नणामद्र : सन्ततम ॥

—स्व. मुनिश्रीवल्लभविजयजी

गुरुवर श्रीमद् यतीन्द्रसूरि
(२)

गुरोः ते गम्भीरा रुचिरमुखमुद्रा मदकरी,
प्रकर्षाह्लादं मे प्रकटयति चित्ते प्रणमत. ।
अतो वारम्वारं विषयविटपीकृंतनकृते;
सदा तां ध्यायामि प्रखरकरपत्राकृतिमहम् ॥ १ ॥

असारं संसारं गुरुवर ! विचार्य स्वहृदये,
त्वया सर्वेत्यक्ताः नरभवप्रपञ्चाः द्रुततरम् ।
भवद्भिः संप्राप्तुं कठिनतरकैवल्यपदवीं,
गृहीतं वैराग्यं जगति परमानन्दकरणम् ॥ २ ॥

अगाधं श्रीजैनागमजलनिधिं निर्मलधिया,
विगाह्या ऽवासं च ह्यतलतलगं रत्ननिचयम् ।
जनेभ्यस्तच्छ्रद्धाभरनतशिरोभ्यो वितरता,
निरस्तं लोकानां घनतिमिरमज्ञानप्रभवम् ॥ ३ ॥

शरीरे धृत्वैवं यमनियमवर्माणि सततम्
जगज्जैत्रामोघं स्मरशरबलं व्यर्थमकरोः ।
कषायान्निर्जित्य श्रितसमकितस्त्वं हि धवलाम्,
पताकां सत्कीर्तेरिह जगति विस्तारयसि वै ॥ ४ ॥

सुधासिक्ता दृष्टिर्भवति नितरां भाविकजने,
विलग्ना त्वद्वाणी कलिहतधियां शिक्षणविधौ ।
सतां नित्यं नृणामनुकरणयोग्यास्तव क्रियाः,
अहन्त्वां सूरीशं गुरुवर ! यतीन्द्रं खलु भजे ॥ ५ ॥

राजमान श्रीमद् यतीन्द्रसूरि—

(४)

मान्यैमान्यो वदान्यो भविकजनकृते शप्रदो मानदोऽय—
शोहारी कीर्तिधारी प्रथितमतिमता मानकारी व्यगारी
जैनीयग्रन्थमर्मी भणित बहुयसास्त्यककर्मी सुधर्मी,
वाच वाचयमो ये मधुरश्रुतयुता श्रावयेच्छीयतीन्द्र ॥ १ ॥

श्रीमद्राजेन्द्रसूरिप्रवरतपगणे गीयमानप्रकीर्ति—
र्ज्ञानी मानी सुमानी बहुविधसुजनै प्रथ्यमान प्रगीति ।
कान्तो दान्तोऽतिशान्तोऽखिल विबुधनरैर्नम्यमानो मुनीन्द्रो,
धन्यो धन्योऽतिधन्यो निखिलजनसुखानन्दकच्छ्रीयतीन्द्र ॥२॥
भावं भाव सुभाव भविकमविकन्दे यशोगीयमानम्,
पाय पाय व्यपाय सकलमकल लोके सुधापीयमानम् ।
स्थाय स्थाय स्वभिस्था निखिलभुवितले यो गुरोरद्वयस्य,
वन्द वन्द पदाब्जे विविधबुधवरे राजते श्रीयतींद्र ॥ ३ ॥

— प० श्यामसुन्दराचाय ।

विविधशास्त्रपारङ्गत श्रीमद् यतीन्द्रसूरि

(५)

यस्य प्रोद्यद्विपुणधिपणासाम्यमाप्तु न दक्षो—
ऽलक्ष्यो देवाल्पिपक्षो ऽप्यदितिसुत गुरुर्गीष्पतिर्भूतले ऽसौ ।
य स्वीयज्ञानकाण्डप्रखरकिरणध्वसिताऽज्ञानजाल—
ध्वान्तो जैनो जयति विजयश्रीयतीन्द्रो महीयान् ॥ १ ॥

यदीयसुयशो विधुर्धवलयन महीमण्डलम्,
प्रचण्डतरकल्मषव्रजसरोजमामीलयन् ।
विराजतितरामसौ विविधशास्त्रपारङ्गमो,
यतीन्द्रविजयाभिध सदयजैनतत्वाविश ॥ २ ॥

सस्तात्यन्निजगुणैरुपकारजातान्,
प्रेम्णा हि क न मनुज हि वशीकरोति ।

शिष्योऽप्युदार चरितस्तवशान्तचितः,
विद्याविनोदरसिको जगतां हितैषी ॥ ३ ॥

श्रीगुरुदेवयतीन्द्रसूरिविबुधोऽहिंसापथः सत्वरम्,
कारुण्याग्रुनमानस· प्रतिदिनं लोकान्तमोमोदीत् ।
साध्वुपकारकरो हि लोभरहितो भिक्षाव्रतः संयमी,

स्याद्वादादिप्रचारकरणपर : कारुण्यपूर्णोरमः ॥ ४ ॥

—पं. विश्वेश्वर व्याकरणाचार्य-साहित्यतीर्थ

गुणाढ्य श्रीमद् यतीन्द्रसूरि

(६)

जरीहर्ति जाड्यं जनानामजस्रम्,
चरीकर्ति यद्दर्शनं पापपुञ्जम् ।
दरीदर्ति मिथ्यात्वितां तत्क्षणंयत्,
स जीयाद् यतीन्द्र : सदाचार्यवर्य : ॥ १ ॥
नरीनर्ति यद्दर्शनान् मानवाली,
पयोदागमे शोभना पिच्छशाली ।
दिनेशोदये षट्पदालीव भूय :,
स जीयाद् यतीन्द्र : सदाचार्यवर्य : ॥ २ ॥
परीपर्ति पियूषतुल्यैर्वचोभि—
र्जनानामभीष्टं द्रुतं य : ससभ्रम ।
सरीसर्ति लोकोपकाराय भूमौ,
स जीयाद् यतींद्र : सदाचार्यवर्य : ॥ ३ ॥
जरीगर्दि यस्यामलां देशनां य :,
तरीतर्ति कामं भवाब्धि जन : स : ।
वरीवर्ति तस्यागमेनैव भूय,
स जीयाद् यतीन्द्र : सदाचार्यवर्य : ॥ ४ ॥
यदीयैर्गुणैरर्जितैर्भव्य वर्गै —
स्तुवद्भिर्यदीयं कला कौशलं च ।
दिगन्तेऽपि यत्कीर्त्तिरातन्यते च,
स जीयाद् यतीन्द्रः सदाचार्यवर्यः ॥ ५ ॥
चरीक्लृप्यते यो विपक्षेऽपि शश्वत्,
सभायां जितो भूरिशो बद्धकक्षः ।

अरिर्येन नीत स्वपक्षेऽपि दक्ष,
स जीयाद् यतीन्द्रः सदाचार्यवर्य ॥ ६ ॥

यमालोक्य सन्तो विकास भजन्ते,
सम दुर्धियो दिगविभाज श्रयन्ते ।
सुशान्तश्च दान्तश्च धन्यो वदान्य
स जीयाद् यतीन्द्र सदाचार्यवर्य ॥ ७ ॥

सकलागमपारगतस्य यदि,
प्रपठेदिदमष्टकमच्छति ।
विजयादि यतीन्द्र-यतीन्द्रगुरो,
सच याति बृहस्पतिता झटिति ॥ ८ ॥

—प० अवधकिशोरजी मिश्र व्याकरणाचार्य मथिल

नीतिनिधान श्रीमद् यतीन्द्रसूरि

(७)

यो वेदान्ते तरुणतिमिरद्वैतध्वसप्रचण्ड,
कार्याकार्यकलनकरणनीतदक्षावतार ।
धर्माधर्माचरणचलननीतधर्मावतार,
श्रीसूरीशो विबुधजलजोद्दीपक श्रीयतीन्द्र ॥ १ ॥

यो विद्याब्धिविगूढमन्थनलभच्छ्रीशान्दरत्नोऽधुना,
व्याख्यानामृतपायनेन मृतकान्मूर्खान् मुहुर्जीवयन् ।
कारुण्याम्बुविसेचनैर्भुवि बुधान् समोदयन् सत्वर,
क क रङ्कजन न रक्षति महाकारुण्यपूर्णो भवान् ॥ २ ॥

लोकस्वान्तगतान्धकारतपन कान्त्या (च) स्वर्णोपमो,
दारैश्वर्यपराङ्मुखो मतिमतामग्रेसर केसरी ।
धर्माचारसुचारकारणचये कालान्मुहुर्यापयन्
सूरीशो जयतेऽधुना च नितरा धीमान् यतीन्द्रो यति ॥ ३ ॥

यतीश सयमी नित्य, बुधान् सन्तोषयन् सुधी ।
वातासुधाप्रदानेन, सर्वान् साधून् (हि) मोमुदीत् ! ॥ ४ ॥

शिष्ये खलु कृपादृष्टि गुरुभक्तिश्च वर्तते ।
सोऽय यतीन्द्रसूरिर्हि, राजता धर्मगो बुध ॥ ५ ॥

गाम्भीर्ये सरिताम्पतिं परिजयन् धैर्ये जयन्मेदिनी,
औदार्येऽङ्गमदीपतिं परिजयन् कीर्त्यासुधाशु जयन् ।

पुण्यैर्धर्मसुतं जयन सुरगुरुं वाचा तु विस्मापयन् ,
　　भक्तिं श्रीचरणे दधं (श्च) नितरां श्रीमान्, दयावारिधिः ॥ ६ ॥

कन्दर्पं दमयन् रिपून् विदलयन् विद्याविनोदैर्निजैः,
　　संतोषं जनयन् बुधेत्वतितरां प्रासादमासादयन् ।
शिष्ये स्नेहवचो ब्रुवन्नतितरां दुखं बुधानांहरन्,
　　श्री श्रीमान् (सु) यतीन्द्रसूरिविबुधो विद्यावतामग्रगः ॥ ७ ॥

श्रद्धा श्रेष्ठजने दया बुधजने भक्तिः जिने जायतां,
　　स्नेहः शिष्यजने जयो रिपुजने धर्मश्चते वर्धताम् ।
शिष्यस्तातनियोगपालनपरो विद्यावृतो जायतां,
　　श्रीमच्चन्द्रकलासु धवलितयशोराशिः शुभाभासताम् ॥ ८ ॥
एवं विद्यावयोवृद्धं, श्रीयतीन्द्रं पुनः पुन।
　　नमामि भक्तिभावेन, पायान्मां सततं नुतः ॥ ९ ॥

—पं. विश्वेश्वरनाथ वैयाकरण तर्क-काव्य-भूपण

शम-दम-शीलनिधान श्रीमद् यतीन्द्रसूरि

(८)

जिनमतजलता—सुजातमानो,
　　यम—नियमादिगुणैर्विराजमान : ।
मुनिजनमनसि सुधासमानो,
　　जय 'सुयतीन्द्र यतीन्द्र' ? वन्द्यमान : ॥ १ ॥

गुणिगण—गणना-अग्रगण्यमान :
　　शिव—पदवी—पदवी—प्रवर्तमान : ।
भवि—भवभव—भीतिभज्यमानो,
　　जय सुयतीन्द्र—यतींद्र ? वंद्यमान : ॥ २ ॥

अविरत—सुतपस्तपस्यमान :,
　　शम—दम—शीलगुणैश्चशोभमान : ।
जगति जडजनान् विबोधमानो,
　　जय सुयतींद्र-यतीन्द्र ? वंद्यमान : ॥ ३ ॥

अनुपमतनुदीप्ति—दीप्यमानो,
　　जिनतति—शासित—शासने सुमान : ।
कविरिव कविसङ्घसेव्यमानो,

जय सुयतींद्र-यतींद्र ! वन्द्यमान ॥ ४ ॥

जन-जनन-मृतिविदार्यमाण ,
मतत-सुदुद्धर-वीर्यधायमाण ।
मतिमदतिनतो गताऽभिमानो,
जय सुयतीन्द्र-यतीन्द्र ! वन्द्यमान ॥ ५ ॥

जगदुदधि-सुजीवतार्यमाण ,
सकल-सदागम-मर्म-पायमाण ।
मदगदरहित प्रधी प्रधानो,
जय सुयतीन्द्र-यतीन्द्र ! वन्द्यमान ॥ ६ ॥

तपन इव विभाविभासमानो
जनकमलौघमुदाविकास्यमान ।
अखिल - खल - खलत्वहीयमानो,
जय सुयतीन्द्र - यतीन्द्र ! वन्द्यमान ॥ ७ ॥

कलिमलिनमल बलादल यो,
दलिततरा मुनिमण्डला ऽ ग्रयमाण ।
अपरपरतरे सदा समानो,
जय सुयतीन्द्र - यतीन्द्र ! वन्द्यमान ॥ ८ ॥

स्तुतिरिह रचिता सुपुष्पिताग्रा,
पदरुचिरा च यतीन्द्रसूरिकाणाम् ।
भवतु सुफलदा सदा तदेषा,
घृतकलतेव फला सुपुष्पिताग्रा ॥ ९ ॥

—प० व्रजनाथ,-शास्त्री, बगजरी ।

- यतीश्वर श्रीमद् यतीन्द्रसूरि -

(९)

स शिष्यान् परिपाति मोहरहितान् यो यान् स्वपादाश्रितान् ।
य यै विद्वविभीषका सविनत देव स्तुवन्ति प्रभुम् ॥
येनेद निखिल जगत् सुमहसा सभासते सर्वत ।
यस्मै श्रीविदुषे नमन्ति सुजना जीयात्स लोके सुधी ॥ १ ॥
यस्माद्बोधमवाप्य याति च जना ध यात्मनो मानवा ।
यस्य श्रीसुविद प्रसन्दकरणात्, स्तुत्य पद सर्वथा ॥

यस्मिन् भान्ति दयादिकाः (हि) सुगुणा व्याख्यानवाचस्पतौ ।
विश्वस्मिञ्जयताद् वसत्त्वथ चिरं सूरिर्यतीन्द्रो हि सः ॥ २ ॥

मोहध्वंसदिवाकरो यतिवरः सज्ज्ञानधर्माम्बुधिः ।
कारुण्यार्द्रहृदः कवित्वकुशलोद्देदीप्यमानो मुनिः ॥
जेता जल्पकपुंगवो जनहितः पीताम्बरीयान् मुनीन् ।
भाषाकल्पतरुः सदा विजयतां सूरिर्यतीन्द्रो यतिः ॥ ३ ॥

वैदुष्यादियमादिभिर्गुणगणैर्विद्वद्भिरेरर्चितः ।
शान्तिक्षांतिदयादिरत्नसहितो दीप्तो जनाह्लादकः ॥
कृत्याकृत्यविवेचने सुनिपुणः सद्धर्मसंस्थो मुनिः ।
जैनाचार्यवरः सदा विजयतां श्रीमद्यतीन्द्रः सुधीः ॥ ४ ॥

मालिनीवृत्तम्

मुनिमहितमुनीन्द्रो मारसंमर्दनेन्द्रः,
सकलगुणगणेन्द्रो धीमतां यः सुधीन्द्रः ।
विजनकरिमृगेन्द्रः शास्त्रसत्येकरीन्द्रः,
जयतु जयतु देवः श्रीलसूरिर्यतीन्द्रः ॥ ५

सुविनतमुनिवृन्दैः शिष्यवर्गैः सुवन्द्य,
विविधविधिविधानेनात्तमान्यो वदान्यः ।
गुरुगुणगणरक्तस्त्यक्तदर्पो विरक्तः,
जयतु जयतु देवः श्रीलसूरिर्यतीन्द्र ॥ ६ ॥

विहितहितसुकृत्यो विश्ववन्द्यो ऽनवद्यः,
निखिलगुणगणानामालयो यः सुनम्य ।
रविरिव हि सुदीप्तो माननीयो मुनिन्द्रः,
जयतु जयतु देवः श्रीलसूरिर्यतीन्द्रः ॥ ७ ॥

द्रुतविलम्बितवृत्तम्

परमपण्डितमण्डितमण्डलः,
सुनयनो नयनन्दितमानवः ।
जयतु सूरियतीन्द्रयतीश्वरः,
यमवतामवतां च पुरः प्रभः ॥ ८ ॥

वसन्ततिलका छन्दः

श्रीमद्यतीन्द्रयतिवर्यमहामतीनाम्,
सिद्धिप्रदं मदन–संविहितं स्तवं यः

स्तौलथ सिद्धिसहित हानिश सुचित ,
सनाथसिद्धिमधिगम्य स नन्दतीट ॥ ९ ॥

प० मदनलाल जोशी, शास्त्री, मन्दसौर ।

व्याख्यान-वाचस्पति श्रीमद् यतीन्द्रसूरि

(१०)

यतीना रानानो जिनरचितमार्गानुसरणा
कृपापारानारा जिनसमुदयावाप्तिनिपया ।
विजेतार पीताम्बरधरमुनीना सुमहसा,
स्वतत्रा जीयासुर्गणधर मनीपा इव परा ॥ १ ॥

श्रीमान धम्मधुरन्धरो धृतियुतो विद्वज्जनेस्सेवितो,
निर्दप सुविनायको गणधरो विख्यातकीर्ति क्षितौ ।
श्रद्धाना प्रियवाग्मोऽस्ति महता विद्यानिधेर्वारिधि ,
दिव्याचारमुनिराजराजमुकुटो श्रीमान् यतीन्द्रोगुरु ॥ २ ॥

व्याख्यानवाचस्पतिरेव धीर ;
गम्भीरतावार्धिरिवापरश्च ।
राद्धान्ततत्वार्थनिपुण मेधो,
जीयाद् मुनीन्द्रप्रवरो यतीन्द्र ॥ ३ ॥

राजेन्द्रसूरी वर एव विद्वान्,
गुरुर्दयालु परमार्थबुद्धि ।
आराधितो येन मुनिश्वरेण,
भक्त्या महत्या परित्यक्तकाम ॥ ४ ॥

शान्तौ पर कोविद हेमचन्द्र ,
उदारचेता महनीयकीर्ति ।
गृहीतकार्यं न जहाति कामम्,
उद्योगशाली जयताद् यतीन्द्र ॥ ५ ॥

आह्लादने चन्द्रमसो हि शोभा,
धत्ते कृपालुर्जनतापहर्त्ता ।
समाधिनिष्ठ पुरुषार्थहस्त
गुरो कृपातो जयताद् यतीन्द्र ॥ ६ ॥

कार्यांना निर्णयपारदृश्वा,
गुरोश्च वाक्यानि यहत्यजस्रम् ।

क्रोधादिजेता जगदच्छिरीय —
धाराप्रवाही वचने यतींद्रः ॥ ७ ॥

गृहीन विद्याविजयः सुशिष्यः,
समस्त लोकोपकारिगणुरूपः ।
मान्नान् हि वेदान् गमयन् हि कुक्षौ,
सुखेन तस्थौ मुनिराड यतींद्रः ॥ ८ ॥

इदं हि पद्यमष्टकं कृतं मयाल्पबुद्धिना,
विशोध्य मूलतस्ततो गुणान् विभाव्य सन्ततम् ।
भणन्तु पण्डिता जनाः सभासु नान्यपूजितान्,
व्रजन्तु सज्जनाः सुखं सुरालयं स्वकर्मणा ॥ ९ ॥

—पं. पन्नालाल शास्त्री-नागर, रतलाम (मालवा)

तपसा रविरेवलसत्किरणो,
यशसा चलपार्वणचन्द्रघणः ।
वचसा ननु गीर्ष्पतिरेव भवान्,
महसा च यतीन्द्रमुनिर्जयति ॥ १ ॥

श्रीमज्जिनेन्द्रशुभधर्मधृतावतारो,
भव्योपदेशकरणाभरणार्णवौघः ।
देशाटनाटवि (प्र) पत्तनवाटुवाटः
श्रीमद्यतीन्द्र मुनिराजवरो विजीव्यात् ॥ २ ॥

मूर्त्या महर्षिरिव चन्द्र इव स्वकीर्त्या,
मत्या बृहस्पतिरिवाब्धिरिवातिधृत्या
सत्यावृतो विधिरिव श्रुतिधर्मवेत्ता,
श्रीमद्यतीन्द्रविजयोजयोऽवतु मां मुनीन्द्रः ॥ ३ ॥

—पं. विहारीलाल शास्त्री ।

शान्त-दान्त श्रीमद् यतीन्द्रसूरि

"श्रीमद्वीर सुशासनैक निरतः सन्मार्गसन्दीपकः ।
सम्यक् ज्ञानचरित्रदर्शनसरित्सत्सङ्गमस्तीर्थराट् ॥
पूतं शुभ्रवसानकं परिदधन् भव्यः सुधीः शोभनः ।
शान्तो दान्तविनीतको विजयतां वन्द्यो यतीन्द्रोऽन्वहम् ॥ १ ॥

रमाकान्त शास्त्री. सं. महा. विद्या, इन्दौर

श्रीमद् यतीन्द्रसूरि—अभिनंदन

लक्ष्मीचन्द जैन 'सरोज'

हे यतीन्द्र सूरीश्वर ! आज तुम्हारा अभिनन्दन है ।
हीरक सुखद जयन्ती पाकर पुलकित हृदय-गगन है ॥
महावीर के श्रमण-धर्म में तेरा जन्म हुआ है ।
उनकी दिव्य ध्वनि के सम ही तूं भी सुखद हुआ है ॥
गुरु राजेन्द्र के वरद हस्त ने तेरा रूप सँवारा ।
मालव के अभिराम अंक में तूं ने धर्म प्रसारा ॥
सौम्यमूर्त्ति ! गुणवान ! भाग्य भी तुझको गोद लिये है ।
स्वस्थ ! साधुसन्तुष्ट ! धन्य है ! सुखप्रद मोद दिये है ॥
तूं अगाध अध्यात्मवाद का रत्नाकर है ।
तूं अथाह व्यवहारवाद का सीमाधर है ॥
सत्य-अहिंसा, शील-अचौर्य से तुझ में रत्न अपरिमित ।
तूं चिरायु हो जग-जग का जीवन-पथ करने आलोकित ॥
जैन संस्कृति का तूं जीवित जगती पर सुखद स्रोत है ।
विश्वबन्धु तव अन्तरात्मा दया-धर्म से ओत-प्रोत है ॥
तव चिन्हों पर चलने उत्सुक यह समाज है आया ।
जिसके उर में तेरा शासन वर्त्तमान में छाया ॥
तूं महान उद्देश्य लिये बढ़ता चल पथ में आगे ।
जिससे भौतिकयुग में फिर से धार्मिकता जागे ॥
हे यतीन्द्र सूरीश्वर ! आज तुम्हारा अभिनंदन है ।
कह रहा व्यक्ति, कहता समाजः प्रमुदित हृदय-सदन है ॥

— વં દ ના —

શિશુ જયન્ત વિજય 'મધુકર'

શુ પી પ્રાન્તે ધવલપુરી નગરી આજ વિખ્યાત છે,
રહેતા હતા ત્યા શ્રેષ્ઠિવ્રજ ચપાકુમારી નામ છે
પાવન કર્યું ગૃહ એમનુ શ્રીરામરત્ને ધન્યદા,
એહવા સુગુરૂ યતીન્દ્રને વદન કરૂ છુ સર્વદા

માતા પિતા પરલોકના વાસી થયા જ્યારે અહિ,
ભોપાલમા માતુલ સમીપે રામરત્ન રહ્યા તહી
માતુલવચનથી જેમને મારગ મળ્યો અહા એકદા,
એહવા સુગુરૂ યતીન્દ્રને વદન કરૂ છુ સર્વદા

ગુરૂદેવ શ્રીરાજેન્દ્રસૂરિવર મળ્યા જ્યા આપને
દર્શન કરી વાણી સૂણી ત્યા ધોઈ નાખ્યા પાપને
ઈચ્છા રહી મ સારથી વિરક્ત બનવાની સદા,
એહવા સુગુરૂ યતીન્દ્રને વદન કરૂ છુ સર્વદા

વૈરાગ્યના શુભ ભાવનો જ્યારે જ ઉદ્ભવ થાય છે,
ત્યારે મનુજ કલ્યાણ કરવાને અહિ પ્રોગ્ય છે
જાગૃત થતા વૈરાગ્ય જેહે મર્વ છોડી આપદા,
એહવા સુગુરૂ યતીન્દ્રને વદન કરૂ છુ સર્વદા

મેળવ્યા આશીર્વચન સહી જેમણે ગુરૂદેવના
નવ નવ વરસ સાનિધ્યમા રહી જેમણે કરી સેવના
યતીન્દ્રપદ ધારણ કરી પામી સુમ યમ મપદા,
એહવા સુગુરૂ યતીન્દ્રને વદન કરૂ છુ સર્વદા

જે બાલબ્રહ્મચારી અને રહે દૂર શિથિલાચારથી,
શુધ્ધ સયમથી સુવાસિત પ્રેમ સાધ્વાચારથી,
વિશ્વમા શ્રીવીરનો સિદ્ધાન્ત પ્રસરાવ્યો સદા,
એહવા સુગુરૂ યતીન્દ્રને વદન કરૂ છુ સર્વદા

ઈન્દુ દ્વિતીયાનો યથા નિશદિન વધતો જાય છે,
ગૌરવ તણી ગાથા તથા માનવ સમૂહ નિત ગાય છે,
સાહિત્યસેવી માર્ગદર્શક ભવ્યજન તારક સદા,
એહવા સુગુરૂ યતીન્દ્રને વદન કરૂ છુ સર્વદા

ગુણગાન કરવા આપના આ લેખિનીના બહાર છે,
સદ્ભક્તિ સદ્ગુરૂદેવની સદ્જ્ઞાનનો પ્રચાર છે,
ગુરૂરાજ મમ શિરતાજ તુમ શિષ્યાણુ કરતો પ્રાર્થના,
સામર્થ્યયુત આશીષ અર્પો પૂર્ણ હો સબ કામના.

पुष्पांजलि........

गुरुदेव !

बाल्यावस्था से ही आपने संसार को निस्सार समझ कर, स्नेहीजनों का स्वार्थपूर्ण स्नेह जान कर, सत्पथप्रदर्शक सद्गुरु श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के पावन करकमलों से भागवती-प्रव्रज्या को अंगीकार की. गुरु-सेवा में रह कर के सद्ज्ञान को प्राप्त किया और गुरुगच्छ को समुन्नत बनाने के लिये हमेशां तत्पर रहे। आज पर्यन्त उन गुरुदेव के सिद्धान्तों पर अडिग चल कर हम जैसे भूले पथिकों को मार्गप्रदर्शन किया।

महामहीम !

आप के उन गुणों का वर्णन मेरी चन्द पंक्तियां कैसे कर सकती हैं ? हीरकजयन्ति के पुण्य पर्व पर हार्दिक भावना से आपश्री दीर्घायु हों, जिस से हम जैसे अज्ञानियों का मार्ग सरल बन सके। इस शुभकामना के साथ शत-शत वंदन करता हूं......

—भवदीय चरणरेणु
मुनि शान्ति विजय की वन्दना।

कुसुमाञ्जलि

पूज्यपाद् गुरुदेव !

आपकी चरण-रेणुका स्पर्श कर न जाने कितने मानव धर्मश्रद्धा को प्राप्त होगये और न जाने कितने अंधकूप में पड़ने से बच गये। शुभकर्मों के उदय से हमको आपके पावन चरण-कमलों की निश्रा प्राप्त हुई। और आपने हमको दीक्षा देकर भव सुधारने का सुयोग दिया। इतना ही नहीं अद्यावधि हमारे साध्वीपन को सच्चा साधुत्व प्राप्त हो यह आपका निरंतर ध्यान रहा। हमारे जैसे ही अनेक बालमुनि आपका सान्निध्य, अधिष्ठापन, निश्रा प्राप्त करके अपना नरभव सुधार रहे हैं। हे पूज्य गुरु ! आपको हम इस हीरक-जयन्ती के शुभावसर पर इन शब्दों में श्रद्धाञ्जलि अर्पित करती हैं कि हम सर्व अधिकाधिक आपकी दया, कृपा का पात्र चारित्र साध कर बनी रहें।

विनीता—
श्रमणी संघ

गुरु--जीवन की झलक

लेखक—ज्योतिषविशारद मुनि श्रीसागरानन्दविजयजी ।

वे अपना पादविहार दिनोंदिन आगे बढाये जा रहे थे। पैरों में से निकलने वाला रक्त भूतलपर पडे रजकणों को लाल रंग से रंगीन बनाये जा रहा था। कच्छ की वह भूमि, शरदऋतु, ठंडी हवा, प्रातःकाल का समय! अपने इस अस्थिर देह की कुछ भी परवाह न कर के राही आगे ही बढा जा रहा था।

कौन है वह? देखते-देखते उस भूमि का विचरण कर के सौराष्ट्र की पुण्यभूमि में रहे तीर्थाधिराज पालीताणा की ओर प्रस्थान कर दिया। तीर्थाधिराज की यात्रा करके मालवभूमि को भी पावन कर दी।

एक समय धवलपुर एवं भोपाल के डमररोड पर चलनेवाला अपने पैरों में बूट-चप्पल पहन कर फिरनेवाला, श्रेष्ठि ब्रजलाल की आखों का तारा, प्रिय माता चम्पा का दुलारा वह रामरत्न! भाग्य की विचित्र गति से कौन बच सका है भला! अच्छे या बुरे कामों में प्रेरित होते क्या देर लगती है! पर कोई ऐसा प्रसंग या निमित्त जबतक नहीं आता तब तक विचार मन ही मन में रहते हैं। छ वर्ष की लघुवय में ही माताजी परलोक की यात्रणी बन गई। रामरत्न एवं अपनी अन्य चार संतानों के साथ श्रेष्ठिवर्य ब्रजलालजी धवलपुर छोडकर भोपाल आ बसे। प्यारे रामरत्न को अध्ययनार्थ भेजा गया। अल्प समय में ही योग्य विद्या उपार्जन कर ली। आह! पर यह क्या! पिताजी भी अपनी पांच संतानों को यहाँ असहाय छोडकर सदा के लिये सो गये!

मामाजी ठाकुरदासजी थे। रामरत्न की बुद्धिमत्ता और सुशीलता को देखकर उन्होंने रामरत्न को अपने घर पर रख लिया! रामरत्न भी बहुत ही प्रेम से मामाजी को प्रत्येक कार्य में सहायक बन गया। पर इतने में यह क्या! मामाजी के एक बार कटु शब्दोंने रामरत्न के नेत्र एकायक खोल दिये। वह तो पहले ही सजग था। मामाजी से और शिक्षा मिली। उसी क्षण में भोपाल का त्याग किया और निकल गया दुनिया की लीला का दर्शन करने के लिये रामरत्न! सिंहस्थ को देखकर महेंदपुर आये और भाग्य का चांद चमका! मिल गये सरस्वतीपुत्र श्रीमद् राजेन्द्रसूरि! उन्हीं से पाया मार्गदर्शन और बने श्रीयतीन्द्रविजयजी!

कहो, क्या कमी रह सकती है फिर और विद्वत्शिरोमणि गुरु मिलने के बाद! कर लिया आवश्यकीय अध्ययन और पा लिया गुरुवर का सच्चा आशीर्वाद! बात-बात में १० वर्ष व्यतीत हो चुके! इतने में यह क्या? जिन की पावन कृपादृष्टि से इतने आगे बढे! जिन्होंने समझाया मानवजीवन का उत्थान कैसे हो—इस बात को। उन्हीं परम कृपालु गुरुदेव का भी वियोग! संयोग के बाद वियोग होता ही

है। मुनि श्रीयतीन्द्रविजयजी भी इस प्रकार के संयोग-वियोग से बच नहीं सके। किस को दुःख नहीं होता अपने पिता या गुरु के वियोग का! भगवान् महावीर के प्रथम गणधर श्रीगौतमस्वामीजी को भी भगवान् के वियोगने थोडी देर पागल से बना दिये थे! मुनिश्री ऐसे चक्र को आज तक कई बार देख चुके थे। अतः हिंमत रक्खी! उत्साह से काम में हाथ बटाया और समाज-सेवा एवं आत्मोद्धार के कार्य में तत्पर हो गये!

बात-बात में दिन चले जा रहे थे। राजस्थान की वह भूमि! यू. पी. में आगरा-मरुधर में बागरा! जहाँ विराजित थे श्रीमद्विजयधनचंद्र सूरीश्वरजी! आचार्य देवकी आज्ञा पाकर मुनिश्री व्याख्यानपीठ पर पधारे और अपनी पियूषवाहिनी देशना शुरू की। व्याख्यान चलता रहा। इस प्रकार जनप्रिय रोचक शैली से व्याख्यान दिया कि एक भी बच्चा न उठा, न बोला! सभा खचाखच भरी हुई थी। व्याख्यान समाप्ति के बाद आपको 'व्याख्यान-वाचस्पति' पद से विभूषित कर दिया।

विराट बृहद्विश्वकोश श्रीअभिधानराजेन्द्र को श्रीमद्विजयभूपेंद्र सूरीश्वरजी के साथ में रह कर संशोधित कर मुद्रित करवाया! सं. १९५७ का वर्ष आया। बागरा चातुर्मास में ही गच्छपति धनचन्द्र सूरीश्वरजी का स्वर्गवास हो गया। बागरा से मुनिमंडल का सियाणा पधारणा हुआ। वहां पहुँचने पर मालवभूमि को पावन कर रहे शान्तमूर्ति उपाध्याय श्रीमन्मोहन विजयजी के स्वर्गवास के अत्यंत दुखदायी हृदयविदारक समाचार आये! मुनिवृंद में शोक छा गया! फिर भी आपने हिम्मत दी और मुनिगण आहोर आ उपस्थित हुआ। सर्वानुमत से समाज के नायक के सम्बन्ध में विचार—विनिमय हुआ और तीन वर्ष बाद आचार्यपद देनेके लिये तैयारियां होने लगीं। मालवभूमि का सुहावना शहर जावरा! जहां स्व. प्रभुश्रीमद्विजयराजेन्द्र सूरीश्वरजीने क्रियोद्धार कर आत्मकल्याण का सही रास्ता समाज को बतलाया था। समय व्यतीत होते क्या देर लगती है! समय भी आ गया। ज्येष्ठ मास था। अष्टमी जयप्रदा तिथि थी। शुभ योग और शुभ लग्न नवांश भी था। चतुर्विध संघ के समक्ष मुनिप्रवर श्रीमद्दीपविजयजी को गच्छनायक बनाये गये। सहपाठी, सहयोगी और सर्वगुणसंपन्न मुनिश्रीयतींद्र-विजयजी को उपाध्याय पद से विभूषित किये गये। नायक की आज्ञा में रहकर भारतभूमि के गूर्जर, कच्छ, मरुधर, मेवाड, नेमाड एवं मालव प्रांतीय गाँव, नगर में भ्रमण करना शुरू किया। शीत आपको सताने में असमर्थ रही। उष्णताने आंपके आगे घुटने टेक दिये। आपने शीत और गर्मी की कुछ भी परवाह न की और अपने विहार को अप्रतिवद्ध रक्खा।

देखते हैं और देखे हैं कई अपनी नजरों से जाते हुए! कौन रह सकता है अमर भला! जिस का नाम हुआ उस का नाश होगा ही! कुक्षी (म०प्र०) में

आप विचरण करते हुए पधारे। चातुर्मास १९९३ का वहा पर ही किया। चातुर्मास समाप्त हो गया, हेमत पूर्ण हुई और शिशिर भी पूर्णाहुति में ही थी। सुखशान्तिपूर्ण वातावरण था। समय सायकाल था। एक लिफाफा आया। टेलीग्राम का था वह! खोला और पढ़ा! अत्यत दुःखदायी समाचार विदित हुए! गच्छपति श्रीभूपेन्द्र सूरिजी महाप्रयाण कर गये! आनद के वातावरण में शोक छा गया! अपने पर रहे छत्र के इस प्रकार टूट जाने से आप को दुःख हुआ! पर क्या किया जाय! देववदनादि क्रिया कर के स्वर्गस्थ की आतमा को शाति की कामना की। स १९९४ का चातुर्मास आलिराजपुर में किया और तत्पश्चात् लक्ष्मणी तीर्थ का पुनरुद्धार करवाया।

बात की बात में समय बीता जा रहा था। मरुधर से चतुर्विध सघ का एक पत्र आया। आपको शिघ्र उधर पधारने के लिये विनती थी। श्रीसघ की आज्ञा मान्य कर विहार कर दिया। निमाड, मेवाड, गोडवाड, की भूमि को पावन करते हुये पधार गये आहोर! जहा था मुनिसमुदाय! श्रीसघने आपको गच्छभार देने का निर्णय कर लिया था।

निश्चित् दिन आ गया। धूम मच गई सारे नगर में। चारों ओर से भक्तजन उतर रहे थे राजस्थान के आहोर नगर में! आहोर के लिए कहावत है कि "पजाब में लाहोर–मरुधर में आहोर"। पर आज तो इस की शान और भी चमक गई थी। वैशाख मास की दशमी तिथि, प्रात काल १० बजनेपर उपाध्याय श्रीमद् यतीन्द्र विजयजी को गच्छाधीश पद पर आरूढ किय गये और समाज का शासन हाथ में दिया और बैठे जनसमूहने "गच्छपति श्रीयतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज की जय" के नारों से आकाशमंडल गुञ्जित कर दिया। सघने अपने मार्गदर्शक श्रीयतीन्द्र मुनीन्द्र के दीर्घायु की कामना की। इसी अवसर पर क्रियापात्र मुनि श्रीगुलाबविजयजी को उपाध्याय पद से अलकृत किये गये। बस, तब से लेकर आज तक आप समाज का सचालन सुचारु रूप से कर रहे हैं। आप का सारा ही जीवन उपकारमय ही बीता। वृद्धायु में भी आप जनकल्याणकारी अनेक कार्य कर रहे हैं, जिन का वर्णन हम जैसे अज्ञानी कैसे कर सकेंगे! यद्यपि आप की वृद्धावस्था होगई है तथापि आपके विचार बहुत ही क्रान्तिकारी है। समाज–सगठन, जाति–सुधार एव साहित्य–निर्माण आप का परम ध्येय रहा है। हम जैसे अज्ञानियों को रास्ते पर लगाया और पथ–प्रदर्शन किया।

गुरुदेव! आप के शरण को पाकर मैंने मेरी यथाशक्ति साधना की। आप की कृपादृष्टि जैसी है वैसी बनी रहे-इस शुभाभिलाषा में मेरी कलम को विश्राम देता हूँ!

आचार्य श्री यतीन्द्रसूरीश्वरजी के मालव-भ्रमण
के

स्मरणीय ये तीन वर्ष

लेखक :— श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वरान्तेवासी — मुनिजयप्रभविजय

"पधारिये, गुरुदेव! पधारिये। मालवे के निवासी आपका स्वागत करने के लिये अत्यधित उत्सुक हैं। आपका विरह पांच वर्ष या दस वर्ष नहीं: परन्तु पच्चीस वर्ष तक उन्होंने सहन किया है। मालववासी अब इस प्रकार आपका विरह सहन करने को समर्थ नहीं हैं। क्या कहें! गुरुदेव! एक-एक मानव आपके पावन उपदेश से अपने आपको पवित्र करने की अभिलाषा रख रहा है।" मालव प्रान्त के आगन्तुक भक्त जन कह रहे थे मरुभूमि को पवित्र बना रहे गुरुदेव से।

क्या किया जाय क्षेत्र-स्पर्शना जहां की होती है वहाँपर ही जाया जाता है। आपकी इतनी तीव्र अभिलाषा है तो आपकी भावना भी पूर्ण होगी।" बात की बात में दिन चले जारहे थे। आहोर का चतुर्मास पूर्ण हुआ और मालव भूमि के भाग्य का उदय हुआ। गुरुदेव का मुनि-मण्डलसह विहार हुआ मालव प्रान्त की ओर।

मार्ग में श्री केशरियाजी तीर्थ की यात्रा करते हुये क्रमशः दाहोद पधारे। वहां पर थान्दला, झाबुआ व राणापुर का श्री संघ आया। उन्होंने अपने-अपने गांव में पधारने की प्रार्थना की। किंतु आचार्यश्रीने लाभालाभ को सामने रखते हुए राणापुर पधारने की स्वीकृति दी। वहां से श्री लक्ष्मणी तीर्थ के लिये संघ निकला और श्री लक्ष्मणी तीर्थ के दर्शन करने के पश्चात् अलिराजपुर, कुकसी, बाग, टाण्डा, रिंगणोद इत्यादि क्षेत्रों में पधारे। वहां पर आपका अपूर्व स्वागत हुआ। पश्चात् आप मोहनखेडा तीर्थ पधारे।

अहा! यह क्या! मालव भूमिका मनहर पावन तीर्थ-क्षेत्र मोहनखेड़ा गुञ्जित हो रहा था। जंगल में मंगलसा हृदय पुलकित हो रहा था। मानव मात्र के दिल को लहरा रही थी आनंद की लहरें। कितने वर्षों में अपना भाग्य चमका-इस खुश हाली मे गांव - नगर का जनसमूह आज आ गया था श्री मोहन खेड़ा की पूण्य भूमि पर। श्री सौधर्मगच्छाधीश प्रभु श्री राजेन्द्रसूरीश्वर जी का समाधि-मंदिर एवं शत्रुञ्जयावतार श्री आदिनाथ प्रभु का मन्दिर है जहां पर। जंगम स्थावरतीर्थ की यात्रा का लाभ कौन चूक सकता है भला!

पधारने के पश्चात् गुरुदेवश्रीने अपने मंगल प्रवचन को प्रारम्भ करते हुये समाज को संदेश दिया, "हमारा समाज धनवान् है, विचारवान् है, अतः अब

भविष्य के लिये भी कुछ कर लेने के लिये सतर्क होना चाहिये।' समाज में अज्ञानता का बोल बाला है और सद्ज्ञान का ह्रास होता जा रहा है। हमें अब जाग्रत होकर समाज में सद्ज्ञान की सरिता बहाने के लिये एक ऐसी संस्था का निर्माण करना चाहिये जहां से हमारे बच्चे सच्चे रत्न बनकर निकलें एवं विश्व को जगमगा दें। अपने सिद्धान्तों को समझलें और अन्यों को समझाने के प्रयत्न में सफलता प्राप्त कर सकें।" १० बज गये थे। गुरुदेव ने विशेष न कहते हुये केवल समाज का संगठन हो और शिक्षा का प्रचार हो – यही मेरी आन्तरिक मनो-कामना है, यह कर अपने प्रवचन को पूर्ण किया। वह समय, वह दृश्य आज भी घूम रहा है नजर के सम्मुख।

मालववासी आज गद्गद् हो उठे चिर काल से प्रतीक्षा थी जिनकी उनके आने पर।

दूसरे दिन जगह-जगह के श्री संघों ने चातुर्मासार्थ गुरुदेव से प्रार्थना की। समय देखकर गुरुदेव ने राजगढ चातुर्मास करने की स्वीकृति प्रदान कर दी। चारों ओर हर्षध्वनि से जयनाद हो उठे।

अषाढ वदि ३ का प्रात: काल था। गुरुदेव ने चातुर्मासार्थ राजगढ में प्रवेश किया। क्या उस समय की स्वागत की तैयारी! राजगढनिवासियों ने अपूर्व उल्लास एवं हर्ष से गुरुदेव का प्रवेशोत्सव मनाया।

चातुर्मास के अंतर्गत मोहन खेडा की पुण्य भूमि पर "गुरुकुल" स्थापना के लिये राजगढ संघ की तरफ से सहायता प्रदान की गई और बाद में समीपस्थ गावों में भी इसके प्रचार के लिए श्री बालचन्दजी मास्टर आदि को भेजे गये। उन्होंने इसके लिये अच्छा सहयोग प्राप्त कर लिया और फलत: मालव प्रान्तीय प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। जिस में करीब ३१ गावों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सर्वानुमत से एक गुरुकुल व्यवस्थापक-समिति का निर्माण किया गया। उसके अध्यक्ष, उपाध्यक्ष एवं मंत्री, कोषाध्यक्ष चुने गये और गुरुकुल की स्थापना का निश्चय किया गया।

चातुर्मास के पश्चात् गुरु-सप्तमी का पुण्य पर्व श्री मोहन खेडा तीर्थ में बड़े ही ठाठ से मनाया गया। चैत्र सुदि १० को श्री मोहन खेडा तीर्थ में ही मन्दिर पर ध्वजदंड की पू. गुरुदेव के हाथ से प्रतिष्ठा की गई।

राजगढ से विहार करके गुरुदेव श्री मुनि-मण्डल सह मेडगाँव, दशाई, कठोद, कानुन, अमला होते हुये बडनगर पधारे। अर्ध शताब्दी की योजना कार्यान्वित करने के लिए 'अखिल भारतीय राजेन्द्र समाज के प्रथम अधिवेशन को" यहां पर करने के लिये अनन्य श्री संघ ने बहुत साग्रह प्रार्थना की। गुरुदेव ने श्री संघ की प्रार्थना स्वीकार कर ली और बस त्वरा से सम्मेलन की तैयारियां होने लगीं।

तार, टेलिफोन और डाक के द्वारा आमंत्रण–पत्रिकाएं जगह–जगह भेज दी गई। इस सम्मेलन में यह निश्चित करना था कि आगामी पौष सुदि ७ को परम पूज्य गुरुदेव प्रभु श्रीमद् विजय राजेंद्र सूरिश्वरजी महाराज का अर्ध–शताब्दी–महोत्सव कहां मनाया जाय ? इस प्रश्न को लेकर यह सम्मेलन तारीख २६–२७ मई १९५६ को पूज्य गुरुदेव के तत्वावधान मे हुआ। इस अवसर पर मालवा, मारवाड, गुजरात आदि प्रदेशों से करीबन ५०० प्रतिनिधि उपस्थित हुए। २६ मई को गुरुदेव श्री के मंगल प्रवचन के साथ सम्मेलन की कार्यवाही शुरू हुई। २७ मई को सुबह प्रतिनिधियों के एक मत से यही निश्चित हुवा कि अर्ध–शताब्दी–महोत्सव परम पवित्र तीर्थ श्री मोहन खेडा में ही मनाया जाय। यह घोषणा होते ही सारा पंडाल जय-ध्वनि से गूँज उठा। दोपहर को वहार से आये हुए प्रतिनिधियों ने अपने–अपने नगर नगर में चातुर्मासार्थ पधारने के लिये गुरुदेव से प्रार्थना की। समय एवं लाभालाभ को देखकर गुरुदेव ने खाचरौद चातुर्मास करने की स्वीकृति प्रदान की। पश्चात् अधिवेशन की समाप्ति पर एक अपूर्व जुलूस निकाला गया। इस भव्य जुलूस के मध्य में स्व. गुरुदेव श्री का चित्र एक पालखी में रखा गया। जुलूस सारे नगर में होता हुआ पौपध शाल पर जा समाप्त हुआ। इस प्रकार दो दिवसीय सम्मेलन हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हुआ।

वडनगर से गुरुदेव मुनि-मण्डल सह विहार कर मार्ग में मोटा बालोदा खरसोद, पचलाना आदि गांवों में विचरते हुए रतलाम पधारे वहां समस्त जनता ने आपका हार्दिक स्वागत किया। यहां पर पधारने पर गरुदेव ने समाज को यह संन्देश दिया कि आधुनिक विज्ञान युग में भी हम हमारे अहिंसा सिद्धान्त के द्वारा विश्व में शान्ति फैला सकते हैं, परन्तु वह हमारे जीवन में पूर्ण रूपेण उतारने पर ही समाज-सुधार और संगठन पर भी आपने जोर दिया। गुरुदेच श्री के आगमन पर यहाँ के श्री संघ ने अट्ठाई–महोत्सव का आयोजन किया। आठों ही दिन विविध प्रकारी पूजाएं पढाई गई। अट्ठाई-महोत्सव की समाप्ति पर एक जुलूस निकाला गया। इस जुलूस में भाग लेने के लिये वहार से खाचरौद, जावरा, वडनगर, इन्दौर, उज्जैन, मन्दसौर, लिम्बाहेडा, निमच, पचलाना, शिवगढ आदि नगरों से कई श्रावक श्राविकाएं आई थीं। इस प्रकार यह महोत्सव शान्ति से सम्पन्न हुआ। वाद में गुरुदेव ने मुनि –मण्डल सह जावरा की ओर विहार किया। रास्ते में धूंसवास, नामली, लुहारी आदि गांवों में ठहरते हुए गुरुदेव श्री जावरा पधारे।

यहाँ की समस्त जनता आपका स्वागत करने को स्टेशन की फाटक पर तैयार थी। वहां से पिपली वजार तक सारा मार्ग तोरण व दरवाजों से सजाया गया था। जनता ने आप श्री का हृदयोल्लास पूर्वक स्वागत किया। करीबन ९ वजे आप पौषध-शाला में पधारे। वहां आप श्री ने अपार मानव मेदिनी के मध्य मुख्य पाट के ऊपर विराज कर मांगलिक प्रवचन दिया। आपके प्रवचन में मुख्य तीन बातें रहीं। समाज का संगठन हो, समाज का प्रत्येक वालक, वालिका धार्मिक शिक्षा से शिक्षित हों और

समाज के मुख पत्र मासिक 'शाश्वत धर्म' का अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार हो। गुरुदेव श्री ने अपने मांगलिक प्रवचन को चालू रख कर जावरा श्री संघ को सम्बोधित करते हुए कहा, "मैं आज बहुत लम्बे समय के बाद यहां आया और जावरा श्री संघ ने स्वागत करके शासन प्रभावना के साथ अपनी भक्ति का परिचय दिया, परन्तु यह सब तब ही स्तुत्य कहा जा सकता है जब आप सर्व उपरोक्त तीन बातों का यथाशक्य पालन कर दिखलायेंगे।" आप श्री के प्रवचन का जावरा श्री संघ पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा। दो दिन बाद संघ ने खाचरौद, रतलाम, बड़नगर, इन्दौर, उज्जैन, नागदा, महींदपुर, निंबाहेड़ा, नीमच, मन्दसौर आदि आस-पास के समाज के प्रतिनिधियों को बुलाकर सर्व सम्मति से पिपलोदा के जातिभाइ ५०० ओसवाल घर के साथ जो ३०१ वर्ष से बहिष्कृत थे खान-पान आदि व्यवहार चालू करने की गुरुदेव के समक्ष घोषणा कर दी। घोषणा होते ही चारों ओर हर्ष ही हर्ष छा गया। दैनिक पत्रों ने भी इन समाचारों की अच्छी प्रशंसा की और साथ ही अपने-अपने हार्दिक शुभ भाव व्यक्त किये।

अषाढ सुदि २ को सुबह आपने खाचरौद की ओर चातुर्मासार्थ मुनि-मण्डल सह विहार किया। रास्ते में बनाबदा, घीनोदा आदि गावों में होते हुए आप अषाढ सुदि ६ को खाचरौद पधारे। वैसे तो नगर-प्रवेश ६ को ही करना था, किंतु वर्षा के कारण ६ रोज सेठ टेकाजी इन्द्रमलजी की ओइल मिल में मुकाम किया। सप्तमी को सुबह ५ हजार मानवमेदिनी के साथ आपश्री नगर में पधारे। सारे नगर में घूमते हुए साडा नव बजे आपश्री लिमडावासस्थित श्री राजेन्द्र भवन में पधारे। वहा जाते ही आपश्री का मांगलिक प्रवचन हुआ। आपश्री ने प्रवचन में यहीं कहा, "दूसरों की भलाइ ही मनुष्य का आभूषण है। मानव मात्र को हमेशा यहीं भावना रखना चाहिये कि मेरे द्वारा हर बार दूसरों की भलाइ हो। समाज को अनेक मार्गदर्शनयुक्त आपका प्रवचन हुआ। आपश्री के आगमन से सर्वत्र हर्ष छा गया था। समाचारपत्रों ने भी अपनी शुभकामनाए प्रकट कीं।

खाचरौद में आपश्री ने अपने ओजस्वी उपदेश से पिपलोदा समाज के साथ खान-पान आदि का प्रस्ताव पास करवा कर श्री संघ में घोषणा करवाई।

कार्तिक वदि २-३ दिनाङ्क २०-२१ अक्टूम्बर को अखिल भारत वर्षीय राजेंद्र समाज का द्वितीय अधिवेशन सेठ टेकाजी इन्द्रमलजी की अध्यक्षता में किया गया। इस सम्मेलन में यही निश्चित करना था कि आगामी पौष शुक्ला ७ को कई अड़चनों से "श्री अर्धशताब्दी महोत्सव" नहीं मनाया जा सकता था। अत कब मनाया जाय? महोत्सव की व्यवस्था के लिये अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, स्वागताध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, मंत्री आदि का चुनाव भी करना था। इस सम्मेलन में मालवा, मारवाड़, गुजरात आदि प्रदेशों से ३०० प्रतिनिधि उपस्थित हुए। विचार-विनिमय के साथ

"अर्ध-शताब्दी-महोत्सव आगामी चैत्र सुदि १३-१४-१५ और वैशाख वदि १ को मनाने का निश्चित किया गया। उत्सव के सभी कार्य सम्पन्न करने के लिये एक सर्वाधिकार समिति १०१ आदमियों की बनाई गई। इसके अन्तर्गत सभी समितियों का निर्माण किया गया। समिति के संचालन के हेतु सर्व सम्मति से अध्यक्ष-धराद निवासी शेठ गगल भाई हालचंद संघवी, उपाध्यक्ष-रतलाम निवासी डाक्टर प्रेमसिंहजी राठोड़, स्वागताध्यक्ष-इन्दौर निवासी पण्डित जुहार मलजी जैन शास्त्री न्याय-काव्य-तीर्थ, कोषाध्यक्ष-रतलाम निवासी शेठ श्री कन्हैयालालजी काश्यप एवं राजगढ़ निवासी केसरीमलजी आस्वोर, मंत्री-राजगढ निवासी मांगीलाल जी छाजेड़ को बनाया गया। दिनाङ्क २१ की संध्या को अध्यक्ष महोदयने सम्मेलन की समाप्ति की घोषणा की। इस प्रकार सम्मेलन की व्यवस्था प्रशंसनीय ढंग पर रची गई। इस प्रकार चातुर्मास में अनेक धर्म-कार्य होते रहे व महदानन्द के साथ चातुर्मास पूर्ण हुआ।

चातुर्मास के बाद "गुरु सप्तमी" उत्सव पूर्ण उत्साह के साथ मनाई गई। सुबह में प्रभात फेरी निकाली गई। मन्दिरों के दर्शन करते हुए सारे नगर में फिर कर जनसमूह गुरुमन्दिर में गुरुदेव के दर्शन कर पुनः राजेन्द्र भवन में आया। जुलूस यहां पर सभा के रूप में परिणित हुआ। सभा को गुरुदेव श्री यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने सम्बोधित करते हुए कहा "जिस उत्साह व प्रेम से श्री संघ ने यह जयन्ती मनाई है वही उत्साह प्रेम सदैव ही बना रहना चाहिये। अपन सब मिलकर हर वर्ष महान् आत्माओं की जयन्तियां मनाते हैं; किन्तु उनके नाम के अनुरूप कोई न कोई स्थाई चीज बनाना चाहिये जिससे वह अपने को हमेशा उनकी याद दिलाती रहे"। आप श्री की वृद्धावस्था होते हुए भी आपने संक्षिप्त व सारगर्भित भाषण दिया। अन्त में मुनिराज विद्याविजय जी ने श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए "अर्धशताब्दी" की सारी रूपरेखा पर प्रकाश डाला। जयध्वनि के साथ सभा विसर्जित हुई।

पौष सुदि १० को सुबह नव बजे खाचरौद से आप श्री ने मुनि-मण्डलसह पिपलौदा की ओर विहार किया। रास्ते में भैंसोला, पारड़िया, सेमलिया, उवरवाड़ा आदि गांवों में स्थिरता करते हुये आप पिपलौदा पधारे। यह वही पिपलौदा है जहां के निवासियों को आपने अपने ओजस्वी उपदेश से समाज में मिलाये और खान-पान आदि चालू करवाया। आपश्री का यहां की जनता ने बहुत ही अच्छा स्वागत किया। यहां आपश्री की तत्वावधानता में बृहदशान्ति स्नात्रपूजा पढाने का माघ वदि ५ को आयोजन किया गया था। माघ वदि ५ के रोज बहुत ही हर्षोल्लास के साथ पूजा पढाई गई। आठों ही रोज विविध पूजाओं का आयोजन किया गया था। बाहर से भी ४ हजार की भावुक मानवमेदिनी उपस्थित हुई थी। यहां से आप श्री ने रतलाम की ओर विहार किया। मार्ग में हथनारा, नामली, सेजावता आदि गांवों में धर्मोपदेश देते हुए आप

रतलाम पधारे । जनता ने आपश्री का अच्छा स्वागत किया । यहा आप १५ रोज तक विराजे । बाद में विहार कर सागोदिया तीर्थ के दर्शन करते हुए श्रीभडोद तीर्थ पधारे । वहा से शिवगढ, बासुन्द्रा, रायपटी, किशनगढ, बामनिया, खवासा, थान्दला, अम्राल, मेघनगर, झाबुआ, राणापुर, पारा आदि गावों में धर्मोपदेश देते हुए आप श्री स्वशिष्य—मण्डल सह फागण सुदि १३ को श्री मोहन खेडा तीर्थ भूमिपर पधारे । रास्ते के गावों की जनता ने आप श्री का स्वागत किया । हर एक गाव में आपके पधारने से अपूर्व उल्लास की वृद्धि हुई ! श्री मोहन खेडा तीर्थ पर अर्धशताब्दी महोत्सव की जोरोंसे तैयारिया होने लगीं ।

यह श्री शत्रुञ्जयावतार श्री आदिनाथ भगवान् का तीर्थ स्थान है और सोने में सुगध वाली कहावत के अनुसार यह तीर्थ तो है ही, किन्तु प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का समाधि—मन्दिर भी यहीं पर है। मूल मन्दिर श्री आदिनाथ भगवान् के समुख में दोनों ओर श्री पार्श्वनाथ भगवान् के मदिर हैं । इनके सामने गुरुदेव का समाधि—मदिर है । पीछे की ओर श्री आदिनाथ भगवान् की चरणपादुका है । यह तीर्थ राजगढ से पश्चिम दिशा में एक मील की दूरी पर है ।

इधर अर्धशताब्दीमहोत्सव के दिन भी निकट आगये थे । सारे भारत एव भारतेतर देशों में भी उत्सव का प्रचार बहुत अधिक हो चुका था और आगे भी प्रचार चालू ही था । निकट भविष्य में काम जोरोंसे चलाया गया । सर्वप्रथम यात्रियों के ठहरने के लिये विशाल "श्री राजेन्द्र नगर" का निर्माण किया गया । साथ ही 'यतीन्द्र सदन' 'भूपेन्द्र सदन' 'धनचन्द्र सदन' 'श्री सिद्धचक्र सदन' आदि उपनगर भी बनाये गये । भक्तसमूह ज्यादा से ज्यादा साथ में बैठकर गुरुदेव को श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर सके-इस दृष्टि से श्री राजेन्द्र नगर' के समीप ही एक विशाल पण्डाल की रचना की गई थी। ऊपर के भाग में "श्री राजेन्द्र-चित्रकला प्रदर्शनी" का निर्माण किया गया था । कलाकारों ने उसको सुन्दर ढग से सजाया था । इस प्रकार तैयारिया होते-होते महोत्सव का समय भी निकट आगया ।

चैत्र सुदि १३ (१२ अप्रेल) १९५७ से उत्सव का प्रारभ हुआ और वैशाख वदि १ (१५ अप्रेल) तक यह उत्सव चला । इतनी अल्प अवधि में भी मरुधर, मालव, गूर्जर प्रान्तों से हजारों की सख्या में भक्तजन उत्सव में भाग लेने के लिये उपस्थित हुए । आप के तत्त्वावधान में चैत्र सुदि १५ को प्रात स्वर्गस्थ गुरुदेव को मानवमेदिनी ने श्रद्धाञ्जलि अर्पित की एव 'स्मारक ग्रन्थ' समर्पित किया । वर्त्तमानाचार्य श्री ने अपने प्रवचन में समाज को यही सन्देश दिया कि जमाने को देखते हुए हमें अब अपने आपको सम्हल जाना आवश्यक है। आज हम सभी गुरुदेव को श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने के लिये एकत्रित हुए हैं। परन्तु इसकी सच्ची याद हमेशा

मगसर वदि १ को सुवह ७ वजे आपश्री ने मुनि–मण्डल सह विहार किया। गाँव के वहार गुरुदेव श्री ने मांगलिक प्रवचन सुनाते हुये यही कहां कि राणापुर श्री संघ ने जो यहां कार्य किये हैं वे सभी प्रशंसनीय है, किन्तु हां, आपने जो कार्य यहां चालू किये हैं उनमें कोई भी प्रकार की रुकावट मत करना। गुरुदेव की कृपा से सब आनन्द ही होगा। इतना आशीर्वाद देकर आचार्य श्री ने आगे विहार किया।

रास्ते में खडकुई, पारा, पडासली, छडावद होकर आप मगसर सुदि ६ को श्री मोहन खेडा तीर्थ क्षेत्र में पधारे। यहां पर मगसर सुदि १० को श्री पार्श्वनाथ भगवान् के नूतन मंदिर की प्रतिष्ठा की। वहां से इग्यारस को राजगढ़ गांव में पधारे। यहां से विहार तो बहुत ही जल्दी करना था, किन्तु श्री संघ के आग्रह से आप पौष सुदि ७ तक यहीं विराजे।

गुरु–सप्तमी बड़े ही समारोह के साथ में यहीं पर मनाई गई और पश्चात् कार्य वशात कुछ रोज ठहर कर नागदा श्री संघ की विनती को स्वीकार कर माघ सुदि १० को विहार कर मार्ग में बोला, जोलाणा, लावरीया, वरसन्ड एवं खतगढ़, बदनावर, काछी वडोद, रतागड खेडा, गजनी खेडा, पचलाना, कमेड, मडावदा आदि गांवों में धर्मोपदेश प्रदान करते हुवे खाचरौद हो कर नागदा पधारे। वहां पर फाल्गुन सुदि ४ के दिन प्रतिष्ठा का आयोजन आप ही की सानिध्यता में सम्पन्न किया गया। यहां पर प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न करवा कर आपश्री खाचरौद पधारे। खाचरौद श्री संघ के आग्रह सें आप कुछ रोज वहीं विराजे। वहां के श्री संघ को यह तो ज्ञान था ही की वर्त्तमानाचार्य देव श्री का "हीरक जयन्ती" मनाने का समाज में कई रोज से विचार चल रहा है। क्योंन यह शुभ कार्य खाचरौद में सम्पन्न किया जाय? यह विचार होते ही श्री संघ ने विचार कर यह कार्य चैत्र सुदि तेरस (१३) २ अप्रेल से ५ अप्रेल १९५८ वैशाख वदि १ तक चार दिन का उत्सव मनाना निश्चित कर दिया।

हर्ष की वात तो यह है कि जहां पर आप श्री ने अल्प वय में १९५४ में स्वर्गस्थ विद्वद्शिरोमणि श्रीमद्विजय प्रभु राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के शुभ हस्त से भागवती दिक्षा अंगीकार की थी वहां पर ही आपके धन्य जीवन का ६० वर्ष के दीर्घ तपस्वी जीवन का "हीरक जयन्ती" उत्सव कर एक "अभिनन्दन ग्रन्थ" भेट करने का आयोजन किया जारहा है।

इस शुभ महोत्सव की आमंत्रण पत्रिका के साथ मे खवर भेज दीगई। इस शुभावसर पर विद्वद्सम्मेलन, कवि–सम्मेलन, संगीत सम्मेलन आदि का आयोजन किया गया।

५ अप्रेल को आपश्री को "अभिनन्दन ग्रन्थ" भेट दिया गया। इस के उत्तर में आप श्री ने समाज को संवोधित करते हुये कहा कि —

वर्त्तमान विश्व बहुत ही सकटों से गुजर रहा है। प्रत्येक समाज अपने उत्कर्ष के लिये प्रयत्नशील है। तब मेरा समाज से यही कहना है कि वह भी अपनी उन्नति के लिये जो मार्ग हैं उनका शीघ्र अनुसरण करें और उसके-लिये सब से पहिले आवश्यकता शिक्षा की है। अत इसकी प्रथम व्यवस्था करना चाहिये। साथ ही विद्वानों का सम्मान भी आवश्यक है। अपने प्रवचन के दरम्यान गुरुदेव ने समाज को अन्य भी कई सकेत किये जो गुरुदेव के उपदेश से प्रकाशित होरहे "शाश्वत धर्म" मासिक में छप चुके हैं। अन्त में गुरुदेव ने समाज को इस आयोजन के लिये धन्यवाद दिया। श्री दौलतसिंह लोढा 'अरविंद' गुरुदेव के परम भक्त हैं। उन्होंने भी इस ही अवसर पर गुरुदेवश्री को हस्तलिखित एक लघु 'वैराग्य-गीतिका' पुस्तक समर्पित की।

आपकी प्रेरणा से प्रेरित होकर अ भा राजेन्द्र सभा के उपाध्यक्ष डॉक्टर प्रमसिंहजी राठोड ने एक योजना समाज के सन्मुख रखी कि गुरुदेव के दिक्षापर्याय के उपलक्ष में समाज का हरएक व्यक्ति ६१) रुपये राजेन्द्र साभा को दान दें। उस रकम को भी 'यतीन्द्रसूरि हीरक-जयन्ती शिक्षा-फड' के नाम से घोषित किया गया। इस बात को साकार रूप देने के लिए उपस्थित जनसमुदाय में करिबन ३५ समाज प्रेमियों ने उपयुक्त रकम देने की अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट की और आगे भी सहायता देने का वचन दिया। पश्चात् गुरुदेव श्री को पुष्पाञ्जलिरूप मुनिवरों और बहार से आये हुये एव अत्रस्थ विद्वानों के प्रवचनरूप पुष्पाजलिया समर्पित की गई।

अन्त में इस शुभावसर पर पूज्य परम कृपालु गुरुदेव के चरणारविन्द में शत शत वन्दना करता हुआ भक्ति के यह दो शब्द-पुष्प सादर समर्पित कर अपने आप को धन्य मानता हूँ।

आचार्य श्री यतीन्द्रसूरिजी का इतिहास-प्रेम

श्री अगरचन्दजी नाहटा,

बीसवीं शताब्दी के जैनाचार्यों में श्री राजेन्द्र सूरिजी का प्रधान स्थान है। उन्होंने 'अभिधान राजेन्द्र कोष' जैसे महान् ग्रन्थ का निर्माण कर जैन साहित्य की बहुत बड़ी सेवा की है। और भी उनकी ज्ञानभक्ति बहुविध रही है। करीब ६१ ग्रन्थ उन्होंने स्वयं रचे और अनेकों स्थानों में हस्तलिखित प्रतियों और मुद्रित ग्रन्थों के ज्ञान-भण्डार स्थापित किये। सब से बड़ी बात तो यह है कि उन्होंने अपने शिष्य, प्रशिष्यों को भी योग्य विद्वान् बनाये जिससे उनका किया हुआ कार्य ही प्रकाश में नहीं आया; पर और भी बहुत सा साहित्य निर्माण होता रहा। यदि वे अपने शिष्यों को इतने योग्य नहीं बनाते तो उनका महान् ग्रन्थ 'अभिधान राजेन्द्र कोष' भी अप्रकाशित पड़ा रहता। उससे जो आज देश, विदेश में लाभ उठाया जा रहा है, नहीं मिल पाता।

आचार्य यतीन्द्र सूरिजी उन्हीं के विद्वान् शिष्यों में एक हैं जिन्होंने अपने गुरु श्री के कार्य को बड़ी लगन के साथ आगे बढाया और निरन्तर ज्ञानसेवा व शासन प्रभावना कर रहे हैं। उनके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। मुझे तो इस लेख में उनके इतिहास-प्रेम के सम्बन्ध में ही कुछ प्रकाश डालना है। मुझे उनका सबसे पहले परिचय उनके 'यतीन्द्रविहार-दिग्दर्शन' पुस्तक के द्वारा ही हुआ। जो सं. १९८६ में प्रकाशित हुई। हमने साहित्य और इतिहास के अनुसन्धान का कार्य इसी समय के आसपास प्रारम्भ किया था। और जब यह पुस्तक मेरे देखने में आई तो मुझे बहुत उपयोगी प्रतीत हुई। वैसे तो प्रत्येक जैन मुनि अनेकों स्थानों व प्रदेशों में घूमते रहते हैं, लोगों के सम्पर्क में आते हैं, तीर्थों की यात्रा करते हैं, अनेकों महत्व की बातें सुनते व देखते हैं; पर उन सब बातों में जो दूसरों के उपयोगी जानने व पढने लायक होती हैं—उन्हें ग्रन्थरूप में लिखकर प्रकाशित करनेवाले मुनि बहुत थोड़े ही होते हैं। अत उनकी जानकारी का लाभ दूसरा नहीं उठा पाते। कुछ मुनियों ने अपने विहार के सम्बन्ध में कुछ पुस्तकें प्रकाशित की हैं। पर वे एक तो वैसे विहार-स्थलों की सूचियां विवरण होने से पठनीय नहीं बन पाईं, बहुत रूखी हो गई हैं। केवल स्थानों के नाम, उनकी दूरी, स्टेशन, मन्दिर, उपाश्रय श्रावकों आदि के घरों की संख्या ही उनमें होने से उनका उपयोग बहुत सीमित ही हो सकता है। जब कि यतीन्द्रसूरिजी ने अपने विहार का वर्णन 'यतीन्द्र विहार दिग्दर्शन' के ४ भाग और मेरी नेमाड़ यात्रा, गोड़वाड़ यात्रा आदि पुस्तकों में दिया है वह बहुत ही सजीव है। उसमें जहां-जहां वे गये उन स्थानों की आवश्यक जानकारी, पुराना

इतिहास, लोकप्रवाद आदि जो भी ज्ञातव्य बातें उन्हें मिलीं, उनका विस्तार से वर्णन कर दिया है। साथ ही स्थान २ पर मूर्तिया के लेख व शिलालेख आदि भी दे दिये हैं। इसमे उन पुस्तकों का महत्व बहुत बढ गया है। कई प्रसिद्ध प्राचीन व दर्शनीय स्थानों का विवरण तो बहुत ही प्रशसनीय है। जो व्यक्ति उन स्थानों में नहीं गये हैं उनके लिये तो यह जानकारी बहुत काम की है ही, पर जो गये हैं उन्हों ने भी शायद उतनी जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया हो; इसलिये उनके लिये भी इन ग्रन्था की उपयोगिता कम नहीं। माडवगढ आदि कई स्थानों का वर्णन जब मने इन ग्रन्थों में पढा तो मुझे उन स्थानों को स्वय जाकर देखने की उत्कट इच्छा हो गई। यही उनके लेख की सफलता है जिससे पढनेवाले को देखने के लिये उत्सुकता जाग उठे।

श्री कोरटाजी तीर्थ का इतिहास आप द्वारा लिखित स १९८७ में प्रकाशित हुआ। इतिहास के साधनों को सग्रह करने का प्रयत्न भी आप का विशेषरूप से उल्लेखनीय है। आपके सग्रहित जैन प्रतिमाओं के ३७८ लेखा का एक सग्रह श्री दौलतसिंह लोढा के द्वारा सपादित व अनुवादित स २००९ में प्रकाशित हुआ है। उसकी प्रस्तावना में लिखा है कि 'स २००४ में यतीन्द्रसूरिजी महाराज को थराद चातुर्मास के समय कार्तिक महिने में डबल नमुनिया हो गया और जीवन की आशा भी कम हो गई।' उस परिस्थिति में भी आपने लोढाजी को उन शिलालेखों की दो कापिया देखने को दीं और कहा, "मैं इतना अस्वस्थ और अशक्त हूँ कि शिलालेखों का अनुवाद, अनुक्रमणिका आदि करने में अपने को असमर्थ पाता हूँ।" अत आपकी इच्छा की पूर्ति लोढाजी ने की। इससे ऐतिहासिक साधनों को प्रकाशित करने में आप कितने उत्सुक व जागरूक रहे हैं, पता चलता है।

आप ही की प्रेरणा से प्राग्वाट जाति का इतिहास जैसा महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रका शित हो सका। श्री दौलतसिंह लोढा स्वभावत एक कवि हैं। पर इतिहास जैसे निरस विषय में उनको लगना पडा, यह आपकी प्रेरणा का प्रभाव है। पोरवाड जाति श्वेतावर जैन समाज में बहुत ही गौरवशालिनी रही है। उसका इतिहास प्रकाशित किया जाना बहुत आवश्यक था। अभी आपकी प्रेरणा से ही महाकाय "राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ" प्रकाशित हुआ है। वह भी आपके ज्वलत इतिहास-प्रेम का परिचायक है। इत्यलम्

इतिहास-प्रेमी गुरुवर्य्य श्रीमद् विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

(दौलतसिंह लोढा 'अरविंद' बी. ए. सरस्वती विहार, भीलवाड़ा)

यह युग क्रांति एवं जाग्रति का है। जीवन के हर अंग में जो जागरण देखा जा रहा है, वह किसी एक व्यक्ति के श्रम का परिणाम नहीं है। भारत के जितने धर्म हैं और जितने समाज हैं उन सब में इस युग में कोई-न-कोई विशिष्ट व्यक्ति कुछ अपनी बली, त्याग, तपस्या, सद्भावना, सेवा के आधार पर नवजीवन, नवचेतना नवभाव-विचार एवं नव कार्य-दिशा प्रगटा गया है। यही कारण है कि समूचा भारत आज जाग्रत सा प्रतीत होता है।

धर्म के नाम पर भारत में जैन, हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान, सिक्ख, इसाई आदि वर्ग प्रसिद्ध हैं और येही समाजों के नाम से भी। जैन वर्ग में इस समय श्वेताम्बर और दिगम्बर पक्ष भी कई उपवर्गों में विभाजित है। श्वेताम्बरपक्ष — मूर्त्तिपूजक, स्थानक और तेरहपंथ में बटा हुआ है। श्वे० मूर्त्तिपूजक पक्ष स्थूलदृष्टि से चार स्तुति और तीन स्तुति इन दो वर्गों में विद्यमान है। तीनस्तुति का पुनरोद्धार अथवा पुनः प्रचार विश्वविख्यात्, विद्वद्मणि, 'अभिधान-राजेन्द्र कोष' के कर्त्ता श्रीमद् विजय-राजेन्द्रसूरिजी महाराज ने किया। उनके पट्ट पर आचार्य श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी, श्रीमद् भूपेन्द्रसूरिजी महाराज क्रमशः विराजमान हुये। वर्त्तमान् में आप विराजमान हैं।

आपका 'हीरक-जयन्ती-उत्सव' मनाया जा रहा है। यह आपकी शासन-सेवा का ही मूल्य एवं समादर है। आपका कुछ वंश-परिचय देता हुआ पाठकों को आपकी विशिष्ट सेवा एवं गुणों का परिचय कराऊंगा।

वंश-परिचय—मरुप्रदेश की प्राचीन एवं ऐतिहासिक नगरी भिन्नमाल से लग-भग ४००—४५० वर्ष पूर्व काश्यपगोत्रीय वीरवर जैसपाल ने निकलकर अवध-प्रान्त के रायबरेली प्रगणामें जैसवालपुर नगर बसाकर अपने राज्य की स्थापना की। राजा जैसपाल से आठवीं पीढी में राजा अमरपाल यवनों से परास्त हुये और वे राज्य का त्याग करके धौलपुर नगर में आकर बसे। उनके प्रपौत्र ब्रजलालजी आपके पिताश्री थे। आपकी माताश्री का नाम चम्पाकुंवर था। आपके दो भ्राता और दो बहिनें थीं। घर समृद्ध था और श्री ब्रजलालजी धौलपुरनरेश के कृपापात्र कर्मचारी थे। उनको रायसाहब की उपाधि प्राप्त थी। आप छोटी ही आयुके थे कि आपकी माता का और कुछ ही समय पश्चात् भ्राता किशोरीलाल का स्वर्गवास हो गया। श्रीब्रज-लालजी को जीवन से औदासीन्य हो गया और वे बच्चों को लेकर भोपाल आ

गये, जहा उनका श्वसुरालय था। वे थोडे वर्ष भी वहा जीवित नहीं रहे और वे भी स्वर्ग सिधार गये। इस समय आपकी आयु कोई १२-१३ वर्ष की रही होगी।

आपका जन्म नाम रामरत्न था। पिता के देहत्याग के पश्चात् आपका भरण-पोषण आपके मामा ठाकुरदास करने लगे। मामा यद्यपि निस्सन्तान थे; परन्तु स्वभाव से चिड़चिड़े थे और आप चचल और कुछ निरंकुश प्रकृति के थे। मामा का प्रेम आप पर अधिक समय तक ठहर न रह सका। मामा आपको प्राय छोटी २ बातों पर फटकार दिया करते थे और फटकार में कभी २ ऐसे शब्दों का प्रयोग भी कर बैठते थे जो प्राणवान् एव बुद्धिमान् बालक को कभी सहन भी नहीं हो सकते थे। उज्जैन में होनेवाला सिंहस्थ मेला सन्निकट आ रहा था। ठीक इसके कुछ ही दिनों के पूर्व एक रात्रि को नाटक देखकर आने पर आपको मामा ने अत्यन्त बुरा-भला कहा और कहा, "यही स्वभाव रहा तो भिक्षा मागोगे। जो मैं नहीं होता तो खखड-खखड कर मरना पड़ता!" ये शब्द आपके हृदय पर गाण्डीव के तीरों से भी तीक्ष्ण लगे। आपने तुरन्त मामा के घर का त्याग कर दिया और कुछ दिन आप अपने एक मित्र की दुकान पर रह कर एक दिन सिंहस्थ मेले को चल दिये और जब सिंहस्थ मेला समाप्त हो गया तो आप भी उज्जैन से लौट कर मार्ग में सध्या-समय महीदपुर में रुके।

हम निर्बलहृदयी, आश्रय में जीनेवाले, परमुखापेक्षी भले यह कहें कि सुशिक्षित माता-पिता का प्यारा पुत्र रामरत्न आज अनाथ होकर, कुलवान् से भिक्षुक हो कर, गौरवान्वित से हीन होकर, और परिवारवाले से दीन होकर, असहाय, दु खी बन कर महीदपुर की सकुचित टेढी-मेढी गलियों में निरुद्देशित ठोकरें खा रहा है।

सूरिजी से भेंट — 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' महीदपुर के उपाश्रय में उसी रात्री को महाविद्वान्, प्रखरतपस्वी आचार्य श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज विराज रहे थे। श्रीरामरत्न धर्म से दिगम्बर जैन तो थे ही। आपके जैन सस्कार एव सुशिक्षित माता पिता द्वारा बाल्यवय में आपको मिली धार्मिक शिक्षा ने आपको उपाश्रय में जाने के लिये प्रेरित किया। आपने उपाश्रय में जाकर पट्ट पर विराजित आचार्य श्री को विधिपूर्वक वदन किया। इस वदन ने जितना समय लिया, उतने में ही बुद्धिनिधान, महाविद्वान् आचार्य ने आपकी गहराई का पता पा लिया—कुलवान् है, सुसस्कारी है, दिगम्बर कुलोत्पन्न है, सुशिक्षित माता—पिता का प्यारपला पुत्र है, विनयी सरल, मदुभाषी है और है निर्भीक, साहसी, दृढ तथा प्रतिभापुञ्ज और होनहार। शरीर की सुडौलता और रमणीयता तो फिर अधिक ही आकर्षक थी, परन्तु यह दु ख मे खो अवश्य रही थी; फिर भी यह कुल और कुल की गौरवता का आभास अवश्य दे रही थी। आचार्य श्री और आपमें पर्याप्त समय पर्यंत बात—चीत होती रही। इस बात-चीत का एक आचार्य श्री के

सारगर्भित वचनों का सार यह निकला कि आपने एक दिन दीक्षा लेकर इस असार संसार से अपना त्राण करने के भाव आचार्य श्री को निवेदित कर दिये और आचार्य श्री ने आपके सविनय शब्दों एवं कान्तमुखमण्डल पर विचार करके आपको यह आश्वासन प्रदान कर दिया कि हमारे साथ विहार में रहो—योग्य अवसर पर मनोरथ के अनुसार सब कुछ फलेगा।

गुरुसेवा और अध्ययन—सूरिजी जावरा होते हुये खाचरौद पधारे। वि. सं. १९५४ आषाढ़ कृ० २ सोमवार को उत्सवपूर्वक आचार्य श्री ने आपको भारी जनसमूह की उपस्थिति में भागवती दीक्षा प्रदान करके आपका नाम 'यतीन्द्रविजय' रक्खा। किसी विघ्नसंतोषी के प्रतिवादन पर स्थानीय राजकर्मचारियों ने दीक्षा में विघ्न उत्पन्न करना चाहा; परन्तु आपकी दृढ धारणा और प्रबल वैराग्य-भावनाओं के समक्ष उनकी कोई युक्ति सफल नहीं हुई। विद्याध्ययन तो आपने आचार्य श्री की निश्रा में रहना प्रारंभ करने के साथ प्रारंभ कर दिया था; परन्तु अब आपने अध्ययन तीव्रगति से प्रारम्भ किया। प्राकृत एवं संस्कृत दोनों भाषाओं में संलिखित जैनागम-सूत्र और साहित्य का पठन आपने इस तत्परता एवं श्रम से किया कि गुरु के संग दशवर्षीय सहवास में व्याकरण, छंद, साहित्य एवं धर्म के सभी ही मूल एवं टीकाग्रन्थों का समुचित अध्ययन समाप्त कर लिया। विद्यार्थी यतीन्द्रसूरि का तेज और ताप इतना असह्य था—लोग कहते हैं कि किसी स्त्री-पुरुष-युवक का साहस नहीं होता था कि उनके पास में कोई अकारण कुछ पलों के लिये भी ठहरने का विचार करें।

साधु-जीवन में उस समय आपके मात्र दोही उद्देश्य थे—गुरुसेवा और द्वितीय अध्ययन। गुरुसेवा के उपरान्त अध्ययन और अध्ययन के उपरान्त गुरुसेवा। श्रीमद् राजेन्द्रसूरि महाराज की अनवरत साहित्य—साधना, उनके प्रखर चारित्र और अडिग साहस का आपश्री पर भी गंभीर प्रभाव पड़ा है। दृढव्रती-प्रतिज्ञ एवं विद्याव्यसनी होने के कारण आप गुरु के परम कृपापात्र शिष्य थे। वि. सं. १९६३ में जब श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी महाराज ने नश्वर देह का राजगढ (धार—मालवा) में त्याग किया तब आप और मुनि श्री दीपविजयजी (भूपेन्द्रसूरिजी) पर अपने चिरकाल से लिखे जाते 'अभिधान-राजेन्द्र-कोष' के सम्पादन—प्रकाशन का भार संघ के प्रमुख व्यक्तियों के समक्ष रक्खा। आप पर गुरुप्रेम और आप में 'कोष' के सम्पादन के लिए रही हुई अपेक्षित योग्यता यहां स्वतः सिद्ध हो जाती है। यह 'कोष' विश्व के चोटी के एक-दो कोषों में अपनी गणना रखता है। इसके लेखक की योग्यता, और फिर सम्पादक की योग्यता किस माप की होनी चाहिए, पाठक स्वयं विचार सकते हैं।

कोष का सम्पादन—स्व. सूरिजी ने 'श्री अभिधान राजेन्द्र कोष' की रचना वि. सं. १९४६ में सियाणा मारवाड़ में प्रारंभ की थी और वि.सं. १९६० में सूरत में बनकर तैयार हुवा। संवत् १९६३ (उनके स्वर्गवासदिन) पर्यंत कुछ न कुछ रूप से यह चालू रहा। वर्णानुक्रम से यह १ अ, २ आ, ३ इ से छ, ४ ज से न, ५ प से भ, ६ म से व और ७ श से ह-

सात भागों में क्रमशः पृ. १०२९, ११९०, १३७९, ७७९६, १६३६, १८६६ और १२४४ में विभक्त है। इसमें जैन शास्त्र-आगम कथा-कोषों में प्रयुक्त सर्व प्राकृत एवं समस्त प्राकृत शब्दों का संकलन है और विशेषता यह है कि प्रत्येक प्राकृत शब्द से प्रारंभ और प्रसिद्ध हुई पुस्तक, कथा, कहानी, पुरुष, ग्राम, नगर, सूक्ति, सुक्ति आदि-आदि अनेक वार्ता का विशद साहित्यिक और इतिहास-पुरातत्त्व की दृष्टि से इसमें परिचय है। सम्पादन और प्रकाशन दोनों साथ-साथ ही चलते रहे। सूरिजी के स्वर्गवास के पश्चात् तुरत ही वि. सं. १९६४ में आपश्री और मुनि श्री दीपविजयी ने उपरोक्त दोनों कार्य एक स्वतंत्र यंत्रालय रतलाम में खोल कर प्रारंभ कर दिये। वि. सं. १९७८ में मुद्रणकार्य समाप्त हुआ। पाठक स्वयं विचार सकते हैं कि इस जैन एन्साइक्लोपेडिया कोष और आगम-निगमसमष्टि ग्रन्थ के सम्पादन के लिये किस योग्यता, पाण्डित्य की आवश्यकता होती है, सम्पादक में किस स्तर का श्रम, धैर्य, कष्टसहिष्णुता और अनवरत साधना-शक्ति चाहिये ? आपश्री कितने ऊँचे पंडित एवं दृढ़व्रती एवं संकल्पी हैं-सहज समझ में आ सकता है।

इस छोटे से निबंध में आपश्री के महत्त्वपूर्ण जीवन पर सुविधा के साथ लिखा नहीं जा सकता; अतः मैं वि. सं. १९७२ से आगे के आपश्री के जीवन को निम्न शीर्षकों में विभाजित करके ही संक्षेप में कुछ लिख सकता हूँ।

१—यात्रायें, २—अंजनशलाका-प्रतिष्ठायें, ३—तपाराधन, ४—संघ-यात्रायें, ५—तीर्थोद्धार, ६—ज्ञान भण्डार, ७—मण्डल-विद्यालय, ८—साहित्य-सेवा और श्री राजेन्द्र सूरि अर्धशताब्दी-महोत्सव।

यात्रायें—आपश्री ने वि. सं. १९७२ से वि. सं. २०१४ पर्यंत स्वतंत्र विहार करके साधु-शिष्यमण्डलसहित और कभी साधु-श्रावक सहित शंखेश्वर, तारंगगिरि, अर्बुद, पालीताणा, गिरनार, केसरियाजी, माण्डवगढ, लक्ष्मणी, कोरटाजी, गोडवाड-पंचतीर्थी, भाण्डवपुर, जालोर, वरकाणा, ढीमा, भोरोल, जीरापल्ली, हमीरगढ और इन तीर्थों के मार्गों में पड़नेवाले छोटे-मोटे मंदिर तीर्थों की, एक बार और किसी तीर्थ की अधिक बार यात्रायें की हैं।

संघयात्रायें—श्री पालीताणा, गिरनार, अर्बुद, मण्डपाचल, जैसलमेर, कच्छ भद्रेश्वर, गोडवाड़ पंच तीर्थों की लघु एवं वृहद् संघ-यात्रायें कीं।

यह तो प्रायः सर्व ही साधु, जैन-जैनेतर करते आये हैं। परन्तु आपने विशेष और नवीन बात इन स्वतंत्र और संघयात्राओं पर जो की वह यह कि आपने इन यात्राओं का वर्णन 'श्री यतीन्द्र-विहार-दिग्दर्शन भाग १, २, ३, ४ और श्री कोरटाजी तीर्थ का इतिहास, मेरी नेमाडयात्रा, मेरी गोडवाड यात्रा, श्री माण्डवपुरतीर्थ, नाकोड़ा पार्श्वनाथ नामक पुस्तकें प्रकाशित करके जो प्रस्तुत किया है तथा तीर्थों के मार्ग में और विहार-क्षेत्र में स्पर्शित ग्राम, नगरों का जो वर्णन आपने उक्त पुस्तकों में दिया है-यह करके आपने इतिहास, पुरातत्त्व की महान् सेवा की है। ये ग्रंथ

आपके इतिहासप्रेम को प्रदर्शित करते हैं जो आगे जाकर 'श्री प्राग्वाट–इतिहास' की रचना करवाने में मूर्त्तिवंत प्रगट हुआ है। आपने मूर्त्तिलेख और शिलालेखों का भी पर्याप्त संग्रह किया है जो इन ग्रंथों में यथास्थान सप्रसंग आये हैं और 'श्री जैन–प्रतिमा–लेख संग्रह' नाम से आपद्वारा संग्रहित लेखों का एक स्वतंत्र ग्रंथ प्रकाशित हुआ है।

अंजनशलाका प्रतिष्ठायें — वि. सं. २०१३ पर्यंत आपश्री के कर-कमलों से लगभग ५० प्रतिष्ठा–अंजनशलाकायें सम्पन्न हुई हैं। जिनमें श्री लक्ष्मणीतीर्थ, हरजी, आहोर, बागरा, सियाणा, थराद, धाणसा, भाण्डवपुरतीर्थ और वाली में हुई अति प्रसिद्ध और प्रभावक रही हैं। आपने सैकडों प्राचीन बिम्बों को स्थापित करवाये और सहस्रों नवीन बिम्बों की प्रतिष्ठा की। सियाणा, धाणसा, भाण्डवपुर की प्रतिष्ठाओं की स्वतंत्र पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और बागरा की प्रतिष्ठा का सविस्तार वर्णन 'श्री गुरुचरित' में उल्लिखित है। वैसे तो आहोर, थराद, वाली आदि समस्त प्रतिष्ठाओं का यथाप्राप्त वर्णन 'गुरुचरित' में दिया जाने का पूरा–पूरा प्रयत्न किया गया है।

'गुरुचरित' आपका जीवन–वृतान्त है जो इस लेख के लेखक ने लिखकर वि. सं. २०११ में प्रकाशित करवाया है।

तपाराधन–वि. सं. २०१४ पर्यंत आपश्री की तत्त्वावधानता में सियाणा, गुढ़ा-बालोतरा, पालीताणा, खाचरौद, बागरा, आकोली, राणापुर में उपधानतपों का आराधन हुआ। इन तपों में सैकड़ों श्रावक-श्राविकाओं ने भाग लेकर अपना कायाकल्प किया और तपों के महत्व की प्रभावना की। 'गुरुचरित' में इन तपों का यथाप्रसंग और यथाप्राप्त वर्णन दिया गया है।

ज्ञान–भण्डार–इस सम्प्रदाय के बागरा, सियाणा, भिन्नमाल, जालोर, आहोर, गुढ़ा, रतलाम, कुक्षी, खाचरौद, जावरा में समृद्ध एवं विशाल ज्ञान-भण्डार हैं। इन भाण्डारों में श्रीमद् राजेन्द्रसूरि, धनचन्द्रसूरि और भूपेन्द्रसूरि तथा आपश्री द्वारा रचित सम्पादित, संग्रहित साहित्य है। सर्व भण्डार स्थानीय संघों के द्वारा सुरक्षित हैं। स्वर्गीय तीनों आचार्यों के नाम से फिर कई स्वतंत्र साहित्य–समितियां मारवाड़, थराद और मालवा में साहित्य सेवायें कर रही हैं। आपश्री के दो ज्ञान-भण्डार हैं, जिनमें गुढ़ा का भण्डार अधिक समृद्ध और हर प्रकार के साहित्य से सम्पन्न है।

उल्लेखनीय तो यह है कि उपरोक्त सर्व भण्डारों पर आपकी एक सी देख-रेख होने से सर्व ही प्राणमय और प्रकाशमान हैं। प्रकाशित पुस्तकों के विक्रय के लिये श्रीराजेन्द्र प्रवचन कार्यालय, खुडाला समस्त जैन जगत् में प्रसिद्ध है।

तीर्थोद्धार–श्रीलक्ष्मणीतीर्थ, श्रीकोर्टाजीतीर्थ, श्रीस्वर्णगिरि जालोरतीर्थ, श्रीतालनपुर तीर्थ और श्री भाण्डवपुरतीर्थ नामक अति प्राचीन तीर्थों के जीर्णोद्धार में

आपश्री के सदुपदेश से लक्षों रुपये व्यय हुये हैं और हो रहे हैं । ये सब ही तीर्थ अतिप्राचीन हैं । इन पर आपश्री द्वारा स्वतंत्र पुस्तक प्रकाशित की जा चुकी हैं तथा 'गुरुचरित' में भी पूरा २ वर्णन आया है । आपश्री लक्ष्मणीतीर्थोद्धारक कहे जाते हैं ।

मण्डल, विद्यालय—आपश्री के सदुपदेश से कई ग्रामों में समाजसुधारक मण्डल स्थापित हुये हैं और आज तक उनमें से अधिक विद्यमान हैं तथा अच्छा कार्य करते रहे हैं । सियाणा, नीखी, बागरा, आहोर, हरजी, जावरा, राजगढ, राणापुर आदि में समय समय पर आपके सदुपदेशों से विद्यालय स्थापित हुये । सियाणा, जावरा और राणापुर में अभी भी चल रहे हैं । अन्यत्र जो अंत को प्राप्त हुये हैं वे स्थानीय समितियों के सभ्यों में तत्परता की न्यूनता और अनुभवहीनता के कारण । बागरा का विद्यालय अगर अब तक रह जाता तो वह निस्सन्देह देश की एक महान् शिक्षण-संस्था होती । फिर भी नव वर्षों के जीवन में उसने जो विद्यार्थी निकाले वे उसके चरित्रवान् कलेवर और उसकी प्रतिभा और भावनाओं का आभास देते रहेंगे ।

साहित्यसेवा—आपद्वारा रचित, सम्पादित एवं सकलित लगभग ६० से उपर छोटी-बड़ी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं । धर्म, नीति, समाज, इतिहास, पुरातत्त्व की दृष्टियों से इनमे से अधिक उपादेय एवं संग्रहणीय हैं । इसी लेख के अंत में उपरोक्त पुस्तकों की सूची दी जा रही है, अतः यहां उन सर्व का नामोल्लेख करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता । फिर भी अतिप्रसिद्ध एवं उपयोगी ग्रंथों की ओर संकेत कुछ कर देना ठीक ही है —

तीन स्तुति की प्राचीनता, गौतमपृच्छा, सत्यबोध-भास्कर, गुणानुरागकुलक, जैनर्षिपट्टनिर्णय, श्री भाषणसुधा, श्री यतीन्द्र-प्रवचन भाग १-४, समाधान-प्रदीप, सूक्ति रसलता, प्रकरण चतुष्टय आदि । विहार-यात्राविषयक कुछ ग्रंथों के नाम पूर्व के पृष्ठों में दिये जा चुके हैं ।

आपश्री के उपदेश से इस लेख के लेखक द्वारा रचित 'जैन-जगती' और उसका समर्पण रूप में स्वीकार्य आपमें रही हुई समाज-सुधार की उदात्त भावनाओं का परिचय देती है । आप में ही यह साहस रहा है कि वर्त्तमान, भूत भविष्यत् का सचोट वर्णन देने वाली इस कविता-पुस्तक को जो फैले हुये आडम्बर एवं पाखंड को नेस्तनाबूद करने के लिये बम्ब का गोला कहीं गई है, आप से समर्पण-स्वीकार्य प्राप्त हो सका है ।

नव वर्षों के अनवरत श्रम से लिखा जा कर 'प्राग्वाट इतिहास' भी आपश्री के एक मात्र उपदेश, उत्साह, अवलंब से प्रसिद्ध हुआ है । इस ग्रंथों को ज्यों-ज्यों इतिहास प्रेमी एवं इतिहासज्ञ अपनायेंगे वे आपश्री के हृदय में रही इतिहास प्रियता को समझेंगे । मैं ने लिखा है, अतः मैं इस पर अधिक क्या लिखूँ ?

अभी हाल में जो 'श्रीमद् राजेन्द्रसूरि-स्मारक ग्रन्थ' राजगढ (धार—मालवा) में अर्ध शताब्दी-उत्सव के शुभावसर पर प्रकाशित हुआ है वह आपकी उत्कट

साहित्य–सेवा–भावना का चिरकाल पर्यंत ज्वलन्त प्रमाण रहेगा। इस में देशविदेश के एक सौ से उपर प्रसिद्ध विद्वानों के विविध जैन विषयक गम्भीर, तलस्पर्शी, विषय-पूर्ण निवन्ध हैं। 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' इस कहावत का अक्षरशः अनुभव इन पंक्तियों के लेखक को इस ग्रन्थ के सम्पादन एवं प्रकाशन–काल में जो हुआ है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि महान् कार्यविषयक प्रस्ताव पास कर लेना सहज है, उसको प्रारंभ कर देना भी कुछ सहज है, परन्तु उसको सत्यरूप में, अपने कलेवर में वाहर ला देना साधारण पुरुषों का कार्य नहीं। आप महान् धैर्यवन्त, समयज्ञ, दृढ संकल्पी, नीतिनिपुण हैं और सर्व से ऊपर अपने महान् आदर्श पर अन्त में आ पहुंचना आपकी विशेषतायें हैं।

राजगढ मे हुआ श्री राजेन्द्रसूरि–अर्धशताब्दी महोत्सव आपके जीवन के संध्या-काल की महान् संस्मरणीय घटना है। स्मृतिग्रन्थ उसका सदा प्रमाण रहेगा।

मैंने सन् १९३८ से सन् १९५८ के प्रारंभ तक जो आपके गुणों का दर्शन किया वे अनुकरणीय, हैं और प्रेरणादायी होने के कारण निम्नोल्लिखित हैं।

(१) दिन में जब भी विराजमान् देखा, लिखते ही देखा।

(२) विचारों में दृढ़ देखा और संकल्प में ध्रुव देखा।

(३) पुरुष की परीक्षा की आप में अद्भुत शक्ति देखी।

(४) संघर्ष में हँसते देखा और कठिनाई में बढते देखा।

(५) कई वार अनेक जैनाचार्य एवं साधु-मुनियों को हमने श्रीमंत, कवि, पंडित, राजनीति–पुरुष, सत्ताधारियों के प्रभाव से निस्तेज होते, उनसे मेल-प्रेम दिखाने का प्रयत्न करते देखा हैं; परन्तु यहां वह ही सरलता, सौम्यता जो एक जैनाचार्य में रहनी चाहिए, मैंने तरती देखी।

(६) सभा के योग्य भाषा में बोलते देखा – 'व्याख्यान–वाचस्पति' उपाधि आपके साथ पूर्ण सार्थक है।

(७) आपके कर एवं वचनों से उसी को मान, सत्कार मिला जो व्यवहार में निष्कपट उतरा और चरित्र में स्वर्ण।

संक्षेप में आप एक सफल जैनाचार्य हैं जिन्होंने अपने चरित्र, न्यायनीति, आचार–व्यवहार, साहित्य–साधना, धर्मभावना, धर्मक्रिया, समाजसेवा, विद्याप्रेम से अपने मुनि–उपाध्याय एवं आचार्यकाल में अपनी शक्ति-योग्यता-तत्परता से जैन शासन की सेवा करने में अहर्निश योग दिया है, समाज का गौरव ऊपर उठाया है और विश्वविख्यात् स्व० राजेन्द्रसूरि महाराज के मिशन को सफल उद्देश्य किया है।

आपश्री का सविस्तार जीवन–परिचय पाने के लिये 'गुरु–चरित' पढने का आग्रह है।

आप द्वारा रचित–सम्पादित गद्य–पद्य ग्रंथों की सूची

ग्रंथनाम	वि सं	पृष्ठांक
१ तीन स्तुति की प्राचीनता	१९६३	१६
२ भावना स्वरूप (१२भावना संक्षिप्त)	१९६५	१८
३ गौतमपृच्छा (केवल भावानुवाद)	१९७१	२५
४ नाकोड़ा पार्श्वनाथ (ऐतिहासिक)	१९७१	५६
५ सत्यबोध भास्कर (प्रतिमापूजा ससिद्धि)	१९७१	१६२
६ जीवनप्रभा (श्री राजेन्द्र-सूरीश्वर-जीवनी)	१९७२	४४
७ गुणानुरागकुलक (सार्थ विवेचनसहित)	१९७४	४८४
,, द्वितीय आवृत्ति	१९७५	३९३
८ लघु चाणक्य नीति का अनुवाद	१९७६	६४
९ जन्म मरण-सूतकनिर्णय	१९७८	१६
१० संक्षिप्त जीवनचरित्र (श्री धनचन्द्रसूरि)	१९८०	१७३
११ जीवभेदनिरूपण और गौतम कुलक (शब्दार्थ-भावार्थसहित)	१९८०	४८
१२ गौतमकुलक (शब्दार्थ-भावार्थ सहित)	१९८०	४८
१३ पीतपटाग्रहमीमांसा	१९८०	६२
१४ निक्षेप–निबंध	१९८०	६२
१५ जिनेन्द्रगुणगानलहरी (स्तवनादि संग्रह)	१९८०	१२०
१६ जैनर्षिपट्टनिर्णय (श्वेतवस्त्रसिद्धि)	१९८१	५२
१७ रत्नाकर पच्चीसी (शब्दार्थ-भावार्थसहित)	१९८२	२४
१८ श्री मोहनजीवनादर्श (श्री मोहन विजयोपाध्याय)	१९८२	५६
१९ अध्ययन-चतुष्टय (दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययन, शब्दार्थ भावार्थ सहित)	१९८२	८२
२० कुलिङ्गीवदनोद्गार मीमांसा	१९८३	७८
२१ अघटकुमारचरित्र (संस्कृत गद्य)	१९८४	
२२ रत्नसारचरित्र (संस्कृत गद्य)	१९८४	
२३ हरिबलधीवरचरित (संस्कृत गद्य)	१९८४	
२४ आर्हत् प्रवचन (संग्रहित गूर्जर	१९८५	
२५ जीवभेद-निरूपण(गूर्जर)	१९८५	
२६ गौतमकुलक (गूर्जर)	१९८५	
२७ श्री यतीन्द्र-विहार दिग्दर्शन भाग १	१९८६	३०५
२८ श्री कोरटाजी तीर्थ का इतिहास	१९८७	११२
२९ श्री जगडूशाह-चरित्र गद्यम् (पत्राकार)	१९८८	४१
३० श्री कयवन्ना-चरित्र गद्यम् (पत्राकार)	१९८८	३७

११ – १४ दोनों पुस्तकें एक जिल्द में है ।
२१ – २२ – २३ तीनों ,, ,, ,, ,,
२५ – २६ दोनों ,, ,, ,, ,,

३१ श्री यतीन्द्र-विहार दिग्दर्शन भाग २ — १९८८ — ३०९

३२ बृहद्विद्वद्गोष्ठी संवर्धिता (पत्राकार) — १९८९ — १३

३३ चम्पकमाला चरित्रं गद्यम् (पत्राकार) — १९९० — ४१

३४ श्री राजेन्द्रसूरीश्वर जीवन-परिचय (कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी में) — १९९० — २४

३५ श्री सिद्धाचल-नवाणुंप्रकारी पूजा — १९९१ — ६४

३६ श्री चतुर्विंशतिजिन-स्तुति माला (संस्कृत पद्य) — १९९१ — २४

३७ श्री यतीन्द्र-विहार-दिग्दर्शन भाग ३ — १९९१ — २०८

३८ श्री राजेन्द्रसूरीश्वर अष्ट प्रकारी पूजा — १९९१ — ३८

३९ श्री यतीन्द्र-विहार-दिग्दर्शन भाग ४ — १९९३ — ३१०

४० सविधि स्नात्र-पूजा (नवीन) — १९९३ — २१

४१ मेरी नेमाड़यात्रा (ऐतिहासिक) — १९९६ — ८४

४२ श्री भाषणसुधा (सात व्याख्यानों का संग्रह) — १९९९ — ६२

४३ श्री अक्षयनिधितपविधि तथा श्री पौषधविधि — १९९९ — ६४

४४ श्री यतीन्द्र-प्रवचन हिन्दी भाग १ — २००० — २९०

४५ समाधान प्रदीप हिन्दी भाग १ — २००० — २७०

४६ सूक्तिरसलता (सिंदूर प्रकर का हिन्दीपद्यानुवाद) — २००१ — ७९

४७ मेरी गोड़वाड़यात्रा — २००१ — १००

४८ प्रकरण-चतुष्टय (सान्वयार्थ-भावार्थ) — २००५ — २३६

४९ श्री यतीन्द्र-प्रवचन गूजराती भाग २ — २००५ — ५०१

५० श्री विंशतिस्थानकपद-तपविधि — २००५ — ९६

५१ देवसी पडिक्कमण (सार्थ) — २००७ — १७२

५२ श्री सत्यसमर्थक प्रश्नोत्तरी — २००९ — ४८

५३ साध्वी-व्याख्यान समीक्षा — २०१० — २६

५४ साधु-प्रतिक्रमणसूत्र-शब्दार्थ — २०११ — १८०

५५ स्त्री-शिक्षा-प्रदर्शन (हिन्दी) — २०११ — ६९

५६ श्री सत्पुरुषों के लक्षण ('तृष्णांछिन्धि' की व्याख्या) — २०११

५७ श्री तप. परिमल भाग १ — २०११ — ४८

५८ मानव जीवन का उत्थान

युगवीर आचार्यप्रवर श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी

ले० – श्री राजमल लोढा, सपा० दैनिक ध्वज, मन्दसौर

इन पीछले पचास वर्षों में जैन समाज में जितने भी आचार्य, उपाध्याय या मुनि हुए हैं उन सब में श्रीयतींद्रसूरिजी का भी एक मौलिक स्थान हे।

१४ वर्ष की बाल्यवय में मुनिजीवन को अगीकार कर के ब्रह्मचर्य, विद्याभ्यास गुरुसेवा, साहित्यसृजन, समाजसेवा, अजनशलाका प्रतिष्ठा, त्याग व तपश्चर्या आदि की एक समान आजीवन सतत साधना कम गौरव की नहीं है।

ससार में एक, दो, चार, हजार, लाख और अनन्त वस्तुओं पर विजय प्राप्त करना सरल ह, किन्तु पाच इन्द्रियों और छट्ठे मन पर विजय प्राप्त कर लेना महान् कठिन है और दुष्कर है। जिसने इन पर विजय प्राप्त कर ली है वही ससार में परमात्म स्वरूप बना है। और संसार उन्हीं के चरणों पर झुका है। ज्ञानियों और महर्षियोंने उन्हीं के चरण-चिन्हों पर चलने का आदेश दिया है। एक ब्रह्मचारी के त्याग और तपश्चर्या के सामने अन्य त्याग और तपश्चर्या की कोई किमत नहीं है। इसकी सतत साधना ही प्रतिदिन त्याग और तपश्चर्या है। उसी प्रकार आचार्य यतीन्द्रसूरि के जीवन में भी अन्य तपश्चर्याओं को उतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हुआ जितना ब्रह्मचर्य की तपश्चर्या को स्थान प्राप्त हुआ है। उसी का प्रभाव है कि आज भी उनका ललाट और मुखाकृति वृद्धावस्था व रुग्णावस्था होने पर भी एक दिव्य मूर्ति के रूप में प्रभावित हो रही है। चौदह वर्ष की छोटी अवस्था से ही उन्होंने अपने जीवन में इसकी दृढ प्रतिज्ञा ली, क्रमश इस की साधना की और अपने को दृढता पूर्वक निभाया—यही मुनिजीवन की सर्व प्रथम श्रेणी है। मानव-जीवन में अन्य दुर्गुण आखों से ओजल किये जा सकते हैं, किन्तु ब्रह्मचर्य के पालन करने में तिल मात्र भी कमी हुई कि यह अवगुण मानव-समाज के लिये असहनीय बन जाता है और आखों से ओजल नहीं किया जा सकता।

ब्रह्मचय की तपश्चर्या के साथ-साथ निरन्तर विद्याभ्यास करते रहना जीवन में सोने और सुगन्ध का काम है। आचार्य श्रीने भी बाल्यवय से विद्याभ्यास प्रारम्भ किया और धीरे २ ग्रन्थों का अध्ययन, मनन व परिशील्न किया और उन में मन्थन करके उस में से रत्नों की प्राप्ति की।

नव

हो सकता है ये आधुनिक जमाने की डिग्रियों से अलग रहे हों। आ परमात्म की डिग्रियों को प्राप्त करने की ओर उनका ध्यान इतना आकर्षित रत में अनेक किन्तु उन्होंने उस ज्ञान और अध्ययन की ओर अपने जीवन को अग्रसर के लिये अनु

इसी सामाजिक धार्मिक प्रवृत्ति को स्थायी बनाये रखने के लिये किसी एक अच्छे स्मारक की जीवन में आवश्यकता होती है कि जिसको देख कर मानव-प्रकृति थोड़े समय के लिये स्थिर हो जाय, मानव अपनी चंचल प्रवृत्ति पर काबू प्राप्त करता रहे। इसी बात को सोच कर पूर्व महर्षियोंने संसार में मंदिरों और मूर्तियों की परंपरा को कायम की।

मन्दिर व मूर्तियों ने इतिहास को जीवित रखने में, प्राचीन कला व संस्कृति को जीवन-दान देने में, मानवप्रकृति को स्थायित्व प्रदान करने में जो सहयोग दिया है वह अन्य किसी वस्तु से प्राप्त नहीं हो सका है।

एक कारीगर द्वारा बनाई हुई पाषाणमूर्ति में प्राणप्रतिष्ठा के द्वारा भगवान् का स्वरूप पैदा किया जा सकता है तो कोई कारण नहीं है कि वह मूर्ति भी मानव-जीवन को आगे बढाने में सहायक नहीं बन सकती है। मनुष्य कांच में देख कर अपनी शकल व मूरत की अच्छाई व बुराई को पहिचान सकता है। उसी प्रकार किसी भी मूर्ति को सामने रख कर मनुष्य अपनी जीवन की भलाई व बुराई की ओर अपना ध्यान आकर्षित कर सकता है।

भारत वर्ष की सैंकड़ों व हजारों वर्ष पुरानी संस्कृति आज भी मन्दिर व मूर्तियों के खंडहरों द्वारा जीवित दिखाई दे रही है और उसी का उदाहरण व दृष्टान्त पेश कर के विद्वान् प्राचीनता को सिद्ध कर रहे हैं। यदि भारतवर्ष के इतिहास में इन मन्दिर-मूर्तियों व स्मारकों के प्रकरणों को अलग रख दिया जाय और कहा जाय कि बताओ कि भारत वर्ष की जीति और जागती संस्कृति कैसी और क्या थी तो उस के लिये हमारे पास कोई जवाब नहीं है। केवल शास्त्रों के प्रमाण ही मनुष्य देता है, किन्तु शास्त्रों के प्रमाण उतने पुराने नहीं हैं तथा हो सकता है कि किन्हीं ग्रंन्थों में समयानुसार काल्पनिकता की झलक भी पाई जाती हो जिस से वास्तविक स्वरूप तक पहुंचने में बडी ही कठिनाई होगी व आत्मा के अन्दर असमंजस, असन्तोष की प्राप्ति होगी।

इस से यह नहीं मान लेना चाहिये कि शास्त्र प्रमाण प्रामाणिक नहीं है। शास्त्र अवश्य प्रामाणिक हैं और शास्त्रोंने भी संसार को नैतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक व आध्यात्मिक जीवन देने में बडी मदद की है, किन्तु इतिहास को जीवित रखने में मन्दिर व मूर्तियोंने जो सहायता दी है वह अन्य किसी चीजने नहीं दी है। मोहन जोदरा व मथुरा के कंकालीटीलों की खुदाई उसके साक्षात् प्रमाण हैं।

उसी मार्ग का अवलम्बन कर के श्रीयतीन्द्रसूरिने भी अपने जीवन में सैकड़ों मूर्तियों की प्राणप्रतिष्ठा की, हजारों मूर्तियों को देवालय व मन्दिरों में विराजमान कर इतिहास को एक नया रूप दिया है। जब तक ये मन्दिर व मूर्तियां संसार में कायम रहेंगी उस समय तक यह इतिहास, कला व संस्कृति जीवित रहेगी। इन मूर्तियों की प्रतिदिन पूजने वाले मूर्तियों को देख कर अपनी आत्मा में अवश्य ही शान्ति का अनुभव करते हैं। थोडी देर के लिये ही सही, अपनी लौ परमात्मा की ओर लगाते

हैं। अपनी प्रतिदिनकी बुराई व भलाई की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। यह मन को स्थिर करने में कम उपयोगी नहीं है।

मानवप्रकृति तो स्वभावतः हमेशा पतन की ओर अधिक अग्रसर होती है। उसको रोकने के लिये, उसको बचाने के लिये, उसको उठाने के लिये, धार्मिक जीवन बनाये रखने के लिये, कला व संस्कृति को जीवित रखने के लिये इन मन्दिर और मूर्तियोंने मानव की बड़ी मदद की है। जिन्होंने मन्दिर व मूर्तियों का साधन उपयुक्त नहीं समझा है व जिन्होंने इन से दूर रहने की कोशीष की है उनका इतिहास अंधेरे में अधूरा रह गया है। आज तो उन की स्मृति कथानक के रूप में रह गई है। किसी २ की संस्कृति तो बिलकुल नष्ट हो गई है और उनका नामनिशान ही संसार से नष्ट हो गया है। अपनी संस्कृति को कायम व स्थायी रूप में रखने के लिये श्री यतीन्द्रसूरिने पूर्वाचार्यों के मार्ग का अनुसरण कर के हजारों मूर्तियों के इतिहास का जीवनदान दिया। साथ ही जैन संस्कृति व कला को जीवित रखने में एक बड़ी मानवसेवा की है।

मनुष्य स्वभावतः सुख को चाहता है और दुःख के पास किंचितमात्र भी फटकना नहीं चाहता है और यदि उस को पहिले से मालूम हो जाय कि सामने से दुःख आ रहा है तो वह उस से बचने की या उस से संघर्ष लेने की अपनी पूर्ण तैयारी करने लग जाता है, चाहे भविष्य कुछ भी हो। दुःख की कल्पना कभी कोई स्वप्न में भी नहीं करता है, न दुःख को बुलाने की ओर कोई कदम ही उठाता है। फिर भी दुःख स्वभावतः मान लीजिये, मानव-जीवन की परीक्षा के लिये आ ही जाता है। जो व्यक्ति उस को धैर्य पूर्वक सहन कर लेता है वही विजयी माना जाता है और जो रो-रो कर इस को भुगतता है वही निर्बल और डरपोक कहा जाता है।

संसार में ऐसे अवतारी पुरुष हुए हैं जिन्होंने दुःख को दुःख नहीं माना है, परन्तु उस को सुख रूप मान कर इतना सहन किया है कि एक कान से दूसरे कान को भी यह भनक नहीं पड़ी कि यह व्यक्ति महान् दुःखी है, इस के उपर दुःख का पहाड़ खड़ा है।

भगवान् महावीर जिस समय जगत् के अंदर तपश्चर्या कर रहे थे उस समय उन के उपर चंडेलियों, देवताओं आदि ने जो दुःख के पहाड़ खड़े किये हैं जिनको केवल मात्र आज सुनने से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। वहां उन्होंने इन को बड़ी ही साधुतापूर्वक सहन किया है। किसी के सामने अपने दुःखों की गाथाओं को नहीं सुनाया है। एक वक्त इन्द्रने भी आकर उन के उपसर्गों व दुःखों का सहन करने में मदद करने के लिये प्रार्थना की, किन्तु उस वीर प्रभुने इन्द्र की प्रार्थना को ठुकरा दिया। उन्होंने क्षणभर के लिए भी इन्द्र की ओर आंख उठाकर नहीं देखा।

जैन धर्म में इसी दुःख और सुख की समानता लोहे और स्वर्ण की बेड़ी से की है। दो व्यक्तियों में से एक को लोहे की और दूसरे को सोने की बेड़ी पहना कर दौड़ाया जाय तो कल्पना कीजिये दोनों के पैरों में क्या अलग २ तरह का दुःख का अनुभव होगा। यदि उस में से सोने की बेड़ी वाले को पूछा जाय कि क्या तुझे सोने की बेड़ी से मीठे दुःख का अनुभव हुआ ? और लोहे की बेड़ीवाले को पुछा जाय कि क्या तुझे कडवे दुःख का अनुभव हुआ है ? तो उन दोनों में से कोई मीठे या कड़वे का अनुभव नहीं बतायेंगे। उनके पैरों में लगने की क्रिया व उस से पैदा हुए दुःख का अनुभव एकसमान होगा।

इसी प्रकार जो सांसारिक अवस्था में रहता है उसके लिये सुख और दुःख दोनों अलग २ चीजें हैं और वह स्वभावतः दुःख से दूर रहना चाहता है और सांसारिक सुख को प्राप्त करने की हर समय प्रवृत्ति करता रहता है; चाहे वह सुख क्षणिक ही क्यों न हो। इन दोनों चीजों से उपर ऊठने के लिये महर्षियोंने त्याग और तपश्चर्या का एक और मार्ग बताया है कि जो उपर से दुःखमय प्रतीत होता है; किन्तु उस के अन्दर महान् सुख रहा हुआ है। मनुष्य त्याग को और तप को दुःख रूप मान कर चलता है, इन से वह दूर भागना चाहता है, किन्तु जिसने इनको अपने जीवन में ग्रहण किया है, जीवन में इन का परिपालन किया है, जीवन की डोरी को इन के साथ संलग्न किया है–वे अपने आप को महान् सुखी समझ रहे हैं और उन्हें वास्तविक सच्चे सुख का अनुभव हो रहा है।

जिन्होंने जन्म से सांसारिक सुखों का अनुभव नहीं किया है, उन को अपना त्यागमय जीवन ही सुखमय प्रतीत होता है। वे उसीमें रह कर आत्मानुभव का वास्तविक सुख उठाते हैं। उसी की थोडी-बहुत झलक जैन मुनियों में पाई जाती है।

जैन मुनि अनुसरण तो उसी का कर रहे हैं, उसी वास्तविक वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न भी करते हैं, अपनी प्रवृत्तियां भी वैसी बनाते हैं; फिर भी आस-पास का वातावरण, अपनी खुद की निर्बलता, ज्ञान की कमी, क्रिया की कमजोरी उस लक्ष्यतक पहुंचने में बाधक बन रही हैं।

जैनमुनियों के आचार-विचार के परिपालन की जो मर्यादा शास्त्रकारोंने बनाई है, यदि उसीका अनुसरण कर के मनुष्य चलता रहे तो वह किसी न किसी एक दिन अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है; किन्तु उस मार्ग का परिपालन ही बड़ा कठिन है और उस ओर कम प्रवृत्ति होती है। केवल मात्र वेश पहन लेने से कोई वास्तविक साधु या गृहस्थ नहीं बन जाता है। किन्तु उस के स्वभावतः नियमों के पालन करने से ही वह साधु और गृहस्थ कहलायगा।

श्री यतीन्द्रसूरि का जीवन भी जन्म से ही साधुमय रहा। उन्हें गृहस्थ जीवन

की घाटियों का उतना अनुभव नहीं, जितने साधु-जीवन के उतार-चढाव उन के सामने आये। उन्होंने अपने सघषमय साधु-जीवन में हमेशा पतन की ओर ले जानेवाली प्रवृत्तियों का मुस्तेदी से सामना किया, धार्मिक प्रवृत्तियों की थपेडों से अपने जीवन की टक्कर लेते रहे। इसी का कारण है कि आज उन्हें वास्तविक साधुजीवन का अनुभव हुआ है। साधु-जीवन में क्या २ कठिनाइयां आती हैं और उन से मनुष्य किस प्रकार ऊचा उठ सकता है-इन वातों के मार्ग ऐसे ही मुनि प्रशस्त कर सकते है, अन्य मनुष्य की वह ताकत नहीं। इन का सपूर्ण जीवन हमेशा त्याग व तप श्चर्या रूप जितने भी अशों में रहा मानव-जीवन के लिये अवश्य अनुकरणीय है। आज भी वृद्धावस्था व रुग्णावस्था होने पर भी दिन भर वही अपनी धार्मिक यथेष्ट प्रवृत्तिया चालू हैं। समाज का सारा भार व तमाम जवाबदारिया अपने कधों पर लेकर चल रहे हैं, शारीरिक निबलतायें बढ रही हैं, फिर भी अपनी जिम्मेदारी अपने जीवन में निभा रहे हैं-यह समाज के लिये कम वात नहीं है।

श्री यतीन्द्रसूरि का आजन्म चारित्र का तेज और प्रताप ऐसा है कि उनके सामने बोलने के लिये किसी की हिम्मत नहीं होती है। हर एक यही समझता है कि इन की स्वभाविक प्रकृति बडी ही तेज है, किंतु वास्तविक इस में रहस्य यही है कि वे जो कुछ कहते हैं मनुष्य के मुख पर स्पष्ट कहते है, और जो स्पष्ट कहने वाला व्यक्ति होता है उस की प्रकृति हमेशा तेज मालूम होती है। उनके पेट में पाप कुछ नहीं होता है। आप दो मिनिट के बाद ही यदि गूढता पूवक देखेंगे तो आप को खुद ही अनुभव हो जायगा। इन की प्रकृति कितनी शुद्ध व सच्ची है, इस सच्चाई का ही कारण है कि उनके सम्मुख छल-कपट आदि की प्रवृत्तिया अपना घर बना नहीं पातीं।

उन्होंने अपने त्याग मय जीवन से बहुत कुछ सीखा, अनुभव किया और उसी की ही देन है कि आज ससार को उनके जीवन से बहुत कुछ सीखने को मिल रहा है। जो भी व्यक्ति इस समय इनके अनुभव का लाभ उठाना चाहे उठा सकता है और अपने जीवन को तपोमय, ज्ञानमय बना कर अपने खुद का व अपने देश का, समाज का कल्याण कर सकता है।

आचार्य श्री की दीक्षा-कुंडली पर एक दृष्टि

ज्योतिषाचार्य पं०—विश्वनाथ. रानापुर

मैं यहां पर कुंडली का कोई फलित नहीं लिख रहा हूं। मेरा तो मात्र यही प्रयास है कि इस कुंडली के सामान्य कुछ योग जो कि आचार्यश्री यतीन्द्रसूरीश्वरजी के जन्मकाल से कई वर्ष बाद जीवन की एक विशिष्ट एवं प्रमुख घटना काल के हैं दीक्षा के पूर्व और पश्चात् भी घटित घटनाओं को प्रकट करते हैं।

आचार्यश्री की जन्मकुंडली उपलब्ध नहीं है। जन्मकाल भी उपलब्ध नहीं है। श्री अरविंदरचित 'गुरु-चरित' में लिखित दीक्षाकुंडली पर ही सामान्य अध्ययन किया गया है और उसीके आधार पर ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं।

दीक्षा-काल—

श्री विक्रमसं० १९५४ शके १८१९ आषाढ कृष्णा २ तिथि बुधवासरे पूर्वाषाढा में। ईष्टम् १२-५ सूर्य २-२ लग्नम् ४-७ अत्र शुभ समये श्रीमतां दीक्षा मुहूर्तः शुभो जातः।
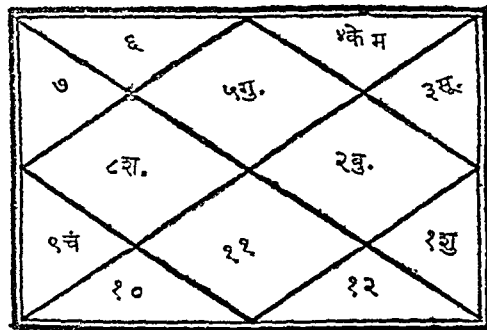
यह कुंडली आपके जन्मकाल से १५ वर्ष बाद की है। किन्तु इसके योग इसके पूर्व की घटनाओं को भी प्रकट करते हैं।

दीक्षा-कुंडली के लग्न-स्थान में सिंहराशि ७ अंश से उदित थी। सिंह स्थिर व क्रूर पुरुषराशि है। सिंहलग्न स्थिरता, दृढता, गंभीरता, साहसिकता और पुरुषार्थता प्रकट करती है। लग्न में गुरु अष्टमेश, पंचमेश होकर वर्गोत्तमी स्थित है। यह गुरु व्यक्ति को बुद्धिवान्, उन्नतिशील, निरंतर प्रतिभासंपन्न करता है।

गुरु अधिमित्र के घर का भी है । ऐसे प्रबल गुरु के विषय में भृगुसूत्र में लिखा है कि ऐसे व्यक्ति को सोलहवें वर्ष में महाराज योग आता है। वह लगभग ठीक ही है कि पन्द्रहवें वर्ष में आपको दीक्षा देकर महाराज बनाया गया ।

सूर्य-लग्नेश होकर नीस्वांश में लाभस्थ है । गुरु अष्टमेश है । चन्द्र से अष्टम में मगल केतु है । लग्न पर रोगेश शनि की दृष्टि है । ये योग शरीर-स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव डालते हैं । एक से अधिक कमसेकम तीन घटनाए जीवन में होती हैं जो शरीर-स्थिति को सदिग्ध करती हैं । सिंहराशि शरीर को दृढ तथा गुरु, स्थूल बनाती है । शरीर में वात-कफजन्य व्याधि रहती है । चन्द्र की पापद्वय मध्य स्थिति उदर-सम्बन्धी व्याधि, रक्त की सामान्य गति में अतर तथा विद्याभवन में होने से बाल्यावस्था में विद्याभ्यास में बाधा प्रकट करता है । मगलकेतुयोग जीवन में शस्त्र-अग्नि पाषाण-जल तथा विषजन्य भय और शरीर में स्थायी व्रण या चिन्ह करता है ।

चतुर्थ में शनि है । शनि पापराशि वृश्चिक का शत्रुगृह है । भृगुसूत्र में इस का फल--माता का विनाश, सुख का विनाश, निर्धनता आदि लिखा है । आप की ५-६ वर्ष की वय में ही माता का अवसान तथा ८ ९ की उम्र में पिता का भी । शनि की दशम पर दृष्टि, पितृकारक सूय का नवमांश में जाना-ये योग पितृसुख से वचित करते हैं, पैत्रिक सम्पत्ति से भी वचित करते हैं ।

चद्रमा पचम स्थान में धनराशि का गुरु, दृष्ट शुभनवांस्थ तथा पूर्ण है । इसके विषय में भृगुजी लिखते हैं कि-पूर्णचन्द्र हो तो बलवान्, अभयदान में प्रीति, अनेक विद्वानों का कृपाप्रसाद रूप ऐश्वर्य प्राप्त होता है, विजय होती है, सत्कर्मकर्ता, भाग्यशाली, राजयोगी, ज्ञानसपन्न होता है। सभी जन्म से ही प्रत्यक्ष ही हैं ।

षष्ठ में राहु है। स्वामी शनि से षष्ट स्थान दृष्ट है। मगल की भी दृष्टि है राहु राजयोगकारक है और मगल भी अपनी उच्च राशि को देखने से यही फल करता है। रोग-स्थान इस प्रकार पापाक्रान्त होने से शरीर में व्रणादि व्याधि करता है ।

शुक्र भाग्य स्थान में है । इस के फल में भृगुसूत्र में लिखा है कि--शुक्र नवम में रहे तो धार्मिक, तपस्वी, अनुष्ठानपरायण पादमें उत्तम चिन्हयुक्त, अश्व आदोलनी-शिबिका-आदि वाहन युक्त होता है । शुक्र ही पराक्रमेश और दशम-राज्यकर्ममान का स्वामी है । पराक्रम को देखता भी है; अत अत्यन्त पुरुषार्थी, निराशारहित, अत्यत प्रयासशील, महान् पूज्यता, धर्म का निशेषप्र करता है । अनेक धर्मकार्यों व ग्रथों का कर्तापन भी प्राप्त होता है ।

बुध दशम में अनेक सत्कार्यों की सिद्धि देता है। प्रतिष्ठावृद्धि, विस्तृत कीर्ति प्रदान करता है ।

इस कुंडली के मोक्षत्रिकोण के स्थानों में ब्राह्मण राशियां हैं। गुरुचन्द्र का नवम पंचम योग, धर्म त्रिकोण के स्थान, समस्त शुभ ग्रहों की स्थिति तथा ग्रहों का पृथक-पृथक आठ स्थानों में रहना-यह धर्ममार्ग के प्रति प्रगाढ प्रेम, मोक्ष, धर्माचरण तथा प्रव्रज्या योग कहते हैं।

निष्कर्ष—

यह कि चतुर्थस्थ शनि ने मातृ-पितृ सुख से वंचित किया। राहू और मंगल के कारण मामा से सुख-दुःख दोनों मिले। विद्याध्ययन में कितनी ही कठिनाइयां आईं। जन्मभूमि से प्रायः जीवन का अधिकांश भाग दूर, अति दूर व्यतीत होना। धार्मिक ज्ञान की उपलब्धि, उत्तमगुरु की प्राप्ति, बाल्यावस्था में ही घर, माता, पिता तथा भाई-भगिनी आदि से वियोग इत्यादि सभी बातें इस दीक्षाकुंडली में स्थित ग्रहयोगों से फलित होती हैं। शरीर के विषय में भी ग्रहयोग ठीक-ठीक घटित होते हैं। चन्द्र से सप्तम अष्टम सूर्य मंगल केतु गुप्तांग में व्याधि करते हैं। तथा शस्त्रक्रिया करवाते हैं। एक से अधिक बार रोग से आक्रांत होकर अंतिम स्थिति के निकट पहुंच जाना इत्यादि सभी बातें इस दीक्षाकुण्डली के संपूर्ण ग्रहयोगों से प्रगट होती हैं। अलम् विस्तरेण।

आचार्य श्री की साहित्य-साधना

लेखक निहालचंद फौजमलजी जैन खुडाला मंत्री,श्री राजेंद्रप्रवचन् कार्यालय

भारतीय संस्कृति विभिन्न धर्मों, मतों व जातियों की संस्कृति का समन्वय है। भिन्न २ समय में इस संस्कृति ने अपना स्वरूप जरूर बदला, लेकिन इसके साथ ही उसने इन संस्कृतियों को अपने अंदर आत्मसात् कर लिया। वैदिक काल में हिन्दू और जैन धर्म की कला, दर्शन, साहित्य व शिल्पकला का भारतीय संस्कृति पर प्रभुत्व था। धीरे २ बुद्ध धर्म के विकाश के साथ ही भारतीय संस्कृति विश्व-संस्कृति बन गई। भारतवर्ष पर समय २ पर उत्तर-पश्चिम के पहाड़ी दर्रों से आक्रमण हुए और आक्रान्तों ने भारतीय संस्कृति को समूल नाश करने व उसका स्थान अपनी संस्कृति को देने के विफल प्रयत्न किये, लेकिन भारतीय संस्कृति ने अपनी महानता, विशालता और परिपक्वता के कारण खुद आत्मसात् होने के बजाय, आक्रान्त संस्कृति को आत्मसात् कर लिया।

जैन संस्कृति अपनी कला व साहित्य की दृष्टि से हमेशा अग्रगण्य रही। मुसलमानों के आक्रमणों से जैन संस्कृति को बहुत हानि हुई।

किसी भी जाति अथवा धर्म के उत्थान व पतन में उस जाति के साहित्य का प्रमुख स्थान रहा है। जब २ जैन धर्म मरणासन्न अवस्था में पहुँचा, महान् तीर्थंकरों व महान् विभूतियों ने समय २ पर जन्म लेकर समाज व धर्म की बुराइयों को दूर किया। चौबीस तीर्थंकरों का चरित्र हमें बताता है कि भिन्न २ समय में तीर्थंकरों ने सारी दुनिया को बोध दिया और श्रमणसंघ की स्थापना की। उनकी मुक्ति के बाद उनके गणधरों ने उनके महान् वचनों व उपदेशों को साहित्य का रूप दिया। हिन्दू काल व मुगलकाल में भी अनेक महान् आचार्य हुए जिन्होंने साहित्य के बल पर सम्पूर्ण श्रमण-संघ को संगठित व जाग्रत किया।

मुगल साम्राज्य के ह्रास के साथ ही साथ जैनधर्म पर साधुओं का प्रभुत्व कम हो गया और यति लोगों का जैन-संस्कृति, साहित्य व कला पर आधिपत्य हो गया। लेकिन यतियों के प्रभाव में आकर जैन-धर्म का पतन होने लगा और समाज आलस्य, विलास और रूढ़िवाद की ओर अग्रसर हुआ। ऐसे विकट समय में दो महान् आचार्यों ने जन्म लिया जिन्होंने जैन-धर्म पर से यतियों का जुआ उतार कर उसे वापिस असली स्वरूप प्रदान किया। उन महान् नेताओं के नाम हैं (१) श्री आत्मारामजी (२) विजयराजेन्द्रसूरिजी। राजेन्द्रसूरिजी ने अपने जीवन काल में दो महान् कार्य किये—(१) जैन-धर्म में से गन्दगी निकाल कर उसे नया व असली स्वरूप दिया। (२) भारत, संस्कृत, पाली व मागधी में लिखित जैन साहित्य के मर्म

व गूढ तत्वों को समझाने के लिये एक ऐसे कोष का निर्माण किया जिसकी सहायता से प्राचीन ग्रन्थों को सरल भाषा में सर्वसाधारण जनता के सामने प्रस्तुत कर सकें।

श्री राजेन्द्रसूरिजी के स्वर्गवास होने के बाद त्रिस्तुतिक सिद्धान्त को कई पंडितों की आलोचना का सामना करना पड़ा। समाज में इस मत को जीवित रखने के लिये तर्क व साहित्य की जरूरत थी जिसके बल पर न केवल टीका-टिप्पणी का जवाब दिया जा सके, वरन् समाज को ऐसे सिद्धांत का बोध कराया जावें जिससे कि समाज रूढ़ी, ढोंग, आडम्बर व पोपलीला को छोड़कर भक्ति के असली मर्म को समझें। उस समय भक्ति का मर्म था किसी भी तरह उपासना के देवता को खुश करें जिससे धन व ऐश्वर्य की वृद्धि होवें अर्थात् इस मर्म से समाज में मोह, माया, लोभ व व्यभिचार का बीजारोपण हुआ जो कि जैन शासन, दर्शन व सिद्धान्तों के बिलकुल विरुद्ध था। गुरुदेव के अधूरे कार्यों को पूर्ण करने का श्रेय श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी महाराज को है जिन्होंने साहित्य को प्राथमिकता देकर जैन शासन की अद्भुत व अमूल्य सेवा की है। उन्होंने अपनी तर्कशक्ति के बलपर त्रिस्तुतिक सिद्धान्त की जड़ को मजबूत किया जिसके परिणाम—स्वरुप समाज में एक क्रान्तिकारी चेतना फैली।

विजय यतीन्द्रसूरिजी के साहित्य को हम निम्न श्रेणियों में बांट सकतें हैं—

(१) सम्पादन—कार्य
(२) ऐतिहासिक व भौगोलिक साहित्य
(३) व्याख्यान—साहित्य—माला
(४) धार्मिक व समालोचनात्मक लेख

(१) सम्पादन कार्यः—राजेन्द्रसूरिजी द्वारा रचित 'श्री अभिधान राजेन्द्र' महान् कोष का आपने २४ वर्ष की अल्प आयु में ही सम्पादन कर, प्रकाशित कर, उसे प्रकाशित करवाया जिससे जैन-धर्म के महान्-ग्रन्थ जो कि संस्कृत, पाली व मागधी भाषा में लिखे हुए हैं, को समझने का एक बड़ा साधन मिल गया। भारतवर्ष में यह मागधी व प्राकृत भाषा का सबसे महान् कोष है।

(२) ऐतिहासिक व भौगोलिक साहित्यः—आपने करीब १२ पुस्तकें इस श्रेणि के साहित्य पर लिखी हैं। आचार्य श्री ने अपने जीवन में मालवा, राजस्थान, गोड़वाड़, सिरोही, बनासकांठा, गुजरात, सौराष्ट्र आदि प्रान्तों में चौमास किये। वहां के एवं अपनी जिन्दगी में देखे हुए समस्त नगरों, तीर्थों, ग्रामों का आपने ऐतिहासिक व भौगोलिक वर्णन साधार लिखा है। इस श्रेणि में आपकी निम्न पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध है—

(१) श्री यतीन्द्र विहार दिग्दर्शन १-२-३-४ भाग, (२) मेरी गोड़वाड़ यात्रा, (३) कोरटाजी का इतिहास, (४) मेरी नेमाड़ यात्रा।

इन पुस्तकों में शिलालेखों, ताम्रपत्रों, प्रतिमा लेखों, व पट्टे-परवानों का परिचय होने से इनका महत्त्व पुरातत्त्व दृष्टि से बहुत बढ गया है।

(३) व्याख्यान-साहित्य माला — श्री यतीन्द्रसूरिजी का स्थान व्याख्यानकला की दृष्टि से जैनाचार्यों में बहुत ऊंचा है। हाजिर-जवाबी में तो आप जैन-समाज में सर्व प्रथम हैं। आपका भाषण सरल व मुहावरेदार भाषा में होता है। धार्मिक कहानियों से आगम-निगम के कठिन प्रश्नों को जोड देने से आपके व्याख्यान और भी निखर जाते हैं। आपके व्याख्यानों की बहुत सी किताबें मुद्रित हो गई हैं और उनमें निम्न बहुत प्रसिद्ध हैं—

(१) भाषण सुधा (७ व्याख्यानों का संग्रह), (२) श्री यतीन्द्र प्रवचन [हिन्दी] प्रथम भाग, (३) समाधान-प्रदीप, (४) सत्यसमर्थन प्रश्नोत्तर, (५) मानव जीवन का उत्थान आदि

(४) धार्मिक व आलोचनात्मक साहित्य — यतीन्द्रसूरिजी ने अनेक धार्मिक किताबें लिखीं। उन किताबों को हम ३ भागों में बांट सकते हैं—(१) महान् पुरुषों के जीवन-चरित्र (२) धार्मिक आलोचनात्मक लेख (३) स्तवन व पूजा संग्रह। पहली श्रेणि में निम्न किताबें बहुत प्रसिद्ध हैं—

(१) जीवन-प्रभा, (२) अघटकुमार, रत्नसार, हरीबलधीवर चरित्र, (३) जगड्शाह चरित्र (गद्य), (४) कयवन्ना चरित्र (गद्य), (५) चम्पकमाला चरित्र [गद्य], (६) राजेन्द्रसूरीश्वर जीवन-चरित्र, (७) सत्पुरुषों के लक्षण, (८) मोहन जीवनादर्श

दूसरी श्रेणि (धार्मिक आलोचनात्मक) में निम्न पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध हैं—

[१] तीन स्तुति की प्राचीनता, [२] भावना स्वरूप, [३] सूक्तिरस लता, [४] लघु चाणक्यनीति, [५] पीतपटाग्रह मीमांसा, [६] जीवभेद-निरूपण अने गौतमकुलक (७) प्रकरण चतुष्टय, (८) स्त्री-शिक्षा प्रदर्शन, (९) गुणानुरागकुलक, (१०) तपःपरिमल —

आचार्य महाराज की सेवा को केवल इसी दृष्टि से नहीं आँका जा सकता है कि उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं, वरन् उन्होंने साहित्य लिखने में बहुत से सज्जनों को प्रोत्साहन दिया। आचार्य महाराज इस कलिकाल में उन साधुओं में से हैं जिन्होंने समाज के उत्थान के लिये साहित्य के महत्त्व को समझा। यही कारण है कि अपने गुरु के स्वर्गवास के बाद उन्होंने 'राजेन्द्र अभिधान कोष' को सम्पादन कर, प्रकाशित कराने का बीड़ा उठाया। निसन्देह प्रकाशन की यह बड़ी जैन-समा

इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। जैन साहित्य के गूढ तत्त्वों को समझने की चावी मिल गई। यही नहीं, साहित्य के प्रचार के लिये उन्होंने जगह २ पर कार्यालयों की स्थापना कराई जहां से सर्व जनता को पुस्तकें सस्ते दामों में मिल सकें। बहुत सी किताबों का मूल्य उन्होंने "सद्प्रयोग". "पठन पाठन" रखवाया। बहुत सी किताबों का मूल्य नाम मात्र है। ये बात सिद्ध है कि आचार्य महाराज ने केवल साहित्य की ही साधना नहीं की, वरन् साहित्य के द्वारा समस्त जैन-शासन की महान् सेवायें की हैं। वे चिरायु हों, जिससे जैन समाज को उनका मार्गदर्शन मिलता रहे।

आदर्श यतीन्द्र

कुन्दनमल डागी "प्र स शाश्वतधर्म"

जेन सस्कृति व्यक्ति-पूजा में नहीं, वरन् गुण-पूजा में विश्वास लेकर चली है। सद्गुणों का आराधक तथा दिव्यगणों का साधक ही यहाँ पूजनीय एव श्रद्धेय होता है। सद्गुण ही जन-मन में अपना विशेप स्थान बनाता है।

प्रात स्मरणीय परमपूज्य गुरुदेव श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज वर्तमान जैनाचार्यों में एक सद्गुणों की साकार मूर्ति है। आप का तेजस्वी चहरा, भव्यभाल, मधुर वाणी, अखण्डब्रह्मचर्य शुद्ध चारित्र अलौकिक एव चित्ताकर्पक है। आप सदैव तत्वचिन्तन, साहित्यसेवा, शास्त्रावलोकन में ही अपना समय निर्गमन करते हैं।

गुरुदेव के अनेकानेक सद्गुणों से प्रेरित होकर ही मैं भूला-भटका पथिक प्रतिकूल मार्ग से अनुकूल मार्ग पर आसका, अत उन परमोपकारी गुरुदेव के दीक्षापर्याय के ६० वर्ष पूरक हीरक-जयन्ती उत्सव के शुभावसार पर उनके अलौकिक गुणों का आलेख आग्ल एव उर्दू भाषा के इस लुघु कविता में अनेकानेक शुभाकाक्षाओं के साथ कोटिश वन्दन सहित समर्पण करता हूँ।

परम पवित्र गुरु श्री यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

His Holiness Guru Yateendrasoori
Is holy worthy Gentle-man
His birth place is Dhaulpur
In Agra district town One;

पाकीजा[1] दिल गुरु यतींद्र सूरि
है पण्डित आलिम[2] और कामिल[3]।
है जन्म धवलपुर कस्बे का,
जो आगरा दिल्ले में शामिल॥

He has a mild and gentle heart,
And follows rules of his master,
He shows mercy on all alive,
And many good works he has done,

दिल जिसका पाक और साफ खरा,
फर्माबरदार[4] है गुरुदेव के।

१) पाकीजा = पवित्र, २) आलिम = विद्वान्, ३) कामिल = पूर्णपुरुष ४) फरमाबदार = आज्ञाकारी

न स भवान् स्तुत्यर्हः ? किराते कटुसत्यवादिना भारविणा समुल्लिखितमस्ति, यद्— 'ह्रियते विषयैः प्रायो वर्षीयानपि मादृशः' इति ननु 'त्वया साधु समारम्भि नवे वयसि यत् तपः' इत्येव त्वद्विषये सत्यमस्ति ।

सत्ये साधुत्वमपि त्वयि यथार्थं दृश्यते । न केवलं बहिरङ्गेण रक्तशुभ्रवस्त्रधारणेन, मुण्डितमस्तकत्वेन, जटामण्डलधारणेन, दण्डकमण्डलुना वा साधुत्वं सिद्धं भवति, किन्तु अन्तरङ्गमपि यस्य सर्वथा शुद्धम्, अर्थात् विषयरागेण न रक्तम्, न पापाचरणेन मलिनम् स एव साधुपदवीं समारोढुं सर्वथा समर्थः । स्वशरीरस्यापि येन चिन्ता न कृता, स एव यथार्थः साधुः । 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः' इति कालिदासोक्तौ श्रद्धधानो भवानपि पूर्वोक्तगुणविशिष्टोऽस्ति, इत्यत्र नास्तिकस्यापि संशयः । किं च सुवर्णे सुगंधमिव त्वयि, त्यागेन तपसा च सार्धं विद्वत्त्वं, व्याख्यानपटुत्वं, विनयशालित्वं च दृष्ट्वा को नाम भवन्तं मानवरत्नं शिरोभूषणं न कुर्यात् ? आनन्दसागरे वा न निमज्जेत् ?

लक्ष्मीकृपापात्रं पृथक्जनं यं कमपि श्रीमन्तं वदन्तु नाम साधारणाः किन्तु यथार्थः श्रीमान् भवानेव मन्मते, यतः—

"लब्धारो विपुलाश्च सन्ति विबुधा विद्याधनस्याधुना
किन्त्वालस्यसुगुप्तदस्युमुषिताः प्रायोऽखिलानिर्धनाः ।
सार्धक्येऽपि निरन्तराध्ययनतस्तन्द्रासुरा भास्करा
श्रीमन्तस्तु भवन्त एव भुवने लक्ष्मीसुतास्त्वामनु ॥"

कलिकालेऽस्मि बाल्ये बहुकालपर्यन्तं मातृपितृसुखं केनचिदेव लभ्यते न सर्वेण । भवतापि तन्न लब्धम्, किन्तु शीतलमातुलतरुतलच्छायायां कञ्चित् कालं स्थित्वा पश्चात् स्वतन्त्रो भूत्वा पुण्यतीर्थानि दर्शंदर्शं भ्रमता भवता पुण्यकर्मोदयभाजा, परमपुण्यतीर्थभूतः अधुना दिवंगतोऽपि श्रीमद्राजेन्द्राभिधानकोषकीर्तिकायेन चिरं भूवलयं अलंकुर्वाणो जैनादिशास्त्रपारंगतो विद्याभास्करो विद्वन्मुकुटमणिः मूर्तिमान् तपोभूमिः प्रातःस्मरणीयः स विजयराजेन्द्रसूरीश्वरः समालब्धः । यस्समीपे अन्तेवासित्वं स्वीकृत्य प्रसिद्धेषु मार्गेषु [विद्योपार्जनकर्मणि अन्तिमौ मार्गौ धर्तुं असमर्थेन भवता 'गुरुशुश्रूषयाविद्या' इति प्रथमेनानेन मार्गेण तच्चरणयोः शास्त्राभ्यासः कृतः । यस्य च गुरोः प्रतिदिनं वचनामृतेन आप्यायितो भवान् प्रवृत्तिनिवृत्त्युभयरूपेण पुरतः प्रवहन्तीं चित्तनदीं विलोक्य, मनसिपूर्णं विचार्य, धीरत्वमवलम्ब्य च मुनेरपि दुस्त्यजं प्रवृत्तिपथं परित्यज्य निवृत्तिपथमेव स्वीकृतवान् । युक्तं चैतत् यत श्रुतिरपि —

'यदहरेव विरहेत् तदहरे व प्रव्रजेत' इतीमं पन्थानं स्तौति, उपनिषदोऽप्येनमेव मार्गं धीरस्य कृते दर्शयन्ति । तदितरं च मन्दमार्गं निन्दन्ति "श्रेयः प्रेयश्चमनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसोवृणीते प्रेयोमन्दो योगक्षेमाद् वृणीते 'इति' अयमेव सर्वस्य सारः । यद्—आपातरम्यान् पर्यन्तपरितापिनः आहेयान् भोगानिव भोगान्, सर्वापच्चिगृहभूतान् दूरत एव समुज्जित्य स्वमार्गः निर्भीकः निष्कण्टकश्च कृतो भवता ।

द्वृम्ये तारुण्योपवने मानुप स्वस्यायुप द्वितीय पञ्चविंशत्या प्रविशति, गार्हस्थ्य च वृणुते, भवतापि तत्र प्रविशता प्रकारान्तरेण तद् वृणतम् इति वक्तुमह साहस करोमि। यद्यतु भवान्-तत्र मनोऽनुकूलया नित्य ते सानिध्य अमुञ्चन्त्या, त्वदेकमयजीवनया, सात्विक्या पतिव्रतया, निर्जितरागद्वेषया, परमप्रेयस्या स्वयोमुप्या सहचिर मायया सह ब्रह्मेव बाल ब्रह्मचार्यपि भवान् अरमत। इत्येव न, किन्तु तद्द्वारा अनेके सुन्दरा मनोहरा विविध भाषालंकारभूपिता ग्रन्थबालका समुत्पादिता। ये अधुनापि भारतवर्षे विद्वत्समाजे मान्यता प्राप्ता समुल्लसन्ति। न केवल भारते, किन्तु विदेशेऽपि लब्धप्रतिष्ठाः विराजते। क खलुन्यकला कुशल कवि इद ते अपूर्व गार्हस्थ्य अभिनन्दन् न नृत्येत ? अन्यच्च—

"अनुहु कुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी' इति न्यायेन क्षुद्रवान्नि समुपेक्ष्य, प्रसगे समागते त्वा वादे विजेतु समागतान् बद्धपरिकरान् वादिगजेन्द्रान् अहिंसा परायणोऽपि नरकेसरी भवान कौशल्येन स्वप्रचण्डपाण्डित्यनखै तन्मतगण्डस्थल विदार्य पराजितवान्। एतदपि न तिरोहित तत्कालस्थुपा विदुपाम्। एवमेव अस्तेयव्रतधारि णापि भवता पूर्वाचार्याणा अमूल्यानि ग्रन्थरत्नानि अपहृतानि। तथा अपरिग्रहमाजापि भवता उपहाररूपेण विद्वद्भि प्रदत्तानि विविधानि दुर्लभानि हस्तलिखितानि स्वीय स्वनिकटेऽद्यापि स्थापितानि दृश्यन्ते एवमेव सत्य वदतापि भवता व्याख्याने उपदेश काले च कुत्रापि जगति न दृष्टा न श्रुता अतएव असत्या अपि दृष्टान्ता भाष्यन्ते। तात्पर्यम्-दुष्टशिष्टजनाना त्वम् सदा 'यादो रत्नैरिवार्णव' अप्रधृष्य अभिगम्यश्चासि इति निश्चीयते।

शास्त्रेपातञ्जले समुल्लिखितमेतदस्ति, यत्र— 'ते समाधौ उपसर्गा व्युत्थाने सिद्धये" इति। तद् योगिरत्न भवान् न योगसिद्धीरन्वधावत्, किंतु यत्सानुसारिण्यो गाव इव ता एव स्वामन्वसरन्। श्री कालिदासेनापि "न रत्नमन्विप्यति मृग्यते हि तत्' इत्युक्तमेव। एव सिद्धवचनेन भवता बहवो योग्यकामनाभिलापिण श्रावका श्राविकाश्च ईप्सितदानेन कृतार्था कृता क्रियते करिष्यते च, इति सर्वं विदितप्रायमेव।

स्त्रीरपि एतत जानाति, यद् उप्त बीज सर्वमेव न फलरूपेण समुत्पद्यते, इति तव समापे ये प्रव्रयस साधवस्त्वा समुपासमाना विराजन्ते "वृद्धास्ते न विचारणीयचरिताहु नाम तिष्ठन्तु ते' इति तद्विपये न किञ्चिदपि वक्तुमहमुत्सहे। किन्तु भवतास्यमभितो ये लघुमाधवो विभिन्नबीजा वृक्षा समारोपिता। तेपु छिन्ना अपि यदि विशाला आम्रवृक्षा भूत्वा ससारानलसन्तापेन सन्तापिताना अज्ञानत इतस्ततो बभ्रम्यमाणाना पान्थाना स्वशीतलच्छायाश्रयेण दाह तथा स्वोपदेशामृतकल्पेन फलेन क्षुधा च शमयितु प्रभवेयुश्चे स्वच्छुभाशिषा, मालाकारतुल्यस्य तत्रपरिश्रमवत पण्डितस्य प्रयत्न च सफलयेयुश्चेत् तर्हि कियत्सुन्दर स्यात् कस्य सुमते इय समभिलाषा, श्रीपरमेश्वरस्य चरणयो न स्यात् ?

अथ श्रुते डिण्डिम। यद् 'शतायुर्वैपुरुप' इति परमेश्वरेण प्रतिपुरुषाय शत वर्पात्मक परमायु प्रदत्तमस्ति। किन्तु यो मानव श्री गीताया भगवतोक्तेन—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु

युक्तस्वप्नावबोधस्य—अनेन श्रेयो मार्गेण यदि चलेत् तर्हि नूनं म श्रुत्युक्तं सम्पूर्णमायुः सुष्ठुभोक्तुम् प्रभवेत् । भवता च अद्य पञ्चनवति समे वर्षे अशिथिलितेन्द्रियवर्गेण प्रविशता एतत् स्वाचारेण सिद्धंकृतमस्ति । अतो भाविनि कालेऽपि भवान् पूर्णायुष्मान् नूनं भूयादित्यत्र नास्त्यस्माकं शंकालवोऽपि ।

सौभाग्यशालिनमात्मानं मन्यमानोऽहं —

"वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं"
गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्
खलत्वमल्पीयसि जल्पितेऽपि
तदस्तुवन्दिभ्रमिभूमितैव ।"

इतीमं श्लोकं कविमुकुटालंकारहीरस्य पण्डितप्रकाण्डस्य श्रीहर्षस्य प्रमाणीकृत्य, गुणाधिकस्य भवतोवर्णनं अकृत्वाचिरं मां तुदद् असह्यं हृद्गतंशल्यं समुद्धर्तुं छित्रैः शब्दैस्त्वां वर्णयित्वा समागतं खलत्वं परिहर्तुं अनेन बहुवर्णनेन प्राप्तां बन्दिभूमिकां सानन्दं समुह्य विरमामि अस्याः पल्लवितायाः विभूतिपूजायाः । इतिशम्

"क एतां रचनामत्र सुलभामकरोन्नरः"
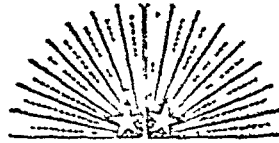
શબ્દો સાચા પડ્યા ?

લેખક—મુનિ સૌભાગ્ય વિજયજી

ઉજ્જૈનથી સિંહસ્થનો મેળો જોવા નિકળેલા એક યૂ પી પ્રાન્તીય યુવકે મેળો દેખીને માલવભૂમિના તીર્થોની યાત્રા કરવાની શુભ નિષ્ઠાથી યાત્રા કરતા કરતા મહેન્દપુર સુધી લંબાવ્યું ! એમ તો એ યુવકે બાલ્યાવસ્થામાજ વિદ્યા ઉપાર્જન કરી લીધી હતી, અધ્યયન અને મનન પછી તેને સમજાયુ હતુ કે જીવન ક્ષણભંગુરતાથી ભરેલુ, શરીર અશુચીથી ઓતપ્રોત બનેલુ અને સ્નેહીઓ ફક્ત સ્વાર્થસિદ્ધિ માટેજ ગળાબૂડ ડુબેલા છે સંસારની એ ઘટમાળાના ગોથા ખાવામા કંઈ ઓછાશ રહી નથી આ સમય અરે ! આ અમૂલ્ય ભવજ એવો છે કે જેના દ્વારા હુ મારૂ કંઈક અંશે પણ આત્મસ્વરૂપ સમજી શકુ ! છતા આ મારો અને ત્યાગે કહેનારાઓની, થોડી પણ પરીક્ષા થવી જોઈએ બાલપણમા જ્યારે માતા પિતા પરલોકના યાત્રી બની ગયા ત્યારે તેને પોતાને મોસાળ રહેવુ પડ્યુ ! પોતાની બુદ્ધિમત્તા અને ચતુરાઈથી મામાને દરેક કાર્યમા સફળતા પ્રાપ્ત કરાવવા છતા એક સમય મામાની નારાજીએ તેને આવરી લીધેલ દરેક જગ્યાએ જ્યારે આમ સ્વાર્થતા દેખાવા લાગી ત્યારે તેણે સંસારથી વિરક્ત થવાની પોતાની ભાવના મજબૂત બનાવી અને મામાને છેલ્લા પ્રણામ કરી ભોપાલનો ત્યાગ કરવો જ ઉચિત ધાર્યો ત્યાથી નિકળી દુનિયાની લીલાને નિહાળી પોતાના ધ્યેય સિદ્ધિ માટે ભ્રમણ કરતા આ બાજૂ આવી જવાયુ

મહેન્દપુરમા આ અવસરે જૈનસિદ્ધાન્તના પ્રકાંડવિદ્વાન અને ઉત્કૃષ્ટ ચારિત્રના પાલક પરમપૂજ્ય જૈનાચાર્ય પ્રભુશ્રીમદ્વિજય રાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજ બિરાજેલા હતા ! મન્દિરોના દર્શન કરી નજીક રહેલી પૌષધશાળામા પણ ગયા આચાર્યશ્રીસૌમ્ય સુખાકૃતિએ પ્રથમદર્શને જ તેના મનમા ભાવુકતા ભરી દીધી જ્યારે વ્યાખ્યાન સાભળ્યુ ત્યારે તો જાણે એક શુષ્ક પડેલા વૃક્ષને નીર મળ્યુ હોય નહીં, તેમ તેના મનમા રહેલી વૈરાગ્ય ભાવનાને પાણી જેટલો મહારો મળ્યો પોતે જન્મથી દિગમ્બર હોવા છતા પણ અદ્ભુત યોગીરાજની ઉત્કૃષ્ટ ક્રિયાપાલન અને વિદ્વતાએ તેને આકર્ષિત કરી લીધો પોતાની ભાવના આચાર્યશ્રીના સામે પ્રદર્શિત કરી

બુંદેલખંડમા ધવલપુર ગામના વતની વ્રજલાલ શ્રેષ્ઠિ અને ચંપાકુવરની પાવનગોદથી ઉત્પન્ન થયેલ આ નવયુવક રામરત્ન કુમાર હતા નાની વયે કળાઓમા નિષ્ણાત્ અને અધ્યયનમા પ્રવીણતા પ્રાપ્ત કરી લીધી હતી આચાર્યશ્રીએ યુવકના સામે દૃષ્ટિનાખી, દેખતાં જ જણાયુ કે જરૂર આ વીરનો સાચો અનુયાયી અને મારો સાચો વારસ બનશે ! સ્વનામથી વિખ્યાત્ થશે ! જ્યારે આચાર્યશ્રીએ પ્રશ્નો પૂછ્યા ત્યારે તેના પ્રત્યુત્તરો આધ્યાત્મિક શૈલીથી આપ્યા ત્યારે ગુરૂદેવશ્રી આશ્ચર્યચકિત થઈ ગયા યુવક

રામરત્નકુમારને પોતાની સાથે રહી અધ્યયન કરવા અને સાધુ જીવનની પ્રણાલીને સમજવા કહ્યું ! આ યુવકે આટલી નાની ઉમ્મરમાં તો નવસ્મરણુ અને તત્વાર્થસૂત્ર જેવા ગ્રન્થો મુખપાઠ કરી લીધા હતા.

મહેન્દપુરથી વિહાર કરી માર્ગના ગામોમાં પોતાની સુધાવાહિની ઉપદેશ સરિતાને વહાવતા આચાર્યશ્રી ખાચરોદ પધાર્યા, અહીં આગન્તુક ભાવચારિત્રી કુમાર રામરત્નને ભાગવતી દીક્ષા આપવાનું નક્કી કરાયું ! અષાડ વદિ ર નું મુહૂર્ત્ત રાખ્યું.

આખું નગર આજ બ્યુગલોના અવાજ અને નિશાનડંકાના નાદથી ગુંજારવ કરી રહ્યું હતું. જ્યાં દેખો ત્યાં માનવ મહેરામણુ ઉભરાતો દેખાતો હતો ! કોઈ પૂછતું, અરે ભાઇ ? આજ આટલી ખુશાલી શાની છે ? આજનો આનંદ ! વાત જ મત પૂછો ! પોતાના આત્માને ચિરશાંતિના સ્થાન પર આરૂઢ કરવા સંસારની મોહજાળના પાસને ભેદવાની શક્તિ બતાવી આપનાર એ નવજુવાન. અરે ! હજુ મૂંછનો દોરો પણુ દેખાતો નથી, આટલી નાની અવસ્થામા ત્યાગના માર્ગ પર જવાની તૈયારી કરી રહ્યો છે ?

શું તેને સંસારમાં સહારો આપનાર કોઇ નહીં હોય ? સંસાર ના સુખો ભોગવવાની તેને શું ઇચ્છા નહીં હોય ? અધૂરામાં પુરૂં આ યુવાવસ્થા ગૃહસ્થાવસ્થામાં રહીને મોજ શોખ માણુવાની આ અવસ્થા ! આ અવસ્થામાં તે શા માટે ત્યાગના કઠણુ માર્ગ પર જઈ રહ્યો હશે ? ત્યારે.. ....

કોઇ કહેતું ના ભાઇ ના ! એને સુખોપભોગનો કાઇ તોટો નથી, સંસારમાં સહારો આપનાર પણુ ઘણુા પડ્યા છે, અરે ખબર નથી જે રાજ્યકર્મચારીઓ વિરોધ કરતા હતા તે પણુ સાથે આવી ગયા છે. આટલી નાની અવસ્થામાં જ્ઞાનોપાર્જન પણ કરી લીધું છે. ભાઇ ! એ વાત તો સત્યજછેને ? જેને વિશ્વ આખો કડવો લાગતો હોય, સહારો આપનાર જ સ્વાર્થી લાગતા હોય, મોજ શોખ અને સંસારી સુખોની પરંપરા મહાન દુઃખોના ડુંગરા જેવી દેખાતી હોય તેને પછી શું સુખ અને શું દુઃખ ! તેને તો એકજ તાલાવેલી લાગેલી રહે છે કે મારૂં લક્ષ્યબિન્દુ ક્યારે અને કેવી જાતના માર્ગ પર જવાથી સિદ્ધ થાય ?

જૈનશાસનની જય ! શાસનપતિ શ્રી મહાવીરસ્વામિની જય ? ત્યાગધર્મને અપનાવનારની જય ! ના પોકારો સાથે એક સરઘસ ગામના મુખ્ય બજારોમાં થઈને નીકળ્યું.

આ પેલો યુવક ઘોડા ઉપર બેઠેલ છેને એ પોતાના ધ્યેયની સિદ્ધિ માટે ત્યાગ ના કંટક વર્ણા પંથ પર પ્રયાણુ કરશે. આંગળી ચિંધીને એક જણે કહ્યું ! અરે ? તેનું તેજસ્વી ભાલ અને તેની અદ્દભુત કાન્તિ જ બોલાવી રહેલ છે કે તે ભવિષ્યમાં સમાજના ઉપર ઉપકારી બનશે! અને પોતે પણુ આત્મસાધના કરી જશે ખરેખર; એ ભાગ્યશાળી યુવકને ગુરૂપણુ એવાજ મળ્યા છે. જેમણે જ્ઞાનના અખૂટ કુંભમાંથી સત્યવારિને ઢોળ્યું છે !

જેઓ શિથિલાચારના વિરોધી અને મહાવીર પ્રભુએ દીધેલ સત્યઉપદેશના પ્રચારક છો ધન્ય આ બાલવીરને! જે આટલી નાની કોમલ અવસ્થામા આત્મકલ્યાણ માટે ભોગોપભોગને ત્યાગી રહ્યો છે ચારે બાજૂ માનવ સમૂહ જયકારના નાદોથી ગગનમ ડળને ગુ જાવી રહ્યો હતો બજારના માર્ગોએ થઇને માનવ મહેરામણ ગામના પશ્ચિમોધાન બાજૂ ચાલ્યો ગયો જ્યા એક સઘન વટવૃક્ષની છાયામા એક ત્રિગઢ સિંહાસન મૂકવામા આવ્યુ હતું, જેમા ભગવાનની પ્રતિમા બિરાજિત હતી બાજૂમા એક પાટ ઉપર ગુરૂદેવ શ્રી બિરાજ્યા હતા, શ્રમણ સમુદાય પણ હતોજ ! ગુરૂદેવશ્રીએ ચતુર્વિધ સઘ સમક્ષ પોતાના પવિત્ર હસ્ત કમળથી એ યુવાનને વિધિસહ ભાગવતી પ્રવ્રજ્યા અ ગીકાર કરાવી અને નામ ઘોષિત કર્યું ઉપસ્થિત જનસમુદાયે નૂતન મુનિરાજના નામનો જયજયકાર મચાવી દીધો

ધન્ય ગુરૂદેવશ્રીમદ્વિજયરાજેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજની જય ! નૂતન મુનિરાજ શ્રીયતીન્દ્રવિજયજી મહારાજની જય !

ગુરૂદેવશ્રીના આશીર્વાદ પ્રાપ્ત કરી નવ વર્ષ ગુરુસેવામા વ્યતીત કર્યાં, આટલા સમયમા આપે સસ્કૃત, પ્રાકૃત અને જૈન સિદ્ધાન્તોનુ ગહન અધ્યયન કરી લીધુ સવત ૧૯૬૩ મા પુ૦ગુરૂદેવાચાર્ય શ્રીમદ્વિજય રાજેન્દ્ર સૂરીશ્વરજી મહારાજનો સ્વર્ગવાસ થયો ત્યાર પછી સ્વ૦ ગુરૂદેવશ્રીનો સદેશ લઇને ગામડે અને શહેરોમા આપશ્રીએ ભ્રમણ શુરૂ કર્યું પોતાની વિદ્વતાથી ઘણા અજાઇ જવા માડયા ગચ્છનાયક શ્રીમદ્વિજય ધનચદ્રસૂરીશ્વરજી એ ઓજસ્વી અન પ્રભાવશાલી વ્યાખ્યાનશૈલીથી આપને 'વ્યાખ્યાન વાચસ્પતિ' પદ આપ્યુ શ્રીમદ્વિજયધનચદ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજના મહાપ્રયાણ પછી શ્રી ભૂપેન્દ્રસૂરીશ્વરજી ગચ્છનાયક બન્યા તેમણે (વ્યા૦ વા૦ શ્રીયતીન્દ્ર વિજયજીને આપને) ઉપાધ્યાય પદથી વિભૂષિત કર્યા શુભ સવત્સર ૧૯૮૦ એ વખતે ચાલતો હતો આટલા વર્ષો દરમ્યાન આપશ્રીએ સમાજ સેવાના બહુ કાર્યો કર્યા પાઠશાળા, જ્ઞાન-ભડારોની સ્થાપનાના સાથોસાથ આચાર્યશ્રીના સાથે રહી વિરાટ બહુદ્વિશ્વકોશ 'શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્ર નુ સશોધન કર્યું ! ઉપાધ્યાય પદની જવાબદારી પોતે એક મત્રી રાજાનુ રાજ્ય જેવી રીતે સભાળીને તેનુ સચાલન કરે તેવી રીતે પોતે ખુબ કાળજીપૂર્વક અદા કરી

સમય અને કાળની ગતિ ન્યારી છે શ્રીભૂપેન્દ્રસૂરીશ્વરજી મહારાજનો દેહાવસાન થયુ ચતુર્વિધ શ્રીસઘના અત્યાગ્રહથી ગચ્છનાયક પદનો અનિચ્છાએ પણ સ્વીકાર કરવો પડ્યો આ વખતે વિક્રમની ૧૯૯૫ ની સાલ હતી, આખા સમાજની જવાબદારી આપ પર આવી પડી, છતા પણ આપે એક નાયકને શોભે તેવી રીતે વીરના સદેશ નો પ્રચાર કરવામા કમી રાખી નથી આપશ્રીની જિદગી ફક્ત જાતિ સુધાર અને સમાજ સેવામા જ વ્યતિત થઇ નથી પરતુ વિશ્વના ગગનાગણમા આપે ૬૦ ગ્રન્થો લખી ને સાહિત્યસેવા પણ ખૂબ કરી છે અને હજૂ આજે પણ સતત પ્રયત્નશીલ છે આજ આપની ૭૪ વર્ષની દીર્ઘાયુ હોવા છતા પણ આપના હાથમાથી લેખિની પોતાનુ વર્ચસ્વ છોડી સકતી નથી ! એક ધારા આસન લગાવીને કલમ ને

તરફ સ્ત્રીઓ શાંત ચિત્તે બેસી વ્યાખ્યાન-પૂ. ગુરૂદેવનો ઉપદેશ સાંભળી રહ્યાં હતાં. કોણ હતા એ પૂ. ગુરૂદેવ!

એ હતા પ. પૂ ગુરૂદેવ પરમ યોગીરાજ 'વિરલ વિભૂતિ' પ્રભુ શ્રીમદ્ વિજય રાજેન્દ્ર સૂરિશ્વરજી મહારાજ. અને આત્માર્થી ભવ્યજીવોને સંભળાવી રહ્યા હતા-સંસાર સાગરને તરવાની તાકાત આપનારી ઉપદેશવણી-અવિરલ અને અવિરત.

પૂ. ગુરૂદેવના તેજમાં અંજાઈ ગયેલા અધિકારીઓ પહેલા તો માનવ મેદનીમાંજ જગા મળી ત્યાં બેસી ગયા. અને પછીતો .. ....

પછીતો જેણે એક વખત સાંભળી હોય-કેવળી ભગવંતોએ પ્રરૂપેલી-ગણધર મહારાજાઓ એ ગ્રહણ કરી, આગમ સુત્રો રૂપે રચેલી-ઉપદેશ વાણી-અને તે પણ મહા પ્રભાવશાળી અને સચોટ રીતે સમજાવનાર મહાન વિભૂતિના મૂખે. એનું દીલ પીગળ્યા વિના રહે ખરૂ? એના દીલમાં સત્ય-અહિંસા-અસ્તેય-બ્રહ્મચર્યનો અંશ પણ પ્રવેશ્યા વિના રહે ખરો? અને ખરેજ એ વિતારાગની વાણીના પ્રભાવને વશ બંને અધિકારીઓ પરસ્પર કહેવા લાગ્યા........

ભાઈ? આવા પરમ યોગીરાજ તે કંઇ અયોગ્ય-ખીન કાયદે કામ કરતા કે કરાવતા હશે ખરા કે? આતો અયોગ્ય કરનારને યોગ્ય રસ્તે વાળવા સદુપદેશ આપે છે. તો પછી આવા મહાત્મા પોતે અવળા માર્ગે કદાપિ જાય જ કેમ?

વાતો ખરી છે પરંતુ આપણે તો ચીઠીના ચાકર-કાયદાના ગુલામ. કાયદાનું પાલન તો કરવુંજ જોઇએને? ફરજ તો અદા કરવીજ જોઇએને?

તો આપણે આ મહાન આત્મા સમક્ષ શું કહીશું?

એતો મને પણ સમજતું નથી?

અને આમ વિમાસણામાં પડેલા બંને અધિકારીઓ-વ્યાખ્યાન પુરૂ થયું માનવ મેદની ગુરૂદેવના ચરણ કમલોનો સ્પર્ષ કરી ધન્ય અનુભવતી-પૂ. ગુરૂદેવના મૂખે 'ધર્મલાભ' જેવો અમૂલ્ય શબ્દ સાંભળી અહોભાગ્ય માનતી-એક પછી એક વીખેરાવા લાગી-અને જ્યારે ઉપાશ્રયમાં વૈરાગી-ત્યાગી સાધુ સમુદાય શિવાય બીજા ગણ્યાજ જીવાત્માઓ રહ્યા ત્યારેજ આ બે અધિકારીઓની આંખ ઉઘડી ફરજનું ભાન થયું.

બંને ઉભા થઈ પૂ. ગુરૂદેવ પાસે આવ્યા વંદન કરી બેઠા. અને એક અધિકારીએ ડરતાં ડરતાં વાત કહેવાની શરૂઆત કરી.

ગુરૂદેવ! કહેતાં જીભ ઉપડતી નથી છતાં ફરજને વશ કહ્યા શિવાય છૂટકો નથી અમે બંને કાયદાના આદેશને આધિન પરમ દિવસે જે કિશોરને દિક્ષા આપવાની છે એની તપાસ કરવા આવ્યા છીએ. અમારી પાસે એક અરજી આવી છે કે આ કિશોરને ભોળવીને બળાત્કાર પૂર્વક દીક્ષા અપાય છે. ઉપરાંત તે આજે અનાથ છે.

तो कगीलोने लाइ तपास, मारी कया मनाइ छे? पू गुरुदेवे कहु

परंतु गुरुदेव? अमने तो समजातु नथी के अमारे आ माटे तपास कया करवी अने शु करवी? अमेतो मानीए छीए-म नता थइ गया छीए के आपना वरद हस्ते थतुं कोइपण कार्य समाज गाम-देश अने दुनियाना लाभनु ज हशे?

पण भाइ? फरज तमाग म तव्यथी पूगी नथी थती तमारी? तमारी फरज तो तमारे जे करवानु छे ते सपूर्ण रीते करीने पूरी करवीज जोइए शरमाशो नहि-कचवाशो नहि-जुओ सामे जे किशोर अभ्यास करी रहेल छे एनेज परम दीवने दीक्षा आपवामा आवशे जओ एने पूछवु होयते पूछी तमारी शकाओनु-तमारा कायदानी कलमोनु नीरीक्षण करीलो

अने बने अधिकारीओ ज्या दिक्षार्थी किशोर वाचन करी रह्या हता त्या गया आजनो चौद वरसनो बाळक? पोलीसनु नाम साभळी घरना खुणे सताइ जाय छे ज्यारे आ चौद वरसना किशोरमा-बाळकमा केटली हिमत हती एनो आ प्रसग आगोपाग नजरो नजर जोनारनेज खबर पडे

खाखी कपडा, माथे सारजटनी टोपी, हाथमा दडो, अकमरमा रीवोल्वर, साथे मोटी कागळीआओनी फाइल आवु मोटु स्वरूप छता आ किशोरतो वाचनमाज तलीन रह्या त्यारे बेमाथी एक अधिकारीए पूछ्यु, आपनु नाम कहेशो?

महेरबानी करी परम दिवसेज आ टाइमे मारु नाम पूछवा तकलीफ लो तो सारु, कारण जे नामनी साथेनो सबध हु तात्कालिक छोडवाज मागु छु ते नाम पण हवे बोलवु ए कर्मबधना कारण रूप हु मानु छु अने एटले कहेवाने असमर्थ छु

अच्छा तो? आपना पिताश्रीनु नाम

आ पण एवोज प्रश्न छे एटले जवाब शु आपु?

तो पछी आपनी ज्ञाती अने गाम तो कहेवामा वाधो नथी ने?

केम न होय, जे नानकडी ज्ञातीना गोळने छोडी समग्र मानव समाजनी सर्व जातीओने पोतानी बनाववा पगरणु माडयु छे जे गामने-नानकडा गामने त्यागी आखी अवनीने पोतानु गामज समजवा अने ए प्रमाणे वर्तवा-प्रस्थान करवानी तैयारीओ करी चूकयो छु तो पछी जे छोडवानु छे तेनु नाम शामाटे लेवु जोइए-जे गाम जवु नहि तेनो रस्तो पूछवाथी शुं फायदो? आवा ससार विषयक सकुचित प्रश्न पूछी आपनो अने मारो अमूल्य समय शा माटे गुमावता हशो! किशोरे नम्रता पूर्वक कहु

त्यातो राज्याधिकारीओए जरा धमकी आपी स्वरूप बतावी कहेवा माडयु, तो पछी आपने अमे दिक्षा नहि लेवा दइए,

એ આપની શકિત બહારની વાત છે. રાજ્યનો કાયદો–એ કાયદાનું ખંડત કરનાર પરજ ચાલી શકે, અન્યત્ર નહિ. કિશોરે જવાબ આપ્યો.

તો શું બાલ દિક્ષા એ બીન કાયદે–અનુચિત કાર્ય નથી!

નોહે નહિ કદાપી નહિ, મને સમજાતું નથીકે સર્વ અનર્થોના મૂળ સમાન બાળ-વિવાહ પર આંખ આડા કાન કરનારો કાયદો સન્યાસ જેવા શુભ કાર્યોમાંજ વિક્ષેપ નાખી શકે છે? એમ ન સમજતા કે બાળક નાનો હોય છે તેમ એનું ભેજુ પણ નાનું હોય છે! નાના બાળકમાં પણ સાઠ વરસના બૂઢા બુઝર્ગ જેટલી બુદ્ધિ કર્મ બળે-પૂર્વ કર્મના યોગે ભરેલી હોય છે. અરે ઘણી વખત એક બૂઢા કરતાં બાળક વધુ બૂધ્ધિશાળી પણ તમને મળી આવશે. આ સંસારની અકળ લીલાનો પાર પામવાના રસ્તે કેવળ–બૂઢા કે આધેડજ જઇ શકે એવો કઈ કાયદો નથી અને કાયદો થઇ શકે પણ નહિ એ રસ્તે તો દરેકને જવાની છુટ છે, પછી ભલે એ બાળક હોય વૃધ્ધ યુવન હોય કે આધેડ સ્ત્રી પુરૂષ હોય. કાયદો એમને કંઇ કરી શકતો જ નથી આત્માના માર્ગે પુદ્ગલની તાકાત નથી કે આડે આવી એ માર્ગને રોકી શકે? અને યાદ રાખજો કે જે રાજ્ય કે દેશમાં ધર્મની ઉન્નતિ નથી થતી તે રાજ્ય કે દેશની પડતીની નિશાની છે ધર્મ એ ધર્માચાર્યોનું ક્ષેત્ર છે. એમાં રાજા કે એમના અધિકારીઓએ હસ્તક્ષેપ કરવો યોગ્ય નથી જ હાં! પણ આતો થઇ એક રાજયની કાયદાની ફરજની વાત! તમારે તો તમારી ફરજ બજાવવાની છે ને? તો સંભાળો, તમારા પ્રશ્નનો વગર પુછે જવાબ:–

હું ઉમરમા ભલે નાનો હોઉં પરંતુ હું એટલું સમજી શકું છું કે હું શું કરૂં છું? કરૂં છું તે યોગ્ય જ કરૂં કે અયોગ્ય? મને મારા હિતા હિતની સંપૂર્ણ સમજ છે અને એ સમજવાની શકિત મારા આત્મામાં છે. હું જૈન છું. જૈન ધર્મની સેવા કરવાની મારી ફરજ છે અને એ સેવાનો ભેખ ધરવા માટે જ પુ. ગુરૂદેવશ્રી પાસે આવ્યો છું અને એ ભેખ આ અડતાલીસ કલાકમાં જ ધારણ કરવાનો અને ધારણ કરીને શોભાવવાનો. બોલો હવે છે કંઇ પુછવાનું! કોઇ પણ કાયદો વ્યકિતના મરજીઆત કાર્યને રોકી શકતો નથી જો એ કાર્યથી દેશ–દુનિયા કે સમાજને નુકશાન થતું ન હોય. તો પછી આતો ધર્મ દેશ દુનિયા અને સમાજના શ્રેયનું કામ છે. એને રોકવાની તાકાત કોઈની નથી.

એક નાના બાળક ગણાતા દિક્ષાર્થી કિશોરની સાથેનો વાર્તાલાપ સાંભળી બંને રાજયાધિકારીઓ અવાક બની ગયા અને દિક્ષા યોગ્ય જ છે. અને લેનારની મરજીથી જ અપાય છે એવો રીપોર્ટ લખી પૂ. ગુરૂદેવની અવિનય બદલ ક્ષમા માંગી બંને આવ્યા હતા એવા જ પાછા ગયા.

કોણ જાણે આજે પણ આપણી સરકાર "બાલ સંન્યાસ' પ્રતિબંધ" જેવાં બીલો લાવે છે પછી ભલે એ પસાર થયા વિના જ પડયાં રહેતાં હોય–પરંતુ શું આ સરકારમાં બેસનાર એટલું પણ નહિ સમજતા હોય કે પાપ-પુન્ય, આભવ–પરભવ જેવી કર્મ ફીલોસોફીને સારી રીતે જાણવાવાળા જૈનોનાં બાળ ભલે ઉમરમાં નાના હોય પરંતુ

એમના અ તરમા રહેલા પુર્વભવોના વૈરાગ્યના મ સ્કારો જ્યારે જાગૃત થાય છે ત્યારે એમને ઉ મરનો ખ્યાલ નથી રહેતો, તેઓતો આ સ સારને તરવાને-બીજાઓને તરવાનો ઉપદેશ આપવાને જ્યારે ભાગવતી પ્રવજ્યા અ ગીકાર કરવાને તત્પર બને છે ત્યારે કાયદાની કલમો એને કેમ રોકી શકે? આ દિક્ષાઓમા બળજબરી કે ભોળાપણાને સ્થ ન નથી જ હોતુ-અને ન જ હોવુ જોઇએ અને તોજ આવા બીલ આવે તો પણ આ દિક્ષાને અટકાવી શકતા નથી ખેર આ વાતતો સરકારને સમજવાની છે આપણે શુ? આપણે તો પાછા ખાચરોદમા જ દિક્ષા મહોત્સવ જોવા જવાનુ છે

અને-પછીતો નગર બેવડા હર્ષમા આવી ગયુ અપૂર્વ ધામધુમ સાથે દિક્ષાની તડામાર તૈયારીઓ થવા લાગી દરરોજ પુજા પ્રભાવના અને વરઘોડાથી ગામ આખુ ગાજવા માડયુ અને એમા પણ જ્યારે એ દિક્ષાનો મહાન દિવસ આવી પહોચ્યો ત્યારે?

ત્યારે તો-અસાઢ વદ બીજના પ્રભાતથી ગામ આખામાથી નર અને નારીના વૃ દ બાળક અનેવૃદ્ધોના ટોળા ઉપાશ્રય તરફ ઉભરાવા માડયા સૌ કોઇની સ સાર ત્યાગી જનારના આ સ સારના વેશે છેલ્લા છેલ્લા દર્શન કરવાની-એ કિશોરના મોઢાના હાવ ભાવ નીરખવાની ઉત્ક ઠા પ્રબળજ હતી સમય થતા એક મોટો વરઘોડો ઉપશ્રયમાથી નીકળ્યો

પ ચકલ્યાણી ઘોડા પર વસ્ત્રા ભુષણોથી સજ્જ થઈ એક કિશોર હસ્તા મૃખડે બેઠો હતો કોઇ પ થ ભૂલેલા માનવીને પોતાનો રસ્તો હ થ લાગે અને એનુ ધ્યેય નજર સામેજ દેખાવા માડે ત્યારે એ કેવો આન દમા આવી જાય? બાળક માતાથી વિખુટુ પડી ગયુ હોય અને રોવા માડયુ હોય પર તુ સામેથી માતાનો સાદ સાભળે-માતાને આવતી જુએ ત્યારે? ત્યારે કેવુ આન દમા આવી દોડવા લાગે? એવુ જ હાસ્ય આ કિશોરના મુખ પર હતુ અગણિત માનવ મેદનીમા અવનવી વાતો થવા માડી

ભાઈ? સ યમ તો ખાડાની ધાર છે?

પણ ભાઇ! આ ભાગ્યશાળીને મન તો સ સાર જ ખાડાની ધાર બન્યો ને? નહિ તો આમ હસ્તે મુખડે સ સાર છોડવાની તાકાત કોની હોય?

ધન્ય છે એના માતા પિતાને? ધન્ય એ ગામની ધરતીને કે જયા આવા મહાન પૂણ્ય શાળી આત્માઓનો જન્મ થયો છે

હા પણ! એ ધન્ય ધરતી, ધન્ય માતા ધન્ય પિતા કોણ છે!
શુ નથી જાણતા તમે?

ના હું તો મોડો પડયો, ભાઇ દુકાનના કામમાથી ઊ ચા જ અવાતુ નથી આવવાની ઇચ્છાતો અઠવાડીઆ પહેલા હતી પણ માડ દુકાનનુ કામ પતાવી આજે આવી શકયો શું નામ છે આ ભાગ્યશાળી કિશોરનુ?

એમનું નામ છે રામરત્ન! નામ એવાજ ગુણ એમનામાં, સવંત ૧૯૪૦ ના કારતક સુદ બીજના દિવસે એક ભાઈ બ્હેનના ભાઈ તરીકે રજપુતાનાના ધોલપુર નગરમાં એમનો જન્મ થયો, એમના ભાગ્યશાળી પિતાનું નામ શ્રેષ્ટિવર્ય શ્રી. વૃજલાલજી અને એ રત્નકુક્ષીની ધારક ભાગ્યશાળી માતાનું નામ ચંપાકુવર,

તે એ ભાગ્યશાળી માત-પિતા પોતાના પુત્રના મહાપંથના પ્રયાણના સમયે કેમ દેખાતાં નથી!

ભાઇ? પૂર્વ કર્મની ગતિ ન્યારી છે કહ્યું છે એક કવીએ કે :-

'બાળ પણમાં કોઇનાં માતા પિતા મરશો નહિ.'

—છતાં રામરત્નની ઉમર બાર વરસની હતી અરે સમજોને કે આજથી બેએક વરસ ઉપરજ સવત ૧૯૫૨ ના વૈસાખ મહીનાનો સુર્ય અસ્તચલે પહોંચ્યો હતો ત્યારે શ્રેષ્ટિવર્યશ્રી વૃજલાલજીનો આત્મા આ પીંજરાને છોડી જવાની તૈયારી કરવા લાગ્યો હતો-બીસ્તરા પોટલા-બાંધવા માંડયો હતો. અને ખરેજ એ દિવસે પાચમા પ્રહરે વૃજલાલજીનો આત્મા યમરાજના રથમાં બેસી આ નાશવંત શરીર-કાયાના પીંજરને છોડી અન્યત્ર ચલ્યો ગયો.

હા પણ એ ભાગ્યશાળી માતા?

સાંભળો તો ખરા જેટલી ખબર છે એ બધુંજ ટુંકમાં કહું છું 'માતાનો વિયોગ તો આ-બાળકને છ છ વરસથી થઇ ગયો હતો, એમને માટે નાની ઉંમરમાં આ દુઃખનો અસહ્ય થઇ પડેજ ને? પરંતુ......

સુખમાં કદી ના છકી જવું, દુઃખમાં ના હિંમત હારવી.
સુખદુઃખ સદા ટકતાં નથી, એ વાત ઉર ઉતારવી.

એ રીતે સુખ દુઃખમાં સમાનતા રાખવાની સમજ આપનાર જૈનાગમોનો જેને પૂર્વભવોમાં સમાગમ થયો હોય એવા ભાગ્યશાળી ભવ્ય આત્માને આવા પ્રસંગે પણ દુઃખ ડરાવી શકતું નથી. કર્મની ગતિને જેણે જાણી છે તેને માટે સંસારનાં સુખ દુઃખ બંને સરખાંજ છે.

છતાં પણ રામરત્નતો સંસારમાં સર્વની નજરે તો બાળકજ હતાને?

હા અને એટલેજ એ બાળકનો આધાર તુટી પડતાં સૌ કોઇને સહજ ભાવે સહાનુભુતિ થાય-તો પછી આ તો હતા એમના સગા મામા, એમનું નામ હતુ ઠાકોરદાસ, ભોપાલના એ વેપારી, બનેવી નો દેહકાળ જાણી તેઓ અહીં આવ્યા અને પોતાને ઘેર ભણેજને લઇ ગયા.

ધન્ય છે એ મામાને કે આવા ભાગ્યશાળી ભાણેજના પગલે ઘર પાવન થયું. અને ખરેખર ભાણેજ રાતરત્ન આવતાં મામાને બેવડો લાભ થયો એકતો એમને પુત્ર

ન્હેતો અને દુકાનમા પણ પોતાની ગેર હાજરીમા કોઇકની જરૂર હતી તે રામરત્ન મામાને પૂરેપૂરા સહાયક નીવડયા અને થોડા સમયમા તો દુકાનમા ધ્યાન આપી વાણિજયની કલાને હસ્તગત કરી પણ કહ્યુ છે કે

'આદર્યા અધવચ રેહે હરિ કરે સો હોય'

માણસ કરવા શુ ધારે છે, અને કરવા બેસે છે પરતુ ધાર્યુ ધણીનુ–કર્મનુ જ થાય છે પોતાનુ ધાર્યુ નથીજ થતુ 'હરિ' એટલે 'કર્મસત્તા અને કર્મ સત્તા જે કરાવે તેજ કરવુ પડે છે કર્મસત્તાની આગળ કોઈનુ ચાલ્યુ નથી કરેલા કર્મો અનુસાર સારા નરસા ફળ ભોગવવાનો સમય આવે ત્યારે તે ભોગવ્યા વિના ભાગી છૂટાતુ નથી

જેમણે જૈન શાશનની સેવા કાજે આ કાયામા પ્રવેશ કર્યો છે જેઓનુ સાધુ–સાધ્વી–સમુદાયના નાયક થવા નિર્માણ થયુ છે જેઓના હાથે અપૂર્વ ગ્રથોના નિર્માણ થવાનુ કાર્ય નિશ્ચિત થઈ ચુકયુ છે એવા મહાન ભાગ્યશાળી આત્મા આ–સસારના ગદા ખાબોચીઆમા પડે પડે વેપારીની ઉપાધીઓમા કયાથી રહી શકે ? એવા પરમ પૂન્યશાળી આત્માને માટે તો એ આત્માના આ કાયામા પ્રવેશ સાથે એમના માટેના મહાન કાર્યોની પૂર્વ ભૂમિકા પણ તૈયાર થઇ ચુકે છે

ઉજ્જેનમા ભરાતા સિહસ્થ મેળામા ગયેલા રામરત્ન જયારે શ્રીમક્ષીજી તીર્થમા બીરાજમાન શ્રી પાર્શ્વનાથ પ્રભુના દર્શન કરી પાછા ફરે છે, ત્યારે રસ્તામા જાણવા મળે છે કે 'સીથીલાચારી શાસકોની સાન ઠેકાણે લાવનાર ક્રિયોદ્ધારક મહાન તપસ્વી વિદ્વદ્ શીરોમણી પ્રભુશ્રી મદ્‌વિજય રાજેન્દ્રસૂરિશ્વરજી મહારાજ મહેન્દપુરમા બીરાજે છે

અને રામરત્નજી પણ મહેદપુર આવા મહાન યોગીરાજના દર્શન કરવા આવી પહોચ્યા, મહાન વિભૂતિના દશન કયા–પાવન થયા અને બેઠા ત્યારે ?

ત્યારે આ કિશોરના મુખની કાન્તિ અને ગભીરતા જોઇ પૂ ગુરૂદેવને પણ લાગ્યુ કે અવશ્ય આ આત્મા પણ પોતાના પથે પથે ચાલી 'શાશ્વત ધર્મ'ના પ્રચારનો ભેખ ધારણ કરવાને યોગ્ય છે જ કહ્યુ છે કે,

રણ ચઢયો રજપુત છૂપે નહિ, સૂર્ય છુપે નહિ બાદલ છાયો
માગણ આવે દાતા છૂપે નહિ, યોગી છુપે નહિ ભભૂત લગાયોં

મતલબ કે લક્ષણ છુપા રહી શકતા નથી પછી ભલે સારા હોય કે નરસા અને પૂ ગુરૂદેવે એ સુલક્ષણા સુકુમારને પૂછયુ

કયા રહો છો ભાઈ?

પહેલા તો ધોલપુર રહેતો હતો પરતુ હાલ ભોપાલ રહુ છુ

કઈ જાત છે તમારી!

આમતો જાતી મનુષ્ય પંચેદ્રિયની છે પરંતુ સંસાર વ્યવહારને સંબંધેતો ઓશવાલ છે.

'તમારો ધર્મ કયો!'

'જૈન દિગમ્બર'

તમારા ઉપાષ્ય દેવ કોણ! ગુરુદેવ ઉત્સાહમાં પૂછતા જ ગયા.

શ્રી રૂષભદેવ સ્વામીથી લઈને શ્રી મહાવીર સ્વામી સુધીના ચોવીસ તીર્થંકરો અને સામાન્ય કેવળી ભગવંતો જે અજ્ઞાનાદિ અઢાર દોષોથી રહિત, પ્રશમર સનિમગ્ન અને કામીનીશૂન્ય અંકવાળા છે.

ગુરૂ કોને કહો છો?

પંચ મહાવ્રતના ધારક, કંચન કામીનીના ત્યાગી, સંસારિક વાસનાઓથી પર, અઢાર અંતરાય દોષોને ટાળવાવાળા ગુરુ કહેવાય છે. અને એવાજ ગુરુજનોની સેવાથી આત્મ કલ્યાણના માર્ગે પ્રયાણ કરાય છે.

ધર્મ કોને કહેવાય છે?

હિંસાદિ દોષોથી રહિત, આપ્ત પ્રણિત અને સદ્ગતિને દેવાવાળા ધર્મને જ ધર્મ કહેવાય છે. જે દ્વારા સ્વપરનું કલ્યાણ અવશ્ય સાધી શકાય છે.

અને આમને આમ ઘણી પ્રશ્નોતરી થઇ. અને પૂ ગુરૂદેવને ખાત્રી થઇ કે રામરત્ન ખરેખર રત્ન સમાન જ છે અને જ્યારે રામરત્ને પૂ ગુરૂદેવને પોતાના અંતરની વાત કરી કે,

પુ ગુરૂદેવ! મને આ સંસારની અસાર માયામાં રાચવાનું મન નથી મારી તો ભાવના છે કે ધર્મની રક્ષા પ્રચાર અને પ્રસારને ખાતર આ જીવનનું દાન આપના જેવા સમર્થ યોગીરાજને આપી દઉં, પરંતુ આપ મારો સ્વીકાર કરશો?

અને રામરત્નના હ્રદયમાં રહેલા વૈરાગ્યના અંકુરોને નીરખી ગુરુદેવે એ અંકુરોને મોટા છોડ રૂપે ઉભા કરવા રામરત્નને વિહારમાં પોતાની સાથે રાખ્યા. અને આગમ સુત્રો-તત્વ પ્રકરણ અને વ્યાકરણ શાસ્ત્રોનો અભ્યાસ કરાવવા માંડયો. જ્યારે રામરત્નજી તો દરરોજ એકજ વિનંતિ કરતા હતા દીક્ષા આપી પોતાને ચરણોમાં લેવાની.

કહ્યું છેકે '**हीरा मुखसे ना कहे लाख हमारा मोल**' સાચો હીરો હોય તો પોતે પોતાની કિંમત આંકતો નથી એની કિંમતતો સાચો ઝવેરીજ આંકી શકે છે. એમ મહાન-પુરુષ પોતાનું મહત્વ જાતે બીજાને નથી વર્ણવતા-બતાવતા. એની તો મહાત્માજ

મહત્વતાને સમજે છે એમ જ્યારે રામરત્નજીની સર્વ શક્તિની કસોટી પૂ ગુરુદેવે કરી અને તેમા સાગોપાગ પસાર થયા ત્યારે

આજે આપણે જે અપૂર્વ અવસરને પામવા ભાગ્યશાળી બન્યા છીએ તે પરમ-ઉપકારી શ્રી ભાગવતી દીક્ષાનો મહાન પ્રસાગ ઉપલબ્ધ થયો

ખરેખર ધ ય છે આ મહાન આત્માને કે જે અવસરે આપણે આ સ સારમા પ્રવેશ કરવા-પ્રભુતામા પગલા માડવાનુ સમજી-લગ્નના વરઘોડે ચડીએ છીએ ત્યારે આ કોમળ-સુકોમળ-કિશોર સ સારને ત્યાગ કરવાના પ થે પડે છે સમજાતુ નથી કે પ્રભુતામા પગલા માડવા તે આનુ નામ કે પછી આપણે સ સાર વધારવાના કારણ રૂપ ગૃહ સ સા મા પ્રવેશ કરીએ એનુ નામ ?

હા ભાઈ હા ? ચાલ ચાલ વાતોમાને વાતોમા આપણે તો પાછળ જ રહી ગયા વરઘોડો તો આગળ જ ચાલવા માડયો છે

અને બ ને પ્રવાશીઓ-જે દૂર દૂરથી વિરલ વિભૂતિ પૂ ગુરૂદેવના દર્શન કરી પાવન થવા અને કીશોર વયે સ સાર ત્યાગનાર ભાગ્યશાળી કિશોર-રામરત્નજીને નીરખી એનુ અનુમોદન કરી પૂન્ય સ ચય કરવા ખાચરોદમા આવ્યા હતા તે આગળ ચાલ્યા

પાછળ રહી ગયેલા પાચ સાત હતા જે દીક્ષાર્થી કિશોરના જીવન વિષે પોત પોતાની જાણ કરી એક બીજાને જણાવી રહ્યા હતા આમાથી ચાર પાચતો વરઘોડા ભેગા થઈ ગયા પર તુ બે બાકી હતા એમની વાત તો હજુ પુરી જ ન્હોતી થઈ

વાત વાતમા એકે કહ્યુ અને જાણો છો આટલી નાની વયમા પરાક્રમ પણ કેટલા કર્યા છે આ કિશોરે ? એક વખત મામાની દુકાન પર રાત્રે બે ચાર મિત્રો સાથે બેઠા હતા રાતના બારેક વાગ્યા હશે, ત્યા સામેની દુકાનના મેડા પર પ્રકાશ દેખાયો અને બારી ખોલી એક માણસ નીકળ્યો અને તે જવા વાટે નીચે ઉતર્યો, રામરત્નજીએ આ જોયુ અને એકદમ સમજી ગયા કે આ કોઈ ચોર છે અને તરત જ મિત્ર મ ડળીને પડતી મૂકી ચોર ચોર કરતા એ તો ચોરની પાછળ દોડયા

જાણો છો આપણે તો આજે ચોર ચોર બૂમો મારતા જ ઉભા રહીએ છીએ ત્યારે ચોરની પાછળ જવાની હિ મત કોઈની ચાલે છે ખરી ? પણ આતો હતા હિ મતવાન અજબ આત્મશકિતના ધણી, એતો દોડયા અને પકડી ,પાડયો ચોરને મુદ્દામાલ ,સાથે, અને ખરેખર સરકારે પણ આ બાલવીરની કદર કરી ઇનામ આપ્યુ, આવા આવા તો કેટલાય પ્રસ ગ આટલી નાની વયમા બન્યા હશે ? આપણને તો યાદ પણ કયાથી હોય

ખરેખર ધન્ય એમની હિ મતને ? ધન્ય એમની આત્મ શકિતને ?? અરે હા પણ આપણે તો પાછળ જ રહી ગયા પાછળ રહીશુ તો દીક્ષાનો પ્રસ ગ દુરથી જ દેખાશે ચાલો ચાલો વરઘોડાની આગળ જઇ સારી જગ્યા લઈ આગળ બેસી જઈએ એટલે આવો મહાન પ્રસ ગ તો સ પૂર્ણ જોવા મળે !

અને બંને ભાવુકોએ પગ ઉપાડયા જોરથી.

અને અસંખ્ય માનવ મેદની સભાકારે બેસી ગઇ વચ્ચે–મધ્યમાં સમોવસરણ આકારના ત્રીગડા પર પરમ વિતરાગ પ્રભુની પ્રતિમા બીરાજમાન કરવામાં આવી હતી અને વિતરાગ પરમાત્માની–ચતુર્વિધ શ્રીસંઘની સાક્ષીએ–પૂ. ગુરુદેવે રામરત્નજીને ચારિત્રના સંયમના પ્રતિક સમાન ઓઘો અને મુહપતી અર્પણ કર્યા–પોતાના શિષ્ય બનાવ્યા.

એમનું નામ પડયું મુનીરાજ શ્રી. યતીન્દ્રવિજયજી.

લગભગ છ દસકા પહેલાંનો આ પ્રસંગ જોનારને આજેય આંખ આગળ તરવરે છે. સાઠ સાઠ વરસનાં વ્હાણાં વાવા આવ્યાં એક વખતના શ્રી. રામરત્નજી તે વખતે મુનીરાજશ્રી યતીન્દ્રવિજયજી બન્યા હતા–સવંત ૧૯૮૦માં જાવરા નગરમાં એમને ઉપાધ્યાય પદ પ્રદાન થયું અને . ....

સંવત ૧૯૯૫ માં વૈસાખ શુકલા દશમીના દિવસે આહોર નગરમાં અપૂર્વ મહોત્સવ પુર્વક આચાર્ય પદવી પ્રાદાન કરવામાં આવી અને......

સાઠ સાઠ વરસોથી શૃદ્ધ સંયમના પથે વીહરનાર પૂ. ગુરુદેવે છ દસકાઓમા કેટલા મહાન કાર્યો કર્યાં એની ગણત્રી કરવા જઇએ તો પારજ કેમ આવે !

વિરલ વિભુતિ પૂ. ગુરૂદેવશ્રી મદ્‌વિજય રાજેન્દ્રસૂરિશ્વરજીએ રચેલ શ્રી અભિધાન રાજેન્દ્રકોષનું સંપાદન–અને સંશોધન પ. પૂ. ગુરૂદેવશ્રી શાન્તમુર્તિ સાહિત્ય વિશારદ શ્રી. મદ્વિજય ભુપેન્દ્રસૂરિશ્વરજી સાથે રહીને કર્યું, કેટલાય સ્થાનોએ પડેલા વિખવાદોને દૂર કરી એકતાની સ્થાપના કરી, કેટલાંય નગરમાં પ્રતિષ્ઠા અંજન સલાકાઓ કરાવી ઉપધાનતપ નવપદ આરાધનતપ અને એવાં એવાં બીજાં પણ ઘણાં તપની આરાધના કરી–કરાવી. શ્રી લક્ષ્મણીજી ભાંડવપુર મોહનખેડાદિ તીર્થોનો ઉધ્ધાર પણ પૂ. વર્તમાનાચાર્યના સદ્દુપદેશથી જ થયો. અને સાહિત્યના ક્ષેત્રમાં પણ અનેક સંસ્કૃત પ્રાકૃત–ગ્રંથો ગદ્ય પદ્ય રૂપે લખી મહાન ફાળો આપ્યો અને છેલ્લે પોતાના ઉપકારી–સમાજના પરોપકારી પ્રભુ શ્રી મદ્‌વિજય રાજેન્દ્રસૂરિશ્વરજી મહારાજનો નિર્વાણ અર્ધ સતાબ્ધિ મહોત્સવ પણ એમના જ સદ્દુપદેશથી શ્રી મોહનખેડા–રાજગઢ કે જ્યાં સ્વ. પૂ. ગુરુદેવ વિરલ વિભૂતિનુ નિર્વાણ હતું છે ત્યાં-એટલા માટે મનાવવામાં આવ્યો કે,

સમાજની આજની વેર વિખેર પરિસ્થિતિને સંગઠન રૂપે વણુવા, જૈન ધર્મનુ સાચું સ્વરૂપ દુનિયાને બતાવવા. દેશભરના અગ્રેસરો અને બીજા પણ અનેક જનો સાથે મળી ચર્ચા વિચારણા કરી સમાજોદ્ધાર દેશોદ્ધાર અને, માનવોદ્ધાર કરનાર શાશ્વત ધર્મના પંથને સમજે અને દુનિયાને સમજાવે.

સાથે જ ગુરુદેવના સ્મારક રૂપમાં શ્રીમદ્‌રાજેન્દ્રસૂરિ સ્મારક ગ્રન્થ પણ પ્રકાશિત કરાવ્યો. જેને જૈન અને જૈનેતર વિદ્વાનોની કસાયેલી કલમથી સમૃધ્ધ બનાવામાં આવ્યો.

આવા ભગીરથ કાર્યોના પ્રણેતા પૂ ગુરૂદેવશ્રી વર્તમાનાચાર્ય શ્રી મદ્વિજય યતીન્દ્રસૂરિશ્વરજી મહારાજ સાહેબશ્રીને આથી ભૂરી ભૂરી વદના સૌકોઇથી થાય એમા નવાઇ શુ '

આ અપૂર્વ 'અભિનદન ગ્રથ' એમના રૂણમાથી મૂકત થવા આપણા સમાજ માથી પ્રગટ થાય છે પરતુ રૂણ મુકત થવા માટેતો પૂ ગુરૂદેવે જે માર્ગ આપણને બતાવ્યો છે તે માર્ગે જવાની આપણે બધાએ પ્રતિજ્ઞા લેવી પડશે અને તોજ સાચા અભિનદનની આ પૂર્તિ ગણાશે

થરાદ અને પૂ. ગુરૂદેવ

લેખીકા :—સાધ્વી શ્રી મુક્તિ શ્રી મહારાજ

સંવત ૨૦૧૪ની સાલ અને અસાઢ સુદી ચૌદસનો દિવસ થરાદ (થીરપુર)ના માટે અતિ આનંદનો દિવસ હતો, અતિ ઉલ્લાસનો દિવસ હતો.

એવું તે શું હતું એ દિવસે?

પૂ. ગુરૂદેવ શ્રી મદ્‌વિજય યતીન્દ્રસુરિશ્વરજી મહારાજ ચાતુર્માસ નિમિત્તે થરાદમાં પ્રવેશ કરતા હતા એ દિવસે?

થરાદના દ્વાર સમી હનુમાનની દેરી અને એથી પણ બહાર લગભગ વરખડી કે જયાં શ્રી પાર્શ્વનાથ પ્રભુનાં પગલાં છે (અને પાસેજ પૂ. તપસ્વી મુનીરાજ શ્રી હર્ષ વિજયજી મહારાજનો સ્વર્ગવાસ થતાં એમનો અગ્નિ સંસ્કાર કરી એક નાનું સરખું સ્મારક ઉભું કર્યું છે) ત્યાંથી માંડી અને છેક ધર્મશાળા સુધીમાં આખો રસ્તો ઉપર અવનવાં તોરણોથી શણગારવામાં આવ્યો હતો. દિવાલો તેના પર લખેલ સોનેરી સુચનોથી શોભતી હતી. ભૂમિ ગઈ કાલે જ થયેલ સમયસરની વર્ષાના કારણે ઠંડક અર્પી રહી હતી.

આગળ બેન્ડ અને પાછળ 'વંદેવીરમ્' 'જૈન શાસનનો જય જયકાર' કરતી અપાર માનવ મેદની પૂ. ગુરૂદેવની સામે સામૈયુ લઈ જઇ રહી હતી. મલુપુર જે થરાદથી બે માઈલ જ દૂર છે ત્યાં પૂ. ગુરુદેવ આગળના દિવસે બીરાજતા હતા. ત્યાંથી વિહાર–થરાદ તરફ થઇ ચુકયો હતો સાથે હતો શિષ્ય સમુદાય અને થરાદથી દર્શન માટે અધીરાં બનેલાં અગાઉથી અહીં આવી પૂ. ગુરૂદેવશ્રીનાં વરસો પછી દર્શન કરી તૃપ્ત થયેલ થરાદ અને આજુબાજુનાં ગામોનાં અનેક નરનારી. આ રીતે ભવ્ય ધામધુમ પૂર્વક પ્રવેશ કર્યો હતો પૂ. ગુરુદેવે થરાદમાં.

અને પ્રવેશ કર્યા બાદ?

પછીતો દરરોજ વહેવા માંડી એમની ઉપદેશ ધારા! પરીણામ શું આવ્યુ એ ઉપદેશનું પછી?

પંદરમા સૈકા લગભગમાં થરાદની ભાગોળેથી નીકળેલ શ્રી મહાવીર સ્વામીની અતિભવ્ય પ્રતિમાજી જે આજ સુધી પરોણા દાખલ બીરાજમાન હતાં તેની પ્રતિષ્ઠા એક ભવ્ય જિનાલય બંધાવી કરાવવાનું નક્કી કર્યું થરાદ શ્રી સંઘે.

અને સંઘનું કામ એટલે પુછવું જ શું? સંઘના કામનો વેગ એટલે? જાણે

ગ્રાન્ડ ટ્રંક એક્ષપ્રેસ, ગણ્યા દિવસોમા તો જિનાલય બનવવા માટે જંગી મોટા પથ્થ આવી પહોચ્યા

અને પછી?

પછી તો આવી પહોચ્યા શિલ્પકારો અને થવા માડયુ કોતરકામ અને જોત જોતામા તો એક જિનાલય તૈયાર થઈ ચુકયુ (જે જિનાલયનો ફોટો આ સામેજ છપાયો છે) શ્રી રૂષભદેવ ભગવાનનુ દહેરાસર તો ભવ્ય હતુ જ અને પડખેજ આ એક અતિ ભવ્ય જિનાલય બનાવી બને જિનાલયો ફરતો એક મોટો કોટ થતા બને જિનાલય એક થતા ભવ્ય અને અતિભવ્ય ભેગા થતા

શુ લખવુ એજ સુજતુ નથી એવી સુદરતા એ જિનાલયની લાગવા માડી

અને મહા સુદ ૬ સવત ૨૦૦૮ નો દીવસ હતો આ નૂતન જિનાલયમા શ્રી મહાવીર સ્વામી, શ્રી આદીનાથ ભગવાન, શ્રી શાન્તિનાથ ભગવાન અને બીજી ઘણી પ્રતિમાજીઓની પ્રતિષ્ઠા કરવાનો, સ ૨૦૦૪ અને સ ૨૦૦૫ ના બે ચાતુર્માસમા થરાદશ્રી સઘમા એક જ્યોત પ્રગટાવી બે વરસ મારવાડ વિહાર કરી જ્યારે પૂ ગુરૂદેવે થરાદમા ધામધૂમ પૂર્વક પ્રવેશ કર્યો ત્યારે એમણે પ્રગટાવેલી જયોત જગમગતી હતી-નૂતન જિનાલય તૈયાર થઈ ચૂકયુ હતુ

પછી તો થવા માડી તડામાર તૈયારીઓ પ્રતિષ્ઠાની, નુતન જિનાલયને અવનવા તોરણો અને ધ્વજા પતાકાઓથી શણગારવામા આવ્યુ ઈલેકટ્રીક લાઈટથી ઝગમગાટીત કરવામા આવ્યુ બહાર એક ભવ્ય મડપ બનાવવામા આવ્યો મડપમા એક મોટી વેદીકા ઉપર નુતન પ્રતિમાઓને બીરાજમાન કરવામા આવી અને આસપાસ શત્રુજય અષ્ટાપદજી વિ તીર્થોના સ્વરૂપ રૂપે ગીરીમાળાઓની રચના તેમજ અન્ય કથાત્મક ચિત્રોના પરદાથી મડપને શણગારવામા આવ્યો અને આ મડપમા પ્રતિષ્ઠાનુ કાર્ય શરૂ થયુ

પ્રતિષ્ઠાના પ્રસગને અનુરૂપ થરાદમા એક બેડ મડળની સ્થાપના પૂ ગુરૂદેવશ્રીના ઉપદેશથી કરવામા આવી જેથી બહાર ગામથી બેન્ડ મડળ બોલાવી ફાલતુ ખર્ચ ન થાય આ મડળનુ નામ રાખવામા આવ્યુ શ્રી યતીન્દ્ર જૈન બેન્ડ મડળ જે આજે પણ સાવજનિક કાર્યોમા પોતનો ફાળો આપે છે

પ્રતિષ્ઠાનો દિવસ આઠ આઠ દિવસના મહાન ઉત્સવ પછી આવી પહોચ્યો તે દિવસે આખુ થરાદ વહેલી સવારમા ઉઠી પ્રતિષ્ઠા મહોત્સવ માટે ઉભા કરાયેલા મડપમા આવવા માડયુ

થરાદ આજે ઉભરાઈ ગયુ હતુ વસ્તી ડબલથી પણ વધી ગઇ હતી આજુ બાજુના ગામોમાથી તેમજ મારવાડ-રાજસ્થાન-અને માળવામાથી હજારો ભાવુકો આ પ્રતિષ્ઠા મહોત્સવ પર આવી પહોચ્યા હતા કારણ આ પ્રસગે આવવાથી એક કામ અને

દો કાજ જેવું હતું. પ્રતિષ્ઠા મહોત્સવ એક અલૌકિક પ્રાચિન પ્રતિમાજીનો હતો જેના દર્શનથી પાવન થવાનું હતું એક કાર્ય, બીજું હતું પુ. ગુરુદેવ શ્રીમદ્‌વિજય યતીન્દ્રસૂરિશ્વરજી અને એમના વિદ્વાન શિષ્ય સમુદાય તેમજ થરાદમાં બીરાજમાન સાધ્વીજી મહારાજોના અપુર્વ દર્શનનો લાભ મળવાનું હતું. આવા પ્રસંગે આવવાનું કોણ ભૂલે?

આમ પ્રતિષ્ઠા મહોત્સવ નિર્વઘ્ને સંપૂર્ણ થયો સાથે સાથે બીજા જિનાલયો શ્રી પાર્શ્વનાથજી જિનાલય ઓનારા શેરી શ્રી વિમળનાથ જિનાલય. આંખલી શેરી શ્રી સુપાર્શ્વનાથ જિનાલય આંખલી શેરી અને શ્રી કમકાગ દેવીનું મંદિર (પાંચસો વોરા કુટુંબની કુળદેવી) દેસાઈ શેરી વિ. જગ્યાએ પણ આજ સમયે ધ્વજ દંડ તેમ ગુરુમૂર્તિ આદિની પ્રતિષ્ઠાઓ પૂ. ગુરુદેવશ્રીના ઉપદેશથી થઈ

આજ સમયે "શ્રી જૈન પ્રતિમા લેખ સંગ્રહ" જે પૂ. ગુરુદેવે સંવત ૨૦૦૪ માં સંગ્રહિત કરેલ અને પૂ. ગુરુદેવશ્રીની એ સમયે થયેલ ગંભીર માંદગીના કારણે શ્રી દોલતસિંહ લોઢાને આ કાર્ય સોંપાયેલ તેનું પ્રકાશન પણ પૂ ગુરુદેવશ્રીના ઉપદેશથી થયું. આ પુસ્તક ઇતિહાસે અને અને પુરાતત્વના લેખકો માટે ઘણું મહત્વનું છે અને તેમાં પૂ ગુરુદેવે શ્રી જીરાવલી તીર્થથી તે થરાદ સુધી વિહાર દરમ્યાન સંગ્રહિત કરેલ અથવા ગામોની પ્રાચિન પ્રતિમાઓના લેખો અક્ષર સં. પ્રગટ થયેલ છે.

આમ પુ. ગુરુદેવશ્રી નો થરાદ પર થરાદ પર થયેલ ઉપકાર એ થરાદ અને પૂ ગુરુદેવના સબંધનો પુરાવો છે અને રહેશે અને

અને હજુ પણ પુ. ગુરુદેવ થરાદ માટે કેટ કેટલું કરશે એનો અંદાજ અમદાવાદમા નિર્માણ થતા શ્રી રાજેન્દ્ર સૂરિ જૈન જ્ઞાન મંદિર પરથી આવી શકશે જે પૂ. ગુરૂદેવશ્રીના ઉપદેશથી કાર્યની શરૂઆત થઇ છે.

श्री यतीन्द्रसूरीश्वरः

भेद आदि के नाम से बतलाया जाता हो, पर सभी स्वसम्मत अमूर्त आत्मतत्त्व के साथ सूक्ष्मतम किसी न किसी प्रकार का एक मूर्त तत्त्व का ऐसा विचित्र सम्बन्ध मानते ही है। जो कि अविद्या या अज्ञानादि उपरोक्त कारणों की विद्यमानता में ही अपना अस्तित्व रखता है। अतएव सभी द्वैतवादी के मत मे अमूर्त और मूर्त का पारस्परिक सम्बन्ध निर्विवाद है। जिस तरह अज्ञान अनादिकालीन होने पर भी नष्ट होता है वैसे ही वह अनादि सम्बन्ध भी अज्ञान का नाश होते ही नष्ट हो जाता है। पूर्णज्ञान की प्राप्ति के बाद सर्वथा दोष का संभव न होने के कारण अज्ञान आदि का उदय किसी हालत मे संभवित ही नहीं हो सकता। अतएव अमूर्त-मूर्त का सामान्य सम्बन्ध मोक्षदशा में होने पर भी वह अज्ञानजन्य न होने के कारण जन्म का निमित्त कदापि नहीं बन सकता।

संसारकालीन वह आत्मा और मूर्त द्रव्य का संयोग अज्ञानजनित ही है जब कि मोक्षकालीन सम्बन्ध में उपरोक्त सारी बातें सदा के लिये वैसी नहीं है।

सांख्य-योगदर्शन आत्मा-पुरुष के साथ प्रकृति का, न्याय-वैशेषिक दर्शन परमाणुओं का, ब्रह्मवादी-वेदान्ती अविद्या-माया का, बौद्धदर्शन चित्तनाम के साथ रूप का और जैनदर्शन जीव के साथ कर्माणुओं का संसारकालीन विलक्षण सम्बन्ध मानते हैं। ये सभी मान्यता पुनर्जन्म और मोक्षविषयक विचार में से फलित हुई हैं।

इस से यह तो स्पष्ट जाना जाता है कि सभी भारतीय दार्शनिकों का मुख्य और अंतिम चिंतन आत्मविषयक ही रहा है। अन्य सभी विषय-विचार आत्मतत्त्व की शोधखोल मे से ही उत्पन्न हुए हैं। अतएव आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप के विषय मे एक दूसरे से भिन्न परस्पर विरोधी ऐसे अनेक मत-मतान्तर बहुत ही चिरकाल से दर्शनशास्त्रों में पाये जाते है। आत्मा को नित्य एवं कूटस्थ माननेवाले दर्शनों में औपनिषद्, सांख्य आदि दर्शनों के नाम प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह मान्यता उपनिषद् काल से भी पहिले की है।

"आत्मा अर्थात् चित्त या नाम को भी सर्वथा क्षणिक मानने का जो बौद्ध सिद्धान्त है वह भी गौतमबुद्ध का समकालीन तो अवश्य ही है। इन सर्वथा नित्यत्व और सर्वथा क्षणिकत्व स्वरूप दो एकान्तों के मध्य हो कर चलनेवाला उक्त दोनों एकान्तों का समन्वयात्मक नित्यानित्यत्ववाद भगवान् श्रीमहावीरप्रभु के द्वारा (भग० श० ७२, २ आदि आगमग्रन्थों मे) स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया गया है"। —पं० सुख०

इस जनाभिमत आत्मनित्यानित्यत्ववाद का समर्थन एवं प्रतिपादन मीमांसा-अग्रगण्य कुमारिल जैसे विद्वान्ने भी अपनी (श्लोक वा० श्लो० २८ में) बडी ओजस्विनी तार्किक शैली के साथ सविस्तर वर्णन किया है। इसी तरह का प्रतिपादन जैनतर्क ग्रन्थों मे जगह २ पर पाया जाता है। यद्यपि इस विषय मे जब हम समर्थ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य के न्यायग्रन्थों को देखते हैं तो यही निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने भी जैनमान्यतानुसार नित्यानित्यत्व आत्मतत्त्व की पुष्टि मे कुमारिल के श्लोकवार्तिकान्तर्गत

श्लोकों का ही उद्धरण दिया है, जो कि वस्तु के भाव को प्रकट करनेवाले तत्त्वसंग्रहगत श्लोकों का ही अवतरण है। इन श्लोकों का सार मात्र एक ही स्वरूप का कथन करता है जो कि मीमांसक मान्यता की ही पुष्टि है।

ज्ञान एवं आत्मा में स्वावभासित्व-परावभासित्वविषयक विचार के मूल तो श्रुति में पाये जाते हैं-"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् ॥" (कठोपनिषद्, ५-१५)

इसी तरह आगमकालीन साहित्य में भी इस विचार का उल्लेख यत्र तत्र किया हुआ स्पष्ट दिखाई देता है। पर इन विचारों का विशदरूप से स्पष्टीकरण एवं समर्थन और प्रतिपादन तो विशेष रूप से तर्कयुग में ही पाया जाता है। परोक्ष ज्ञानवादी कुमारिलआदि मीमांसक के मतानुसार ही ज्ञान और उससे अभिन्न आत्मा इन दोनों का परोक्षत्व अथात् मात्र परावभासित्व सिद्ध होता है। योगाचार बौद्ध की मान्यतानुसार विज्ञान बाह्य किसी चीज का अस्तित्व न होने से और विज्ञान स्वसंविद् होने से ज्ञानरूप तद्रूप आत्मा का मात्र स्वावभासित्व फलित होता है। इस ज्ञान के स्वावभासित्व-परावभासित्व के विषय में जैनदर्शनने अपनी अनेकान्तदृष्टि के अनुसार ही अपना मत स्थिर किया है—

स्वार्थावबोध क्षम एव बोध, प्रकाशते नार्थकथान्यथा तु।
परे परेभ्योभयस्तथापि, प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम् ॥१२॥

[अन्ययोगव्यवच्छेदिका]

श्रीमद्हेमचन्द्राचार्यने ज्ञान एवं आत्मा दोनों को स्पष्टतया स्वपरावभासी ही कहा है, इसी बात को पूर्ववर्ती आचार्यों में से सब प्रथम श्रीसिद्धसेनदिवाकरसूरिने ही बतलाई है। —न्याय, ३१।

उपरोक्त श्लोक में भी श्रीसिद्धसेनदिवाकर सूरिके ही कथन का निर्देश किया गया है। अपने 'प्रमाणनयतत्त्व लोकालङ्कार' में श्रीवादिदेवसूरिने आत्मा का स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए जो जैनेतर मतव्यावर्तक अनेक विशेषण दिये हैं, उन में एक विशेषण देहव्यापित्व भी आत्मा के लिये दिया गया है। इस विशेषण के द्वारा आत्मा को देहव्यापित्व बतलाकर अन्य मान्यता का निराकरण किया है। जैसे कि वेदान्ती आत्मा को अणुपरिमाणी मानते हैं और अणुरूप परिमाणी होने से देह के एक देश-हृदयपुण्डरीक में ही आत्मा का निवास मानते हैं परंतु यह प्रत्यक्ष से बाधित विषय है क्यों कि हमें शरीर के प्रत्येक अवयव-अङ्गोपाङ्ग में सुखदुःख का अनुभव होता हुआ दिखाई देता है। इसलिये आत्मा का अणुपरिमाण मानना भी उचित नहीं ठहरता है।

कितने ही आत्मा को महत्परिमाणवाला मानते हैं परन्तु यह भी किसी तरह से मानने योग्य नहीं है कारण कि-इस मान्यतासे आत्मा शरीर के बाहर भी रहेगा और इस महत्परिमाण मानने से आत्मा को अन्य का भी सुख-दुःख होगा।

अतएव जैनदर्शन में आत्मा को मध्यम परिमाणवाला माना गया है। जिस तरह का शरीर चाहे फिर वह मोटे में हाथी या छोटे में चींटी आदि का शरीर हो उसी शरीर में आत्मा सर्वत्र रहा हुआ है और यही मान्यता सुसंगत है।

स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्।

प्रमाणनय—प० १ सूत्र २

जब हम आत्मा और उसके स्वरूप का विचार करते हैं तो सर्व प्रथम यह जानना अत्यावश्यक है कि दार्शनिक क्षेत्र में आत्मा और उसका ज्ञान स्वप्रकाश है या परप्रकाश है या उभयरूप स्वपरप्रकाश है? इन प्रश्नों को लेकर दर्शनशास्त्र में विविध कल्पना-भरी अनेक तरह की जोरदार चर्चाएं दिखाई देती हैं अतएव इस विषय में किस २ दर्शनों की क्या मान्यता है इस का वर्णन करने के पहिले स्वप्रकाशत्व परप्रकाशत्व का सामान्य स्वरूप और एतद्विषयक संक्षिप्त कुछ बातें जान लेना अनिवार्य हैं।

१–ज्ञान का स्वभाव प्रत्यक्ष योग्य है ऐसा सिद्धान्त कुछ व्यक्ति मानते हैं जब कि दूसरे कोई इससे सर्वथा विपरीत मान्यता वाले हैं। उनका कहना यही है कि ज्ञान का स्वभाव परोक्ष ही है प्रत्यक्ष नहीं है। इस तरह प्रत्यक्ष–परोक्ष रूप से ज्ञान के स्वभावभेद की कल्पना ही स्वप्रकाशत्व-परप्रकाशत्व की चर्चा का मूल स्रोत है।

२–स्वप्रकाश शब्दका अर्थ इतना ही है कि-स्वप्रत्यक्ष अर्थात् अपने आपही ज्ञान का प्रत्यक्षरूप से भासित होना। परन्तु जब परप्रकाश का विचारविनिमय किया जाता है तब प्रकाश के दो अर्थ मालूम हुए बिना नहीं रहते। जिन में से प्रथम तो परप्रत्यक्ष अर्थात्-एक ज्ञानका अन्य व्यक्ति में प्रत्यक्षरूप से भासित होना। दूसरा अर्थ यह होगा कि परानुमेय अर्थात् एक ज्ञान का अन्य ज्ञान में अनुमेयरूपता से भासित होना।

३–स्वप्रत्यक्ष का भी यह अर्थ कदापि नहीं होता कि कोई ज्ञान स्वप्रत्यक्ष है, अतएव उसका अनुमानादिद्वारा बोध होना ही नहीं पर उसका अर्थ इतना ही है कि जब कोई ज्ञानव्यक्ति (आत्मा) उत्पन्न हुई तब वह स्वाधार प्रमाता को प्रत्यक्ष होती ही है, उस से अन्य प्रमाताओं के लिये उसकी परोक्षता ही है तथा स्वाधार प्रमाता के लिये भी वह ज्ञानव्यक्ति यदि वर्तमान नहीं तो परोक्ष ही है।[१]

परप्रकाश के प्रत्यक्ष अर्थके पक्ष में भी उपरोक्त बात ही घटित होती है– अर्थात् वर्तमान ज्ञानव्यक्ति ही स्वाधार प्रमाताके लिये प्रत्यक्ष है, अन्यथा नहीं।

---

१ "यत्त्वनुभूते —स्वयप्रकाशत्वमुक्त तद्विषय प्रकाशनवेलायां ज्ञातुरात्मनस्तथैव न तु सर्वेषां सर्वदा तथैवेति नियमोऽस्ति, परानुभवस्य हानोपादानादिलिङ्गकानुमानज्ञानविषयत्वात् स्वानुभवस्याप्यतीतस्याज्ञासिषमिति ज्ञानविषयत्वदर्शनाच्च।"

श्री भाष्य पृष्ठ २४।

—प्रमाण मीमांसा, प० सुखलालजी सम्पादित।

'स्वाभासी' पद के 'स्व' का आभासनशील और 'स्व' के द्वारा आभासनशील ऐसे दो अर्थ फलित होते हैं, पर वस्तुतः इन दोनों अर्थोंमें कोई तात्त्विक भेद नहीं। दोनों अर्थोंका तात्पर्य स्वप्रकाश से है और स्वप्रकाश का मतलब भी स्वप्रत्यक्ष ही है। परन्तु 'पराभासी' शब्द से निकलनेवाले दोनों अर्थोंकी मर्यादा एक नहीं। पर का आभासनशील यह एक अर्थ और पर के द्वारा आभासनशील यह दूसरा अर्थ। इन दोनों अर्थों के स्वरूप में सूक्ष्मदृष्टि से अंतर ही है। पहिले अर्थ से आत्मा का पर प्रकाशन स्वभाव सूचित किया गया है जब कि दूसरे अर्थ से स्वयं आत्माका अन्य के द्वारा प्रकाशित होना सूचित होता है। इस विषय में यह तो सहज समझ में आता है कि–उपरोक्त दो भिन्न-भिन्न अर्थों में से दूसरा अर्थात् पर के द्वारा आभासित होना इस अर्थ का तात्पर्य पर के द्वारा प्रत्यक्ष होना इसी अर्थ में है। पहिले अर्थ का मतलब तो पर के प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी रूप से भासित करना यह होता है। जो दर्शन आत्मभिन्न तत्त्व को भी मानते हैं वे सभी आत्मा को पर का अवभासक मानना स्वीकार करते हैं और जिस तरह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पर का अवभासन आत्मा अवश्य होता है उसी तरह वह भी किसी न किसी रूपसे स्व का भी अवभासन होता ही है, अतएव यहाँ जो दार्शनिकों का मतभेद बतलाया जा रहा है वह स्वप्रत्यक्ष और पर-प्रत्यक्ष अर्थ को लेकर ही जानना चाहिये।

स्वप्रत्यक्षवादी वे ही कहे जा सकते हैं जो ज्ञान को स्वप्रत्यक्ष मानते हैं और साथ ही साथ ज्ञान आत्मा का अभेद या कथञ्चित् भेद मानते हैं। आत्मा को स्वप्रत्यक्ष मानने में जैन, बौद्ध, वेदान्त और उसकी शाखाएं शङ्कर, रामानुज आदि सांख्य योग का समावेश होता है। फिर भी वह आत्मा किसीके मत में शुद्ध व नित्य चैतन्य रूपसे मानी गई है, कितनेक की मान्यतानुसार जन्यज्ञानरूप ही रही है या किसी के विचार से चैतन्य-ज्ञानोभयरूप रही है क्यों कि वे सभी किसी न किसी तरह से आत्मा और ज्ञान का अभेद स्वीकार कर, ज्ञान मात्र को स्वप्रत्यक्ष ही मानते हैं, अब सिर्फ कुमारिल की ही एक ऐसी मान्यता है जो कि ज्ञान को परोक्ष मानते हुए भी आत्मा को वेदान्त की भाँति स्वप्रकाश ही मानते हैं। इससे कुमारिल का भी सारांश तो यही मालूम होता है कि श्रुतिसिद्ध आत्मस्वरूप उन को भी मान्य है। यथा हि—

'आत्मनैव प्रकाश्योऽयमात्मा ज्योतिरितीरितम्' —

[—श्लोक वा. आत्मवाद श्लो—१४२]

श्रुतियों में आत्मा को स्वप्रकाशी स्पष्ट कहा है इसलिये ज्ञान का परोक्षत्व मानने पर भी आत्मा को तो स्वप्रत्यक्ष माने बिना कोई दूसरा रास्ता ही दिखाई नहीं देता।

परप्रत्यक्षवादी वे ही हो सकते हैं जो ज्ञान को आत्मा से भिन्न, पर उसका गुण मानते हैं– फिर चाहे वह ज्ञान किसी के मत से स्वप्रकाश माना जाता हो जैसे कि प्रभाकर के मत से या नैयायिकादि इन के मत में वह ज्ञान परप्रकाश्य माना जाता है। न्यायभाष्यकार का मत यह है कि—

"युञ्जानस्य योगसमाधिजमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मा प्रत्यक्ष इति।"
यद्यपि न्याय और वैशेषिक मान्यता में कुछ अन्तर जान पड़ता है, तथापि इनकी प्राचीन या अर्वाचीन मान्यता के अनुयायी सभी एक मत से इस बात को मानते हैं कि- योगी की अपेक्षा प्रत्यक्ष ही है। कारण कि सभी की मान्यता में योगजन्य प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता ही है। परन्तु प्राचीन नैयायिक और वैशेषिक में अर्वाक्-दर्शी की अपेक्षा कुछ भेद है। इन के मन्तव्य में आत्मा को प्रत्यक्ष न मान कर अनुमेय माना गया है[1]।

प्रभाकर की मान्यता में प्रत्यक्ष, अनुमति आदि किसी में से कोई भी तरह का संविद् क्यों नहीं हो पर उस में आत्मा तो प्रत्यक्ष रूप से अवश्य ही प्रतिभासित होता है। जब कि पिछले नैयायिक और वैशेषिक विद्वानों ने "तदेवमहं प्रत्ययविषयत्वादात्मा तावत्प्रत्यक्षः" आत्मा को उसके मानसप्रत्यक्ष का विषय मान कर परप्रत्यक्ष बतलाई है।

ज्ञान को आत्मा से भिन्न माननेवाले सभी दर्शन के मत से यह बात तो फलित होती है कि- मुक्तावस्था में योगजन्य या और किसी प्रकार का ज्ञान न रहने के नाते आत्मा साक्षात्कर्ता एवं साक्षात्कार का विषय नहीं ठहर सकता। इस विषय में दार्शनिकों के विचार और उनकी तर्कजटिल विविध भाँति की कल्पनाएँ अतीव विस्तृत हैं पर यहाँ पर उन का प्रसङ्ग नहीं है।

प्रस्तुत आत्मस्वरूप के विषय में स्वप्रकाश और परप्रकाश का कुछ दिग्दर्शन करना जरूरी है। सभी दर्शनों में ज्ञान को लेकर लौकिक और अलौकिक का विचार बहुत ही विस्तार के साथ पाया जाता है। इन्द्रियजन्य और मनोमात्रजन्य, इन्द्रियसन्निकर्षविषयक ज्ञान को लौकिकप्रत्यक्ष कहा गया है*। अलौकिकप्रत्यक्ष का वर्णन भिन्न २ दर्शनों में भिन्न भिन्न नाम से बतलाया गया है। न्याय-वैशेषिक, बौद्ध, सांख्य, योग सभी अलौकिकप्रत्यक्ष का योगिप्रत्यक्ष अथवा योगि-ज्ञान नाम से व्यवहार करते हैं।

मीमांसक जो कि प्रधानतया सर्वज्ञत्व का एवं धर्माधर्मसाक्षात्कार का विरोध ही करते हैं, परन्तु फिर भी वे मोक्ष के अङ्गामृत आत्मज्ञान के अस्तित्व का स्वीकार करते ही हैं जो वास्तविक में योगजन्य या अलौकिक ही सिद्ध होता है।

वेदान्त में जो ईश्वरसाक्षी चैतन्य की परिभाषा मानी गई है वही वहाँ पर अलौकिकप्रत्यक्ष स्थान का ही स्वरूप है।

जैनदर्शन की परम्परा आगमानुसार यही रही है कि जो इन्द्रियजन्य न हो वही ज्ञान इसमें प्रत्यक्ष माना जाता है। दर्शनान्तरमान्य इन्द्रियजन्य लौकिक

१ "आत्मा तावत्प्रत्यक्षतो न गृह्यते" न्याय भा १-१-१०। "तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे"

—वै० ८-१-२

* नैयायिकास्तु "इन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्"

—न्याय-११-४।

प्रत्यक्ष वह वस्तुतः प्रत्यक्ष नहीं अपितु परोक्ष ही माना जाता है । श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपने विशेषावश्यकभाष्य गाथा ९५ में "इंदियमणोभवं जं तं संववहार पच्चक्खं" इसके द्वारा आगमिक द्विविध प्रमाणविभाग में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान इन पाँचों ज्ञान में से प्रथम दो को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष बतलाकर अन्य तीनों को पारमार्थिक प्रत्यक्ष रूप से माना है और इसी विचार से आर्यरक्षितसूरि स्थापित इन्द्रियजन्य-नोइन्द्रियजन्य ज्ञान जो कि नन्दी सूत्रकार स्वीकृत मन्तव्य का तर्कपुरस्सर शैली से वर्णन किया गया है । इस तरह से जैन दर्शन की तार्किक परम्परा प्रत्यक्ष के दो भेद मान के दर्शनान्तर मान्य लौकिक प्रत्यक्ष जिसे कहा जाता है उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहती है ।

अर्थात् पाँच इन्द्रिय और मनोजन्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है । इस से अतिरिक्त शेष तीन ज्ञान को नोइन्द्रियजन्य होनेके कारण पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है ।

तत्प्रमाणे, आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत् ।
—तत्त्वार्थसूत्र ।

जैनेतर दर्शनों में जिसे अलौकिकप्रत्यक्ष कहा जाता है उस ही को जैन मतमें पारमार्थिक प्रत्यक्ष के नाम से कहा जाता है । पारमार्थिकप्रत्यक्ष के कारण रूप से लब्धि या विशिष्ट आत्मशक्ति का जो वर्णन किया जाता है वह एक तरह से अन्य दर्शनमान्य योगजधर्म की ही परिभाषा को बतलाता है अर्थात् योगजन्य ही है ।

ज्ञान को स्वप्रकाशी माननेवाला में मीमांसक वेदान्त प्रभाकर और विज्ञानवादी बौद्ध एवं साम करके जैनमत का समावेश होता है । परन्तु ज्ञानविषयक स्वरूप में सभी की मान्यता एक सी नहीं दिखाई देती भिन्न भिन्न तरह की विचारधारा है, जिज्ञासुओं को यह विषय दार्शनिक ग्रन्थोंसे जानना चाहिये ।

उपरोक्त अलौकिक ज्ञानमें प्रत्यक्ष का विषय निर्विकल्प ही होता है या सविकल्प ही या उभयरूप ? इन प्रश्नों के उत्तर में दार्शनिक मान्यता एक समान नहीं दिखाई पड़ता । कुछ दर्शनों के विचार यहां पर संक्षिप्त में ही दिखलाना आवश्यक समझे गये हैं । न्यायवैशेषिक वैदिक, आदि कुछ दर्शनो के अनुसार अलौकिक प्रत्यक्ष का सविकल्प-निर्विकल्प या उभयरूप से माना है । तार्किक धारा एवं शांकर वेदान्त परम्परा के अनुसार तो अलौकिकप्रत्यक्ष को प्रायः निर्विकल्प ही मानने पर अधिक जोर दिया गया है । जब कि वेदान्त की शाखा रामानुज की मान्यता में ठीक इस से विपरीत ही मालूम होती है, इस मान्यता में लौकिक या अलौकिक उभयरूप प्रत्यक्ष को सविकल्प ही मानने का आग्रह रहा है । निर्विकल्प को असम्भव ही बतलाया

१ सर्वेऽपि हि विज्ञाने संवादरीते गवा? प्राह [illegible] ॥

मैत्र शा० पृ० २४

१ इन्द्रियमनोनिमित्तं [illegible] सांव्यवहारिकम् । प्रमाणमीमांसा अ० १-१-२० ।

है। जैनदर्शन में प्रत्यक्ष के नियामक दो तत्त्व हैं। आगमीय परम्परा के अनुसार तो एक मात्र आत्मतत्त्व सापेक्षत्व ही प्रत्यक्ष का नियामक है।

दूसरा प्रत्यक्ष का नियामक–तार्किक मान्यतानुसार आत्मा से अन्य इन्द्रिय मनो जन्य न्याय–वैशेषिक आदि दर्शनान्तर सम्मत सन्निकर्षजन्य भी फलित होता है।

सारांश यहि निकला कि आत्मस्वरूप के विषय में उसका ज्ञान स्वप्रकाशी और परप्रकाशी या उभय प्रकाशी फिर वह किसी की मान्यतामें निर्विकल्प और सविकल्प माना जाता है। जैनपरम्परा के अनुसार लौकिक सांव्यवहारिक, अलौकिक–पारमार्थिक प्रत्यक्ष उभयरूप है। क्यों कि जैनदर्शन में जो अवधिदर्शन तथा केवलदर्शन आदि सामान्य बोध माना जाता है वह अलौकिक निर्विकल्प ही कहा गया है और जो अवधि ज्ञान, मनः पर्यायज्ञान एवं केवलज्ञानरूप विशेष बोध है वही सविकल्प है।

तुलनात्मक दृष्टि से जैन दर्शन

लेखक—मास्टर खुबचंद केशवलाल, सिरोही (राजस्थान)

संसारके क्षणिक सुखका त्याग करके कठोर संयमका पालन करना जीवनको क्रमशः विशुद्ध बनाना, तथा मोक्ष प्राप्त करना यही भारतवर्षके प्रत्येक दर्शनका उद्देश्य है। परन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि सभी दर्शन तत्त्वतः एक ही हैं। बाह्य रूपसे किन्हीं विशेष विषयोंकी मान्यतामें समानता दृष्टिगोचर होनेपर भी प्रत्येक दर्शन तथा उसके सिद्धान्त भिन्न एवं स्वतंत्र हैं। सामान्यतः भारतवर्षके दार्शनिक जगतमें जैनदर्शन प्रतिष्ठित पद भोग रहा है, और विशेषकर जैन दर्शन एक संपूर्ण दर्शन भी कहा जा सकता है। तत्त्वविद्याके सभी अंग इसमें उपलब्ध हैं। जैनदर्शन कुछ बातोंमें बौद्ध वेदान्त, सांख्य, चार्वाक और न्याय दर्शनसे मिलता-जुलता दिखता है परन्तु वास्तवमें यह एक स्वतंत्र दर्शन है। अपने बहुविध तत्त्वोंके विषयमें यह अपना संपूर्ण तथा स्वतंत्र अस्तित्व रखता है।

जैन तथा बौद्ध

जीवके सुख दुःख कर्माधीन हैं। जो कुछ करते हैं, और जो भी किया है, उसके परिणामस्वरूप ही सुखदुःखकी प्राप्ति होती है। निःसार तथा मायावी भोगविलास पामर जीवोंको किंकर्तव्यविमूढ बना देता है। सांसारिक सुखके पीछे दौड़नेवाला जीव जन्म जन्मान्तरपरम्परा में फँसता है। इस अविराम दुःख और क्लेशसे छुटकारा प्राप्त करना हो तो हमें कर्मके बंधन तोड़ने चाहियें। कर्मसत्ता में से छूटनेसे पूर्व हमें दुष्कर्मके स्थानपर सत्कर्मकी स्थापना करनी चाहिये। अर्थात् भोगलालसा के स्थानपर वैराग्य, संयम, तप, जप और अहिंसा आदि का आचरण करना चाहिये। इस प्रकारकी मान्यता जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म दोनोंमें समान है। वेद दर्शनके अद्वैतवादको अमान्य करनेमें, चार्वाक मतके इन्द्रिय भोगविलासको तिरस्कारपूर्वक निकालनेमें, तथा अहिंसा और वैराग्य प्राप्त करने में जैन और बौद्धदर्शन दोनों एक ही मत रखते हैं, परन्तु बाहरसे समान दृष्टिगोचर होते जैनदर्शन तथा बौद्धदर्शनमें भारी भेद है। बौद्ध दर्शनकी जड़में जो निर्बलता हम देखते हैं, वह जैनदर्शन में नहीं है। बौद्ध दर्शनका अहिंसा तथा त्याग का आशय समझमें आसकता है, कर्मबंधनको छेदनेकी बातभी अर्थ रखती है, परन्तु हम हैं क्या? जिसका परिचय वे परमपदके रूपमें देते हैं, और जिसे वे साध्य मानते हैं—वह है क्या? इनके प्रत्युत्तरमें वे कहते हैं कि "हम शून्य" अर्थात् कुछ नहीं हैं, तब प्रश्न उठता है कि क्या हमें सदैव अंधकारमें ही भटकना है? और अन्तमें भी क्या असार ऐसे महाशून्यमें ही सबको विलीन हो जाना है? तो फिर महाशून्यके हेतु जीवनमें सामान्य सुख क्यों वृथा जाने दें? यह भले ही निस्सार हो, परन्तु उसके पश्चात जो कुछ भी

प्राप्त होता है वह इनकी अपेक्षा भी अधिक निस्सार हो तो वह तनिक भी वांछनीय नहीं है, ऐसा कहना पडेगा। कहनेका अभिप्राय यह है कि बौद्धदर्शनका यह अनात्मवाद सामान्य जनको संतोष नहीं दे सकता है। अतः इन मुख्य अंगोंपर हि बौद्ध दर्शनमें तथा जैन दर्शनमें बडा भेद है। बौद्ध मत शून्यसे ही आलिंगित रहता है, जबकि जैन बहुतसे पदार्थ मानते है। बौद्धमतमें आत्मा का अस्तित्व नहीं, परमाणुका अस्तित्व नहीं तथा ईश्वर भी नहीं। जैन मतमें इन सबकी सत्ता स्वीकार की गई है। बौद्धमतके अनुसार निर्वाण–प्राप्ति अर्थात् शून्यमें विलीनीकरण, परन्तु जैनमतमें मुक्त जीव अनंतज्ञान–दर्शन चारित्रमय तथा आनंदमय माने गये है। बौद्धदर्शन तथा जैनदर्शनमें कर्म भी भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त होते है।

जैन तथा वेदान्त

आत्मा सत्य है तथा जन्म–जन्मान्तर ग्रहण करती है, सुख–दुःख भोगती है, परन्तु वस्तुतः वह एक असीम सत्ता है। ज्ञान तथा आनंदके संबंधमें यह असीम तथा अनन्त है। वेदान्तदर्शनका यह मूल प्रतिपाद्य विषय है। अतः आत्माके असीमत्व तथा अनंतत्वको स्वीकार करनेमें वेदान्तदर्शन तथा जैनदर्शन दोनों निर्विरोधी हैं। बौद्धदर्शनके अनात्मवादको स्वीकार न करनेमें और आत्माकी अनंत सत्ताकी उद्घोषण करनेमें जैन तथा वेदान्त समान मान्यतावाले हैं। फिर भी इन दोनों दर्शनोंमे भिन्नता है। क्योंकि वेदान्त जीवात्माकी सत्ता स्वीकार करने तक ही सीमित नहीं रहता है। वह तो एक कदम और आगे बढता है और स्पष्टतया कहता है कि जीवात्माओंके बीचमें कोइ भेद नहीं है। वेदान्त मतके अनुसार यह चिन्मय विश्व एक अद्वितीय सत्ताका विकास मात्र है। वेदान्तका "एकमेवाद्वितीयम्" का वाद अति गम्भीर तथा मजबूत है। सामान्य मानवीय जीवात्मा एक सत्ता है। इतना अनुभव कर सकता है, परन्तु मानव मानव के बीच कोई भेद नहीं है तथा अन्य प्रकारसे दृष्टिगत पदार्थोमें किसी प्रकारका भेद नहीं है, ऐसी बातों का विचार करें तब तो बुधिपर पाला ही पड जाता है। अतः यह बात जैनदर्शके स्वीकार करनेके योग्य नहीं है। और इसीसे जैनदर्शन तथा वेदान्त दर्शनकी मान्यतामें यहाँ भिन्नता उपस्थित हो जाती है।

जैन और सांख्य

सांख्य भी आत्माका अनादिपन तथा अनंतपन स्वीकार करते है। विजातीय पदार्थके सम्बन्धसे आत्माको अलग करनेको वे मोक्ष मानते हैं। प्राकृतिक रुपसे स्वाधीन आत्मा के साथ संलग्न एक विजातीय पदार्थका अस्तित्व उन्हें स्वीकार्य है। वेदान्तके अद्वैतवादको न माननेमें भी सांख्य दर्शन की जैन दर्शन के साथ समानता है। तथा सांख्य दर्शन जीवसे अलग अजीव तत्त्व और स्वीकार करता है। इस प्रकार जैन दर्शन के साथ कई दृष्टिकोनेसे उसका सादृश्य होने पर भी अन्दर भारी भेद है। उदाहरणार्थ सांख्य दर्शनने अजीव तत्त्वके अर्थमें केवल एक प्रकृति

का ही माना हे, परन्तु जैन दर्शन म अजीवके पाच भेद ह, ओर इन पाचमें पुद्गल तो अनतानत परमाणुमय है। साख्य केवल दोही तत्त्व स्वीकार करता ह, जब कि जैन दर्शन में अधिक तत्त्व है। साख्य मत में आत्मा निर्विकार तथा निष्क्रिय मानी गइ हे, परन्तु जैन दर्शन का कथन हे कि उसका स्वभाव ऐसा ह कि वह परिपूर्णता की प्राप्ति के लिये उद्योग करे, इतना ही नहीं परन्तु साथ ही वह अनत क्रियाशक्तिका आधार हे।

जेन तथा चार्वाक

जेन और चार्वाक दर्शन के बीच यदि कोइ सादृश्य भी हे तो वह इतना ही कि चार्वाक की भाति जन दर्शन म भी वेदिक क्रियाकाड की निरर्थकता बताइ गइ ह। भली प्रकार खोज करें तो पत्ता चलेगा कि जैन दर्शन चार्वाककी भाति मात्र निषेधात्मक ही नहीं हे। अधश्रद्धा तथा अधक्रियानुरागसे मनुष्य की बुद्धी तथा विवकशक्ति का अतुल अपमान होता ह, इस दृष्टिसे जेन दर्शनने तो कमकाडका विरोध किया है। सब प्रथम तो जैन दर्शनने इन्द्रिय सुख तथा विलासका अनिच्छापूवक परिहार किया ह। चार्वाक दर्शन का यह ध्येय नहीं हे। अथरहित वेदिक क्रियाकलापका विरोध करनेमें चार्वाक भले ही उचित हो परन्तु तत्पश्चात् किसी गभीर विषय पर विचार करनेकी इसे नहीं सूझी। वेदिक क्रियाकाड कैसे ही हो परन्तु इनसे लोगोंकी लालसा कुछ वशमें रहती। स्वच्छद इन्द्रियविलासका मार्ग कुछ वशमें रहती। स्वच्छद इन्द्रियविलासका मार्ग कुछ कटकमय बनता। चार्वाक दर्शनको यह तत्त्वगत नहीं लगा अत जेन दर्शन तथा चार्वाक दर्शनमें कोइ सादृश्य ह ही नहीं।

जन दर्शन तथा न्यायदर्शन

नैयायिक अनेक आत्माओंकी स्वतन्त्र सत्तामें विश्वास रखते ह। इस अनेकता की दृष्टिसे जैनदर्शनम तथा न्यायदर्शनमें मतैक्य हे। परमाणु, दिशा काल, गति और आत्मादिक तत्त्वविचारम जैन दर्शन तथा न्याय दर्शनके बीच बहुत कुछ समानता हे। जेनदर्शनकी तरह न्यायदर्शनमें युक्तिप्रयोगको अच्छा सा पद प्राप्त ह फिरभी दोनों मे कितना ही भेद है। स्याद्वाद अथवा सप्तभगनयनामक जो सुविख्यात युक्तिवादका अविष्कार जेनदर्शन में दिखाइ पडता हे वह न्यायदर्शनमें भी कहा? फिर नैयायिक आत्माका अनेकत्व स्वीकार करते ह, परन्तु साथ - अन्य दर्शनोंकी भाँति आत्माको सर्वव्यापक भी मानते ह। दूसरी ओर जेनदर्शन आत्मा को स्वदेहपरिमाण म मानता है। जेनदर्शन कहता हे कि आत्मा सवगत नहीं ह क्योंकि उसके गुण सवमें तथा सर्वत्र प्राप्त नहीं हो सकते हे। जिसके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं, वह सवगत नहीं होता जेसे घडा आत्माके गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते हे। अत आत्मा सवगत नहीं है। जो आत्मा सवगत होती ह तो उसके गुण भी सवत्र उपलब्ध होते है। जेसे आकाश। नैयायिक आत्माको कूटस्थनित्य मानते ह, जब कि जेन दर्शन आत्माको कूटस्थनित्य मानता ही नहीं। आत्मा सकोच तथा विस्तारशील है, जिससे एक शरीरम

दूसरे शरीरमें जाने पर उसके परिमाण में परिवर्तन हो जाता है। पुनः कर्मफलके संबंध में न्यायदर्शन कर्मके साथ फलका योग करनेके लिये ईश्वर को स्वीकार करता है। अर्थात् उसकी मान्यता के अनुसार कर्मफलके विषयमें कर्मके अतिरिक्त कर्मफलनियंता एक ईश्वर और है। जबकि जैन दर्शन तो, कर्म ही स्वयं अपने फलका उत्पादन करता है, ऐसा कहता है।

भारतवर्षमें पृथक् पृथक् विचारभेदोंमें प्रवर्तित प्रत्येक धर्मका समावेश उपरोक्त छ दर्शनोंमे हो जाता है। इन छ दर्शनोंमें जैन दर्शनके सिद्धांत आत्मस्वरूपका बोध करवानेमें इतर दर्शनोंकी श्रेणीमें कितने उच्च कोटिका है. यह उपरोक्त विवरण पढने पर प्रत्येक को अपने आप समझमें आ जायगा। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जैन धर्मको हिन्दू धर्मकी शाखा स्वरूप स्वीकार करनेवाला जैनदर्शन के तत्त्वज्ञानसे अनभिज्ञ ही है ऐसा कहने में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। स्याद्वाद, देव-गुरु-धर्मका स्वरूप कर्मस्वरूप ईत्यादि जैन धर्मके अन्य कितने महत्त्वपूर्ण सिद्धांतके आधार पर समझमें आजायेगा कि जैन धर्मको हिन्दुधर्मकी शाखा स्वरूप गिनने में जैन धर्मके उच्च कोटिके तथा महत्त्वपूर्ण तत्त्वोंका नाश करनेका भारी दुष्कृत्य है।
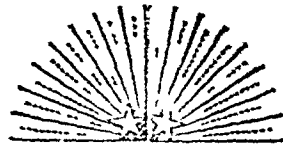
स्याद्वाद और उसकी व्यापकता

लेखक—मुनि श्री मनोहर मुनिजी, 'शास्त्री साहित्यरत्न'

सत्य के अनंत रूप हैं और अनंत रूपों में ही उसके दर्शन किये जा सकते हैं। उसे देश काल की सीमा में बांधा नहीं जा सकता। सम्प्रदायों की चार दीवारी में उसे कैद नहीं किया जा सकता। क्योंकि असीम को सीमा में बांधना उसकी अवमानना है अतः सत्य को हम विविध रूप में ही पा सकते हैं। अनेक रूपात्मक सत्य को अनेक रूपों में स्वीकार करना ही अनेकान्त है। इसलिये अनेकान्तदृष्टि पूर्ण सत्य है। वह वस्तु के अनंत धर्मोंको स्वीकार करता है। अतः वह विभेद में अभेद देखता है। संघर्षों में समन्वय साधता है।

विचारजगत का अनेकान्त जब वाणी में उतरता है तब वह स्याद्वाद कहलाता है। एक विचारकण यदि दूसरे विचारकण से एकदम निरपेक्ष नहीं है तो स्याद्वाद कहलाएगा। विश्व का प्रत्येक विचारक जीवन और जगत के सम्बन्ध में अपनी एक नई दृष्टि रखता है। किन्तु यदि वह दूसरे विचारक से एकदम निरपेक्ष होकर अपने आपको पूर्ण सत्य का ज्ञाता मान लेता है तब वह मिथ्यात्व बन जाता है। अंश रूप से वे सभी सत्य हैं। क्योंकि चिन्तन का हर अंश सत्यके एक अंश को अनावृत करता है। सागर की लहर सागर का ही एक अंश है, वाणी का हर अंग सत्य का एक अंश है। आचार्य सिद्धसेन चिन्तन की अनुभूति में दर्शनकी अभिव्यक्ति देते हुए कहते हैं—

> जावइया वयणवहा, तावइया चेव होंति णयवाया।
> जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया॥
>
> —सन्मतितर्क ४७

जितने वचनपथ हैं उतने ही नयवाद हैं, और जितने नयवाद हैं उतने ही पर समय हैं। अर्थात् प्रत्येक विचारक की वाणी एक सत्य का परिचय है। उसे पूर्ण सत्य मानना मिथ्या होगा तो उसे मिथ्या कहना भी मिथ्या होगा। क्योंकि अनेक एकान्तों का समूह ही तो अनेकान्त है। जबतक एक सत्यांश अपने आपको पूर्ण न मानकर दूसरे सत्यांश के लिये द्वार बन्द नहीं करता तब तक वह मिथ्या भी नहीं है। पर अंश को पूर्ण मानलेने का मोह ही मिथ्यामत है। दर्शनशास्त्र के दिवाकर आचार्य सिद्धसेन के शब्दों में—

> णिय वयणिज्जसच्चा सव्व नया परवियालणे मोहा।
> ते उण ण दिट्ठ समओ विभयइ सच्चे व अलिए वा।
>
> सन्मतितर्क – १ – ५

सभी नय अपनी सीमा में सत्य हैं पर दूसरे को जब असत्य घोषित करते हैं तभी मिथ्या होजाते हैं। किन्तु अनेकान्तज्ञ नयों के बीच सम्यक् और मिथ्या की विभेदक रेखा नहीं खींचता। स्वसिद्धान्त के प्रतिपादक नय सत्य हैं। दूसरे के खंडन करने मे मिथ्या भी हैं।

हर चिन्तन के पिछे सापेक्षदृष्टि होनी चाहिए। यदि हमारे पास सापेक्षदृष्टि है तो हर दर्शन के पास से सत्य तत्त्व ग्रहण कर सकते हैं। फिर वह नित्यवादी हो या अनित्यवादी। सामान्य वाद का प्रतिपादक हो या विशेष वाद का समर्थक। विश्व के समस्त पदार्थ एक और अनेक रूप है उसमें एक ओर नित्यत्व के दर्शन होते हैं। दूसरी ओर वही पदार्थ प्रतिपल परिवर्तित होता हुआ दृष्टिगत होता है। वस्तुके ध्रुव तत्त्व की ओर जब हमारा दृष्टिबिन्दु टिकता है तो वस्तु के शाश्वत सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। और जब हम उसके उत्तर रूपों की ओर दृष्टि पार करेंगे तो प्रतिक्षण विनाशी रूप दिखलाई देगा। आचार्य हेमचन्द्र द्रव्य और पर्याय को विभेद करते हुये कहते हैं:—

अपर्ययं वस्तु समस्यमानं अद्रव्यमेतच्च विविच्यमानं।

अन्ययोगव्यवच्छेदिका २३

जब हमारी दृष्टि भेदगामिनी बनती है तब वस्तु का परिवर्तित होनेवाला रूप सामने आता है और जब दृष्टि अभेदगामिनी बनती है तब वस्तु का अखंडरूप दृष्टिपथ में आता है। जब हम आत्मा के भेदरहित रूप को चिन्तन पथमें लावेंगे तब हमें अनंत अनंत आत्माओं के बीच एक आत्मतत्त्व के दर्शन होते हैं। यहीं आत्म द्वैत का प्रतिपादक "एगे आया" भी सत्य है। भेदानुगामी दृष्टिमें आत्मा के मानुष, देव आदि पर्याय रूप के दर्शन होते हैं। दार्शनिक शब्दावलि में भेदगामीनी दृष्टि पर्यायदृष्टि है और अभेदगामिनी दृष्टि द्रव्यास्तिक नय है।

पर्यायनय वस्तु के प्रतिपल परिवर्तित होनेवाले रूपको ही स्वीकार करती है। द्रव्यास्तिक नय ध्रुव अंशको स्वीकार करती है। किन्तु विश्वव्यवस्था उभय के समन्वय में ही संभव है। युवक को अपने बचपन की चेष्टाओं का स्मरण हो आता है। भावी जीवन को सुखमय बनाने के लिये प्रयत्न करता है। अतः जीवन की इस बदलती हुई छाया में भी एकसूत्रता के दर्शन होते हैं। यही द्रव्यास्तिक नय की अभेदगामिनी दृष्टि है। दूसरी ओर बचपन के बीच की भेदप्रतीति स्पष्ट ही है। शरीर और बुद्धि का विकास नये खून में नई क्रान्ति करने की तड़प दोनों के बीच विभाजक रेखा खींचती है। यहीं पर्यायदृष्टि सफल है। पर युवक क्या है? वह दोनों का मिलाजुला रूप है। आचार्य सिद्धसेन के शब्दों मे:—

पडिपुण्ण जोव्वणगुणो जह लज्जइ बालभावचरिएण।
कुणइ य गुणपणिहाणं अणागय सुहोवहाणत्थं॥

सन्मतितर्क १—४३

युवक बचपन से सर्वथा भिन्न भी नहीं है क्योंकि वह बचपन की सुकोमल स्मृतियों में जीता है और उसके साथ पूर्ण संबद्ध भी नहीं है क्योंकि हम उसे बालक भी नहीं कह सकते। जीवन की यही भेदाभेदगामिनी दृष्टि पदार्थसार्थ के यथार्थ स्वरूप को पा सकती है। आत्मा ही क्यों, विश्व के समस्त पदार्थ भेदाभेद रूप में अवस्थित है। पर्यायदृष्टि से उनमें उत्पत्ति और विराम भी चालू है और द्रव्यास्तिक दृष्टि से सदा अवस्थित है। आचार्य हेमचन्द्र पदार्थ मात्र का स्वरूप एक बताते हैं —

"आदीपमाव्योमसमस्वभाव स्याद्वादमुद्रा नहि भेदि वस्तु"।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्य-दिति त्वदाज्ञा द्विषतां प्रलापाः।

अन्ययोगव्यवच्छेदिका—५

अनित्य प्रदीप और नित्य आकाश दोनों का एक स्वभाव है। पदार्थ मात्र उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है। एक नित्य और दूसरे को अनित्य बताना बुद्धि की विडम्बना है। दीपक नित्य भी हो सकता है और आकाश अनित्य भी। दीपक से आकाश पर्यन्त पदार्थ द्रव्यास्तिक दृष्टि से ध्रुव और पर्यायास्तिक दृष्टिसे अनित्य हैं। घट फूट जाता है, अतः अनित्यता स्पष्ट है पर टुकड़ों में भी मृद्द्रव्य अनुगत है अतः वह नित्य भी है।

इस प्रकार अपेक्षावाद विचारजगत के शत-सहस्र संघर्षों को समाप्त कर देता है। बड़े बड़े दार्शनिक जिस समस्या को लेकर वर्षों तक झगड़ते रहे, स्याद्वाद उसका एक मिनिट में समाधान देता है। दृष्टि बदली कि सृष्टि भी बदल जाती है। परस्पर निरपेक्ष रहने नयप्रवादरूप अन्य दर्शन मिथ्यारूप है। किन्तु जब उनमें समन्वय का सौरस्य आता है वे ही सम्यक् बन जाते हैं।

स्याद्वाद विचारशोधन का बहुत बड़ा माध्यम है। वह मानव को "ही" की कैद से मुक्त करता है क्योंकि 'ही' की कैंची मानव की स्वतंत्र उड़नेवाली बुद्धि के पंख काट देती है और विचारसृष्टि की नई उपज से उसे वंचित रखती है। 'ही' के द्वारा मानव अपने को किसी पंथ या वादविशेष से अपने को बांधकर उसी को पूर्ण सत्य मान बैठता है। किन्तु अनेकान्त 'भी' के माध्यम से सत्य को सदैव आदर देता है फिर वह चाहे किसी पंथ से आया हो या किसी संप्रदायविशेष से। स्याद्वाद विचारसहिष्णुता को जन्म देता है। एक दूसरे के विचारों का समन्वय करने की प्रेरणा देता है। एक प्रकारसे वह वैचारिक सहअस्तित्व को जन्म देता है।
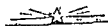
स्याद्वाद की सैद्धान्तिकता

लेखिका—जैन सिद्धान्ताचार्या-महासती कौशल्या कंवर

"जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ"। मानवको यदि सत्य पाना है तो गहरा गोता लगाये विना प्राप्त नहीं हो सकता। एक वार उसी सत्य का असत्य होना और असत्य का सत्य वनना मानव को और भी चक्रमें डाल देता हैं। एक संखिया को ही लीजिए। सम्पूर्णविश्व उसे मारक मानता है तो वैद्य उसी वस्तु का भयंकर से भयंकर रोगों के निवारण में उपयोग करता है। उस समय वही मारक संखिया उद्धारक रूप वन जाता है। ऐसे समय कितनेक वुद्धिजीवि प्राणी भी ऊब कर कह उठते हैं—

कोई कहै कछु है नहीं, कोई कहै कछु है।
'है और नहीं' के वीच में, जो कुछ है सो है।

ऐसी धारणावाले सत्य पा नहीं सकते। जो गहरा चिन्तक होगा, वही ठीक सत्य को पा सकता है। वरन् शंकराचार्य जैसे भी स्याद्वाद के रहस्य को नहीं समझने के कारण उसमें अनेक दोष ही अपनी मनःकल्पना से उपस्थित कर लेते हैं।

आज का युग समन्वयवादी है। वह सभी वस्तुओं को जानने की चेष्टा करता है और इसी चिन्तन के वूते पर आजके अनेकों जैनेतर विद्वान् भी स्यद्वाद के अमूल्य तत्त्व की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं।

गांधीजी ने लिखा है—"जिस प्रकार मैं स्याद्वाद को जानता हूँ, उसी प्रकार मानता हूँ। मुझे यह अनेकान्त वड़ा प्रिय है"।

श्रीयुत महामहोपाध्याय सत्यसम्प्रदायाचार्य पं. स्वामी राममिश्रजी शास्त्री ने लिखा हैं—"स्याद्वाद जैन धर्मका एक अभेद्य किला है। जिसके अन्दर प्रतिवादियों के मायामय गोले प्रवेश नहीं कर सकते।"

प्रो. हर्मन जेकोवी ने लिखा है—"जैन धर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्व ज्ञान और धार्मिक पद्धतियों के अभ्यासियों के लिए महत्त्वपूर्ण है। इस स्यायद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।"

डा थामस के भी विचार या उद्गार वड़े महत्त्वपूर्ण हैं—"न्यायशास्त्र में जैन न्याय का स्थान वहुत ऊँचा है। स्याद्वाद का स्थान वड़ा गम्भीर है। वह वस्तुओं की भिन्न भिन्न परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है"।

भारत के निष्पक्ष आलोचक पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने तो यहां तक कह डाला है कि—"प्राचीन काल के हिन्दू धर्मावलम्वी वड़े वड़े शास्त्री तक अव भी यह नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है"। अस्तु।

इतने गभीर सिद्धात का ज्ञान मानव को अवश्य प्राप्त करना चाहिए। बुद्धि वाला अवश्य ही सत्य को प्राप्त करने की इच्छा पर सत्य को प्राप्त कर सकता है।

स्याद्वाद म स्याद्‌निपात से सिद्ध हुआ अनेकान्तद्योतक अव्यय है। यानि कथञ्चित् होना और कथञ्चित् न होना। वस्तु सदा अपने रूप से होती है, पररूप से नहीं। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से ही वस्तु अस्तिरूप होती है किन्तु पर द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव से अस्तिरूप नहीं होती। जैसे गाय को ही लें। गाय, गाय रूप से अस्ति है किन्तु गधे या घोडे रूप से अस्ति नहीं होती। यदि पर रूप से भी अस्तिरूप हुई तो गाय, गधे और घोडे म कोई अतर ही नहीं होगा, और गाय शब्द से ही घोडे और गधे का ज्ञान होने लगेगा। एव यदि स्वरूप से भी कथञ्चित् अस्ति रूप नहीं होगी तो गाय गाय ही नहीं रहेगी। यानि गाय का अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा।

वस्तु एक भी होती है और अनेक भी। इसलिये इस स्याद्वाद का अपर नाम अनेकान्तवाद भी है। वस्तु सदा अनेकान्तधर्मात्मक होती है। अनत धर्म एक ही वस्तु में स्थान प्राप्त करते है। कहा है—"अनतधर्मात्मक वस्तु एक ही मनुष्य को कोई पिता मानता है, तो कोई पुत्र कहता है। कोई काका कहकर पुकारता हैं, तो कोई भतीजा कहकर प्यार करता है। इन सभी विरोधि धर्मों का समन्वय स्याद्वाद करता है। वह कहता है सभी का कथन न्यायसगत है। पुत्र की अपेक्षा वह पिता है, और पिता की अपेक्षा पुत्र, भतीजे की अपेक्षा काका है और काके की अपेक्षा से भतीजा। अपेक्षावाद से एक वस्तु में अनत धर्म समाते हैं विरोध की कहीं गुजाइश ही नहीं है। जन्मान्ध मानवमण्डली हस्तस्पर्श से हाथी के भिन्न भिन्न अवयवों का ज्ञान करती है एव आपस में कलह करती है अपने को ही सत्य मान कर। किन्तु नेत्रवाला मानव सम्पूर्ण हाथी के ज्ञान को रखता है और सभी का समझौता कर लेता है इसी प्रकार स्याद्वादवादी काल नियति, स्वभाव कर्म और पुरुषार्थ पाँचो के विषय में एकान्त मानकर लगडने वालों का समन्वय कर समाधान कर लेता है।

स्याद्वाद के मुख्य भेद तीन हैं—१ स्याद् अस्ति २ स्याद् नास्ति, ३ स्याद् अवक्तव्य।

स्याद् अस्ति—वस्तु सदा स्वरूप से होती है।
स्याद् नास्ति—वही वस्तु पररूप नहीं होती।

स्याद् अवक्तव्य—दोनो रूपों का एक साथ कथन नहीं किया जा सकता, कथञ्चित। यदि सर्वथा कहा ही नही जा सकता हो तो अवक्तव्य यह शब्द भी नहीं कहा जा सकता किन्तु अनुभवयुक्त है कि अन्य को समझाने में अवक्तव्यरूप शब्दों का प्रयोग होता है। ये तीनों धर्म वस्तु में एकसाथ पाये जाते हैं। जैसे दधि मथन करनेवाली बहन एक तरफ की रस्सी खींचती है दूसरी तरफ की ढील देती है, किन्तु छोडती किसी को नहीं। ऐसे पदार्थ स्वरूप से अस्ति रूप है और दोनों धर्मो का कथन एक साथ नहीं कहा जा सकने के कारण अवक्तव्य रूप है। इन्हीं मूल तीन भगो से ४ भग और बनते हैं। तीन और चार मिलकर सात

भंग होते हैं। इससे उसका नाम सप्तभंगी है। प्रश्न हो सकता है भंग सात ही क्यों? मानव की जिज्ञासा प्रत्येक पदार्थों के जानने में सात ही प्रकार की होती है, और उत्तर सात ही प्रकार से दिये जाते हैं, अतः सात ही भंग बनते हैं। इससे न्यून या ज्यादा नहीं। गणित की दृष्टि से ही देखिए। जैसे १, २, ३ हैं उनके भंग इस प्रकार होगें $\frac{१}{१.२}$ $\frac{२}{१.३}$ $\frac{३}{२.३}$ $\frac{४}{१.२.३}$ यों ४ और ऊपर के तीन यों सात होते हैं। क्रम से सातों की स्थापना इस प्रकार होगी। जो एक मरीज के उत्तरसहित बताया जाता है। आप किसी मरीज से रोग का हाल पूछेंगे वह निम्न प्रकारसे उत्तर देगा।

स्याद् अस्ति–बिमारी है।

स्याद् नास्ति–भयंकर नहीं है।

स्याद् अस्ति नास्ति–बीमारी है अवश्य किन्तु भयंकर नहीं।

स्याद् अवक्तव्य– दोनों बातों का कथन एक साथ नहीं होता।

स्याद् अस्ति अवक्तव्य–अकथ्य होती भी रुग्णावस्था है अवश्य।

स्याद् नास्ति अवक्तव्य–अकथ्य होते भी भयंकरता तो नहीं है।

स्याद अस्तिनास्ति अवक्तव्य–रुग्णा है भयंकर रूपसे नहीं अवस्था अकथ्य है अर्थात् वचनीय नहीं हैं।

ये सातों भंग इसी प्रकार अनंत धर्मपर समान रूप से लागू होते हैं। प्रत्येक पदार्थ के प्रत्येक धर्म का ज्ञान इन सात भंगों से सर्वतोमुखी बनता है। ये सातों भंग नियमित हैं संशय के प्रकार ही सात होनेसे। यदि ये प्रश्न इच्छित हो तो यह स्याद्‌वाद स्याद्वाद न होकर अव्यवस्थावाद बनजाय, किन्तु यह नियमित होनेसे व्यवस्थितवाद है। इन सातों भंगों में आया हुवा स्याद् शब्दही व्यवस्था और अनेकान्त वाद का द्योतक है। मानव को चाहिए प्रत्येक पदार्थों का निश्चय सातों भंग को घटाकर करे। एक या दो रूप मात्र से जानी बात सर्वथा सत्य नहीं हो सकती।

स्याद्वाद की अज्ञता से दिये जाते दोष

स्याद्वाद यह एक रत्नाकर है। गहराई मे उतरनेवाला चन्द्रकान्त आदिसे बहुमूल्य रत्न प्राप्त करते है। किन्तु ऊपर ही रह पानी चखनेवाले लवणता का दोष देते हैं। इस प्रकार स्याद्वाद से अनभिज्ञ इसपर आठ दोष देते हैं। शंका–समाधान रूप से वे निम्न प्रकार है।

१ शंका–अस्ति नास्ति एक पदार्थ मे विरोध है?

समाधान–विरोध का साधन अभाव है। जैसे एक वस्तु में घटत्व और पटत्व दोनों विरोधि हैं, परन्तु द्रव्य को छोड़ दिया जाय और केवल उस वस्तुको ही देखा जाय तो इन रूपों में विरोध नहीं है। द्रव्य की दृष्टिसे वस्तु की सत्ता है। परन्तु

रूप में विरोध है। इस तरह एकही वस्तु में भाव अभाव दोनों हो सकते हैं। स्वरूप से भाव पर रूपसे अभाव।

२ शंका—अस्ति नास्ति का एक पदार्थ में होना एक अधिकरणमें होना है। इसीलिए एकाधिकरण दोष है ?

समाधान—एक वृक्ष रूप अधिकरण में चल और अचल दोनों धर्म हैं। एकही वस्तुमें रक्त, श्याम, पीत कई रंग हो सकते है। इसी प्रकार अनेकान्तवाद है।

३ शंका—जो अप्रामाणिक पदार्थोंकी परंपरा से कल्पना है। उस कल्पना के विश्राम के अभाव को अनवस्था कहते हैं। अस्ति एक रूप से नास्ति पर रूपसे है। दोनो एकरूप से होने चाहिए अन्यथा अनवस्था दोष आता है ?

समाधान—अनेक धर्मरूप वस्तु पहले से ही सिद्ध हो चुकी। फिर कहने की आवश्यकताही क्या ? यहाँ अप्रामाणिक पदार्थों की परंपरा की कल्पना का सर्वथा अभाव है।

४ शंका—एक काल में ही एक वस्तुमें भिन्न धर्मोंका पाया जाना संकरता है और यह इसमें है ?

समाधान—अनुभवसिद्ध पदार्थ सिद्ध होनेपर किसीभी दोष को स्थान नहीं। पदार्थ की सिद्धि अनुभवसे विरुद्ध होती है तभी यह दोष आता है वरन नहीं।

५ शंका—परस्पर विषयगमन को व्यतिकर कहते हैं। जैसे जिस रूप से सत्य है, वैसे उसी रूप से असत्य भी होना नकि सत्य और जिस रूपसे असत्य है उसी रूप से सत्य होना नकि असत्य, इसीलिए व्यतिकर दोष है।

समाधान—स्व स्वरूप से सत्य और परस्वरूप से असत्य अनुभव सिद्ध होनेसे न संकर को स्थान है न व्यतिकरको।

६ शंका—एकही वस्तुमें सत्य असत्य उभय रूप होने से निश्चय करना अशक्य है कि यह क्या ? इसीलिए संशय है।

समाधान—व्यवस्थित रूपसे वस्तु रूपका ज्ञान होनेसे संशय दोष हो ही नहीं सकता।

७ शंका—संशय होने से बोध का अभाव है इसीलिए अप्रतिपत्ति दोष है।

समाधान—जब संशयही न हो तो वस्तु का बोध ठीक रूपसे होगा ही फिर अप्रतिपत्ति दोष क्यों होगा ? नहीं होगा।

८ शंका—अप्रतिपत्ति होने से सत्य-असत्य-स्वरूप वस्तुका ही अभाव प्रतीत होगा। अतः अभावदोष है।

समाधान—जब अप्रतिपत्ति दोषही लागू नहीं हुआ तो अभाव का प्रभाव ही लुप्त होगा अर्थात् यह दोष भी स्याद्वाद सिद्धान्त में रह ही नहीं पाता।

दार्शनिक क्षेत्रमें स्याद्वादकी उपयोगिता

विश्व की किसी भी वस्तुको लीजिए। बिना स्याद्वाद के वस्तु का निर्णय हो ही नहीं सकता। मान लीजिए यदि आप अस्ति को ही मानते रहे या नित्य को ही तो एक कदम भी पृथ्वीपर नहीं चल सकते। यदि वस्तु एकान्त नित्य बन जाय तो भी सत्य नहीं हो सकता या एकान्त अनित्य हो जाय तो भी सत्य नहीं।

प्रथम अस्ति ही को क्यों न लें? अस्तिसे यदि पदार्थ सर्वथा अस्तिरूप होगा तो वह पदार्थ अन्य पदार्थों के रूपका भी होजायगा और उसी एक पदार्थ से संसार के समस्त कार्यकलाप बनने चाहिएँ, किन्तु देखते यह हैं कि सभी पृथक् २ पदार्थों की आवश्यकता समय समय पर होती है। अतः वह पदार्थ पररूपसे कभी अस्तिरूप नहीं हो सकता वैसी वह पररूपसे नास्ति के समान स्वरूपसे नास्ति हो नहीं सकता अन्यथा सारा संसार ही लुप्त हो जायगा। जब वस्तु स्वयंही स्वरूप नहीं होगी तो संसार में रहेगा ही क्या? ऐसा होनेसे भी एकान्त अनिर्वचनीय वस्तुका स्वरुप नहीं है। वरन् वह दूसरों के ज्ञान करानेमें ही असमर्थ होगी। ज्ञान अन्य को शब्दद्वारा ही करवाया जाता है और जब शब्दोंसे वचनीय न हो तो अनिर्वचनीय रूप शब्दका उच्चारण ही कैसे हो सकेगा? इसी प्रकार वस्तु यदि एकान्त नित्य है तो परिवर्तन एकान्त नित्य में असंभव है। किन्तु यह बात अनुभवविरुद्ध है। प्रत्येक पदार्थोंका परिवर्तन दृष्टिगोचर है। एक ही स्वर्ण प्रथम कुण्डलरूप होता है तो फिर कंकणरूप की पर्याय मे ढल जाता है। यहाँ पर्यायरूप से कुण्डल का कंकण रूप में संक्रमण हो गया है। वैशेषिक नित्य का लक्षण करते है। अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरत्वैलक्षणो नित्यं" उत्पाद विनाश नित्य का लक्षण ही नही मानते तो यहाँ कंकण पर्यायकी उत्पत्ति का नाश प्रत्यक्षसिद्ध का अपलाप नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार एकान्त अनित्य पक्ष भी अनुचित है। बौद्ध तार्किक वस्तु का लक्षण करते हैं—"सर्वं क्षणिकं स्याद् उदाहरण भी देते हैं बहते नदी का और दीपककी लौ का कि ये सभी क्षणिक है—क्षण क्षण मे होते है और क्षण क्षण में ही नाश हो जाते हैं। परंतु दीर्घ दृष्टिसे सोचने पर यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है। पानी दुसरे स्थान चला जाता है अथवा दूसरे रूप में बदल जाता है। जैसे दिनमें वही रात्रि का घनांधकार सूर्यकिरणों से प्रकाश रूप धारण करलेता है और पुनः रात्रि को अंधकाररूप में किन्तु वस्तुका विनाश नहीं होता है। यदि संसार की प्रत्येक वस्तु ही विनाशी हो तो कार्य कारणभावही नहीं घट सकता। कारण कार्य को उत्पन्न करने के पहले ही नष्ट होजायगा। कार्य भी इसी प्रकार नहीं होजायगा या कारण के अभाव में कार्य ही उत्पन्न न होगा। यदि हो तो सभी कारणों से कार्य उत्पन्न होने लगेंगे। मिट्टी से पट और तन्तु से घट किन्तु यह अनुभव से असिद्ध है। मिट्टी रुप कारण से घट ही और तन्तुरूपकारण से पट ही उत्पन्न होता है न कि पट घट। यदि क्षणिकवाद मानें तो अनेक दोष उत्पन्न होंगे। कृतप्रणाश, अकृतकर्मभोग, स्मृतिभंग इत्यादि। कारण संसार के समस्त पदार्थ नित्यानित्य स्वरूप हैं। आचार्य हेमचन्द्रजी अपनी अन्ययोगव्यच्छेदिकामें कहते हैं—

आदीपमाव्योमसमस्वभाव, स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विपतां प्रलापाः ॥

क्षणिकता में मानव जन्म के दूसरे क्षण ही मर जायगा। कार्य करता दूसरा होगा। कार्यकर्ता कार्य करने के दूसरे ही क्षण नष्ट हो जायगा। उसका फल कोइ तीसरा ही अनुभवेगा। माता पुत्रजन्म देनेके दूसरे क्षण नष्ट हो जायगी। पुत्र को दूध पिलायेगा कौन ? पुत्र मातृहीन हो जायगा। दूध पिलायगी दूसरी माता। बडे होने पर सुख पुत्र का तीसरी ही माता देखेगी क्यों कि दुग्ध से पालक माता भी दूसरे क्षण नष्ट हो जायगी। व माता का भी पुत्रजन्म देने का कष्टसहन वृथा होगा। पुत्रजन्म के अनतर ही नष्ट होजायगा। पुत्रजन्म देकर भी माता निपुत्रीका रहेगी ऐसी स्थिति में यम-नियम सभी व्यर्थ होंगे। क्षणिकवाद में नियमों की आवश्यक्ता ही क्यों कर रहने लगेगी ? नियम पालनकर्ता नियम पालन के दूसरे क्षण ही नष्ट होजायगा। तो मुक्ति मृत को हो नहीं सकती और वह मरचुका तो मुक्ति मिलेगी किसे ? मुक्ति का अधिकार किसे ? जब मुक्ति मिलने की नही तो जप-तप व्रत-नियम-ब्रह्मचर्य का पालन ही करने की आवश्यक्ता नहीं होगी। चार्वाक से भी भयंकर नास्तिक मत ये होगा। वह तो मरने के पश्चात् दुसरा भव नहीं मानता जब कि यह तो एक भव ही नहीं मानता। एक भव में ही असख्य जन्म-मरण करता है। इसके मत से किसी के पत्नी पति विवाहिता नहीं हो सकते। लग्नके पश्चात्‌को पति की पत्नी और पत्नी का पति मर जायगा। दोनों व्यभिचारी होंगे। पति की पत्नी मर जाने से दूसरे क्षण दुसरी होगी और पत्नीके भी पति दूसरा होगा। यों असंख्य पति-पत्नी होंगे। एकही देह में भला देह भी एक क्यों होगा ? वह भी तो क्षणविध्वंसी है। जब सभी वस्तु क्षणिक है तो किया जानेवाले कार्य का फल करनेवाले को मिल ही नहीं सकते। कारण के कार्य तो करने के अनतर ही नष्ट होजायेगें। पुण्य और पाप, धर्म और कर्म सभी व्यर्थ। जब फल ही भोगने वाला न रहेगा तो फल किसका या फल भी उत्पन्न ही कैसे होगा ? कारण कारणके रहते कार्य और कार्य के रहते फल। जब कारण ही नहीं तो कार्य ही क्या होगा ? कार्य के अभाव में फल किसका ? यों कार्य के नाशसे कृतप्रणाश और मानव रातदिन दुःख सुख भोगते दिखलाई देता है। पुण्य पाप तो किया ही नहीं और बिना पुण्य पाप के सुखदुःख भोगे यह तो महा अनर्थवाद है। यह तो पोपाबाई के राज्य समान होगा कि टके सेर भाजी टके सेर खाजा। कर्म करे कोइ और फल भुगते और। दुसरा जीव मारा किसीने और फाँसी में उसका गला छोटा पडता है तो किसी मोटे ताजी आदमी को फाँसी दे देना। किन्तु यह तो अनुचित है। क्षणिकवाद में स्मृति भी नहीं हो सकती। आज जिसने अनुभव किसी वस्तुका किया और वह तो दूसरे ही क्षण विनश्वर होगा। याद रखेगा कौन ? ऋण लेगा एक लेनेवाला कोई दूसरा होगा। दाता देन के पश्चात् और ऋणी ग्रहण के अनन्तर ही नहीं रहेंगे तो आगे ऋण चुकायेगा कौन और दाता मरचुका ऋण पुनः लेगा कौन ? एकबार स्वयं बुद्धनें अपने शिष्यों को कहा—'देखो, यह मेरे पैर में जो काँटा लगा उसका कारण है मैंने ९९ भव पहले एक आदमी को शूली पर चढाया

उसका पाप। तपजप के कारण क्षीण होकर इतना मिला।" ऐसी भवपरंपराकी सत्ता क्षणिकवाद में संभवित नहीं। अतः क्षणिकवाद ही अव्यवस्थावाद है और दार्शनिक क्षेत्र में यह अनुपयोगी है इसकी अनुपयोगितासिद्ध होनेसे।

जब क्षणिकवाद अनुपयोगी सिद्ध हो चुका तो नित्यवाद कब तक पृथ्वी पर अपना आडम्बरमय नाटक दिखानेको समर्थ होसकता है? स्याद्वाद के सामने यह हस्तिके सामने चींटिकावत् है। एकान्त नित्यवाद भी दोषोंसे अछूता नहीं है। नित्य वही कहलाता है जो समर्थ है और समर्थ समय या अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता। अपेक्षा रखना असमर्थ का लक्षण है। कहा है सापेक्षमसमर्थम्। समर्थ जब किसी की अपेक्षा ही नहीं रखता तो काल कारण आदि की उपेक्षा कर सम्पूर्ण कार्य एक क्षण में कर डालेगा। क्यों कि समर्थ कम से कार्य नहीं करता। जब एक ही क्षण में सम्पूर्ण कार्य को कर डालेगा तो दूसरे क्षण में करने को कुछ बाकी ही नहीं रहेगा। क्यों कि समर्थस्य कालक्षेपं न योग्यं। जब इस न्याय से कार्य ही दूसरे क्षण के लिये नहीं बचा तो वस्तु अर्थक्रिया शून्य होगी। अर्थक्रियाशून्य होना वस्तु का लक्षण नहीं। कहा है — अर्थक्रियाहीनमवस्तुः। अर्थक्रिया रहित जो होता है। वह अवस्तु होता है। जब अवस्तुता प्राप्त हुई वस्तु को तो सारा विश्व ही नहीं रहेगा। सारा अस्त हुआ तो पुण्य-पाप, सुख-दुःख, बंध मोक्ष नहीं हो सकते। नित्य है वह अपरिवर्तनीय है। सुख और दुःख एक दूसरे विरोधि। और विरोधिभाव एक रुपसे हो नहीं सकते। जिस रूप से मानव सुख का वेदन करता है उसी स्वभाव से दुःख का वेदन नहीं कर सकता और जिस स्वभाव से दुःख का वेदन करता है सुख का वेदन नहीं कर सकता। इसी प्रकार पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म एक भाव में हो नही सकते। पुण्य जिन विचारोंसे मानव करता है, पाप उन विचारों मे हो नही सकता। जिन कर्तव्यों से धर्म होता है अधर्म उन कर्तव्यों से हो नहीं सकता। और तो क्या? पुण्य जिन भावों में उपार्जित करे उसका फल भी उसी भावों को नहीं भोगा जा सकता। पुण्य कठिनता से उपार्जित किया जाता है भोगनेके लिए सरलता होती है। तो काठिन्यता और सरलता दोनों विरोधि हैं। एक भाव कैसे पाये जा सकते हैं? परिवर्तन अवश्यभावी है। दिन भी बनता है और रात भी बनती है। सारा संसार परिवर्तनमय है। परिवर्तन को माने विना मार्ग नहीं। पदार्थो के नित्य मानने पर निष्क्रिया परिवर्तन का अभाव होगा। और परिवर्तन न होने पर कारणों का प्रयोग करना निरर्थक सिद्ध होगा। जब कारण निरर्थक होंगे तो कारणों के अभाव में कार्य ही नहीं होंगे। एक नित्य सिद्धान्त मानने पर अर्थक्रिया का लोप हो जायगा। जब अर्थ क्रियाएं ही नहीं होगी तो भला बंध और मोक्ष तो हो ही कैसे सकता है।

मोक्ष का अर्थ है छूटना। जब बंध से छूटेगा तो बंध अवस्था से छूटने की अवस्था दूसरी होगी तो परिवर्तन कहलायगा और परिवर्तन होना अनित्य का लक्षण है। जब मोक्ष ही नहीं होगा तो बंध ही क्या? संसार के सभी शब्द एक दूसरे की अपेक्षावाला है। जैसे सुख—दुःख; धर्म—अधर्म, इसी प्रकार मोक्ष भी अपेक्षा युक्त है और बंध की अपेक्षा रखता है। और बंध शब्द मोक्ष की अपेक्षा रखता है।

जब मोक्ष ही सिद्ध न हुआ तो बंध ही क्या बाकी बचा रह सकता है ! इस प्रकार ससार में पुण्य-पाप, बन्ध–मोक्ष, सुख–दुःख ही नहीं होगा तो ससार ही क्या ? ससार रहेगा ही क्यों ? ससार शब्द ही परिवर्तन का द्योतक है । सृ सरकने धातु से बना । ससरतीति संसार यह ससार शब्द की व्युत्पत्ति ही परिवर्तनमय ससार का दिग्दर्शन कराती है । अरहट्टघटिका की भाँति परिवर्तनचक्र ससार का चालू है । कोई जन्मता है तो कोई मरता है । आज राजा तो कल रक । आज गरीब कल अमीर । आज दु खी कल सुखी । सूर्य दिन में तीन दिशा बदलता है । मानव एक जीवन में तीन रूप धनता है । बालक, बुढ्ढा, नवयुवान । इसी सत्य को समन्त भद्राचार्य इस प्रकार बताते है—

> भावेषु नित्येषु विकारहानेर्न कारकव्यापृतकार्ययुक्ति ।
> न बन्धभोगौ न च तद्विमोक्ष समस्तदोष मतमन्यदीयम् ॥

अत सिद्ध है कि दार्शनिक क्षेत्र में एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य दोनों पक्ष युक्ति युक्त नहीं है ।

सत्य को सम्यक्तया समझने का उपाय स्याद्वाद

मानव यदि सत्य समझना चाहता है तो बिना स्याद्वाद के दूसरा मार्ग नहीं । उसे स्याद्वाद का सहारा लेना ही होगा । इसी के आधार वह सत्य को हृदयगम कर सकता है । एक उदाहरण ही एक मानव एक लकीर को लम्ब कहता है यह छोटी है । दूसरा उसी को बेठी कहता । किन्तु स्याद्वादवादी दोनों के सामने एक छोटी बडी दो लकीर खींचकर दोनों का समाधान करदेता है । अस्तु कहने का तात्पर्य यही कि आखीर स्याद्वाद ही मानव को सरल उपाय से सत्य बता सकता है ।

नयप्रमाण आदि भी इसी स्याद्वाद मे समाता है । इसके विषय में जितना भी लिखा जाय कम होगा । इसके सभी स्वतन्त्र ग्रन्थ ही तैय्यार हो जाय । अत अमृतचन्द्र स्याद्वाद के मार्मिक विद्वान् ने इसीको प्रणाम करते लिखा है ।

> परमागमस्य बीजं निषिध्य जात्यधसिन्धुरविधानम
> सकलनयविलासितानाम्, विरोधमथन नमाम्यनेकान्तम्
>
> —पुरुषार्थ सिद्धयुपाय २

अहिंसा का आदर्श

लेखक–लक्ष्मीचन्द्र जैन '[illegible]' B. A. [illegible]

जैनधर्म के जो प्रमुख सिद्धान्त हैं, उनमें अहिंसा का स्थान सर्वोपरि है और इस दिशा मे यदि मैं कहूं कि जैन धर्म में अहिंसा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सैद्धान्तिक बल नहीं होता तो भी जैनधर्म आज जैसा ही लोकप्रिय होता क्यों कि आचार्य आशाधर के शब्दों मे धर्म [अहिंसा हि लक्खणो धम्मो] अहिंसा लक्षणवाला है और यह तो आबालवृद्ध सभी ही जानते हैं कि इस युग में जैन धर्म के प्रसारक भगवान महावीर ने सामन्तवादी कर्मकाण्डी हिंसामय वातावरण में पुनः अहिंसा की प्रतिष्ठा की और नरमेध-अश्वमेध जैसे अनेक यज्ञों के स्थान मे आत्मिक यज्ञ करने के लिये प्रेरणा दी। प्रस्तुत प्रसंग में मुझे ऐसा लगता, जैसे महावीर और अहिंसा–दोनों ही एक दूसरे के पूरक और प्रतीक हों। मेरे विचार के धरातल में तो जो महावीर हैं, वही अहिंसक हैं और जो अहिंसक हैं, वही महावीर हैं।

अहिंसा की असाधारणता

लोग कहते हैं—"गांधीजी ने अहिंसात्मक संग्रामद्वारा दो शताब्दियों से पराधीन रहे देशको स्वतन्त्र कर दिया" और फ्रान्स के विख्यात विद्वान रोम्यांरोलां ने कहा—'जिन सन्तोंने हिंसा के मध्य अहिंसा की अवतारणा की, वे निश्चय ही न्यूटन से अधिक बुद्धिमान और वेलिंगटन से भी बढ़कर वीर थे।' डाक्टर बेणीप्रसाद के शब्दों में—"सबसे ऊँचा आदर्श, जिसकी कल्पना मानवीय मस्तिष्क कर सकता है, अहिंसा है। अहिंसा के सिद्धान्त का जितना व्यवहार किया जावेगा उतनी ही मात्रा में सुखशान्ति विश्व-मण्डल में बढ़ेगी। लौकिक जीवन में सुख और शान्ति के लिये आन्तरिक सामञ्जस्य की बड़ी आवश्यक्ता है और जो अहिंसा के बिना सम्भव नहीं है।"

भारतवर्ष के राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने 'आत्मकथा' में यह कहकर अहिंसा की असाधारणता प्रकट की– अहिंसा का सिद्धान्त अनोखा सिद्धान्त है। इतने बडे पैमाने पर विशेषकर इतनी बडी शक्ति के हाथों (अँगरेजों) से स्वराज्य प्राप्त करने में उसका उपयोग और भी अनोखा है। बहुतेरों ने इसे नीतिरूप में माना है और सच्चाई से इसे वर्त्तते हैं।" दो विश्व-युद्धों की विभीषिकाओं के बीच भी-मुस्कराते रहनेवाले शान्ति के एकमात्र सेनानी महात्मा गांधी ने अपने निबन्ध 'तलवारका उसूल' मे निम्नलिखित पंक्तियां लिखकर अहिंसापर अपार आस्था अभिव्यक्त की। "अहिंसा धर्म केवल ऋषियों–महात्माओं के लिये नहीं, वह तो आम लोगोंके लिये भी है। अहिंसा, हम मनुष्यों की प्रकृति का कानून है। जिन

ऋषियों ने हिंसा से अहिंसा का नियम निकाला, वे न्यूटन से ज्यादा प्रतिभाशाली थे और वेलिंगटन से बड़े योद्धा ।"

प्रस्तुत लिये अनेकानेक विश्वविख्यात विचारकों के उद्धरणों से विदित होता है कि अहिंसा मनुष्यों का धर्म है और हिंसा पशुओंका धर्म है। यदि कोई पशु होकर भी अहिंसा का पालन करता-जैसे भगवान महावीर ने अपनी पूर्व पर्याय सिंह योनिमें किया तो वह नाममात्र के लिये पशु है, वस्तुत वह मनुष्य है क्योंकि उसकी मति और मन दोनोंही सतर्क और सचेष्ट हैं। इसके विपरीत यदि कोइ मनुष्य हिंसा करता है, और आदर्श अहिंसा धर्म की अवहेलना करता है तो वह भी नाममात्रके लिये मनुष्य है पर वस्तुत वह पशु है। क्योंकि उसकी मति और मन-दोनोंही कुचेष्टा में तल्लीन हैं। ऐसा मानव सही अर्थों में मानवता का कलंक है, क्योंकि प्राय सभी ही धर्मों और दर्शनों के आचार्यों ने कहा—अरे आदमी! अगर तू आदमी है तो आदमी को आदमी समझ। दूसरे शब्दों में अहिंसक बन और अहिंसाका पालन कर।

बहुतेरे व्यक्ति तो अहिंसा का पूर्णतया अर्थ भी नहीं जानते है और जो जानते हैं उनमेंसे अधिकाश दूसरों को समझाने भरके लिये जानते है, खुद समझने या दैनिक जीवन में प्रयोग करने वे नहीं जानते हैं। अधिकाश लोगों की धारणा है कि किसी प्राणीके प्राण लेने में ही हिंसा होती है अन्य प्रकारसे नहीं, पर यह शुद्ध भ्रम है। शस्त्रप्रहार अथवा प्राणहरण के सिवाय अन्य प्रकार भी हिंसा सम्भव है। किसी को अकारण कटुवचन कहना, मद्य-मधु खाना, चमड़ा-रेशम का उपयोग करना हिंसा ही है, अहिंसा नहीं। इस दिशा में द्रव्य हिंसा-भावहिंसा भेद लिये जैन ग्रन्थ एक बहुत बड़ी मात्रा में पठनीय सामग्री देते है, जो उत्सुक वहीं से प्राप्त करलें।

अहिंसा के एक से अधिक अर्थ और तुलना

भारतवर्ष के प्रधान मन्त्री प जवाहरलाल नेहरू ने 'मेरी कहानी' में अहिंसा विषयक जो निम्नलिखित पंक्तिया लिखी है, उनमें अस्पष्टतया अहिंसा की परिभाषा भी आ गई है और उसकी असाधारण सूचक महत्ता भी, "यद्यपि उसका नाम नकार में है तो भी वह बहुत बल और प्रभाव रखने वाला उपाय है और एसा उपाय जो अत्याचारी की इच्छा के सामने चुपचाप सिर झुकाने के विरुद्ध है" आज ही नहीं बल्कि अतीत में भी भारतवर्ष में अहिंसा का निवृत्ति परक अर्थ किया गया, जो हिंसा का निषेध करता है। 'अहिंसा' शब्द में दो शब्द जुड़े है -१ 'अ २ 'हिंसा' 'अ का अर्थ है नहीं, और 'हिंसा' का अर्थ है दूसरे के प्राणों का हरण करना, पर यह न समझा जावे कि अपने प्राणों का हरण करना ते अहिंसा के अन्तर्गत होगा। प्रत्युत जब दूसरे के प्राणों को हरण करना भी हिंसा है तो अपने प्राणों को हरना या आत्मघाती प्रवृतिया अपनाना तो हिंसा होगा ही। अतएव अहिंसा का अर्थ हुआ, दूसरे के [अपने भी] प्राणों का हरण न करना बल्कि दयामयी प्रवृत्ति करना।

दूसरे शब्दों में अहिंसा का अर्थ है, तुम स्वयं सुखी और दुखी होकर जिओ और दुसरों को भी जीने दो। तुम स्वयमेव जीवनके धरातल पर उठो और

दूसरों को उठने दो। Live and let live, Love all and serve all मा हिंस्यात भूतानि, आत्मतः प्रतिकुलानि परेषां न समाचरेत् जैसे सुभाषित वाक्य अहिंसा के अर्थ सूचक हैं। दूसरे दृष्टिकोन से भारत के पडौसी देश चीन में अहिंसा का अर्थ विधी रुप में किया जाता है। प्रेम करो, मित्रता वढाओ, सहयोग दो, जैसी भावनाओं द्वारा अहिंसा धर्म समझा जाता है पर मुझे तो चीनी अर्थ की अपेक्षा-विधी मूलक अर्थ की अपेक्षा निषेध मूलक अर्थ अधिक रुचिकर लगता है। इस दिशा में मेरा विचार है कि बुद्धिग्राह्य ज्ञान-वाले मनुष्य ने जब किसी को अज्ञान या आलस्य के वशीभूत होकर मारा होगा ओर उसे आंखो के आगे ही तड़पते देखा होगा तथा अपने अन्तरके क्रोध सदृश विकार को उसकी व्यथा ओर वेदना को हृदयंगम किया होगा तब ही उसने अहिंसा का आशय समझा होगा ओर अन्य जनोंको समझाने के लिये सूत्र लिखा होगा — 'अहिंसा परमो धर्मः'

'मोक्षशास्त्र' जैसे लोकप्रिय ग्रन्थके प्रणेता और सर्व प्रथम जैनसूत्रकार आचार्यवर उमास्वामी से हिंसा का लक्षण समझाने के लिये कहें तो वे परामर्श देंगे-'प्रमत्तयोगा-त्प्राणव्यपरोणं हिंसा' अर्थात प्रमाद या आलस्यके वशीभूत होकर जो जीवों के प्राणोंका हरण करना है, वह हिंसा है। प्रस्तुत सूत्र में आर हिंसा के क्षेत्र में प्रमत्त या अज्ञान शब्द जितना मननीय और चिन्तनीय है. उतना प्राण व्यपरोपण या प्राणलेना नहीं। फलतः एक डाक्टर रोगी का ऑपरेशन करता और असफल होता तथा रोगी भी मरता पर डाक्टर हिंसक नहीं, हत्यारा नहीं और दण्डका पात्र भी नहीं। क्यों कि डाक्टर रोगी को मारना नहीं बचाना चाहता था। और एक अन्य व्यक्ति दूसरे को मा-बहिन या नालायक साले जैसी सामान्य गाली भी दूसरे के हृदय को दुखाने की नियत से देता है, तो वह हिंसक है, झगड़ालू है और फूहड़ ह. ऐसा भला कोन नहीं कहेगा? हां तो जीवात्मा मरे या न भी मरे परन्तु यदि प्रमाद है तो हिंसा है और यदि प्रमाद नहीं तो जीव मर भी जावे पर हिंसा नहीं। यह एक अनोखा सा मौलिक रहस्य जैना-चार्यकी अहिंसा द्वारा विदित हुआ। दूसरे शब्दों में यही बात आचार्य कुन्दकुन्द न भी अपने 'प्रवचनसार' की पंक्तियों में यों कहा है—

मरदु व जियदु अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि वंधो हिंसा मत्तेण समि दस्स ॥

यों तो प्रायः सभी ही धर्मों ने और विश्वके विख्यात विचारकों ने अहिंसा को सर्वोपरि और सर्वमान्य सिद्धान्त कहा पर उनमें जैन धर्म और महावीर का स्थान प्रमुख है। प्रमाग के लिये आज भी जैन ग्रन्थ पढ़े जा सकते और जैन जनों की प्रवृत्तियां परखी जा सकतीं हैं।

ईसाई मत के प्रवर्त्तक ईसामसीहने वाइविल में एक जगह कहा-Thou shell not kill अर्थात 'दूसरोंको मत मारो' पर अन्यत्र वे खुद ही सारे गांव को मछलियां मारकर खिलाते हैं। ऐसा लगता जैसे वे ऊंची बात सोचतो सके पर उसका निर्वाह नहीं कर सके। चीनके सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान खुड.चाड यानी कनफ्यूशियस ने भी कहा-

'किसी के निरर्थक प्राण न लो' परवे भी किसी खास ऋतु में किसी खास पक्षी का मास न खाने की आज्ञा मात्र देते है। यों इन्होंने अहिंसा को समझने की चेष्टा मात्र की है। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा गौतमबुद्ध ने भी 'महावग्ग' में कहा-'इरादा पूर्वक किसी को मत सताओ" परन्तु वे ही 'विनय पिटक' में प्रकारान्तर से मास खाने की आज्ञा देते हैं ओर बुद्ध भी खाकर एक बार तो अतिसार के रोगी होते है। यों वे हिंसा का भी अहिंसा स समझौता किये है। जहा हिन्दू धम के प्रामाणिक मान्य ग्रन्थ मनुस्मृति में मनु ने निम्नलिखित आशयका श्लोक लिखा—"जिसका मैं मास खा रहा हू, वह बदले में मुझे खावेगा।" इस अभिप्राय में प्रयुक्त 'माम भक्षयिता' इस शब्द समूह में पाये जाने वाले मास इन शब्दों से मास बना है[१] अत उन्होंने अहिंसा धम पर जहाँ सुदृढ आस्था प्रकट की वहाँ हिन्दू सस्कृतिके मूल स्रोत ऋग्वेद में इसके विरोधमें कहा गया—"स्वर्गकामो यजेत् पशुना लम्भेन" अथात् स्वर्गका इच्छुक यज्ञ करे और पशु-वध करे। यद्यपि इसके विरोधीवचन भी वेदों में मिलते ह तथापि अनेक हिन्दू आचार्यों की अहिसा पर अपार आस्था ही रही हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता ओर इसी का परिणाम ह, जो आज हिन्दूसमाज में मासाहार प्रचलित है, और शिकार खेलना, युद्धकरना तो क्षत्रियों के जीवन का गौरव समझा जाता रहा हे। इस दिशा में महर्षि वशिष्ठ की अहिंसा भी अविस्मरणीय बनी है। उन्होंने स्वय राक्षसों का वध नहीं किया पर दशरथसे यज्ञ-रक्षाके लिये राम-लक्ष्मण को माग लिया, और उनसे वन में विघ्न करनेवाले राक्षसोंको मरवा डाला। कहना न होगा कि महर्षि वशिष्ठ भी अपूर्ण अहिंसक ह और प्रेरणा किये हिंसा के समथक हैं पर ऐसी बातें जैन धमने नहीं कहीं और न उसके प्रसारक किसी तीर्थंकरने ही ऐसी देशना की। तीर्थंकरों की तो बात जाने दें पर अन्य आजतक के आचार्योंने भी देश-काल-सम्प्रदाय आदिकी बातोंको सोचकर भी मूलभूत बातों में कोइ फेरफार नहीं किया, उसीका परिणाम हे, जो आज जन समाज दिगम्बर-श्वेताम्बर, तेरह-बीस पन्थ, स्थानकवासी-मदिरमार्गी सदृश अनेक भेद प्रभेदों में बँट जाने परभी अहिंसा पर अपार आस्था रखे हैं। यह देखकर हमें आज से ढाइ हजार वर्ष पहले कहे गये, भगवान महावीरके निम्नलिखित ये वचन जो दशवैकालिक में सग्रहीत ह, बरबस याद हो आते हैं—

धम्मो मगल मुक्किट्ठ, अहिंसा सजमो तवो।
देवा तित नमस्सति, जस्स धम्मे सया मणो॥

अथात् अहिंसा (दया) सयम (दमन) तपरूप धर्म ही उत्कृष्ट मगल है। जो इस मार्गपर चलते हैं, देवलोक भी उन्हें नमस्कार करते है। इसी दिशा में एक आचार्यने तो आगे बढकर यहाँतक कहा—"वीतरागदेव ने प्राणातिपातविरमण अर्थात् अहिंसा रूप एकही व्रत मुख्य कहा है और शेष व्रत तो उसकी रक्षाके लिये ही

१ मास भक्षयितामुत्र यस्यमासमिहाम्यहम्। एतन्मासस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिण॥

वतलाये गये हैं।"[१] जैनधर्म की अहिंसा सिखाती है, प्राणों का संकट आनेपर भी दूसरों के प्राण लेकर अपने प्राण न वचाओ बल्कि दूसरों के प्राण बचाने के लिये अपने प्राण दे दो। इसी कारण जैनजन अत्यधिक दया-प्रिय हैं और उनकी दयालुता की प्रशंसा भी एक से अधिक इतिहासकारों तक को करनी पड़ी है।

अपने समकालीन भारतीय राष्ट्र के जनक युगपुरुष महात्मा गांधी ने भी अहिंसा के विषयमें अनेक वातें कहीं और वे वार वार ईसामसीह के इस सिद्धान्त को दुहराते थे-'यदि कोई तुम्हारे बायें गालपर थप्पड मारे तो तुम दाया भी उसके सामने उपस्थितकर दो।' पर इसका निर्वाह गांधीजी अपने जीवनमें पूर्णतया कर सके, ऐसा नहीं कहा जा सकता पर इसमें कोई संदेह नहीं कि गांधीजीने धार्मिक अहिंसाका राजनैतिक जीवनमें जो प्रयोग किया और अभूतपूर्व स्वराज्य जैसी सफलता पाई, वह विश्वके इतिहासमें बेजोड है पर बापू गाय के बछडे की हत्या करा कर, बन्दरोंको मारने की आज्ञा देकर पूर्णतया अहिंसक नहीं है, यह तो कहना ही पडेगा।

अपने इस अल्प अध्ययन और अनुभव के वाद यदि मैं कहूं कि ईसामसीहकी अहिंसा में मा का हृदय है, और कनफ्यूशियस की अहिंसा में तो हिंसाकी रोक-थाम मात्र है तथा बुद्ध की अहिंसा तो उनके धर्म की भाँति मध्यममार्ग की अनुगामिनी है, एवं हिन्दू धर्मकी अहिंसा तो हिंसा को भी साथ लेकर चली है और महात्मागांधीकी अहिंसा जितनी राजनैतिक है उतनी धार्मिक नहीं, पर भगवान महावीर की अहिंसा मे उस विराट पिता का हृदय है जो सुमेरु सा सुदृढ़ कठोर कर्तव्य लिये है। इस विषय मे एक बात और भी मैं स्पष्टतया कह देना चाहूंगा कि इस अहिंसा की तुलना के अर्थका कोई अनर्थ न करे और यह कदापि नहीं समझे कि पूर्वोक्त धर्मो या महापुरुषोंने अहिंसा के प्रचारमें योग-दान नहीं दिया, प्रत्युत यह समझे कि प्रत्येक महापुरुष के समक्ष उसकी स्वयंकी और देश-कालकी जो परिस्थितियां रहीं, उनको देखते हुए उनके ही अनुयायियों के शब्दोंमें उन्होंने पर्याप्त परिश्रम अहिंसाके प्रसारके लिये किया पर ऐसा प्रयत्न करनेवाले धर्मो या महापुरुषों में मेरे लेखे भगवान महावीर या उनके द्वारा प्रतिपादित जैनधर्म सबसे आगे है।

अहिंसा के भेदों पर एक विहंगम दृष्टि

'अहिंसा का अर्थ कर्त्तव्य-पालन है।' ऐसा जैन धर्म के एक से अधिक ग्रन्थोंके अध्ययन और अनुभव, मनन और चिन्तन से विदित होता है। जैनजनों के दृष्टिकोण से पूर्णतया अहिंसा का पालन मुनि या साधु करते है और अपूर्णतया उनके अनुयायी श्रावक अथवा गृहस्थ करते हैं, पर श्रावक धर्मकी अपूर्ण अहिंसा भी मुनियोकी पूर्ण अहिंसाकी ओर उन्मुख है। दूसरे शब्दोंमें जो अणुव्रत हैं, वे महाव्रतों की ओर बढनेके लिये प्रारम्भिक प्रयत्न हैं।

१ एक्क चिय एत्थ वय निद्दिठ्ठ जिणवरेहिं सव्वेहिं। पाणाइवायविरमण मवसेसानस्स रक्खट्ठा ॥

लोग कहते–'सिकन्दर ने विश्व विजय का स्वप्न देखा था और नेपोलिय ने एक से अधिक युद्धों में अपना अपार साहस प्रकट किया था पर क्या इन्होंने अपने लिये भी जीता था ? यदि नहीं तो ये विश्व विजेता अपने आप ही मुह की खा रहे। अपने लिये जीतने की बात तो दृढता से अहिंसा के अनुयायी ही कह सकते है, क्यों कि अहिंसा का तो यथार्थ अर्थ ही राग–द्वेष, लोभ–क्रोध, मोह–शोक जैसी विविध मनो वृत्तियों पर विजय पाना है, और हिंसा अहिंसा का प्रश्न तो मनोभावना पर वैसे ही आश्रित है, जैसे अथ शास्त्रीय दृष्टि से एक ही वस्तु एक व्यक्ति को अनुपयोगी पर अन्य को आवश्यक हो सकती है। अत हम यहाँ सनक रहें।

यों तो अनेक जैन आचार्योंने, गृहस्थों और मुनिजनों क अनुरूप अहिंसा का विशद विवेचन किया है पर मुझ मन्द मति की दृष्टि में 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' के प्रणेता अमृतचन्द्र आचाय इस दिशा में अपेक्षा कृत आगे ह। उन्होंने गृहस्थ जीवन की असुविधाओं को विचार के धरातल में रखते हुये अहिंसा की विरोधी हिंसा के चार भेद किये है –(१) सकल्पी (२) आरम्भी (३) विरोधी (४) उद्योगी। इन हिंसाओं को संक्षेप में यों समझा जा सकेगा।

प्राण हरण के उद्देश्य से की गई हिंसा सकल्पी है। जैसे शिकार खेलना, मास खाना और जान बूझ किसी को गाली देना। जैन अनुयायी को चाहिये कि वह इससे बचे और प्रयत्न करके वह चाहे तो बच भी सकता है। पर शत्रु से अपने को बचाने के लिये जो हिंसा होती है, वह विरोधी है। जैसे चोर डाकुओं या आक्रमण कारियों से मुठभेड हो जाने पर उनके या अपने प्राण जाना। यद्यपि यह जन जन को विवश होकर करना पडता है तथापि जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक इसे टाल दे। जीवन-निर्वाहके लिये, परिवार के उचित भरण–पोषण के लिये प्रयत्न करने में जो हिंसा होती है वह आरम्भी है, और गृहस्थ अपने लिये इससे बच नहीं सकता अगर बचने की चेष्टा करेगा तो लोक में निन्दा का पात्र होगा पर फिर जहाँ तक सम्भव हो वह आरम्भ कम ही करे क्यों कि जितना कम आरम्भ होगा, वह उतना ही अधिक निश्चित और अहिंसक हो सकेगा। जीवन-याप करने में, आजीविका के व्यापार में जो हिंसा होती है, वह उद्योगी है, जैसे खेती करना, व्यापार करना, लिपिक या शिक्षक अथवा सम्पादक बनना। इससे गृहस्थ अपने लिये बच नहीं सकता तथापि वह 'साप मरे और लाठी न टूटे' वाली कहावत चरि तार्थ करने यत्न शील रहे। अपने पेट की पूर्ति के लिये दूसरे के हृदय को लात न मारे क्यों कि शरीर म पेट से हृदय ऊपर है और हृदय कॉच या दर्पण के समान है, अत एव उसकी रक्षा बड़े कौशल से करे। प्रकारान्तर से कहा जा सकेगा कि हृदय की रक्षा भी अहिंसा का पालन है।

एक बात और भी है। वह यह कि हिंसा करना और हिंसा हो जाना, इन दोनों में बडा अन्तर है। एक में आदमी असावधान है और दूसरे में अनजान।

असावधानी से अगर चींटी भी मरती तो चिन्ता की बात है पर अनजान में अगर हाथी भी मरता तो खास चिन्ता नहीं है। जैन धर्म में विवश हो कर हिंसा करने का विधान केवल गृहस्थों के लिये है पर मुनियों, यतियों, साधुओं, उपाध्यायओं और आचार्यों तथा अर्हन्तों के लिये कदापि नहीं है। ये तो 'छहढालो' के प्रणेता दौलतरामजी के शब्दों में जल में भिन्न कमल से होते हैं, और अर्थावतारन असिप्रहारन में सदा समता धरन होते हैं। इनके जीवनका ध्येय लोक की अपेक्षा अलोक में अधिक होता है। इनका जीवन समभाव की साधना लिये इतना अधिक अहिंसामय होता कि जितना भी इस दिशा में शक्य और सम्भव होता है।

मानव-जीवनकी महत्ता श्रेष्ठ कार्यों के करने में है, परोपकारी और अहिंसक बनने में है। सन्त तुकाराम के शब्दों में-'जिस मानव-जीवन को पाने के लिये स्वर्ग के देवता तरसते हैं' वही मनुष्य का दुर्लभ जीवन (जो धर्माचार्योंके मत से ८४ लाख योनियों में बड़ी कठीनाई से मिला) अगर दूसरों के प्राण हरण के लिये अणुबम और उदजन बम जैसे विध्वंसक सस्त्र बनाने में बीत जावे तो इससे बढ़कर और क्या दुर्भाग्य की बात होगी? यह तो वैसा ही प्रयत्न होगा, जैसे कोई खेत मे अनाज खाते हुए कौवे को माणि फेंक कर भगावे।

हमें अपने जीवन को जितना भी हो सके उतना अहिंसक और अपरिग्रही बनाना चाहिये ताकि विश्वकी विषमता समाप्त हो और सुख-शान्ति एवं समृद्धिकी सम्भावना हो। यद्यपि काका कॉलेलकर के इन शब्दों को सभी जानते, 'बिनाविशेष श्रम किये हम अहिंसक नहीं बनेंगे और न बिना त्याग किये अपरिग्रही ही बनेंगे' तथापि आज के समाज में लोग इनसे उलटी ही प्रवृत्तियां लिये हैं। एक ओर लोग पैसे के पीछे पागल हो रहे, पैसे को बिना तिलक का भगवान बना रहे और इतने भौतिकवादी बन रहे कि लोकायतका अनुयायी भी शरमा जावे और दुसरी ओर मांसाहार करते हुये कह रहे-'गाय मे तो आत्मा ही नहीं, अण्डा तो दुध सा पवित्र है, पर ऐसे लोग अब अधिक दिनोतक विचारों की दृष्टिमे बुद्धिमान रहने वाले नहीं है। इधर कुछ लोग क्षमा और विनय की जननी अहिंसा को कायरता ही समझ बैठे हैं पर वे भी मेरे लेखे विवेक शील नहीं हैं क्यों कि अहिंसा की आराधना करने के लिये कितना बल चाहिये? यह तो कोई विरला लोकोत्तर महा पुरुष ही बतला सकेगा, कोई सामान्य आदमी नहीं।

आज के युग में अहिंसाही क्यों और कैसे?

आज विश्व तीसरे महायुद्ध के द्वार पर खडा है। लोग युद्धसे घबडा गये हैं और विश्व-शान्ति के इच्छुक हैं। इस दशा में अणुबम और उदजनबम के भय को अहिंसा और प्रेम के अमोघ अस्त्र द्वारा ही मिटाया जासकता है, न कि उदजनबमसे भी अधिक उत्तेजक अन्य विध्वंसक बमकी सृष्टि करके। अब हमें बम नहीं चाहिये बल्कि बम का विचार ही खतम करनेवाली अहिंसा चाहिये। वह अहिंसा

चाहिये, जिससे शक्ति का सही दिशा में उपयोग हो और बुद्धिकी सही दिशा में प्रवृत्ति हो। इस में मुझे अणुभर भी सन्देह नहीं कि अगर आजके राष्ट्र अहिंसा के मूलभूत सूत्रया मन्त्रको समझ लें तो विश्व शान्ति का अपूर्ण स्वप्न पूर्ण हो और दुखी मानव सुखी हो तथा वैर विरोध के स्थान में जीवनमें प्रेम और क्षमा हो।

दुसरे शब्दों में वर्तमान विश्व को विनाश और विषमता से बचानेका एकही उपाय है और वह अहिंसा है। इस दिशा में डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने ठीक ही कहा है कि "जब मानवजाति हिंसा की चरम सीमापर पहुँच चुकी है, तब ऐसे गाढे समय में अहिंसा में ही उसका एकमात्र अवलम्बन छिपा हुआ है। यदि मानवको महाविनाश में विलीन नहीं हो जाना है तो अहिंसा की चिरन्तन वाणीका उसे पुन आविष्कार करना होगा। जिस बुद्धिने अणुकी सूक्ष्म शक्ति का विघटन किया है, वही बुद्धि अहिंसा की जीवनी शक्तिका मार्ग समझने की शक्ति रखती है।" अहिंसा का मार्ग सचमुच ही विजयका मार्ग है। वह शरीर के ऊपर आत्मा की विजय का मार्ग है। वह लोक से अलोक की ओर बढनेका प्रयत्न है। वह त्याग और विवेक का सुखप्रद पथ है। वह क्रोध और विरोध को मिटानेका महामन्त्र है। अहिंसा ही सभी धर्मों की कसौटी है। अहिंसाही मानव धर्म और विश्व-संस्कृति की शिलाभित्ति है। अहिंसा के अभाव में जीवन सम्भव नहीं है, अत अहिंसा को अलग करनेका अर्थ है मृत्युको निमन्त्रण देना।

महात्मा गाधी के शब्दोंमें "अगर अहिंसा या प्रेम हमारा जीवन में न होता तो इस मर्त्यलोक में हमारा जीवन कठिन हो जाता। जीवन तो मृत्युपर प्रत्यक्ष और सनातन विजय है। अगर मनुष्य और पशु के बीच कोई मौलिक और सबसे महान अन्तर है तो वह यही है कि मनुष्य दिनोंदिन इस धर्म का अधिकाधिक साक्षात्कार कर सकता है।" आज के युग में अहिंसा कैसे ? यह तो प्रश्न ही निरर्थक है क्यों कि अहिंसा हमारा स्वाभाविक जन्मजात धर्म है, पर आज हम इसे भुल चुके हैं। इसी लिये जैसे हम स्वच्छता और सहयोग, क्रान्ति और शान्ति-दिवस तथा अनेक जयन्तिया और पुण्यतिथिया मनाते हैं वैसे ही आज अहिंसा धर्म का विश्व के विचारोंको प्रचार और प्रसार करना पड रहा है, ताकि विनाश रुके और विकाश बढे। सुप्रसिद्ध चिन्तक भगवानदास केलाके शब्दों में—'यदि मनुष्य जीवन चाहता है, मृत्यु नहीं, वह विकाश चाहता है अवरोध नहीं, वह सघटन चाहता है, विघटन नहीं तो अहिंसा आवश्यक ही अनिवार्य भी है। क्यों कि ससार का आधार अहिंसा है, जीवनका धर्म अहिंसा है, सुख-शान्तिके लिये अहिंसाकी आवश्यकता है। सचतो यह है कि हिंसा के वातावरण में अहिंसाकी ही विशेष आवश्यकता है। क्यों कि समाजसुधार, समाज संगठन का मूलमन्त्रही अहिंसा पर आधारित है।

अहिंसा के आदर्श की उज्जवलता

पारिवारिक जीवन में जो माता पुत्रकी माता होनेके अतिरिक्त दासी, संरक्षिका शिक्षिका भी बनी है, और पिता पुत्रीके लिये पिता होनेके अतिरिक्त दास, सरक्षक और

शिक्षक भी जो वना है, उसकी पृष्ठभूमि में पारिवारिक साथ ही सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्यपालन की ओट में अहिंसा अपना अस्तित्व लिये है। यदि मैं कहूं कि भगवती अहिंसा का क्षेत्र केवल मनुष्यों में ही नहीं वल्कि कुछ पशुओं और पक्षियों में भी है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। क्योंकि जीना सव चाहते हैं और मरना कोई भी नहीं। अतः वहुतसे लोग मान लेते कि अपनी रक्षाके लिये दूसरों की रक्षा करना भी हमारा कर्त्तव्य है और अहिंसा का पालन करते हैं। अगर वे ऐसा न करें और स्वयं जीवन के शीशमहल में वैठ कर अन्य के जीवन रूपी शीशमहल पर पत्थर फैंके तो यह संभव ही नहीं वल्कि सुनिश्चित भी समझें कि उनका भी जीवन रूपी शीश-महल सुरक्षित न रहेगा और कोई न कोई सवल सशक्त उसे चकनाचूर करही देगा।

फलतः भारतीय वाङ्मय मे जो आत्मवत् सर्वभूतेषु (सभीको अपने जैसा समझो) आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् (जो तुम्हें अप्रिय है उसका दुसरों के प्रति प्रयोग मत करो) धर्मस्य मूलं दया (धर्मका मूल दया है) सत्यं वद (सच वोलो) धर्मंचर (धर्मका आचरण करो) मृत्योर्माअमृतं गमय (मृत्युको नहीं अमृतत्व को प्रात करो) सर्वेभवन्तु सुखिनः (सभी प्राणी सुखी हों) क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु (सभी प्रजाओं का कल्याण हो) अहिंसा परमो धर्म (अहिंसा ही परम धर्म है) और यतो धर्मस्ततो जयः (जहाँ धर्म है वहाँ विजय है] जैसी अनेकों भावनायें विखरी हैं। भारतवर्षतो इतना अधिक धर्मप्राण अहिंसा-प्रिय देश है कि उसे पाश्चात्य विद्वान आज भी आदर्श समझते हैं और धार्मिक अजायव घर कहते हैं, पर यह भी सत्य है कि कुछ धर्मो में अव अहिंसा की उपेक्षा से धर्म का प्रदर्शन मात्र रह गया है. वैसे भारतीय एक से अधिक धर्मो ने अहिंसा के आदर्श को मापने जोखने का प्रयत्न किया है। जीवन-संघर्ष की जटिलता को यदि सरलता के रूप में परिणित करनेका श्रेय अगर किसी अदृश्य शक्ति को है तो वह अहिंसा को ही है।

महर्षि पतंजलि ने अपने योग दर्शन मे अहिंसा को न केवल यमों के रूप मे स्वीकार ही किया है, वल्कि उससे वैर और विरोध भी सुदूर होने की वात कही है।[1] आचार्य उमास्वामी ने भी हिंसा के त्याग से व्रत पालन होने की राय देते हुये कहा 'जीवो' पर दया करने से सुख देनेवाले वेदनीय कर्म का वन्ध होता है।[2] यदि एक और धर्मविद व्यास ने अहिंसा को धर्म के अचौर्य, दान, अध्ययन, तप, अहिंसा, सत्य, क्षमा और यज्ञ लक्षणों मे ग्रंथित किया तो दूसरी ओर नीतिविद भर्तृहरि ने भी प्राणियों पर दया रखना सज्जन पुरुषों का कार्य वताया। यों कूल मिलाकर कहा जा सकेगा कि सुख और शान्ति, संतोष और समृद्धि के लिये अहिंसा का आदर्श अती व आवश्यक है और अगर मैं कहूं कि

१ अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहा यमाः। अहिंसा प्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैर त्याग

२ हिंसा नृतस्तेयॉ परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम। भूतव्रत्यनुकम्पादान सरागसयमादि योग क्षाति शौचमिति सद्वेद्यस्य।

चारों पुरुषार्थों [धर्म, अर्थ, काम (कार्य) और मोक्ष] की सिध्दि भी बहु भाग में अहिंसा पर आधारित है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी ।

आदमी को आदमी बनानेका काय बहु भाग में अहिंसा ने सिखाया। अहिंसा ने सिखाया कि आदमी? अगर तूं आदमी है तो आदमी को आदमी समझ। अहिंसा ने एक नहीं अनेक युध्द रोके । उसने सुस्पष्ट कहा 'सधि पत्रों के स्वार्थ समे हस्ताक्षर अधिक दिनों तक शाति नहीं रख सकते, अत स्थायी शान्ति के लिये मेरी शरण में आओ । युध्द रोकने के लिये शस्त्री करण-निशस्त्री करण के चक्कर में न पडो बल्की हृदय मिला कर आगे बढो ।'

सच तो यह है कि अहिंसा का आदर्श इतना निर्मल है कि उस पर हिंसा का एक बिंदु भी पड जावे तो वह स्पष्टतया अलग वैसे दिखाई देगा जैसे धोबीद्वारा धुले सफेद कपडे पर काजल की रेखा दिखाइ देगी । अहिंसा का आलोक जहाँ एक ओर सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी है, वहा दूसरी ओर चन्द्रसे भी अधिक शितल है Might is right 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' या 'शक्ति परेषा परिपीडनाय' के अन्धकार को मिटानेके लिये अहिंसा करोडों सूर्यों से भी अधिक तेजस्वी है और 'आत्मवत्सर्वे भूतेषु' का पाठ पढाने के लिये, 'एक हृदय हो निखिल विश्व' यह की भावना बढाने के लिये अहिंसा करोडों चन्द्रों से भी कहीं अधिक शीतलता देने का काय करती है । सक्षेप में अहिंसा में वह अलौकिक अम्मी है जो मुझे तो क्या बृहस्पति को भी अकथनीय और अवर्णनीय बनी है । यदि धर्म देवता है तो भगवती अहिंसा उसकी अतरग देवी है । जब तक आकाश में सूर्य चन्द्र प्रकाश देते है और पृथ्वी पर सरिता सरोवर-समुद्र लहराते है, तब तक अहिंसा अखण्ड, अजर, अमर और अक्षय हो । आज इतना ही मुझे 'अहिंसा का आदर्श' निबध में निवेदन करना है ।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

लेखक—मुनिविद्याविजय 'पथिक'

किसी भी योनिमें जीव पुण्य-कर्मों का संग्रह करता है। उन शुभ कर्मों के शुभ योग से मनुष्य अवतार को प्राप्त करता है। जिस समय में जीव एक योनी से दूसरी योनी में जाता है तब वह तैजस और कार्मण शरीर अपने साथ ले जाता है। स्त्री-पुरुष के संयोग के पश्चात् ही जीवकी उत्पत्ति हो जाती है। वह रज-वीर्य का आहार करता है, शुभ पुद्गल और अशुभ पुद्गल का शरीर धारण करता है, इन्द्रियों के अवयव परिपूर्ण होते हैं। उसके बाद श्वासोश्वास लेने की शक्ति प्राप्त करता है। बादमें भाषा बोलने की शक्ति और अन्त में मन की शक्ति तैयार होती है। इनमें से दश प्राण प्रगट होते हैं—रसेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोतेन्द्रिय, मन बल, वचन बल, काय बल, श्वासोश्वास और आयु इन दश को प्राण कहते हैं। इनके आधार से शरीर रहता है और शरीर पुण्य-पाप रूप प्रकृति के आधार से रहता है। इन दश प्राणों पर जीव को ममता होती है—इस से सुख-दुःख का अनुभव जीव करता है। जब जीव प्रवृत्तिमार्ग को ग्रहण करता है तब वह जीव शुभ प्रवृत्ति अथवा अशुभ प्रवृत्ति से नये कर्मों का संचय करता रहता है। जीव की प्रवृत्ति के संचालक मन, वचन और काया हैं—मन से करना, करवाना और अनुमोदना, वचन से करना, करवाना व अनुमोदना, काया से करना, करवाना और अनुमोदना। शुभ अशुभ इन दो पटरियों पर मनुष्य चलता फिरता है। शुभ प्रवृत्ति में जब शुभ प्रवृत्ति होती है तब जीव को शुभ योग का उदय होता है—धर्मानुष्ठानों के नियमों का पालन करना, आत्म ज्ञान में रमण करना, जिनेश्वर भगवन्त की श्रद्धा में अटल रहना, पूर्वाचार्यों की आज्ञा का पालन करना, आगमों के वाक्यों का मनन करना, ज्ञान दर्शन और चारित्र की प्राप्ति के लिये हर समय में सद्भावना को भाना। इस शुभ प्रवृत्ति से आत्मा के गुण प्रगट होते हैं, कर्म की निर्जरा होती है। ज्ञाना वर्णीय, दर्शनावर्णीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य नाम गोत्र और अन्तराय इन अष्ट कर्मों की निर्जरा करने के लिये सूत्रकारों ने सामायिक, प्रतिक्रमण क्रिया का उल्लेख किया है—'प्रतिक्रमण'—किये हुए पापों को स्मरण करके फिर उन पापों की ओर से मन, वचन और काया को सर्वथा रोकना। आलोचना करने के लिये जो सूत्र बने हुए हैं, उन सूत्रो के अर्थ का मनन करते हुए।

खामेमि सव्व जीवे सव्वे जीवा खमंतुमे।
मित्ति मे सव्व भूए सु वेरं मज्झं न केणई॥

इस गाथा का पाठ वारंवार स्मरण करने की प्रवृत्ति को प्रमाद रहित करना चाहिये। इस भव मे, पर भव में राग द्वेष के वश मैंने किसी भी

जीव के साथ अपराध किया, करवाया या अनुमोदित किया हो तो मैं अन्त करण से क्षमाता हूँ, वह मुझे क्षमा करें, समस्त प्राणियों के साथ मेरा मैत्रीय भाव है, किसी भी प्राणी के साथ मेरा वैर-विरोध भाव नहीं है। इस शुभ प्रवृत्ति से कर्मों की आलोचना होती है। अशुभ प्रवृत्ति के आचरण से जीव अधोगति को प्राप्त करता है। जीवहिंसा करने की प्रवृत्ति अवश्य नरक निगोद में ले जाती है। घोर चोरी करने की प्रवृत्ति करता है और पर द्रव्य को चुरा ले जाता है—वह राज दण्ड का भोगी बनता है। जूए की प्रवृत्ति धन हीन बनाती है, चोरी करवाती है, झूठ बुलवाती है, मान हानि करवाती है, व्यभिचार सेवन करवाती है। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह ईर्षादि की प्रवृत्ति अशुभ कर्मों के समूह से जीव को चोरासी लक्ष जीवा योनी में भ्रमण करवाती है। इस लिये अशुभ प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग करना चाहिये। शुभ प्रवृत्ति में जो मनुष्य अपने जीवन को ढालता है वह मनुष्य परम पावन बनता है।

एगोह नत्थि मे कोई नाह मन्नस्सरस्सई,

मैं ही हु, मेरा कोइ नहीं, किसी के साथ मेरा राग द्वेष कषाय आदि नहीं है। इस प्रकार की मध्यस्थ भावना में जीव की जब प्रवृत्ति होती है तभी जीव अपनी निवृत्तिमय आत्मा में रमण करता हुआ भव बन्धनों से मुक्त होता है-यह निवृत्ति स्थान है।

विश्व-शान्ति का अमोघ उपाय: अपरिग्रह

लेखक-श्री अगरचन्द नाहटा

विश्व में जो चारों ओर अशान्ति के बादल छारहे हैं और मनुष्य मनुष्य में जो वैरविरोध बढ़ रहा है उसके कारणों पर गम्भीरता से विचार करने पर मूर्छा आसक्ति या ममत्व ही उसका मूल कारण प्रतीत होता है। मनुष्यों में संग्रह की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। उनकी आवश्यकताएँ दिन प्रतिदिन बढ़ रही हैं और उन आवश्यकताओं से भी अधिक उसकी संग्रह प्रवृत्ति नजर आरही है। संग्रह ही संघर्ष का कारण है। एक ओर धनादि वस्तुओं का ढेर लगता है और दूसरी ओर उनका अभाव हो जाता है। एक जगह गड्ढा खोदते हैं तो दूसरी जगह उसकी मीट्टी का ढेर ऊँचा पहाड़ सा लग जाता है। इसी तरह जिन लोगों द्वारा जिन २ वस्तुओं का जितना अधिक रूप में संग्रह किया जाता है उन वस्तुओं की दूसरों को कमी पडेगी ही। और जब एक के पास आवश्यकता से अधिक दिखाई देगा तो जिनके पास उन वस्तुओं की कमी है उसके हृदय में एक आन्दोलन व संघर्ष उत्पन्न होगा ही। और उसीका परिणाम आगे चलकर चोरी, लूटमार, युद्ध, हिंसा-द्वेष आदि विविध रूपों में प्रकट होगा।

मनुष्य की तृष्णा का अन्त कहाँ? चाहे उसे विश्व के सारे पदार्थ मिल जाँय पर उसकी इच्छाएँ-और अधिक पाने को ही लालयित रहेंगी। जिनके पास कुछ नहीं है वह चाहता है कि किसी तरह जीवन-यापन योग्य सामग्री मिल जाय तो बस। जब उतना मिल जायगा फिर सोचेगा-अरे इतने से क्या होगा? मेरा शरीर बीमार पड़ गया या अन्य किसी कारण से मैं उत्पादन में असमर्थ रहा तो इस थोडी सी सामग्री से कैसे काम चलेगा? घर वाले भी तो हैं। बालबच्चों के लिये भी तो कुछ और चाहिए। इस तरह वर्तमान से भविष्य की ओर बढ़ता २ वह सात और १०० पीढ़ी तक का सामान संग्रह करना आवश्यक समझ बैठता है। पूर्व इच्छाओं की पूर्ति होते ही नई २ इच्छाएँ जाग उठती। खाने, पहनने, रहने आदि के साधारण साधन अब उचित नहीं लगकर, साधारण से बढ़ते हुए ऊँचे से ऊँचे स्तर की चीजों की चाह लगेगी। इस तरह संग्रह की प्रवृत्ति का और-छोर नहीं। जो चीजें पास होगी उन पर मेरापना-ममत्व, आसक्ति होती जायगी। और जब किसी पर ममत्व हो जाता है तो उसको किसी तरह आंच नहीं आय, कोई ले नहीं ले इस चिन्ता से संरक्षण और संवर्धन की भावना बढेगी। अन्य व्यक्ति उन वस्तुओं को लेना चाहेगा तो उससे संघर्ष हो जायगा। तृष्णावश दूसरे की चीजों को लेने की प्रवृति भी होगी। अतः सारी अशान्ति का मूल, मूर्च्छा है और भगवान महावीर नें इस ममत्व को ही परिग्रह बतलाया है। संसार में जितनें

भी पाप होते हैं वे सारे परिग्रह के कारण ही । मनुष्य दूसरे की हिंसा करता है अपने स्वार्थ के लिए-बचाव के लिए या परिग्रह को बढाने के लिए । जिन व्यक्तियों या वस्तुओं पर ममापन छा गया उनके सगठन व सवर्धन के लिए दूसरे का कितना ही नुकसान हो, ध्यान नहीं दिया जाता । इसी तरह झूठ बोलना, चोरी करना, कपट करना, लोभी होना दूसरों से द्वेष-इर्षा करना, इन सारी प्रवृतियो के मूलमें परिग्रह ही है । धनादिक उत्पन्न करने में इसीलिए अठारह पाप लगना बताया गया है । उसके उत्पादन भोग सरक्षण, सवर्धन में अठारह पाप आजाते हैं ।

तीर्थंकर सभी क्षत्रिय व राजवश के थे । उनके घर में किसी तरह की कमी नहीं थी धन, धान्य, कुटुम्ब परिवार सभी तरहसे पूर्ण थे फिर भी उन्होंने त्याग को स्वीकार किया इसका एक मात्र कारण यही था कि उन्हें समत्व की ओर बढना था । सीमित ममत्व मे ऊंचे उठे विना समभाव हो नहीं सकता । राग और द्वेष, मोह और अज्ञान जनित है । कर्मों के मूल बीज राग और द्वेष हैं । इसलिए उन्होंने सोचा, कि द्वेष भी राग के कारण होता है । और वह राग मात्र ममत्व है । शरीर को अपना मान लेना, धन, घर, कुटुम्ब आदि में अपनापन आरोपित करना ही ममत्व है, राग है, परिग्रह है । समत्व की प्राप्ति के लिए परिगह का त्याग अत्यन्त आवश्यक है । अभ्यन्तर परिग्रह के १४ प्रकार बतलाये गये हैं । हास्य, रति, अरति भय, शोक, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद और मिथ्यात्व । बाह्य परिग्रह धन धान्य, क्षेत्र, वस्तु, द्विपद, चतुस्पद, सोना, चांदी, तांबा आदि धातुएँ व अन्न पदार्थ । इनका सग्रह करना इनपर ममत्व करना ही परिग्रह है । साधु के लिए परिग्रह सर्वथा त्याज्य है । गृहस्थ के लिए भी अनावश्यक वस्तुओं का त्याग और आवश्यक का परिमाण करना, सीमा निर्धारण करना जरूरी होता है । आवश्यक्ताओं का कम करते जाना जरूरी बताया गया है । इसमे इच्छाओं पर अकुश रहता है ।

कोई भी प्राणी न कुछ साथ लेके आता है न साथ कुछ ले जा सकता है । फिर ममता क्यो ? सग्रह वृति क्यों ? तृष्णा व हाय हाय क्यों ? सघर्ष द्वेष व हिंसा क्यो ? वस्तुए सभी के उपयोग व उपभोग के लिए है व्यक्ति विशेष का अभाव पर ही सघर्ष का कारण है । वस्तुए सभी यहीं पडी रहेंगी, हमें छोडकर जाना होगा, जीवन क्षणभगुर है, न मालूम कब मृत्यु आ जाय, अत अनीति के प्रधान कारण ममत्वको छोड सम भाव को अपनावे, यही कल्याणका पथ है

विषमताओं का मूल भी परिग्रह में हैं । मनुष्य को अहवृति ने ही भेदबुद्धि सिखाइ है । वह अपने को बहुत बडा विशेष बुद्धि मान, धनवान आदि मान बैठता है, तो दूसरों के प्रति तुच्छ भावनाएँ पेदा हो जाती है । जातीय अहकार व अपने विचारो का पक्ष आग्रह भी परिग्रह ही है । धन आदि वस्तुओं की/ कमी-बेशी से उच्चापन व नीचापन की भेद रेखा आज सर्वत्र दिखाइ देती है । जिसके पास धन,

अधिकार आदि का परिग्रह अधिक है वह अपने को वड़ा समझकर दूसरों के प्रति घृणा की भावना रखता है और जो नीची श्रेणी के हैं वे अपने से अधिक समृद्धि देखकर ईर्ष्या वश उससे जलते रहते हैं। इसी से प्रेम, मैत्री और अहिंसा, करूणा, सहानुभूति, सहयोग और शान्ति के वदले द्वेष घृणा कलह, भेद, विरोध, संघर्ष, भेद बुद्धि, ईर्ष्या व अशान्ति की होलियाँ सुलग रही हैं। अपने परिग्रह को वढानें के लिये और दूसरों के अधिकार छीनने के लिये ही युद्ध आदि अशान्ति जनक कार्य होते हैं। यदि हम अपनी आवश्यकताओं को कम और सीमित करलें, इच्छाओं पर अंकुश लगादें या दमन करलें तो अशान्ति का कारण ही नहीं रहेगा। सन्तोष से प्राप्त वस्तुओं में शान्ति और सुख का अनुभव करने लगेगें। आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ एक जगह संग्रहीत न रहने पर वे सवके लिए सुलभ हो जायँगी। फिर समाजवाद साम्यवाद, के नाम से जो संघर्ष और विरोध चल रहे हैं वे स्वयं समाप्त हो जायँगे। वास्तव में विश्व में वस्तुओं की कमीं नहीं है परन्तु जो अभाव दिखाई देता है उसका प्रधान कारण है-किसी का आवश्यकता से अधिक संग्रहीत कर रखना और पुरूषार्थ हीन जीवन। जिससे जो उत्पादन नहीं करते पर उन्हें भोगनें या उपभोग को तैयार होते हैं। जैन ग्रन्थानुसार भगवान ऋषभदेव के समय तक मनुष्यों की वहुत सीमित आवश्यकताएँ थी और उनकी पूर्ति कल्पवृक्ष आदि से हो जाती थी। संग्रह की आवश्यकता ही न थी, तो वैर विरोध का कारण ही नहीं था। पर एक ओर आवश्यकताएं वढ़ी-दूसरी ओर उत्पादन कम हुआ तो सघर्ष पैदा हुआ। फिर पुरुषार्थ से उत्पादन वढ़ा तो संग्रह वृत्ति नें घर दवाया। परिस्थिति, अशान्ति वढती रहनें की ही वनी रही, और आज भी उसी का वोल वाला है।

यदि हम शान्ति चाहते हैं तो इच्छा, तृष्णा और आवश्यकताओं पर अंकुश लगाना होगा। संग्रह की प्रवृति वन्द करनी होगी। ऊँचनीच के भेद भावको मिटाना होगा। अहं और ममत्व पद को घटाना होगा, समस्त प्राणियों को अपनें ही समान माननें और स्वयं भी राग-द्वेष से अभिभूत न होनें रूप समभाव जमाना होगा। सवको प्रेम, मैत्री, सहानुभूतिऔर सहयोग से जीना होगा। जीवन में संयम, त्याग को प्रधानता देकर निवृति-अनासक्ति की ओर वढ़ते रहना होगा।

परिग्रह के कारण हीं आज अनीति का साम्राज्य है। मनुष्य में सन्तोष नहीं रहा। दिनोदिन आवश्यकताएँ और संग्रहवृति वढ़ रही है। अपने स्वार्थ के पीछे मनुष्य इतना अन्धा है कि दूसरे का चाहे दम ही निकल जाय उसकी उसे तनिक भी परवाह नहीं। भेद वुद्धी इतनी वढ गई है कि देशभेद, प्रान्तभेद, जातिभेद, धर्म और सम्प्रदायभेद, काले और गोरे का भेद, धनी निर्धन का भेद शिक्षित और अशिक्षित का भेद, स्त्री और पुरुष का भेद, खानपान और रीति रिवाज का भेद यावत हर वात में भेद ही भेद नज़र आते है। तो प्रेम और मैत्री का विस्तार ही कैसे? हमारे वीच रंग विरंगी अनेंको मजवूत दिवारें खडी करदी गई है। तो फिर एक दूसरे से आपस में टकरायगें ही। और ये सारे भेद अहं या ममत्व पर

आश्रित है। ओर वही परिग्रह है, हिंसा है, द्वेप है, अशान्ति है। परिग्रह ही बंधन है पाप का प्रधान कारण है। अपरिग्रही ही परम सुखी है। उसे चिन्ता किसकी ? चाह नहीं तो आह भी नहीं।

भारतीय मनीषियों ने इस बाहरी भेदो के भीतर रहे हुए अभेद तक अपनी दृष्टी बढाई। आत्मा सबकी समान है, स्वरूप त शुद्ध बुद्ध सत्‌चित् आनद रूप है। देहादि के बाहरी भेद कल्पित हे अभेद बुद्धि ही अहिंसा है अपरिग्रह हे ओर वही विश्वशान्ति का अमोघ उपाय है।

मोक्ष – पथ

लेखक – सूरजचंद सत्यप्रेमी (डाँगीजी)

वीतराग सर्वज्ञ श्रीतीर्थंकर प्रभु ने अपने अंतिम पुरुषार्थ यानी संपूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये जो मार्ग बतलाया है उसे हमें जानना हैं, मानना है और आचरण में लाना है ।

मोक्ष पथ का ज्ञान करके उसे मान्य करना और उसी का ध्यान करना सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र्य कहलाता है । सत्ज्ञान, सत्भान और सत्कार ही मोक्ष का पथ है । महान आचार्य देव श्री उमास्वामी के मोक्ष शास्त्र का यही मंगल सुत्र है ।

" सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग : "

अब हमें यह विचार करना है कि, क्या जानें ? क्या मानें ? और क्या आचरण करें ? जिससे हमारा साध्य सिद्ध हो सके ।

निर्ग्रन्थ के प्रवचन ही आदरणीय है, निर्ग्रन्थ के प्रवचन ही ज्ञेय हैं, और निर्ग्रन्थ के प्रवचन ही ध्येय हैं । उन्हीं को जानें, माने और अमल मे लावें । वचन तो हम सभी बोलतें है परन्तु प्रवचन उन्हें ही कहना चाहिये जो प्रकृष्ट वचन हों । मोक्ष मार्ग मे उत्कृष्ट बोलों का ही उपयोग है और ऐसे बोल निर्ग्रन्थ के ही हो सकते हैं । जिनके ह्रदय में राग द्वेष की ग्रन्थि है उनके वचनों का मोक्ष पथ में कोई मोल नहीं। जिसमें राग हो वह दोष नहीं देख सकता, और जिसमें द्वेष हो वह गुण नहीं देख सकता । गुण दोषों का ठीक ठीक ज्ञान करने के लिये वीतराग का ह्रदय चाहिये – निर्ग्रन्थ के प्रवचन चाहिये – और निष्पक्ष पुरुषोत्तम की आत्मा मे से ही सत्य ज्ञान का प्रकाश आ सकता है ।

" जैनं जयति शासनम् " जिनेश्वर भगवान के शासन की जय हो – विजय हो ।

जिसने अपने इन्द्रियों और मन के विकारों पर विजय प्राप्त नहीं की, जिसने बुद्धि में से अस्थिरता और विषयों का ममत्व निर्मूल नहीं किया वह स्वयम् ही बद्ध है तो औरों को मुक्त कैसे कर सकता है ? खुला हुआ व्यक्ति ही बँधे हुए को खोल सकता है ।

' मुत्ताणं मो अगाणं '

देवेन्द्र का यही कहना है कि प्रभु मुक्त हैं और मोचक हैं – छूटे हैं इसलिये छुडा सकते हैं । आझाद व्यक्ति ही शासन कर सकता है । जो वासनाओं के बंधन में बंधा है उसके शासन की विजय कैसे हो सकती है ?

कपडों का मैल दूर करने के लिये जैसे साबुन, पानी और धोने की क्रिया आवश्यक है, उसी प्रकार चित्त के मल को दूर करने के लिये भी जीवन मुक्त वीतराग पुरुषोत्तम के वचनों का ज्ञान, श्रद्धा और उसके अनुसार क्रिया आवश्यक है। जिस प्रकार पानी नहीं हो तो हजारों टन साबुन भी कपडा साफ नहीं कर सकता, उसी प्रकार श्रद्धा, दर्शन या भक्ति नहीं हो तो हजारों टन पुस्तकोंका ज्ञान भी चित्त शुद्धि के लिये बेकार है। जिस प्रकार साबुन नहीं हो तो भी पानी से मल दूर हो सकता है (चाहे चमक कम आवे) उसी प्रकार ज्ञान की कमी हो तो भी श्रद्धा से चित्त शुद्धि हो सकती है (चाहे प्रकाश कम हो) परन्तु धोने की क्रिया तो अनिवार्य आवश्यक है। ज्ञान और श्रद्धा के साथ साथ आचरण न हो तो मोक्ष मार्ग में प्रगति ही नहीं हो सकती।

अब हमें यह सोचना है कि मोक्ष क्या वस्तु है? जिसे हमें प्राप्त करना है। लिफाफे पर पता बराबर नहीं किया तो लिखी हुई सारी इबारत 'डेड लेटर ऑफिस' (रद्दी के टोकरे] में जायगी, उसी प्रकार मोक्ष के स्वरूप का पता नहीं हो तो सारी क्रियाएँ व्यर्थ हो जायँगी।

'मोक्ष' का अर्थ है छूटना —

किससे छूटना? हमको किसने बाँध रखा है? कब बाँधा है? क्या सचमुच हम बँधे हैं? अनंत संतों के अनुभव में से यह एक ही आवाज निकली है कि निश्चय दृष्टी से आत्मा शुद्ध बुद्ध और मुक्त ही है — स्वरूपतः उसमें बंधन है ही नहीं, फिर भी व्यावहारिक दृष्टी से हम स्वयं अपनी मिथ्यात्वमयी धारणा से अनादि काल से बद्ध हैं — उस मिथ्यात्वमयी धारणा से छूटना ही सम्यग्दर्शन है, जो मोक्ष-पथ का प्रथम सोपान है।

उसके बाद राग द्वेष या क्रोध मान, माया और लोभ के त्याग का अभ्यास प्रारंभ करना दूसरा सोपान है। परिग्रह का सर्वथा त्याग तीसरा सोपान है। मोह का सर्वथा त्याग चौथा सोपान है। अज्ञान का सर्वथा त्याग पाँचवा सोपान है। और जब यह संपूर्ण अनुभूति हो जाती है कि कर्मों के साथ — जड तत्वों के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं और जब मन, वचन, काया की सारी प्रवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं तो सिद्धि हो गई।

अब हम अपना विवेक करें कि हम कहाँ हैं? मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग रूप पंच आश्रवों का परित्याग ही मोक्ष है। झूठी समझ का त्याग मिथ्यात्व का त्याग है, मिथ्या आचरणों का त्याग अव्रत का त्याग है, आलस्य और असावधानी का त्याग प्रमाद का त्याग है, रागद्वेष का त्याग कषाय का त्याग है, और अंत में मन वचन काया की संपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग योग का त्याग है, यही मोक्ष है जो आत्मा की शुद्ध बुद्ध पर्याय है। वह दिन धन्य होगा जिस क्षण हम उस पर्याय की प्राप्ति कर चुके होंगे।

निवृत्ति लेकर प्रवृत्ति की ओर

लेखक – श्री यतीन्द्रसूरीश्वर विनेय – मुनि जयन्तविजय "मधुकर"

विश्व में आज मंड़रा रहे हैं यातना के बादल ! विज्ञान दिनों दिन बढाये जा रहा है आगे कदम ! संत्रस्त और भयभीत हो रहा है मानव समाज ! वर्तमान की इस प्रकार की गतिविधि को देखकर कितने ही लोग आश्चर्यमग्न हो रहे हैं, तब कितने ही लोग गर्वान्वित हों कर प्रबल मानते हैं अपने भाग्य को, और समझ रहे हैं उत्थान हो रहा है अपना, अपने देश का, एवं समस्त जगत का ! इसी प्रश्न को लेकर यत्र तत्र सर्वत्र अनेक विचार धाराएँ प्रस्फुटित हों चुकी है वर्तमान जगत में !

धर्म और अधर्म ! भौतिक और आध्यात्मिक ! ज्ञान और विज्ञान ! वर्तमान के मानव को जितना धर्म प्रिय नहीं उतना प्रिय अधर्म ! आध्यात्मिकता से जितना पर उतना ही भौतिकता के भीतर ! सत्यज्ञान से जितना अनभिज्ञ उतना ही विज्ञान का परम भक्त !!!

आश्चर्य की बात है कि वह दूर है अनभिज्ञ हैं और विहीन भी है तथापि धर्मसिद्धान्त एवं शास्त्रों में निष्णात की भाँति अपने आप को चोटी का विद्वान् समझ कर सिद्धान्तभवन टिका हुआ है जिस पर उसी का खण्डन करते देर नहीं करते ! जिन कार्यो से उस पर चलकाहट लाई जाती है उन्हीं को वे अयोग्य समझते हैं !

हो सकता है बहुत समय के हो जाने पर कचरा लग जाय उस पर ! परन्तु उस का अर्थ यह नहीं होता कि हम बिना सोचे समझे ही कचरे को स्वच्छ करने का दूर रखकर उस के मूल को ही ऊखाड कर फेक दें !

आधुनिक युग से प्रभावित होकर कितने ही अज्ञ अपने आप मनमानी बातों का अपलाप कर के भोले जनों को अपनी ओर आकर्पित कर लेते हैं। वास्तव मे ऐसा कहना एवं प्रचार करना शुभ न होकर हानिकर ही होता है !

"हमारे यहाँ साहित्य की कभी नहीं है, हमारे ज्ञानागार उस से सुशोभित हैं, जिन के लगे हुए ताले वर्पभर में एकाध वक्त ही खुलते हैं, उन्हें पढनेवाला कोई नहीं हैं, उन की सारसम्हाल करने वाला भी कोई नहीं ! अरे ! उन शास्त्रों में क्या लिखा है? इस बात को समझनेवाले प्रतिशत दो चार व्यक्ति ही निकलेगे ! अतः अब अधिक साहित्य छपाकर आशातना दोप के भागी नहीं बनना चाहिए ! जब दूसरी ओर यह भी सुनाई देता है कि हमारे ग्रन्थ संस्कृत और प्राकृत भापा में ही बने हुए है, हम उनको समझ नहीं सकते, हमारे विद्वान् मुनिवरों एवं लेखकों को चाहिये कि वे ऐसे ही साहित्य का निर्माण करें जो कि वर्तमान प्रणाली का अनुसरण करनेवाला हो, जिससे मानवमात्र हमारे दृष्टिकोणों को समझ सके !"

वर्तमान विचार

इस प्रकार के विचारों के प्रति अशमान टीका टीप्पण नहीं करते हुए सिफ इतना ही कहना है कि जैन लेखकों के तरफ से जो भी साहित्य प्रकाशन हुआ है वह युग की माग के अनुसार ही होता आया है, और हो रहा है। क्यों कि आज अपनी पाचवीं, सातवीं और दशवीं, अट्ठारहवीं शताब्दी के जैनग्रन्थों को देखते हैं तो अपने को गर्व होता है कि उस समय जैन ग्रन्थकार कितने पहुचे हुए थे ? जिन्होंने अपने हाथों से इस प्रकार का सवजन उपयोगी साहित्य निमाण किया जो साहित्य आज सभी के लिए उपकारक तारक बन गया है। उसी प्रकार प्रत्येक शताब्दी में जैन साहित्यनिमाताओंने अपने समय की प्रणाली एव भाषा में साहित्यसजन किया जो प्रत्यक्ष है।

जैन लेखक एव विद्वानो। समय २ पर युग की माग के अनुसार जो साहित्य निमाण किया जिस के (समकक्ष) में अन्य मतावलम्बी साहित्य निर्माण नहीं कर सके। यह द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, कथानुयोग, चरणकरणानुयोग इस प्रकार चार विभागो में विभक्त ह। ऐसा कोइ विषय शेष नहीं बचा जिस को जैन साहित्य सृष्टाओंने न समझाया हो। इसी लिये तो प्रो जोहन्स हर्टल भी लिखते हैं कि—

"Ihe\ (Jains) a e tle crentors of \ery extensive populır literıtruc"

—जैन लोग बहुत विस्तृत लोगोपयोगी साहित्य के सृष्टा हैं।

इस प्रकार प्रचूरमात्रा में निकले हुए जैन साहित्य के प्रति इतर जनों को भी कितना मान है यह उपर्युक्त प्रमाण से स्पष्ट हो जाता है। साहित्य निर्माण कर के अपने सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार करने के लिये जन लेखकों ने भगीरथ प्रयास किये जिनके प्रमाण आज भी हमारे सामने प्रत्यक्ष हैं। आज भी जैन साहित्य सब प्रकार से सर्वोपयोगी और समृद्ध है, इसे कौन नहीं जानता ? व्यवहार, नीति, रीति एवं आध्यात्मिकता की ओर आगे बढने के लिये यह मानवमात्र को मागदर्शन कराता है।

बस, इस से स्पष्ट होता है कि जैन सिद्धान्तो को विविध दृष्टिकोणों से लोगों को समझाने का प्रयास करने के लिये समयानुकूल साहित्य प्रकाशन करवाना चाहिये और ऐसा करने पर ही जन जन तक सत्य सिधान्त की बातें पहुँच सकती है।

कइएक व्यक्ति के दिमाग में ये विचार भी चक्कर काट रहे हैं कि पुराने को ही प्रकाश में लाया जाय, नया नहीं होना चाहिये।"

कितना भ्रम है इन विचारवानों को भी तो ? पुराना यदि होता ही नहीं तो नया आता ही कहां से, ? जलाशय होगा ही नहीं तो जल आयगा ही कैसे ? पुराने

से ही नई चीजों का निर्माण होता है। जिस जमाने मे जिस ढंग से जनसाधारण वातों को जल्दी समझ सके और अपनावें उसी ढंग से सिद्धान्तों को प्रति मध्यस्थ-दृष्टि रखकर पुराने को ही नई प्रणाली मे ढालकर जनता के सन्मुख रखना; यही क्रम प्रत्येक शताब्दी मे होता चला आया है, और उसी के फल स्वरूप आज हम युग युग के साहित्य का दर्शन कर रहे है। वस, इस से यह कहने की आवश्यकता ही नही है कि पुराना साहित्य ही नयारूप लेकर जन जन तक आता है।

"प्रत्येक समाज आज प्रगति की ओर प्रयाण करता जा रहा है, पर हमारा समाज ही एक ऐसा समाज है उन्नति के स्थान पर अवनति की ओर जा रहा है। विचार करने पर उसके परिणाम में अन्य समाज कि अपेक्षा जैन समाज पर लगे कुछ सामाजिक प्रतिवन्ध भी कारणभूत हो सकते है। अन्य समाज मे आज पुनर्लग्न, विधवाविवाह आदिका कोई वन्धन नहीं है, जव हमारे यहाँ इस के लिये कडक प्रतिवन्ध है। ऐसे प्रतिवन्धों के कारण आज कितनी वालविधवा वहने अपने आपको दुःखी बना रही हैं और उसी के कारण आज गर्भपात जैसे निकृष्ट कृत्य भी वढते जा रहे है, ऐसे प्रतिवन्ध हमारे मन्तव्य से नहीं होना चाहिये।"

—वर्तमान मन्तव्य

समाजउत्थान के मार्गो को आज का विज्ञानी दिमाग किस प्रकार खोज निकालता है, उस का यह भी एक नमुना है। हमारे शास्त्रों में एक नहीं अनेक ऐसे प्रमाण हैं जो उपर्युक्त प्रवृत्ति के लिये मनाई करते हैं। जिन के कुछ प्रमाण उपयुक्त होने से यहाँ दिये जा रहे हैं।

कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रार्यजी कहते है कि

सकृज्जलपन्ति राजान, सकृज्जलपन्ति साधवः।
सकृत् कन्याः प्रदीयन्ते, त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्॥

—राजालोग हमेशां एक ही वक्त वचनोच्चार करते हैं, संत और तपस्वी मुनिजन एक ही वक्त वोलते हैं और कन्यारत्न भी एक वक्त ही दिये जाते हैं। ये तीनों कार्य एक वक्त ही किये जाते है।

उपर के प्रमाण से यह भलिभाँति समझ सकते है कि समाज के कर्णधार और दुषमकालमें सर्वज्ञ जैसे आचार्यवर्य भी कहते हैं कि एक से दूसरी वक्त कन्या का आदान प्रदान नहीं होता।

श्रीमन् सिद्धर्षिगणिजी महाराज अपने श्रीचन्द्रकेवली चरित्र के चतुर्थाध्ययन की ४६२ वीं गाथा मे लिखते है कि—

काष्ठस्थाली सकृद् वह्नौ, कणिकायां जलं सकृत्।
सज्जनानां सकृत् वाक्यं, स्त्रीणामुपयमः सकृत्॥

अग्नि में काष्ट की थाली, वणक में जल, सज्जनों के वाक्य और स्त्रियों का निवाह एक ही वक्त होता है।

ऐसे और भी अनेक प्रमाण दिये जा सकते है। जो ग्रन्थों में लिखे हुए है। यदि पुनर्लग्न और विधवा विवाह के लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं हों तो न मालुम कब अबला सबला बन कर के क्या नहीं कर देगी? जिस का परिणाम बहुत ही बुरा आ सकता है। वर्तमान विचारों के साथ साथ यह कह दें कि समाज रचना प्रतिबन्ध ही गलत ह। परन्तु इस में आत्म साक्षी कैसे हो सकेगी।

भारतीय दर्शनकारो ने पतिव्रत को श्रेष्ठव्रत माना है। यदि समाज के तरफ से धार्मिक दृष्टि या व्यावहारिक दृष्टि से किसी प्रकार के नियम बने हुए नहीं होते तो एक स्त्री एक के बाद दूसरा पति करने की घून में क्या नहीं करती? सब कुछ करती और फलस्वरूप कितने ही जनों का जीवन भी सकटमय हो जाता! एव पतिव्रत जैसे महान् व्रत को पालन करने की भारतीय दर्शनकारों की आज्ञा का भी उल्लघम हो जाता।

मान लो किसी एक स्त्री की शादी कोई एक अच्छे घरानेवाले लडके के साथ हुई। भाग्यवशात् वह बिमार हो गया। और पास में जो लक्ष्मी थी वह भी कूच कर गई। उस समय ऐसी समाजव्यवस्था और बधन नहीं होने पर वह स्त्री क्या उस निधन और रूग्ण आदमी की सेवा करती हुई बैठी रहेगी? नहीं कदापि नहीं। वह यही समझेगी मुझे क्या? मैं क्यों इतने कष्ट ऊठाऊ? जब कि मेरे लिये एक नहीं अनेक पति मौजुद हैं।

अपनी इज्जत के कारण अथवा ऐसे न छोडकर किसी भी प्रकार से उस रूग्ण को खत्म कर देगी तो फिर कितना घोर अन्याय और पाप बढ जायगा! और पतिव्रत जैसा शब्द ही साहित्य के पृष्ठों से ऊड जायगा! यदि विधवाविवाह-पुनर्लग्न के लिये समाज का कोई बन्धन-प्रतिबन्ध नहीं होता तो आज समाज की क्या दशा होती? पति पत्नी के तरफ से सशक रहता! और पत्नी किसी प्रकार की चिंता न रखकर मनमाने ढग से जिस के साथ जब जाना हो तब चली जाती; जिस के अनेक प्रमाण अपन विदेश के न्युझ पपरों से जानते है।

विधवाविवाह और पुनर्लग्न से जो अव्यवस्था और हिंसा बढती है वैसा बधारण से कभी भी नहीं हो सकता। इस के सम्बध में जब विचार करने के लिये बैठते हैं तब दिमाग से यही शब्द निकलते है कि 'दर्शन, नीति और समाज व्यवस्था करने वाल महापुरुषों ने कितना गहरा सोचकर नियम बनाये है, जिन को आज का क्षुद्र दिमाग का व्यक्ति समझ भी नहीं पा रहा है, और अपने क्षुद्र विचारों को जनता के सामने रखता है।

विधवा विवाह और पुनर्लग्न से जो अव्यवस्था और हिंसा का जोर बढता

अयोग्य है । उत्थान जिस का होता है उसी का एक समय पतन भी होता है, और गिरनेवाला ही पुन ऊठकर के काय करने के लिय तत्पर होकर सफलता पाता है । इसी लिये प्रत्येक वात को कहने के पहले विचार कर लेने के बाद ही अपने वचन को निकालना चाहिये ।

भौतिकता के पीछ पागल वनने वाले, उन्नति की पुकार करने वाले यहाँ तक कह देते है कि "हमारे समाज का पतन यदि किसी ने किया है तो वह साधु समाजने ही किया है ' । कितना अज्ञान ! जिस समाजने हमारे सिद्धान्तो का रक्षण किया, जिन्होंने सभी प्रकार के कष्ट सहन कर के भी हमारे मदिर एव शास्त्रा को सुरक्षित रखा, आज भी जो जैनसिद्धान्तों का प्रचार प्रसार करने के लिये कटिबद्ध ह उन के लिये इस प्रकार के शब्द और उन के प्रति घृणा करना हमारे लिये ही घातक है, यह नि सन्देह सत्य है, क्यों कि जैन धम के चारस्तभ में यह ऐसा स्तभ है जिस के सहारे दूसरे स्तभ रह सकते ह । उस का अपमान हो ऐसे शब्द या उससे मानसिक घृणा भी प्रत्येक कार्य में विघ्न उपस्थित करती है । कोई अग समाज का अकेला रह कर अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता ।

ससार में ऐसी कौनसी चीज है जो अच्छी ही रह सकती है सदा के लिये ! हाँ, वीतराग परमात्मा में कोइ दोप नहीं है । उन्हें छोडकर सभी में किसी न किसी प्रकार की बुराइ या कमजोरी रहती है, इस का मारांश यह नहीं होता है कि एक जू के कारण सभी वस्त्रों को ही फेंक दें ! या बुरें कह दें ! यदि ऐसा करते है या कहते ह तो करने और कहनेवालों की दुनिया में इज्जत-प्रतिष्ठा नहीं होती !

वास्तव में हमें यही सोचना है कि किससे लाभ है और किस से हानी ? पुराने को जडमूल से न ऊखाड फेंककर उस में आई विकृति को दूर करने में ही सही समयज्ञता और समझदारी है । इस के लिये ही यह नवयुग का आह्वान है ।

हाँ, तो चलो । हमारी अज्ञानमूलक प्रवृत्ति को जल्दी से निवृत्ति की ओर ले चलें और सद्ज्ञानमय प्रवृत्ति को अपनावें ।

राकेट युग और जैन सिद्धान्त

लेखक - श्री. मोहनलाल जैन. मु. खुडाला

आज संसार बडी तेजी से करवट बदल रहा है। विज्ञान की चरम उन्नति के साथ ही साथ सभ्यता भी करवट बदल रही है। आजसे ८० साल पहले पैदा हुए आदमी से पूछीये. जिस समय वह अपनी माँकी गोदमें किलकारी मारता था, उस समय विज्ञान भी शैशवास्था मे था। जब उसने यौवन में प्रवेश किया तो विज्ञान ने भी उन्नति की आगे ओर कदम बढाया। सडको पर मोटरें व रेलवे चलने लगी और धीरे २ घोडे गाडियों की जगह मोटरों लेने लगी। धीरे २ आदमी ने पक्षी की तरह आकाश में उडने का स्वप्न पुरा किया। बीजली के लट्टुओ से शहर जगमगा उठे। आज तो घोडे गाडियों की जगह रेले. मोटर. ट्रामें और बसों की भरमार दिखाई देती है। जिन्दगी के हर पहलु मे विज्ञान ही विज्ञान दिखाई दे रहा है। आज विज्ञान जन्म मरण के सिवाय आदमी का हर दैनिक काम करता है। विज्ञान की करामत से आज एक साधारण आदमी एक साधारण दुकानदार से अपनी वह इच्छा पुरी कर सकता है वो कि आज से कुछ शताब्दी पहले एक बडे साम्राज्य का सम्राट नहीं कर सकता था। रेडीयों द्वारा दुनिया की किसी भी कोने की वह खबर पा सकता है। टेलीविजन द्वारा अपने विस्तर पर सोते बम्बई मे हो रहे नाचों का मजा ले सकता है। आज संसार के विभिन्न जाति. धर्म. संस्कृति. भाषा व देश देशान्तर के लोग एक दूसरे से मिलते है। समय और दूरी कम हो गई है। विद्युत युग समाप्त हो चुका है और अब राकेट युग शुरु हुआ है। मानव ने आज विज्ञान को वह रूप दे दिया है वह चन्द्रलोक व दूसरें ग्राहोंमे जाने को सोच रहा है। ऐसा मालुम होता है मानों स्वर्ग लोक पृथ्वी पर ही उतर आया हो।

इतना सब होते हुए भी आज विश्व मे तनाव और भय का वातावरण छाया हुआ है। आज सबके सामने यही समस्या है कि कहीं तृतीय महायुद्ध न छिड जावे. यदि छिड़ गया तो सर्वनाश के सिवाय कुछ नहीं होगा। क्या विज्ञान की चरम उन्नति का अन्तिम लक्ष्य सर्वनाश और प्रलाप है? मार्शल जुकोव व ख्रुश्चेव (रूसी नेता) ने तो यहाँ तक घोषणा कर दी है कि अब हवाई जहाज व जेट-विमान केवल अजायबघर की सामग्री रह गई है. आनेवाली पीढ़ियाँ अजायबघर मे कौतुहला से देखेगीं कि किसी जमाने में हवाई जहाजों से लड़ाई होती थी। इसका अर्थ यह हुआ कि राकेटों द्वारा केवल जन-संहार ही नहीं होगा वरन् जमीन कुछ शताब्दी तक ऊसर हो जावेगी और मानव का इस दुनियाँ से अस्तित्व समाप्त हो जावेगा। सम्पूर्ण विश्व एक फौजी केम्प की तरह दिखाई दे रहा है। सम्पूर्ण विश्व आज दो परस्पर

विरोधी जुथ्थो में विभाजित है-(१) रूसी जुथ्थ व (२) अमेरिकन जुथ्थ। दोनों जुथ्थ छोटे छोटे कमजोर राष्ट्रों को अपनी ओर मिला रहे हैं। जिसमें तनाव का वातावरण गम्भीर हो गया है। आज शिखर राष्ट्रों की कुटनीति के कारण विश्व में जगह २ पर ज्वाला मुखी पैदा हो रहे हैं, न मालुम कब उगल पडे और सम्पूर्ण विश्व को अपने मुख में समा बैठे।

लेकिन आज विश्व में एक तीसरा अंकुर पनप रहा है जो तटस्थता की नीतिको अपना कर शान्ति क्षेत्र का निमाण कर रहा है। इस जुथ्थ का नेतृत्व कर रहा है भारत-इसी तटस्थता व स्वतन्त्र विदेश नीति के कारण दोनों परस्पर विरोधी जुथ्थो में उसका सन्मान है। तब भी विश्व शान्ति खतरें में पडती है। युद्ध भयसे पीडित जनता की आशा भारत पर बँधजाती है।

हमारी विदेश नीति पर भारतीय संस्कृति की गहरी छाप लगी हुई है। भारतीय संस्कृति का आधार है अहिंसा व मित्रता। भारतीय संस्कृति जैन धर्म के सिद्धांतों की पूर्ण ऋणी है। विश्व में यही एक धर्म है जो कि अहिंसा को बहुत सुक्ष्म दृष्टि से मानता है। जैन दर्शन व संस्कृति की निम्न विशेषतायें है।

(१) अहिंसा- (२) मित्रता व भाईचारा (३) अनेकान्तवाद

अहिंसा —अहिंसा जैन धर्म की जड है। अहिंसा का अर्थ यहाँ बडा व्यापक है और उसका सुक्ष्म से सुक्ष्म विश्लेषण किया गया है। दूसरे अर्थों में अहिंसा को "जीओ और जीने दो" का सिद्धान्त कह सकते है। यदि इस सिध्दान्त को हम क्रियात्मक रूपमें हर पहलु में काम में ले लेवें तो संसार की आधी समस्या सुलझ सकती है।

मित्रता —आजके बडे २ राष्ट्र यह सोचते हैं कि हमारे पास राकेट अस्त्र है। अतः वे दूसरे राष्ट्रों के सामने क्यों झुके ? बलवान राष्ट्र कमजोर राष्ट्र को गुलाम बनाना चाहता है। यह कारण है कि आज विश्व दो फौजी जुथ्थो में विभाजित हो गया है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ शस्त्र के बल पर समस्यायें सुलझाना चाहता है। यदि हम आपसी बातचीत व सहयोग से आपसी समस्यायों को सुलझावें तो वर्तमान तनाव व दंगे लडाइ दूर हो सकती है। फौजी जुथ्थ की अपेक्षा यदि हम मित्रता के ऐसे जुथ्थ बनावें जिसमें आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक सहयोग सम्मलित हो। तो विश्व की सम्पूर्ण दरिद्रता, पिछडापन शत्रुता समाप्त हो सकती है, और सम्पूर्ण विश्व एक कुटम्ब का रुप धारण कर सकता है।

(३) अनेकान्तवाद —अनेकान्तवाद का अर्थ है कि एक आदमी जो कुछ कहता है वह सम्पूर्ण सत्य नहीं है वरन आंशिक सत्य है। इस सिद्धान्त के अंतर्गत निम्न बातें आ सकती है—

(१) अपने मत या बात को सर्वश्रेष्ठ नहीं समझे और दूसरों के मत को हीन बताकर, दूसरें पर अपनी बात या मत जबरदस्ती नहीं लादे।

(२) एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करे।

(३) युद्ध व झगडे नहीं करने की घोषणायें व प्रतिज्ञाये।

(४) आपसी सहयोग व एक दूसरे से सीखनें की प्रवृति।

(५) दूसरों की गलतियों की तरफ देखने के बजाय अपनी गलती की तरफ ध्यान देना।

(६) दूसरों के दुःखों को अपना दुःख समझ कर उसके निवारण के उपाय सोधना।

आज सम्पूर्ण विश्व की आंखें भारत की तरफ लगी हुई है। बडे २ राजनीतिज्ञ आज यह माननें लग गये है कि राकेट-अस्त्रों से भी शक्तिशाली है अहिंसा। राकेट से पराजित देशही बरबाद नहीं होता वरन् विजयी देश भी इतना कमजोर हो जाता है कि वह भी कुछ शताद्वी तक उठ नहीं सकता। इसके विपरीत अहिंसा शस्त्र से न तो पराजित देश का सर्वनाश होता है और न विजयी देशका। बल्की दोनों देश मित्रता के सुत्र में बँध जाते है। जैन धर्म सिखाता है प्रेम और त्याग का पाठ। आज विश्वकी जनता राकेट की भुखी नहीं है, वह चिर शांति चाहती है। यह तबही सम्भव है जबकि हम त्याग और प्रेम को अपनावे और ऊपर विवरण किये हुए सिद्धान्तो का पालन करें। क्या शिखर राष्ट्र के नेतागण जरा ठंडे दिमाग से विचार कर, राकेट व अणुशस्त्रों को मानव संहार के काम में न लगाकर मानव कल्याण के काम में लाने के उपाय सोचेगें? क्या वें राकेट व अणुशस्त्रों को एक कोने में पटक कर अहिंसा, त्याग, मित्रता और अनेकान्तवाद के सिद्धान्तों को लेकर आगे बढेंगे और सम्पूर्ण विश्व को तृतीय महायुद्ध की विकराल व सर्वनाशता से बचायेगें?

वीतराग की ही उपासना क्यों ?

[लेखक —डाँगी शान्तप्रकाश "सत्यदास"]

इस लिये कि जो वितराग है—राग रहित हे – मोहरहित है, वही निष्पक्ष रह सकता है। मोह के कारण ही मनुष्य पक्षपात करता हे। जो पक्षपाती है, उससे न्याय की आशा नहीं की जा सकती। इस लिए निष्पक्ष न्यायप्रेमी बनने के लिए यह जरूरी है कि सब प्रकार का मोह छोड कर मनुष्य वीतराग बने !

मोह दो प्रकार का होता है-स्वत्वमोह और कालमोह ।

स्वत्वमोह

अपनी होने से ही कोई वस्तु सच्ची नहीं हो जाती और न पराइ होने से ही कोई वस्तु झूठी हो जाती है। अपनापन सत्य की पहिचान नहीं हैं । अमुक वस्तु अपनी है, इसलिये सच्ची है-यह स्वत्वमोह की आवाज है, किन्तु अमुक वस्तु सच्ची हे, इसलिए अपनी है यह आवाज विवेक की है।

अपनी होने से कोई वस्तु हमें प्यारी तो हो सकती है, किन्तु वह सबके लिये अच्छी है-ऐसा दावा वह नहीं कर सकता, जो सम्यग्दृष्टि है । अपनी माँ हमारे लिए कितनी भी प्यारी और पूज्य हो, किन्तु केवल इसीलिए क्या हम ऐसा दावा कर सकते हैं कि वह सब लोगों के लिए उतनी ही प्यारी और पूज्य है ?

सूत्रों के अनुसार मालूम होता है, कि अपने बडे भाइ नन्दीवर्द्धन की बात मानकर वर्द्धमानकुमार ने महाभिनिष्क्रमण जसे पवित्र विचार को भी दो वर्ष के लिए स्थगित कर दिया था। इस घटना के आधार पर वर्द्धमान स्वामी ऐसा तो कह सकते हैं—कि जैसे मैने बडे भाइ की बात मान ली है, उसी प्रकार सब लोग अपने-अपने बडे भाइ की बात माना करें।

परन्तु उन्होंने कभी ऐसा नहीं कहा और न कह भी सकते थे—कि मैंने जैसे नन्दीवर्द्धन की बात मानी है, उसी प्रकार सब लोग नन्दीवर्द्धन की बात माना करें, क्यों कि वे मेरे बडे भाई हैं !

सम्यग्दृष्टि को सत्य का ही आग्रह होता है, अपनेपन का नहीं । उसकी नजर सम्यक् पर होती है अपनेपन पर नहीं ।

सम्यग्दृष्टि कभी ऐसा नहीं कह सकता-कि जैनधम मेरा है, इसलिए सच्चा है ! किन्तु वह सिर्फ यही कहेगा या उसे यही कहना चाहिए कि जैनधर्म सच्चा है, इसलिए मेरा है !

चौंकिये नहीं, जैनधर्म की बात तो एक उदाहरण के रूप में कह गया हूँ, किन्तु आज दुनियाभर के सारे सम्प्रदाय अपने अपने मजहब को ही सच्चा समझते हैं और दूसरों को झूटा ! इसके लिए अज्ञानी, मिथ्यात्वी, म्लेच्छ, काफिर और नास्तिक जैसे शब्द भी बना रक्खे हैं उन्होंने । यह सब एकान्त-दृष्टि है । वीतराग की बताई हुई अनेकान्तदृष्टि उन सब का समन्वय करने के ही लिए है !

एकान्तदृष्टियों के दुराग्रह के कारण ही धार्मिक दृष्टि से भी आज मानवसमाज की चिन्दियाँ-चिन्दियाँ हो गई हैं । सब प्रकार के साम्प्रदायिक संघर्ष के मूल में उसी स्वत्वमोह की गर्जना है !

स्वत्वमोह के विजेता वीतराग वर्द्धमानस्वामी ने आज के तथाकथित जैनसमाज के ही लिए धर्मप्रवचन नहीं किया था, किन्तु —

"सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं ।"

(जगत् के सभी जीवों की रक्षारूप दया के लिए भगवान ने प्रवचन कहा है ।)

इसीलिये तो कहा जाता है, कि उनके समवसरण में मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी आकर उपदेश सुना करते थे ।

कालमोह

कालमोह दो प्रकार का है—प्राचीनत्वमोह और अर्वाचीनत्वमोह ।

जैसे अपनापन सत्य की पहिचान नहीं है, वैसे ही नयापन या पुरानापन भी सत्य की पहिचान नहीं है । अमुक वस्तु पुरानी है, इसलिए अच्छी है अथवा अमुक वस्तु नई है, इसलिये अच्छी है-यह कालमोह की आवाज है, किन्तु अमुक वस्तु सच्ची है, इसलिए अच्छी है यह विवेक की वाणी है ।

महाकवि कालिदास के शब्दों में:—

पुराणमित्येव न साधु सर्वम् न साधु सर्वम् नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्यय-नेहबुद्धिः ॥

[न सब पुराना होने से ही अच्छा माना जा सकता है और न सब नया होने से ही । सज्जन परीक्षा करके जो ठीक मालूम होता है, उसी को ग्रहण करते हैं (फिर भले ही वह नया हो या पुराना) दूसरों के विश्वास पर चलने वाले तो मूढ हैं ।]

यह बात एक चुटकुले से भी अच्छी तरह समझी जा सकती है :—

पहला आदमी—मेरा धर्म पाँच हजार वर्ष पुराना है ।
दूसरा „ —मेरा मजहब पाँच लाख वर्ष पुराना है ।
तीसरा „ —मेरा सम्प्रदाय पांच करोड वर्ष पुराना है ।
चौथा „ —(पांचवे से) क्यों भाई, आप किसे अच्छा समझते हैं ?

पाचवॉ „ —जो सब से पुराना होगा, वही सबसे खराब होगा।
चौथा „ —ऐसा कैसे कह रहे है आप?
पाचवॉ „ —इसलिए कि पाप सब से पुराना है और सब से खराब भी।
चौथा „ —बहुत ठीक! इसी लिए में नये का भक्त हूँ, पुराने का नहीं।
पाचवॉ „ —इस विषयमें आपके बाप की क्या राय थी?
चौथा „ —जी हा, वे भी यही मानते थे।
पाचवॉ „ —और आपके पूज्य पुत्र जी की राय?
चौथा „ —यह क्या? पूज्य पिताजी के लिये तो आप ने सिर्फ बाप कहा और पुत्र को पूज्य विशेषण लगा दिया! आपको बोलना आता है या नही?

पाचवा आदमी—माफ कीजिये, मैं समझा आप नये के भक्त है। और पिता की अपेक्षा पुत्र तो नया होता है, इसलिए पिताजी का विशेषण छीन कर मैंने पुत्र के पहले लगा दिया था!

यह सवाल सुन कर सब की ऑखें खुल गई।

सचमुच विवेकी मनुष्य नयेपन या पुरानेपन का आग्रही नहीं, सत्याग्रही होता है। वह समझता है कि नई या पुरानी होने से ही कोई वस्तु उपादेय नहीं हो जाती, किन्तु केवल सच्ची होने से ही उपादेय होती है।

विद्वान् बनाने का ध्येय एक-सा होते हुए भी जैसे सभी कक्षाओं का पाठ्यक्रम अलग-अलग होता है, वैसे ही जगत् कल्याण का ध्येय एक-सा होने पर भी द्रव्य-क्षेत्र काल और भाव के अनुसार सत्य के बाह्य रूपों में भिन्नता हो जाती है। किन्तु सम्यग्दृष्टि उन सभी भिन्नताओं के भीतर छिपी हुई ध्येयरूप एकता को देखता है—उसकी नजर माला के भीतर छिपे हुए एक धागे की ओर होती है कि जिस पर भिन्न मणियॉ पिरोई रहती हैं।

कालमोह के विजेता वीतराग वर्धमान स्वामी ने अर्वाचीन होने से ही "चतुर्याम" को उपादेय नहीं मान लिया, और चतुर्याम की अपेक्षा प्राचीन होने से ही "पचमहाव्रत" को अनुपादेय नहीं माना! दूसरी ओर पुराने होने से ही चार वेदों को प्रामाणिक नहीं मान लिया और न बौद्ध आदि दर्शनों की मान्यताएँ नई होने से ही उन्हें प्रामाणिक माना! उनकी नजर केवल सत्य पर थी—केवलज्ञान पर थी, इसीलिए वे केवलज्ञानी कहलाये।

साराश

कहने का आशय यह है कि स्वत्वमोह और कालमोह से ऊपर उठने वाला ही वीतराग है। जो वीतराग है, वही सब के कल्याण के लिए निर्भयतापूर्वक निष्पक्ष सत्य-विचार कह सकता है। इसी लिये वह आराध्य-देव है।

वीतराग-देवों की आराधना या उपासना केवल इसीलिए की जाती है, कि जिससे हमें भी उन्हीं के समान वीतराग बनने का प्रयत्न करने की प्रेरणा मिलती रहे! इति शम्॥

णमो समणस्स भगवओ सिरी महावीरस्स ।

श्री नमस्कार महामंत्र

लेखकः—श्रीमद्विजय यतीन्द्र सूरीश शिष्य मुनि देवेन्द्र विजय "साहित्य प्रेमी"

नमस्कार समो मंत्रः, शत्रुंजय समो गिरिः ।
वीतराग समो देवो, न भूतो न भविष्यति ॥१॥

जिस प्रकार वैदिक समाज में वैदिक मंत्रों तथा गायत्री मंत्रों का पारसी और ईशाइयों में प्रार्थना का महत्व है । उसी प्रकार श्री जैन शासन में श्री नमस्कार महामंत्र का महत्ताशाली स्थान माना गया है । धर्मोपासक कोई भी प्राणी हो फिर वे अवस्था से बाल हो, वृद्ध हो, अथवा तरुण हो सब प्रत्येक समय नमस्कार महामंत्र का श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं । जिनेन्द्र शासन में इस मंत्राधिराज के समान दुसरा कोई मंत्र अथवा विधान नहीं है । आत्मिक साधना हो या व्यवहारिक कार्य हो, व्यापार हो अथवा परदेश गमन हो, मूल बात छोटे बड़े सब कार्यों में सर्व प्रथम महामंगलकारी श्री आदि मंत्र (नवकार) का ही स्मरण किया जाता है । पूर्वाचार्यों ने जितने भी आश्चर्य जनक कार्य किये हैं, जिन्हें सुनकर हम विश्मित हो जाते हैं । उन सब में भी नमस्कार मंत्र की आराधना का ही फल सन्निहित है । पंचमांग श्री व्याख्या प्रज्ञप्ती [भगवती] सूत्र का प्रारंभ नमस्कार मंत्र से मंगलाचरण करने के पश्चाद् ही किया गया है । श्री महानिशीथ सूत्र में भी लिखा है किः—

"ताव न जायइ चित्तेण, चिन्तियं पत्थियं च वायाए ।
काएण समाढ़त्तं, जाव न सरिओ नमुक्कारो ॥"

चित्त से चिन्तित, वचन से प्रार्थित और काया से प्रारम्भित कार्य वहीं तक सिद्धि को प्राप्त नहीं होते, जब तक कि नमस्कार मंत्र का स्मरण नहीं किया जाता।

इस प्रकार महानिशीथ सूत्र ही नहीं, अपितु अनेक सूत्र-ग्रन्थों तथा पूर्वाचार्यों ने इस चौदह पूर्व के सार भूत नमस्कार महामंत्र की महत्ता दिखलाई है । ऐसे महा महिमावन्त नमस्कार का उच्चारण करते समय किस पदमें कितने और कौन से अक्षर होना चाहिये ? नमस्कार मंत्र का ही स्मरण क्यों करना चाहिये ? यह दिखलाना ही यहाँ हमारा ध्येय हैं । श्री महानिशीथ सूत्र के :—

"तहेव च तदत्थाणुगमियं इक्कारस पय परिच्छिन्नं ति आलावगतित्तीखडक्ख परिमाणं 'एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ

मगलं ॥ १ ॥ ' इय चूल त्ति अहिज्जति त्ति " "तत्र प्रवृत् तदेवम्, हवइ मगल इत्यस्य साक्षादागमे भणितत्वात् प्रभु श्री वज्रस्वामी प्रभृति सुवहुश्रुत सुविहित सविग्न पुवाचार्य सम्मतत्वाच्च ' हवइ मगल ' इति पाठेन अष्टषष्ठयक्षर प्रमाण एव नमस्कार पठनीय "

[श्री अभिधान राजेन्द्र कोश भाग ४ पृष्ठ १८३६]

इस पाठानुसार अडसठ अक्षर प्रमाण श्री नमस्कार मत्र का स्मरण करना चाहिये। जो इस प्रकार है —

" णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्व साहूण।

एसो पच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।

मगलाणच सव्वेसिं, पढम हवइ मगलं ॥१॥

इसके अडसठ अक्षरों की गणना इस प्रकार हे —

सत्त पय सत्त सत्त य, नव अट्ठ य अट्ठ अट्ठ नय पहुति।

इय पय अक्खरसखा असट्ठ पूरेई अडसट्ठी ॥

[श्री अभिधान राजेन्द्र भाग ४ पृ १८३६]

प्रथम पद के सात, दुसरे पद के पाच, तीसरे पद के सात, चौथे पद के सात, पाचवें पद के नव, छट्टे पद के आठ, सातवें पद के आठ, आठवें पद के आठ और नवमें पद के नो। इस प्रकार यह पदाक्षर सख्या जोडने से (७ ५-७-७ -९-८-८-८-९= ६८) अडसठ अक्षर होते हैं। शास्त्रीय आज्ञानुसार ६८ अक्षर प्रमाण नमस्कार का पठन होना ही चाहिये इसलिये लिखा है कि —

" त्रयस्त्रिंशदक्षरप्रमाण चूलिका सहितो नमस्कारो भणनीय इत्युक्त भवति "
(श्री अभिधान राजेन्द्र भा ४ पृ १८३६)

अर्थात ३३ अक्षर प्रमाण चूलिका सहित नमस्कार मत्र का स्मरण करना चाहिये। जो लोग ऐसा कहते है कि ३५ अक्षर प्रमाण ही नमस्कार मत्र पठनीय है। उनको उक्त प्रमाण का तात्पर्य समझना चाहिये।

नमस्कार मत्र का संक्षिप्त अर्थ —

णमो अरिहताण —नमस्कार हो अरिहंतों के लिये।

णमो सिद्धाण —नमस्कार हो सिद्धों के लिये।

णमो आयरियाणं —नमस्कार हो आचार्य महाराज के लिये।

णमो उवज्झायाण —नमस्कार हो उपाध्यायजी महाराज के लिए।

णमो लोए सव्व साहूणं —नमस्कार हो ढाई द्वीप प्रमाण लोक में विचरने वाले समस्त साधू मुनिराजों के लिये।

एसो पंच नमुक्कारो :—यह पांचों को किया हुवा नमस्कार।
सव्व पावप्पणासणो :—सब पापों का नाश करने वाला है।
मंगलाणं च सव्वेसिं :—और सब मंगलों में,
पढमं हवइ मंगलं :—प्रथम मंगल हैं।

किस पद मे कौन से अक्षर

नमस्कार मंत्र के नौ पद और अडसठ अक्षर हैं। इसके प्रथम पदको तीन प्रकार से लिखा जाता है — णमो अरिहंताणं, णमो अरहंताणं और णमो अरुहंताणं। इन में से अरहंताणं और अरुहंताणं नहीं, अर्पातु वास्तव में 'अरिहंताणं' ही लिखना चाहिये। श्री [1]महानिशीथ सूत्र और श्री [2]भगवती सूत्र में 'अरिहंताणं' ही लिखा है। श्री आवश्यक सूत्र में तथा श्रीविशेषावश्यक भाष्य मे श्री भद्रबाहु स्वामी और श्रीजिनभद्रगणी क्षमा श्रमण ने "अरिहंताणं" इस पद की ही व्याख्या की है।

दूसरा पद "णमो सिद्धाणं" है। यह सर्वत्र एक समान ही लिखा मिलता है। इस में किसी प्रकार का विकल्प नहीं है।

तीसरा पद "णमो आयरियाणं" है। इस पद को 'आयरियाणं, आयरीयाणं आइरियाणं और आइरीयाणं' इस प्रकार चार तरह से लिखा जाता है। परन्तु वास्तव में 'आयरियाणं' ही लिखना चाहिये, न कि आयरीयाणं, आइरियाणं या आइरीयाणं। श्री महानिशीथ सूत्र के तीसरे अध्याय में और भगवती सूत्र में 'आयरियाणं' ही आलेखित है।

चौथा पद 'णमो उवज्झायाणं' है। लेखन दोष के कारण यह पद दो प्रकार से लिखा मिलता है-णमो उवज्झायाणं और णमो उवज्झायाणं। इनमें से प्रथम शुद्ध और दूसरा अशुद्ध है। उच्चारण भी प्रथम पद का ही होता है। न कि दूसरे पद का। महानिशीथ सूत्र में तथा भगवती सूत्र में णमो उवज्झायाणं ही लिखा है।

पांचवां पद 'णमो लोए सव्व साहूणं' है। इस पद को अनेक मनुष्य 'णमो लोये सव्व साहुणं' एसे लिखते तथा बोलते हैं। जो अशुद्ध है। वास्तव में 'णमो लोए सव्व साहूणं' ही लिखना तथा बोलना चाहिये। महानिशीथ सुत्र में यही पद प्राप्त है।

इन पांचों पदों के आदि में णमो आता है, यह भी दो प्रकार से लिखा जाता है। णमो और नमो ये दोनों शुद्ध है। क्यों कि नमो के नकार का 'वाऽऽदौ' ।८।१।२२९। सूत्र से विकल्प से णकार होता है। विकल्प का मतलब है कि एक पक्ष में होता है अथवा नहीं भी होता है। किन्तु नमस्कार मंत्र प्राकृत होने से नमो के स्थान पर णमो लिखना ठीक है।

१— देखो श्री अभिधान राजेन्द्र भाग २ पृष्ट १०५०

२— देखो श्री अभिधान राजेन्द्र भाग ४ पृष्ट १८३५

सिद्धहेम व्याकरण (प्राकृत)

यद्यपि प्राकृत कल्पलतिका, प्राकृत प्रकाश, षड्भाषा चन्द्रिका, प्राकृत मजरी और प्राकृत लक्षण आदि अनेक प्राकृत व्याकरणें प्राप्त है। तथापि जिस सरलतम प्रकार से कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराजने श्री सिद्धहेम शब्दानुशासनके अष्टमाध्याय में विस्तार पूर्वक प्राकृत भाषा के व्याकरण को समझाया है वैसे अन्य वैयाकारणों ने नहीं। अत यहाँ जहा जहा भी शब्दों की संस्कृत में सिद्धि की गई है, वहा वहा श्रीसिद्धहेम प्राकृत व्याकरण के सूत्रों को ही लिया है। संस्कृत सिद्धि लघु सिद्धान्त कौमुदि (पाणिनी व्याकरण) के अनुसार की है। क्यों कि मेरा प्रवेश (अध्ययन) पाणिनि व्याकरण का है।

यहाँ हम क्रमश अरिहंत सिद्धादि पाचों पदों का पूर्वाचार्य सम्मत अर्थ चालुमें और पाचों पदों की प्रक्रिया यथा स्थान पादनोंटों में लिख रहे हैं।

अरिहंतका अर्थ —

"*अरिहंत*' इस शब्द का अर्थ श्रीभद्रबाहु स्वामिने श्री आवश्यक निर्युक्ति में इस प्रकार किया है —

"इन्दिय विसय कसाये, परिसहे वेयणा उवसग्गे।
ए ए अरिणो हता, अरिहता तेण वुच्चति॥

१— 'अर्ह्' धातु से वर्तमान कालीन कत अर्थ में शतृ प्रत्यय लगाने से संस्कृत व्याकरणानुसार "अर्हत्" शब्द इस प्रकार बनता है — अर्ह्+शतृ 'लशक्वतद्धिते' ।१।३।८। सूत्र से शतृ के श का की इत् संज्ञा और 'तस्यलोप' ।१।३।९। सूत्र से शकार का लोप हुवा। तब अर्ह् + अतृ रहा यहां 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' ।१।३।२। सूत्र से ऋकार की इत् संज्ञा और 'तस्यलोप' सूत्र से ऋकार का लोप होने पर अर्ह्+अत् रहा 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' न्याय से सब का सम्मेलन करने से 'अर्हत्' यह रूप सिद्ध होता है।

'अर्हत्' का प्राकृत रूप 'अरिहंताणं' इस प्रकार बनता है —

अर्हत् शब्द को 'उच्चार्हति' ।८।२।१११। सूत्र से हकार से पूर्व 'इत्' हुवा तब अर्इहत्' बना, रेफ में इकार को मिलाने पर अरिहत् बना। उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातो ।७।१।७० (पाणिनी के) सूत्र से नुम् होकर अनुबन्ध का लोप होने पर अरिहन्त् रहा। 'वक्रादावन्त' ... 'न्नो व्यञ्जने' ।८।१।२५। सूत्र से नकार का अनुस्वार और प्राकृत में स्वर रहित व्यञ्जन नहीं रहता। अत अन्त्य हल् तकार में अकार आया तब बना अरिहंत।

'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च' ।२।३।१६। सूत्र से नम के योग से चतुर्थ विभक्ति होती है। अत यहां भी नम के योग से चतुर्थी का बहुवचन प्रत्यय भ्यस आया; तब अरिहंत+भ्यस् ऐसा बना। 'चतुर्थ्याः षष्ठी' ।८।३।१३१। सूत्र से षष्ठी का बहुवचन प्रत्यय आम् आया। तब अरिहंत+आम बना। 'जस्-शस्-ङसि-त्तो-दो-द्वामि दीर्घः' ।८।३।१२। सूत्र से अजन्ताङ्ग का दीर्घ हुवा 'टा आमोर्णः' ।८।३।६। सूत्र से आम के आ का ण तथा 'मोऽनुस्वारः' ।८।१।२३। सूत्र से मकार का अनुस्वार होने पर अरिहंताणं ऐसा रूप सिद्ध हुवा।

अट्ठविहं पि य कम्मं, अरिभूयं होइ सव्व जीवाणं ।
तंकम्ममरिहंता. अरिहंता तेण वुच्चंती ॥
अरिहंति वंदण नमंसणाणि अरिहंति पूय सक्कारं ।
सिद्धि गमणं च अरिहा. अरिहंता तेण वुच्चंति ॥
देवासुरमणुए सुय, अरिहा पुया सुरूत्तमा जम्हा ।
अरिणो हंता अरिहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ "

अप्रशस्त भावों में रमण करती इन्द्रियों द्वारा काम भोगों की चाहना को, तथा क्रोध मान माया और लोभादि कषायों, क्षुधा, तृषादि बाईस परिषहों; शारिरीक और मानसीक वेदनाओं के उपसर्गों का नाश करने वाले, सब जीवों के शत्रुभूत उत्तर प्रकृतियों सहित ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों का नाश करने वाले. वन्दन और नमस्कार, पूजा और सत्कार के योग्य हों, और सिद्धि (मोक्ष) गमन के योग्य हों. सुरासुरनरवालय पूजित तथा आभ्यन्तर अरियों-शत्रुओं को मारनेवाले जो हों वे अरिहंत कहलाते हैं।

श्रीमद् जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण भी विशेषावश्यक भाष्य में लिखते है कि:—

" रागद्दोस कसाए य, इन्दियाणी पंच वि परिसहे ।
उवसग्गे नामयंता, नमोऽरिहा तेण वुच्चंति ॥"

राग, द्वेष और चार कषाय, पांचों इन्द्रियां तथा परिषहों को झुकानेवाले अर्थात् इनके सामने स्वयं न झुकनेवाले, अपितु इन्हें ही झुकाने वाले अरिहंत कहलाते हैं। उनको नमस्कार हो।

" सर्वज्ञो जितरागादि दोषस्त्रैलोक्य पूजितः
यथा स्थितार्थवादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥ ४ ॥ '

जो सर्वज्ञ है, जिन्होंने रागादि दोषों को जीता है. जो त्रैलोक्य पूजित है, जो पदार्थ जैसे है, उनका यथार्थ विवेचन करते हैं, वे देव "अर्हन्' परमेश्वर कहलाते हैं।

(श्रीमद् हेमचन्द्रसूरि—योगशास्त्र द्वि. प्र.)

इस प्रकार बहुश्रुत पूर्वाचार्यों ने विविध प्रकार से अरिहंत शब्द का अर्थ अनेक ग्रन्थों में किया है । अरिहंत बननेवाली आत्मा पूर्वभवों मे अपने जैसी ही सामान्य आत्मा होती है। परन्तु अरिहंत बनने से पूर्व यों तो अनेक भवों से वे आत्मसाधना में मग्न रहती हैं। तथापि अरिहंत वीतराग बनने से तीसरे पूर्वभव में विंशतिस्थानक महातप की आराधना कर के तीर्थंकर नामकर्म निकाचित रूप से बांधकर देवलोक, ग्रैवेयक अथवा अनुत्तर विमान में मध्यभव करके पुनः मनुष्यलोक मे शुभकर्मा माता पिता के यहाँ जन्म लेकर जिनका सुरासुरेन्द्रों ने च्यवन, जन्म, दीक्षा कल्याणक महोत्सव मनाया है, ऐसी वे चारित्र धर्म अंगीकार करके आत्मा के जो ज्ञानावरणीयादि आभ्यन्तर शत्रु हैं, उनको निजबल पराक्रम से परास्त करके केवलज्ञान—केवलदर्शन

प्राप्त करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग बनती हैं, जिन्हें हम अरिहंत, जिन, जिनेन्द्र आदि अनेक गुण निष्पन्न नामों से पहचानते हैं। ऐसे श्री तीर्थंकर-अरिहंतों के चार मुख्य अतिशय, आठ महाप्रातिहार्य, चौंतीस अतिशय तथा उनकी वाणी के पैंतीस अतिशय होते है। जो क्रमश इस प्रकार है —

चार मूल (मुख्य) अतिशय—

१ ज्ञानातिशय—अरिहत भगवान जन्म से ही मतिश्रुत और अवधिज्ञान से युक्त होते हैं। दीक्षा ग्रहण करते ही चौथा मन पर्यव ज्ञान और घनघाती कर्मों का क्षय होने पर केवल ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जिस से विश्व के सब पदार्थों को देखकर, भूत भविष्य और वर्तमान के समस्त भावों को यथावत् जानना तथा उनका यथार्थ व्याख्यान करना ज्ञानातिशय है।

२ वचनातिशय—सुर मनुष्य तिर्यंचादि समस्त जीवों के समग्र सशयों को एक साथ दूर करनेवाली परम मधुर शान्तिप्रद उपादेय तत्वों से युक्त ऐसी वाणी, जिसके श्रवणसे कर्मोंसे सन्त्रस्त जीवों परम आल्हाद एव सुख को विना परिश्रम प्राप्त कर सकते है, याने— सब प्रकार से उत्तम तथा जो जिस भाषा का भाषी हो उसको अपनी उसी [1]भाषामें समझ पड जाय ऐसी जो भगवद् वाणी उसके अतिशय को वचनातिश कहते हैं।

३ पूजातिशय—सुरासुरनर और उनके स्वामी [इन्द्र राजा] जिन की पूजाकर के अपने पाप धोते हैं। वह पूजातिशय है।

४ अपायापगमातिशय—श्री अरिहत भगवान जहा जहा विचरण करते हैं वहा वहा से प्रायः [2]सवा सौ सवा सौ योजन तक किसी को किसी प्रकार के कष्ट प्राप्त न हों और जो हों वे भी नष्ट हो जाय तथा अतिवृष्टि अनावृष्टि एवं परचक्र भयादि समस्त उपद्रव दूर होते है। वह अपायापगमातिशय है।

आठ प्रातिहार्य —

अशोक वृक्ष सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनञ्च ।
भामण्डल दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

अशोक वृक्ष, देवताओं के द्वारा पचवर्ण सुगंधी फूलों की वर्षा, दिव्यध्वनि, देवों द्वारा चवरों का ढोना, सिंहासन, भामण्डल, दुन्दुभि और छत्र, ये आठ प्रातिहार्य जिनेश्वरों के होते हैं।

१-२— तेषामेव स्वस्वभाषापरिणाममनोहरम्।
अप्येक रूपं वचनं, यत्ते धर्मावबोधकृत्॥ २॥

साग्रेऽपि योजनशते, पूर्वोत्पन्ना गदाम्बुदा ।
यन्ञसा विलीयन्ते, त्वद्विहारानिलोर्मिभि ॥ ४॥

(श्रीवीतराग स्तोत्र तृतीय प्रकाश)

चौंतीस अतिशय :

" तेषाम् च देहोऽद्भुतरूपगन्धो, निरामयः स्वेदमलोज्झितश्च ।
श्वासोऽब्जगन्धो रुधिरामिषं तु, गोक्षीरधाराधवलं ह्यविस्रम् ॥५७॥
आहारनीहारविधिस्त्वदृश्यश्चत्वार एतेऽतिशयाः सहोत्थाः ।
क्षेत्रे स्थितिर्योजनमात्रकेऽपि, नृदेवतिर्यग्जनकोटिकोटेः ॥५८॥
वाणी नृतिर्यक्सुरलोकभाषा, संवादिनी योजनगामिनी च ।
भामण्डलं चारु च मौलिपृष्ठे, विडम्बिताहर्पतिमण्डलश्रि ॥५९॥
साग्रे च गव्यूतिशतद्वये, रुजावैरेतयो मार्यतिवृष्ट्यवृष्टय ।
दुर्भिक्षमन्यस्वकचक्रतो भयं, स्यान्नैत एकादश कर्मघातजाः ॥६०॥
खे धर्मचक्रं चमराः सपादपीठं, मृगेन्द्रासनमुज्ज्वलं च ।
छत्रत्रयं रत्नमयध्वजोऽङ्घ्रिन्यासे च चामीकरपङ्कजानि ॥६१॥
वप्रत्रयं चारु चतुर्मुखाङ्गता, चैत्यद्रुमोऽधोवदनाश्च कण्टकाः ।
द्रुमानतिर्दुन्दुभिनाद उच्चकैर्वातोऽनुकूलः शकुनाः प्रदक्षिणाः ॥६२॥
गन्धाम्बुवर्षं बहुवर्णपुष्पवृष्टिः, कचश्मश्रुनखाप्रवृद्धिः ।
चतुर्विधामर्त्यनिकायकोटिर्जघन्यभावादपि पार्श्वदेशे ॥६३॥
ऋतूनामिन्द्रियार्थानामनुकूलत्वमित्यमी ।
एकोनविंशतिर्दैव्याश्चतुस्त्रिंशच्च मीलिताः ॥६४॥
(श्री अभिधान चिन्तामणी देवाधिदेव काण्ड)

१ लोकोत्तर तथा अद्भुत रूपवाला, मल और स्वेद से रहित शरीर। २ कमलों की सौरभ के समान परम सुगन्धवाला श्वासोश्वास। ३ रक्त[1] और मांस दोनों दूध के समान श्वेत। ४ आहार और नीहार विधि का चर्मचक्षुवालों को नहीं दिखना। ये चार

---

१ कई तर्कवादी लोक यह पूछ बैठते हैं कि "भगवान के मांस और रक्त किस प्रकार से सफेद हो सकते हैं? यह तो मात्र भगवान की महत्ता या वैशिष्ट्य दिखलाने के लिये उक्त बात कही गई है। वास्तव में इसमें कोई तथ्यांश दिखाई ही नहीं देता।" इसका समाधान है कि — परमकृपालु भगवान के रक्त, और मांस का सफेद होना कोई आश्चर्य एवं उनका वैशिष्ट्य सिद्ध करने के लिए बनाई गयी युक्ति मात्र नहीं है। जैन शासन में जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही कही गई है। अस्तु। हम देखते हैं कि जिस प्रकार एक माता का वात्सल्य अपने पुत्र पर होने से पुत्र बहुत वर्षों के पश्चात् जब माता के पास आकर उसे नमस्कार करता है तब स्नेह के वश माता के स्तनों से दूध झरता है अथवा स्तनों में दूध आता है। यदि उसी माता के सामने अन्य के पुत्र को लाया जाता तो उसके स्तनों से कदापि दूध न तो आवेगा ही और न झरेगा ही। उसी प्रकार जिन की आत्मा में सारे जगत् के जीवों के लिए इस प्रकार वात्सल्य का सागर लहराता है मानों समुद्र में जल। तो भला सोचिए क्यों न उनके शरीर का रक्त और मांस दुग्धवत् श्वेत होगा? अवश्य होगा। इसमें सन्देह को लेशमात्र भी स्थान नहीं है।

अतिशय जन्म से ही होते हैं। ५ योजन प्रमाण क्षेत्र में देवों तथा देवेन्द्रों द्वारा रचित समवसरण (व्याख्यान सभा) में असंख्य देवों, मनुष्यों और तिर्यंचों का बिना किसी कष्ट के समावेश हो जाना। ६ मनुष्य, देव तथा तिर्यंच सब को निज निज भाषा में योजन प्रमाण भूमि में सब को समान रूप से सुखपूर्वक सुनाई देना। ७ मस्तक के पृष्ठ भाग में अपने मनोहर सौन्दर्य से सूर्य की शोभा की भी विडम्बना करनेवाले भामण्डल का रहना। ८ सवासो योजन प्रमाण क्षेत्र में उपद्रव न होना। ९ समस्त प्रकार की ईतियों का शमन। १० मारी आदि महाभयकर रोगों का शमन। ११ अतिवृष्टि न होना। १२ अनावृष्टि न होना। १३ दुर्भिक्ष न होना। १४ स्वचक्र और १५ परचक्र भय न होना। ये ग्यारह अतिशय घनघाति चार (ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय) कर्मों का क्षय होने से होते हैं। १६ आकाश में धर्म का चलन। १७ देवों द्वारा अहोनिश चामरों का ढोना। १८ उज्ज्वल ऐसे परमशोभा से युक्त पादपीठ सह सिंहासन का रहना। १९ मस्तक पर छत्र त्रय रहना। २० रत्नमय धर्मध्वज साथ रहना। २१ विहार में चलते समय देवों द्वारा चरणों के नीचे स्वर्णकमलों की रचना करना। २२ त्रिगढ का होना। २३ पद्मवर वेदिका पर विराजित भगवान का चारों दिशाओं में समान रूपसे दीखना। २४ अशोक वृक्ष की छाया का निरंतर रहना। २५ कांटोंका अधोमुख हो जाना २६ वृक्षों का ऐसा झुकजाना कि मानों ये भगवान को नमस्कार करते हों। २७ देवों द्वारा भुवनव्यापी देवदुन्दुभि (वाद्य विशेष) की ध्वनि करना। २८ अनुकूल हवा चलना। २९ पक्षियों द्वारा प्रभु को वदन करना ३० सुगन्धयुक्त जल की वर्षा होना। ३१ बहु वर्णफूलों की वृष्टि होना। ३२ बाल, दाढी और मूछ नखादि का वर्धन न होना। ३३ कम से कम क्रोड देवता सदैव भगवान के साथ रहना। ३४ छहों ऋतुओं का अनुकूल होना। ये (४-११-१९=३४) चौतीस अतीशय अरिहंत भगवान के होते हैं। श्री समवायाग सूत्र की ३५ वीं समवाय में भी अतिशयों का वर्णन है।

भगवान के चार मूल अतिशयों में से जो वचनातिशय है वह पैंतीस गुणों से युक्त होता है। वाणी के गुण इस प्रकार हैं —

संस्कारवत्यमौदात्यमुपचार परीतता।
मेघगम्भीरघोषत्व, प्रतीनादविधायिता ॥६५॥

दक्षिणत्वमुपनितरागत्व च महार्थता।
अव्याहतत्व शिष्टत्व, सशयानामसभवा ॥६६॥

निराकृतान्योत्तरत्व, हृदयङ्गमतापि च।
मिथ साकाक्षता, प्रस्तावौचित्य तत्वनिष्ठता ॥६७॥

अप्रकीर्णप्रसृतत्वमस्वश्लाघान्यनिन्दिता।
आभिजात्यमतिस्निग्धमधुरत्व प्रशस्यता ॥६८॥

केवली भद्रबाहुस्वामि, श्री जिनभद्रगणी क्षमाक्षमण, विद्वद्‌शिरोमणी श्री हरिभद्र सूरि, वृतिकार श्री मलयगिरीजी, आदि अनेक पूर्वाचार्यों ने भी अरिहंत का यही अर्थ किया है। क्या वह असत्य है? नहीं वह असत्य नहीं सत्य है। हम अपने अभिमत की पुष्टि करने के लिये जो कपोलकल्पित अर्थ करते हैं वह अप्रामाणिक हैं। जो लोग अरिहंत शब्द का मनमाना अर्थ कर उससे अपने अवास्तविक तर्को का क्षेपन करते हैं, उनको पूर्वाचार्यों के बनाए शास्त्रों का मनन करना चाहिये। मनन करते समय ममत्व और दृष्टिराग का पटल आखों से हटा लेना चाहिये। क्यों कि कामराग और स्नेहराग को हटाना तो सरल है, परन्तु दृष्टिराग बडी कठिनता से दूर होता हैं। तभी तो श्रीमद् हेमचन्द्र सूरिजी ने वीतराग स्तोत्र में लिखा है कि—

कामराग स्नेहरागानीपत्करनिवारणौ।
दृष्टिरागस्तु पापीयान्, दुरुच्छेदः सतामपि ॥१०॥

यदि उक्त स्थिति वाले होकर सत्य का अवलोकन किया जाय तो अवश्य ही सत्य की प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्नः—अरिहंत, अरुहंत, और अरहंत ऐसे तीन पद व्याकरण से "अर्ह्" धातु से बनते हैं। तो फिर उन तीनों में से यहाँ अरिहंत ही क्यों लिया? अरहंत और अरुहंत क्यों नहीं लिये?

उत्तर—अरहंत और अरुहंत इन दो पदों का पाठभेद के रूप में कहीं कहीं उपयोग हुवा है। परन्तु वह अन्य अर्थों में। न की इस अर्थ में और नवकार में। श्री महानिशीथ सूत्र में अरिहंताणं का ही प्रयोग है, नमस्कार के उपधान के अधिकार में। अरहंत और अरुहंत का अर्थ इस प्रकार है—

'अर्हन्ति देवादिकृतां पूजामित्यर्हन्तः'
अरहंत याने देवादि द्वारा पूजित।

न रोहति भूयः संसारे समुत्पद्यते इत्यरुः, संसारकारकानां कर्मणां निर्मूलः कर्षितत्वात्। अजन्मनि सिद्धे।

संसार में पुनः जो उत्पन्न नहीं होते हैं, उन्हें अरुह कहते है—कर्मो का समूल नाश करने से उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

उक्त दोनों पाठों से यह सिद्ध होता है कि अरहंत याने पूजा के योग्य, और जिन्होंने समस्त कर्मों को निर्मूल कर दिया है वे अरुह याने सिद्ध। यहाँ जरा ममत्व को छोड़कर सोचो कि जो आत्मा कुछ काल पूर्व हमारे जैसे ही सकर्मा एवं संसारी आत्मा थी। वही पुजा के योग्य कैसे बन गई? तब हम इसके उत्तर में झट कह देंगे कि—अनादि काल से आत्मा के साथ जो कर्मों का मैल था याने आत्मा के गुणों के घातक जो कर्म थे उनको सम्यग् क्रियानुष्ठानों द्वारा आत्मा से दूर कर दिये

जिससे वे पूजन के योग्य हो जाती हैं। कर्म आत्मा के दुश्मन थोडे ही हैं जो उनका हनन किया जाता है ?

क्या हम आत्मा के ज्ञानादि गुणों के घातक कर्मों को घातक नहीं मानते ? जो कह दिया जाता है कि कर्म आत्मा के दुश्मन नहीं हैं। कैसे नहीं हैं ? यही समझ नहीं पडती। शास्त्रकारों ने तो कर्मों को आत्मा के दुश्मन कहा ही है। क्यों कि कर्म आत्मा के ज्ञानादि गुणों को आवरित जो करते हैं। शास्त्रों में लिखा है कि—

" कम्मरिवु जयण सामाइयं लब्भति "

श्री आवश्यक[1] सूत्र चूर्णि १ अ

' कामक्रोधलोभमानमोहाख्ये आन्तरशत्रुषट्के "

श्री सूयगडाग[2] सूत्र।

रागद्वेष कषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गघातिकर्म शत्रू जितवन्तो जिन "

श्री जीवाभिगमसूत्र[3] २ प्रतिपत्ति

निघ्न परीषहचमूमुपसर्गान् प्रतिक्षिपन् ।
प्राप्तोऽसि शमसौहित्य, महता कापि वैदुषी ॥१॥

अरक्तो भुक्तवान्मुक्तिमद्विष्टो हतवान्द्विष
अहो ! महात्मना कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभ ॥२॥

श्री वीतराग स्तोत्र ११ वाँ प्रकाश।

यदि हमारे यहाँ कर्मों को आत्मा के शत्रु नहीं माने जाते तो उक्त प्रमाण आते कहा से ? इन शत्रुओं को पराजित करने वाली आत्मा को हम अरिहंत कहते हैं। जो आत्मा कभी ससार में उत्पन्न होने वाली नहीं है। जिसने संसारके कारण भूत कर्मों को निर्मूल कर दिया है, वे अजन्मा अर्थात् सिद्ध है। याने अरुह हैं। अरुह यह नाम सिद्ध भगवान का होने से अघनघाति चार कर्म शेष हैं जिनके ऐसे अरिहत का यह नाम नहीं हो सकता। नाम गुण निष्पन्न होना चाहिये। अत इसी नियमानुसार अरिहंतों का अरिहत यह नाम गुण निष्पन्न और सार्थक होने से नमस्कार मंत्र के आदि के पद में यही आया है न कि अरहताणं और अरुहताण।

प्रश्न —अरिहतों की अपेक्षा सिद्ध भगवान आठों कर्मों पर विजय करके चरम आदर्श को प्राप्त कर चुके हैं। अत अरिहंतों से पहले सिद्धों को नमस्कार करना चाहिये न ? तो फिर अरिहतों को पहले नमस्कार क्यों किया गया ?

---

१ श्री अभिधान राजेन्द्र कोश तृतीय भाग पृ ३४१

२ श्री अभिधान राजेन्द्र कोष प्रथम भाग पृ ७६१

३ श्री अभिधान राजेन्द्र कोष चौथा भाग पृ १४०

उत्तरः—सिद्ध भगवन्तों से पहले अरिहन्त भगवान को नमस्कार करने का मतलव यह है कि–श्री अरिहंत भगवान का उपकार सिद्ध भगवान की अपेक्षा अधिक है। श्री अरिहंत भगवान ही हम को सिद्ध भगवान् की पहचान करवाते हैं। सिद्ध भगवान और अरिहंत भगवान दोनो ने आत्म विकास तो कर लिया है. परन्तु सिद्ध भगवान आठों कर्मो का सर्वथा क्षय कर के मोक्ष मे (लोकाग्र पर) जा कर विराजमान हो गये है। और अरिहंत भगवान सशरीरी अवस्था मे विचरण कर धर्मतीर्थ का का प्रवर्तन करते है, जिसके द्वारा कर्मो से सन्तत प्राणी वीतराग शासन को प्राप्त कर आत्मकल्याण साधते है। अतः सर्व प्रथम अरिहंतों को नमस्कार किया गया है। अरिहंतो को नमस्कार करने के पश्चात् सिद्धो को नमस्कार किया जाना इस रहस्य का द्योतक है कि पहले अरिहंतों को नमस्कार करके वे जिस अवस्था को शेष रहे अघनघाति चार कर्मो (आयु,नाम गोत्र और अन्तराय) का क्षय करके प्राप्त होनेवाले हैं, उस सिद्धावस्था को नमस्कार किया जाता है। श्री अरिहंत भगवान संसारी जीवों के लिये धर्म सार्थवाह हैं याने जिस प्रकार सार्थवाह अपने साथ के लोगों को उनकी आजीवीकोपार्जन के लिये उन्हे समस्त प्रकार की सुविधायें जुटा देता है। उसी प्रकार संसार मे निजआत्म साधना से जो च्युत हो गये है, उन्हें आत्मसाधना में लगा देते है। वे संसार से तिरते हैं और दूसरों को तिराते हैं। अतः उन्हें तिन्नाणं तारयाणं विशेपण दिया गया हैं। सिद्ध भगवान अशरीरी होने से तथा लोकाग्र पर जाकर विराजमान हो गये है, अतः वे हमको किसी प्रकार का उपदेश नहीं देते, अतः हम सिद्धभगवन्तों से पहले अरिहंत भगवान को नमस्कार करते है। इस मे सिद्ध भगवन्तों की किसी प्रकार से आशातना भी नहीं होती।

प्रश्नः—श्री अरिहंत भगवान कैसे होते हैं?।

उत्तरः—श्री अरिहंत भगवान ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणी, वेदनीय और मोहनीय इन चार घनघाती कर्मो का नाश कर के केवलदर्शन–केवलज्ञान को प्राप्त कर सर्वज्ञ बने हुवे। तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले, द्वादश गुणों से विराजित, चौंतीस अतीशयवंत। पैंतीस गुणयुक्त वाणी के प्रकाशक, भव्य जीवों को ज्ञानश्रध्दा रूप चक्षुके देनेवाले। प्रशस्त मार्ग दिखलाने वाले। स्वयं कर्मो को जीतने वाले और दूसरों को जिताने वाले श्री अरिहंत भगवान होते है। श्री मद्हरिभद्रसूरीशकृत अष्टक प्रकरण की श्री अभयदेव सूरिकृत टीका के पृ. २ पर लिखा है कि—

रागोङ्गनासङ्गमनानुमेयो द्वेपोद्विपद्दारण हेतुगस्यः।
मोहः कुवृत्तागम दोपसाध्यो नो यस्य देवः सतुसत्यामर्हन् ॥

जिस देव को स्त्री संग से अनुमान करने योग्य राग नहीं है, जिस देव को शत्रु के नाश करने वाले शस्त्र के संग अनुमान करने योग्य द्वेष नहीं है, जिस देव को दुश्चरित दोप से अनुमान करने योग्य मोह नहीं है, वह ही सच्चा देव अर्हन् (अरिहंत) हैं। अर्थात् राग द्वेष और मोह से जो रहित है, वही देव बनने योग्य है।

श्री अरिहत भगवान के स्वरूप का विशेष विवरण श्री आवश्यक सूत्र श्री विशेषावश्यक भाष्य और श्री वीतराग स्तोत्र आदि से जानना चाहिये।

अरिहत के नाम—

अर्हन् जिन पारगतस्त्रिकालवित्
क्षीणाष्टकर्मा परमेष्ठ्यधीश्वर ॥
शम्भु स्वयम्भूर्भगवान् जगत्प्रभु–
स्तीर्थङ्करस्तीर्थकरो जिनेश्वर ॥ २४ ॥
स्याद्वाद्यभयदसार्वा सर्वज्ञ सर्वदर्शि केवलिनौ।
देवाधिदेवबोधिद पुरुषोत्तमवीतरागाप्ता ॥ २५ ॥

अर्हन्, जिन, पारगत, त्रिकालविद्, क्षीणाष्टकर्मा, परमेष्ठि, अधीश्वर, शंभु, स्वयभू, भगवान, जगत्प्रभु, तीर्थंकर, तीर्थकर, जिनेश्वर, स्याद्वादि, अभयद, सार्व, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, केवली, देवाधिदेव, बोधिद, पुरुषोत्तम, वीतराग और आप्त।

ऐसे परम महिमावन्त श्री अरिहत भगवान की महिमा का गान करते हुये जैनाचार्यवर्य श्रीमद् राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ने श्री सिद्धचक्र पूजा में लिखा है कि—

तित्थयर नाम पसिद्धिजाय, नरामरेहिं पणय हि पाय।
संपुण्णनाण पयड विसुद्ध, नमामि सोहं अरिहन्तबुद्धं ॥ १ ॥
(तीर्थंकर नाम्ना प्रसिद्धिं प्राप्त नरामरै यस्य प्रणतं हि पादम्।
सम्पूर्णज्ञान युक्त विशुद्धं नमामि सोऽहमरिहन्त बुद्धम् ॥)

तीर्थंकर इस नाम से जो प्रसिध्दि को प्राप्त हुये हैं, जिन के चरण कमलों को मनुष्य और देवता प्रणाम करते हैं। जो सम्पूर्ण ज्ञानी हैं, स्वय विशुध्द है, वे ही अरिहन्त बुध्द हैं। उन्हीं को मैं नमस्कार करता हूँ।

[1]सिद्ध —

ध्मात सित येन पुराण कर्म यो वा गतो निर्वृत्ति सौधमूर्ध्नि
ख्यातोनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो, य सोऽस्तु सिध्द कृतमगलो मे ॥

जिसने बहुत भवों के परिभ्रमण से बाधे हुये पुराने कर्मों को भस्मीभूत किये हैं,

---

१ सिध् धातु से निष्ठा " ।३।२।१०७। सूत्र मे क्त प्रत्यय आने पर सिध् + क्त बना। लशक्वतद्धिते ।१।३।८। सूत्र से ककार की इत् संज्ञा तथा तस्य लोप " सूत्र से ककार का लोप होने पर सिध् + त रहा झषस्तथोर्धोऽध " ।८।२।४०। सूत्र से तकार का धकार तथा झलां जश् झशि " ।८।४।५३। सूत्र मे सिध् के धकार का दकार तथा सब को मिलाने पर सिद्ध ऐसा रूप बनता है। सिद्ध शब्द से नम स्वस्ति स्वाहा स्वधालंवषड्योगाच्च ' ।२।३।१६। सूत्र से नम के योग में चतुर्थ विभक्ति होती है। अत चतुर्थी का भ्यम प्रत्यय आया और चतुर्थ्या षष्ठी ।८।३।१३१। से भ्यस् के स्थान पर आम आया सिद्ध + आम् ह्रस्व इत्यादि नो दामि दीर्घ ।८।३।१२। सूत्र से अकारांत को दीर्घ तथा टा आमोर्ण सूत्र से मकार का णकार तथा मोनुस्वार ।८।१।२३। से मकार का अनुस्वार होने पर सिद्धाण सिद्धाणं बनता है।

अथवा जो मुक्ति रुप महल के उच्च भाग पर जा चुके हैं, या जो प्रख्यात हैं, शास्ता हैं, कृतकृत्य हैं वे सिद्ध मुझे मंगलकारी हों।

जिन्हों ने संसार भ्रमण मूलक समस्त कर्मों को पराजित कर दिये हैं। जो मोक्ष को प्राप्त हो गये हैं, जिन का पुनर्जन्म नहीं होता उनको सिध्द कहे गये हैं। ऐसे सिद्ध भगवान नमस्कार मन्त्र के द्वितीय पद पर विराजित हैं। श्री आवश्यक निर्युक्ति में ग्यारह प्रकार के सिद्ध इस प्रकार गिनाए हैं—

कम्म सिप्पे य विज्जाए, मन्ते जोगे य आगमे।
अत्थ जत्ता अभिप्पाए, तवे कम्मक्खए इय॥

१ कर्म सिध्द, २ शिल्प सिध्द, ३ विद्या सिध्द, ४ मन्त्र सिध्द, ५ योग सिध्द, ६ आगम सिध्द, ७ अर्थ सिध्द, ८ यात्रा सिध्द, ९ अभिप्राय सिध्द, १० तप सिध्द, और ११ कर्मक्षय सिध्द। इन सब सिध्दों में से यहाँ कर्म क्षय सिद्ध ही लिये गये हैं। न कि कर्मसिद्धादि अन्य। सिद्ध भगवान ज्ञानावरणीयादि चार घनघाति और आयु आदि चार अघनघाति कर्मो का सर्वथा क्षय करके सम्पूर्ण रूपेण मुक्तात्मा हैं। उनके आठ गुण इस प्रकार हैं—

नाणं च दसणं चिय अव्वावाह तहेव सम्मतं।
अक्खय ठिइ अरुवी अगुरुलहुवीरियं हवइ॥

१ अनन्तज्ञान :—ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय होने पर आत्मा को केवल ज्ञान प्राप्त होता है। जिससे वह संसार के समस्त चराचर पदार्थों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष जान सकता है। जो अप्रतिपातिज्ञान भी कहलाता है।

२ अनन्तदर्शन :—पांचों प्रकृतियों सहित दर्शनावरणीय कर्म का क्षय होने पर आत्मा को केवल दर्शन प्राप्त होता है। जिससे वह लोक के समस्त पदार्थों को देख सकता है।

३ अनन्त अव्याबाध सुख :—वेदनीय कर्म का सर्वथैव प्रकारेण क्षय होने से आत्मा अनिर्वचनीय अनन्त सुख प्राप्त करती है। उसे अनन्त अव्याबाध सुख कहा जाता है। याने जो सुख पौद्गलिक संयोग से मिलता है, उसको संयोगिक सुख कहा जाता है। इस में किसी न किसी प्रकार की विघ्न परम्परा का आना हो शकता है। किन्तु जो सुख पौद्गलिक संयोग के विना प्राप्त हुवा है। उसमें कदापि किसी प्रकार के विघ्नों का आना संभव ही नहीं होने से वह अनन्त अव्याबाध सुख कहा जाता है।

४ अनन्त चारित्र :—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय (जो कि आत्मा के तत्वश्रध्दान गुण और वीतरागत्व प्राप्ति में विघ्नरूप हैं) के क्षय होने पर आत्मा

अनन्त चारित्र को प्राप्त करती हैं । उसको अनन्त चारित्र कहते हे ।

५ अक्षय स्थिति —आयुष्य कर्म की स्थिति का पूर्ण रूप से क्षय होने पर सिध्द जीवों को जन्म एव मरण नहीं होने से वे सदा स्वस्थिति में ही रहते हैं। उसे अक्षय स्थिति कहते हैं।

६ अगुरु लघुत्व – गोत्र कर्म का अन्त होने पर आत्मा में न गुरुत्व और न लघुत्व ही रहता है। इसलिए उसे अगुरुलघु कहते ह।

७ अरूपित्व —नाम कर्म का अन्त होने पर आत्मा सब प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म रूपों से मुक्त हो कर अरूपित्व प्राप्त करती है। अरुपित्व अतीन्द्रीय याने इन्द्रिया जिसे ग्रहन करने में असमर्थ रहती हैं, ऐसी अग्राह्य वस्तु को अरुपी कहते हे।

८ अनन्त वीर्य –विघ्नरुप अन्तराय कर्म का क्षय होने से आत्मा अनन्तवीर्य प्राप्त करती है।

इन आठ गुणों से युक्त आत्मा सिद्ध कहलाती है। सिद्धात्माओं का ससार में पुनरागमन नहीं होता, क्योंकि ससार भ्रमण के कारणभूत आठों कर्म का आत्मा से सर्वथा जुदापन जो हो गया है। वाचक मुख्य श्रीमद् उमास्वातिजी महाराज ने श्री तत्वार्थाधिगम सूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य के अन्त में जो कारिकाए लिखी है उन्हों में फरमाया है कि—

दग्धे बीजे यथात्यन्त, प्रादुर्भवति नाकुर ।
कर्म बीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाकुर ॥

जिस आत्मा ने एक बार कर्ममल से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लिया है, वह पुन ससार में कैसे आ सकती है ? । जिस प्रकार धान्य कण दग्ध होने पर पुन वह नहीं ऊगता उसी प्रकार कर्म बीज के भस्म होने पर आत्मा भी पुन उत्पत्ति और नाश को याने जन्म मरण को नहीं करती । श्री आवश्यक निर्युक्ति में सिद्ध भगवान का वर्णन इस प्रकार आया है—

निच्छिन्न सव्व दुक्खा जाइजरामरणबंध विमुक्का ।
अव्वाबाह सुक्ख अणु हवती सासय सिध्दा ॥

सब दु खों को नाश करके, जन्म जरामरण और कर्मबन्ध से मुक्त हुवे तथा किसी भी प्रकार की बाधाओं से रहित ऐसे शाश्वत सुख का अनुभव करनेवाले सिध्द' कहलाते हैं।

सिध्दों के नाम –

सिद्ध त्ति य बुध्द त्ति य, पारगय त्ति य परपरगय त्ति ।
उम्मुक्क कम्म कवया, अजरा अमरा असगाय ॥

सिध्द, बुध्द, पारगत, परम्परागत, कर्मकवचोन्मुक्त, अजर अमर और असंगत ये नाम सिध्द भगवन्तों के हैं।

आचार्य :—

चरम श्रुत केवली भगवान श्री भद्रबाहु स्वामी ने श्री आवश्यक सूत्र निर्युक्ति में आचार्य का लक्षण लिखा हैं कि—

> पंच विहं आयारं, आयरमाणा तहा पभाया संता।
> आयारं दंसंता, आयरिया तेण वुच्चन्ति॥

पांच प्रकार के आचार को स्वयं पालन करनेवाले, प्रयत्न पूर्वक दूसरों के सामने उन आचारों को प्रकाशित करने वाले तथा श्रमणों को उन पांच प्रकार के आचारों को दिखलाने (उनके पालनार्थ उत्सर्गापवादादि विधिमार्गो का गूढार्थो को प्रयत्न पूर्वक समझाने) वाले "आचार्य[1]" महाराज कहलाते है।

अरिहंत भगवान के द्वारा प्रकाशित तत्वों का जनता में कुशलता पूर्वक प्रसार करना, संघ को उनके दिखलाए मार्ग पर चलाना, आत्मसाधक मुनिवरों को सारणा वारणा चोयणा पडिचोयणा द्वारा शिक्षा देना यह कार्य आचार्य महाराज का होता है। आचार्य महाराज स्व-पर सिद्धान्त निपुण समयज्ञ आचारवान् द्रव्य क्षेत्र काल भाव के ज्ञाता और प्रकृति से सौम्य होते हैं। सांसारिक प्राणियों के लिये आचार्य महाराज भाव वैद्य हैं। जिस प्रकार भयंकर से भयंकर रोगों से आक्रान्त रोगी कुशल वैद्य से रोग की उपशमन कर्ता औषधी लेकर पथ्यापथ्य का जैसा वैद्यने कहा वैसा पालन कर आहार विहार में सावधानता रख कर थोडे समय में ही रोगी रोग से मुक्त

---

१ आयरियाणं (आचार्येभ्यः)

चर् धातु से आङ् उपसर्ग लगने पर आङ्+चर् बना। "लशक्वतद्धित" सूत्र से ङ् की इत् संज्ञा और "तस्यलोपः" सूत्र से ङ् का लोप आचार बना "ऋहलोर्ण्यत्"। |३|१|२२४| सूत्र से ण्यत् प्रत्यय हुवा आचर+ण्यत् बना "चुटू" १|३|७| ण् की इत् संज्ञा तथा त् की "हलन्त्यम्" १|३|३| सूत्र से इत् संज्ञा और दोनो का "तस्यलोप" से लोप होने पर आचर्+य बना। "अत उपधायाः" ७|२|११६| सूत्र से वृध्दी होने पर तथा सबका सम्मेलन करने पर "जलतुम्बिका न्यायेन रेफस्योर्ध्वगमनम्" न्याय से रेफ् का ऊर्ध्वगमन होने पर सिद्ध रूप आचार्य बनता है।

"स्याद् भव्य चैत्य चौर्य समेषु यात्" ८|२|१०७| सूत्र से यकार से पूर्व इत् का आगम तथा अनुबन्ध का लोप होने पर इको रेफ् में मिलाने से आचारिय बना। "क ग च ज त द पयवा प्रायो लुक्" ८|१|१७७ सूत्र से च कारका लोप "आचार्येचोच" ८|१|७३| सूत्र से के लोप होने पर शेष रहे आ के स्थान पर अत्। अवर्णोयः श्रुति। ८|१|१८० सूत्र से अ के स्थान पर यकार होनें पर आयरिय बनता है। फिर नम. के योग में 'शक्तार्थवषड् नम. स्वस्ति स्वधाभिः २|२|२५| सूत्र से चतुर्थी का भ्यस् आया और चतुर्थ्याः षष्ठी सूत्र से भ्यस के स्थान पर आम आया आयरिय+आम हुवा। जस शस् ङ सित्तो दो द्वामि दीर्घ.। सूत्र से अजन्तांग को दीर्घ। टा आमोर्ण. आम के आ का ण और मोऽनुस्वार से अन्त्य मकार का अनुस्वार होने आयरियाण सिद्ध होना है।

होता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व रूप भयकर रोग से आक्रान्त प्राणियों को भाववैद्य आचार्य महाराज सम्यक्त्व रूप औषध धर्मरूप (जिन वचन रूप) धारोष्ण दूध में मिला कर देते हैं। राग द्वेष क्रोध मान माया और लोभ से बचने रूप पथ्य खिला कर उन्हें कर्म रूप रोग से मुक्त करते–करवाते हैं। कर्मों के आवरण से आवरित सासारिक प्राणियों को जिन वीतराग भाषित तत्व रूप दीपक देकर सन्मार्गगामी बनाते हैं। जीवन में जहाँ कटुता, कलह, क्लेश, विकार, ईर्ष्या द्रोहादि घुस कर महानतम अनर्थों का जाल फैलाते हैं। वहाँ आचार्य महाराज इन विचारों के द्वारा उत्पन्न अशान्ति की ज्वाला को वीतराग प्रकाशित तत्वौषध देकर शान्त करते हैं। ऐसे जिनेन्द्र वचनानुसार चारित्र धर्म के पालक सद्धर्म के निर्भय वक्ता, समयज्ञ एव स्व–पर समय निपुण आचार्य को श्री गच्छाचार पयन्ना में तीर्थकर की उपमा दी गई है–

'तित्थयर समो सूरि, सम्म जो जिणमय पयासेइ'

याने जो आचार्य भले प्रकार से जिनेन्द्रधर्म की प्ररूपणा करता है, वह तीर्थंकर के समान है। श्री महानिशीथ सूत्र के पाचवे अध्ययन में इसी आशय का कथन आया है कि—

"से भयव ? किं तित्थयर सतिय आण नाइक्कमिज्जा उदाहु आयरिय सतिय ? गोयमा ? चउविहा आयरिया भवन्ति, त जहा–नामायरिया, ठवणायरिया, दव्वायरिया, भावायरिया तत्थ ण जे ते भावायरिया ते तित्थयर समा चेव दट्ठव्वा, तेसिं सतिय आण नाइक्कमेज्ज ति"

हे भगवन् ? तीर्थंकर सम्बन्धी आज्ञा का उल्लघन नहीं करना कि आचार्य सम्बधि ? गौतम ? नामाचार्य, स्थापनाचार्य, द्रव्याचार्य और भावाचार्य इस प्रकार चार प्रकार के आचार्य कहे हैं। उनमें से भावाचार्य तीर्थंकर समान होने से उनकी आज्ञा का कदापि उल्लघन नहीं करना।

इस प्रकार आचार्य शासन के आधार स्तम्भ एव परम माननीय हैं। आचार्य महाराज के छत्तीस गुण शास्त्रों में इस प्रकार आये हैं—

पचिंदिय–सवरणो, तह नवविह बम्भचेर गुत्तिधरो।
चउविह कसाय मुक्को, इअ अट्ठारस गुणेहिं सजुत्तो ॥ १ ॥
पच महव्वय जुत्तो, पंचविहायार पालण समत्थो।
पच समिओ ति गुत्तो, छत्तीस गुणो गुरु मज्झ ॥ २ ॥

पाचों इन्द्रियों को वश में रखने वाले अर्थात् स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय, और श्रोत्रेन्द्रिय इन पाचों को २३ विकारों से सवृत करने वाले, नवप्रकार की ब्रह्मचर्य गुप्ती के धारक। चारों कषायों से मुक्त। इन अठारह गुणों से युक्त तथा सर्वत प्राणातिपात विरमण, सर्वत मृषावाद विरमण, सर्वत अदत्तादान विरमण,

सर्वतः मैथुन विरमण. और सर्वतः परिग्रह विरमण इन पांचों महाव्रतों से युक्त पांच प्रकार के आचारों का पालन करने में समर्थ पांच समितियॉ तथा तीन गुप्तियॉ से युक्त इस प्रकार छत्तीस गुणों के धारक गुरु अर्थात् आचार्य महाराज हमारे गुरु हैं।

१४४४ ग्रन्थ प्रणेता जैन शासन नभोमणी आचार्य वर्य श्रीमद् हरिभद्र सूरिजी महाराजने संबोध प्रकरण में आचार्य के ३६ गुणों का वर्णन अनेक प्रकार से तथा गुरुपद का विवेचन भी विस्तारपूर्वक किया है। गच्छाचार पयन्ना में भी आचार्य के अतिशयों तथा योग्यायोग्यत्व पर विस्तृत विवेचन किया है।

प्रश्न—नमो आयरियाणं के स्थान पर नमो आइरियाणं क्यों नहीं बोला जाता है?

उत्तर—श्रीमहानिर्ग्रंथ सूत्र के तीसरे अध्ययन में, पन्चमांग श्रीभगवती सूत्र के मंगलाचरण में, श्री आवश्यक सूत्र नियुक्ति और श्री गच्छाचार पयन्ना आदि अनेक आगम ग्रन्थों में आयरियाणं ही लिखा है। न कि आइरियाणं। अर्थ शुद्धि की दृष्टि से भी आयरियाणं ही लिखना ठीक है।

प्रश्न—आचार्य सर्वज्ञ नहीं है फिर भी उनको "तित्थयर समो सूरि" कहकर तीर्थंकर की उपमा क्यों दी गई है? क्या यह अनुचित नहीं है?

उत्तर—श्री श्रमण भगवान महावीर देव ने श्री गौतम स्वामि के प्रश्न के उत्तर में जो भावाचार्य को तीर्थंकर के समान कहा है वह अनुचित नहीं अपितु उचित है। क्यों कि भावाचार्य आगमज्ञ एवं समयज्ञ होते है। प्रत्येक प्रकार की आचरणा का आचरण वे आगमानुसार ही कहते हैं। आगमोक्त वस्तु तत्व को निर्भयता पूर्वक जनता में तर्क युक्त रीति से प्रकाशित करते हैं। कर्म रोग से आक्रान्त जीवों को जिनेन्द्र शरण देकर शुद्ध देव गुरु और धर्मरूप उपादेय त्रयी, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चरित्र रूप तत्व त्रयी का दर्शन करा कर जीवनोत्कर्ष का मार्ग दिखलाते हैं। अतः वे अपने लिये तो तीर्थंकर के समान ही हैं। इसी से उन भावाचार्य महाराज को यह उपमा दी गई है। शेष नामाचार्य, द्रव्याचार्य और स्थापनाचार्य को नहीं। आचार्यवर्य श्रीमद् राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराजने भी श्री नवपद पूजा में लिखा है कि—

जिणाण आणम्मि मणं हि जस्स णमो णमो सूरि दिवायरस्स।
छत्तीस वग्गेण गुणायरस्स, आयारमग्गं सुपयासयस्स ॥

सूरिवरा तित्थयरा सरीसा, जिणिन्दमग्गं मिणयंति सिस्सा।
सुतत्थ भावाण समं पयासी, ममं मणंसी वसियो णिरासी ॥

(जिनस्य आज्ञायां यस्य मनो वर्तते तस्मै सूरि दिवाकराय नमो नमः
षड्त्रिंशद्वर्गेण गुणाकराय आचारमार्गस्य सुप्रकाशकाय—

सूरिवराः तीर्थंकराः सदृशाः जिनेन्द्र मार्गं वहन्ति शिरसा।
सूत्रार्थ भावानां सममेव प्रकाशकः मम मनसि वसितोऽ निराशी।)

जिन्हों का अन्तःकरण जिनेश्वरों की आज्ञा में रत है। उन आचार्यवर्यों को बार बार नमस्कार हो जो आचार्य छत्तीस गुणों के धारक है। आचारका मार्ग जिन्होंने दिखलाया है। वे आचार्य तीर्थंकर के समान है, जो जिनेन्द्र भगवान के शासन को शिरसा वहन करते है। जो सूत्रों के अर्थ को एव मर्म को जनता के सामने रखते है। ऐसे आचार्य महाराज मेरे (हमारे) हृदय मे वास करे।

उपाध्याय

श्री भद्रबाहु स्वामि ने श्री आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि—

वार सगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहियो बुहेहिं।
त उवइ सति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चति॥

श्री जिनेश्वर भगवान द्वारा प्ररूपित बारा अगों (द्वादशागी) को पण्डित पुरुष स्वाध्याय कहते है। उनका उपदेश करने वाले उपाध्याय कहलाते है। अर्थात् "उप समीप अधि वसनात् श्रुतस्यायो लाभो भवति येभ्यस्ते उपाध्याया" याने जिनके पास निवास करने से श्रुत (ज्ञान) का आय याने लाभ हो उन्हें उपाध्याय[1] कहते हैं।

श्री श्रमण सघ में आचार्य महाराज के पश्चाद् महत्वपूर्ण स्थान श्री उपाध्यायजी महाराज का होता है। वे सघस्थ मुनियों को द्वादशागी का मूल से अर्थसे और भावार्थ से ज्ञान कराते है। श्रमणो को आचार विचार में प्रवीण करते और चरित्र पालन के समस्त पहलुओं तथा उत्सर्ग अपवाद का ज्ञान कराते हैं। यों तो श्री उपाध्यायजी महाराज साधु होने से साधु के सत्ताईस गुणों के धारक हैं ही। तथापि उनके पच्चीस गुण इस प्रकार दिखलाए हैं—

---

१ उवज्झायाणं (उपाध्यायेभ्य) समीपार्था उप और अधि पूर्व में है जिसके ऐसे इङ् (अध्ययने भानो) धातु से घञ् प्रत्यय होने पर उप+अधि+इ घञ् बना। उप + अधि में अक सवर्णे दीर्घ ।६।१।१०१ सूत्र से पूर्व पर के स्थान में दीर्घादेश होने पर उपाधि + इ घञ् बना। घञ् की लशक्वतद्धिते सूत्र से इत् संज्ञा और तस्यलोप सूत्र से लोप हुवा। तब उपाधि + इ + अ रहा। अचो ञ्णिति ।७।२।११५। सूत्र से अजंता ग को वृद्धि। उपाधि+इ+अ बना। इको यण चि सूत्र से यण। उपाध्यै + अ। एचोऽयवायाव ।६।१।७८। सूत्र से ऐ के स्थान पर आय् हुवा आ मिला ध्य् में य मिला घञ के शेष रहे अ में तब बना उपाध्याय। उपाध्याय का उवज्झाय इस प्रकार बनता है—

पोव ।८।१।२३१। सूत्र से पकार का वकार हुवा। साध्वस ध्य ह्या झ ।८।२।२६। सूत्र से ध्या के स्थान पर ज्झा हुवा तब उवज्झाय बना। उवज्झाय से नम के योग मे नमःस्वस्ति स्वाहा स्वधालं ।२।३।२५। सूत्र मे चतुर्थी का भ्यस् प्रत्यय आया। चतुर्थ्याः षष्ठी। सूत्र से भ्यस् के स्थान पर आम आया। उवज्झाय+आम। जस् शस ङसि त्तो दो द्वामि दीर्घ। सूत्र से अकार को दीर्घ हुवा टा आमोर्ण सूत्र मे आम के आकार का ण और अन्त्य मकार का मोऽनुस्वार ।८।१।२३। से अनुस्वार होने पर उवज्झायाणं बनता है।

श्री आचारांग, सूत्रकृतांगादि ग्यारह अंग, श्री औपपातिकादि बारह अंग, इन तेईस आगमों के मर्म को जाननेवाले तथा उनका विधिपूर्वक मुनिवरों को अध्ययन करानेवाले और चरण सित्तरी तथा करण सित्तरी इन पच्चीस गुणोंके धारक श्री उपाध्यायजी महाराज होते हैं । ११ अंग और १२ उपांगों का वर्णन श्री अभिधान राजेन्द्र कोष के प्रथम भाग की प्रस्तावना में आया है । वहीं से देखना चाहिये । चरण सित्तरी और करण सित्तरी इस प्रकार है —

चरण सित्तरी—

वय समण संजम वेयावच्चं च बंभगुत्तिओ ।
नाणाइ तियं तव कोहं, निग्गहाइं चरणमेयं ॥

५ महाव्रत, १० प्रकार (क्षमा, मार्दव, आर्जव, निर्लोभता, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिंचन और ब्रह्मचर्य) का यति धर्म । १७ प्रकार का संयम १० प्रकार का वैयावृत्य । ९ प्रकार ब्रह्मचर्य । ३ प्रकार का ज्ञान । १२ प्रकार का तप । ४ कषाय निग्रह । इस प्रकार सत्तर भेद चरण सित्तरी के होते हैं ।

करण सित्तरी

पिंडविसोहि समिई, भावय पडिमाय इन्दिय निरोहो ।
पडिलेहण गुत्तिओ अभिग्गहं चेव करणं तु ।

४ पिंडविशुद्धि, ५ समिति, १२ भावना, १२ प्रतिमा, ५ इन्द्रियों का निग्रह, २५ पडिलेहण, ३ गुप्ती, ४ अभिग्रह इस प्रकार सत्तर भेद करण सित्तरी के होते हैं ।

चरण सित्तरी और करण सित्तरी को स्वयं पालते है और श्रमण संघ को पलाते हुवे श्री उपाध्यायजी महाराज विचरण करते है । कोई श्रमण यदि चरित्र पालन मे शिथिल होता है तो उसे सारणा, वारणा, चोयणा और पडिचोयणा द्वारा समझा कर पुनः उसे अंगिकृत संयम धर्म पालन में प्रयत्नशील करते है, यदि कोई पर समय का पण्डित किसी प्रकार की चर्चावार्ता करने के लिये आता है, तो उसे आप अपने ज्ञान बल से निरुत्तर करते हैं, और स्व समय के महत्व को बढाते है । ऐसे अनेक गुण सम्पन्न श्री उपाध्याय जी महाराज के गुणों का स्मरण-वन्दन करते हुवे, आचार्य प्रवर श्री मद्राजेन्द्र सूरिजी महाराज ने श्रीसिद्धचक्र (नवपद) पूजन में फरमाया है कि —

सुत्ताण पाठं सुपरंपराओ, जहागयं तं भविणं चिराओ ।
जे साहगा ते उवझाय राया, नमो नमो तस्स पदस्स पाया ॥ १ ॥
गीयत्थता जस्स अवस्स अत्थि, विहार जेसिं सुय वज्जणत्थि ।
उस्सग्गियरेण समग्गभासी, दितु सुहं वायगणाण रासी ॥ २ ॥
(सूत्राणां पाठं सुपरंपरातः यथागतं त भव्यानां निवेदयन्ति ।
ये साधकाः ते उपाध्याय राजाः नमो नमः तेषां पदभ्य. ।

जिन्हों का अन्त करण जिनेश्वरों की आज्ञा में रत है । उन आचार्यवर्यों को बार बार नमस्कार हो जो आचाय छत्तीस गुणों के धारक हैं । आचारका माग जिन्होंने दिखलाया है । वे आचार्य तीर्थंकर के समान है, जो जिनेन्द्र भगवान के शासन को शिरसा वहन करते हैं । जो सूत्रों के अर्थ को एव मर्म को जनता के सामने रखते हैं । ऐसे आचार्य महाराज मेरे (हमारे) हृदय में वास करें ।

उपाध्याय

श्री भद्रबाहु स्वामि ने श्री आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि—

बार सगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहियो बुहेहिं ।
त उवइ सन्ति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चति ॥

श्री जिनेश्वर भगवान द्वारा प्ररूपित बारा अंगों (द्वादशागी) को पण्डित पुरुप स्वाध्याय कहते ह । उनका उपदेश करने वाले उपाध्याय कहलाते हैं । अर्थात् "उप समीप अधि वसनात् श्रुतस्यायो लाभो भवति येभ्यस्ते उपाध्याया " याने जिनके पास निवास करने से श्रुत (ज्ञान) का आय याने लाभ हो उन्हें उपाध्याय[1] कहते ह ।

श्री श्रमण सघ में आचाय महाराज के पश्चाद् महत्वपूण स्थान श्री उपाध्यायजी महाराज का होता है । वे सघस्थ मुनियों को द्वादशागी का मूल से अर्थसे और भावार्थ से ज्ञान करवाते हैं । श्रमणों को आचार विचार में प्रवीण करते और चरित्र पालन के समस्त पहलुओं तथा उत्सर्ग अपवाद का ज्ञान कराते हैं । यों तो श्री उपाध्यायजी महाराज साधु होने से साधु के सत्ताईस गुणों के धारक हैं ही । तथापि उनके पच्चीस गुण इस प्रकार दिखलाए हैं —

---

१ उवज्झायाणं (उपाध्यायेभ्य) समीपाथा उप और अधि पूव में है जिसके ऐसे इड् (अध्ययन भातो) धातु से घञ् प्रत्यय होने पर उप+अधि+इ घञ् बना । उप + अधि में अक सवर्णे दीघ ।६।१।१०१ सूत्र से पूर्व पर के स्थान में दीर्घादेश होने पर उपाधि + इ घञ बना। घञ् की लशक्वतद्धिते सूत्र से इत् संज्ञा और तस्यलोप सुत्र से लोप हुवा। तब उपाधि + इ + अ रहा। अचो ञ्णिति ।७।२।११५। सुत्र से अजन्त ग को वृद्धि। उपाधि + इ + अ बना। इको यण चि सूत्र से यण। उपाध्यै + अ। एचोऽयवायाव ।६।१।७८। सूत्र से ऐ के स्थान पर आय् हुवा आ मिला ध्य् में य मिला घञ् के शप रहे अ में, तब बना उपाध्याय। उपाध्याय का उवज्झाय इस प्रकार बनता है—

पोव ।८।१।२३१। सूत्र से पकार का वकार हुवा। साध्वस ध्य ह्या झ ।८।२।२६। सूत्र से ध्या के स्थान पर ज्झा हुवा तब उवज्झाय बना। उवज्झाय से नम के योग मे शक्ताथ वषट् नम स्वस्ति स्वाहा स्वधाभि ।२।२।२५। सूत्र से चतुर्थी का भ्यस् प्रत्यय आया। चतुर्थ्या षष्ठी । सूत्र से भ्यस् के स्थान पर आम आया। उवज्झाय + आम। जस् शस ङसि त्तो दो द्वामि दीघ । सूत्र से अकारान्त को दीर्घ हुवा टा आमोर्ण सूत्र से आम के आकार का ण और अन्त्य मकार का मोऽनुस्वार ।८।१।२३। से अनुस्वार होने पर उवज्झायाणं बनता है।

श्री आचारांग, सूत्रकृतांगादि ग्यारह अंग, श्री औपपातिकादि बारह अंग, इन तेईस आगमों के मर्म को जाननेवाले तथा उनका विधिपूर्वक मुनिवर्गों को अध्ययन करानेवाले और चरण सित्तरी तथा करण सित्तरी इन पच्चीस गुणोंके धारक श्री उपाध्यायजी महाराज होते हैं। ११ अंग और १२ उपांगों का वर्णन श्री अभिधान राजेन्द्र कोष के प्रथम भाग की प्रस्तावना में आया है। वहीं से देखना चाहिये। चरण सित्तरी और करण सित्तरी इस प्रकार है—

चरण सित्तरी—

वय समण संजम वेयावच्चं च बंभगुत्तिओ।
नाणाइ तियं तव कोहं, निग्गहाइं चरणमेयं ॥

५ महाव्रत, १० प्रकार (क्षमा, मार्दव, आर्जव, निर्लोभिता, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिंचन और ब्रह्मचर्य) का यति धर्म। १७ प्रकार का संयम १० प्रकार का वैयावृत्य। ९ प्रकार ब्रह्मचर्य। ३ प्रकार का ज्ञान। १२ प्रकार का तप। ४ कषाय निग्रह। इस प्रकार सत्तर भेद चरण सित्तरी के होते हैं।

करण सित्तरी

पिंडविसोहि समिई, भावय पडिमाय इन्दिय निरोहो।
पडिलेहण गुत्तिओ अभिग्गहं चेव करणं तु।

४ पिंडविशुद्धि, ५ समिति, १२ भावना, १२ प्रतिमा, ५ इन्द्रियों का निग्रह, २५ पडिलेहण, ३ गुप्ती, ४ अभिग्रह इस प्रकार सत्तर भेद करण सित्तरी के होते हैं।

चरण सित्तरी और करण सित्तरी को स्वयं पालते हैं और श्रमण संघ को पलाते हुवे श्री उपाध्यायजी महाराज विचरण करते हैं। कोई श्रमण यदि चरित्र पालन में शिथिल होता है तो उसे सारणा, वारणा, चोयणा और पडिचोयणा द्वारा समझा कर पुनः उसे अंगिकृत संयम धर्म पालन में प्रयत्नशील करते हैं, यदि कोई पर समय का पण्डित किसी प्रकार की चर्चावार्ता करने के लिये आता है, तो उसे आप अपने ज्ञान बल से निरुत्तर करते हैं, और स्व समय के महत्व को बढाते हैं। ऐसे अनेक गुण सम्पन्न श्री उपाध्याय जी महाराज के गुणों का स्मरण-वन्दन करते हुवे, आचार्य प्रवर श्री मद्राजेन्द्र सूरिजी महाराज ने श्रीसिद्धचक्र (नवपद) पूजन में फरमाया है कि—

सुत्ताण पाठं सुपरंपराओ, जहागयं तं भविणं चिराओ।
जे साहगा ते उवझाय राया, नमो नमो तस्स पदस्स पाया ॥ १ ॥
गीयत्थता जस्स अवस्स अत्थि, विहार जेसिं सुय वज्जणत्थि।
उस्सग्गियरेण समग्गभासी, दितु सुई वायगणाण रासी ॥ २ ॥
(सूत्राणा पाठं सुपरंपरातः यथागतं तं भव्यानां निवेदयन्ति।
ये साधकाः ते उपाध्याय राजा, नमो नमः तेषां पदभ्यः ।

प्रश्न — इन पाँचों को नमस्कार करने से क्या लाभ होता है ?

उत्तर — पञ्च परमेष्ठि को नमस्कार करने से हम को सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र का लाभ होता है तथा वीतराग और वीतरागोपासक श्रमणवरों को वन्दना करने से हम भी वीतरागदशा प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। जब हमारी भावना वीतरागोपासना की ओर प्रवाहित होती है, तब हम अच्छे और खराब का विवेक प्राप्त करके आश्रवद्वारों का अवरोध करके संवर और निर्जरा भावना से प्राप्त करके, आत्मसाधना में प्रवृत्त होते हैं। तथा अन्त में ईप्सित की प्राप्ती भी कर सकने में सशक्त हो जाते हैं। यह लोकोत्तर लाभ हमको सकलागमरहस्यभूत महामन्त्र श्री नमस्कार मन्त्र के स्मरण करने से प्राप्त होता है। तेतीस अक्षर प्रमाण नमस्कार चूलिका में यही तो दिखलाया गया है।

प्रश्न — श्री नमस्कार मन्त्र को महामन्त्र क्यों कहा जाता है ?

उत्तर — श्री नमस्कार मन्त्र को महामन्त्र इसलिए कहा जाता है कि इसका त्रिकरण त्रियोग से स्मरण एवं मनन करने से, अन्य लौकिक मन्त्रों से जो सिद्धि मिलती है, उससे अधिक और अनुपम सिद्धि प्राप्त होती है। यह महामन्त्र कर्मक्षय में भी सहायक है। इसके स्मरण से महापापी जनों के पाप धुल जाते हैं, एवं धुल गए हैं। चौदह पूर्व के ज्ञाता-श्रुतकेवली भगवान भी अपना पूरा जीवन एवं अंतिम समय इसी महामन्त्र के स्मरण में व्यतीत करते हैं। मुनिजन चित्तशुद्धि के लिये निरन्तर इसी मन्त्र का जाप करते हैं। भूतकाल के ऐसे कितने ही उदाहरण हमारे सामने हैं कि जिनकी वास्तविकता में अंश मात्र भी सन्देह को अवकाश नहीं है। वर्तमान काल में भी भावपूर्वक किये गये नमस्कार मन्त्र स्मरण से अचिन्त्यलाभ प्राप्ती के उदाहरण प्रसिद्ध हैं। ऐसे महामहिमाशाली सकलागमरहस्यभूत श्री नमस्कार मन्त्र को महामन्त्र अथवा मन्त्राधिराज कहा जाता कोई हर्ज की बात नहीं है अपितु वास्तविक ही है।

प्रश्न—"नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्य" और "अ सि आ उ सा य नमः" ये मन्त्र क्या हैं ?

उत्तर—तार्किक शिरोमणी आचार्य प्रवर श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरीजी महाराज द्वारा किया गया नमस्कार मन्त्र का संक्षिप्ती करण "नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्य" है और अ सि आ उ सा य नम" यह मन्त्र अरिहंत का "अ" सिद्ध की 'सि' आचार्य का 'आ' उपाध्याय का 'उ' साधु का 'सा' ये सब मिलकर 'असि आ उ सा य नम' यह अत्यन्त-संक्षिप्त स्वरूप-भी नमस्कार मन्त्र का ही है। जो आदरणीय एवं स्मरणीय हैं। कितने ही लोग ऐसे होते हैं कि जिन्हें 'कौडी की कमाई नहीं और क्षण मात्र का समय नहीं" उनके लिये थोडा समय लगने वाले पद स्मरणीय हैं। जिन्हें समय बहुत मिलता है परन्तु वे आलस्य

के कारण ऐसे लघु मंत्रों का स्मरण करते हैं। उन्हें तो प्रमाद स्थानों को छोड कर मूलमंत्र का ही स्मरण करना चाहिये ।

प्रश्न—श्री नमस्कार मन्त्र का जाप किस प्रकार से करना चाहिये ?।

उत्तर—कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ने योग शास्त्र में श्री नमस्कार मन्त्र के जाप का विधान विस्तार पूर्वक बतलाया है। अतः इस विषय के लिए योगशास्त्र के आठवें प्रकाश का ही अवलोकन करना चाहिये। श्रीमद् पादलिप्त सूरीजी ने श्रीनिर्वाणकलिका में जाप के भाष्य उपांशु और मानस, ये तीन प्रकार दिखलाये है। जो इस प्रकार हैं—नमस्कार स्मरण करने वालों के द्वारा अन्यलोग भले प्रकार से सुन सके वैसे स्पष्ट उच्चारण पूर्वक जो जाप होता है उनको 'भाष्य[1]' जाप कहते हैं ।

भाष्य जाप की सिद्धी होने पर स्मरण करने वाला कण्ठ गता वाणी से दूसरे लोग सुन तो न सके परन्तु उनको यह ज्ञात हो जाय कि जाप कर्ता जाप कर रहा है। उस जाप को 'उपांशु[2]' जाप कहते हैं ।

उपांशु जाप की सिद्धी हो जाने पर जाप करने वाला स्वयं ही अनुभव करता परन्तु दूसरों को ज्ञात नहीं हो सकता उस जाप को 'मानस[3]' जाप कहते है ।

इस प्रकार भाष्य, उपांशु और मानस जाप करने में जाप करने वालों में कोई सम्पूर्ण नवकार का और कोई अ. सि. आ.सा. उ. य नमः तो कोई नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यः का तो कोई ॐ अर्हन्नमः इस अत्यन्त संक्षिप्त परमेष्ठि मन्त्र का स्मरण करते हैं ।

ॐ अर्हन्नमः मंत्र में पंच परमेष्ठि का समावेश इस प्रकार होता है—

अरिहंता असरीरा आयरिया उवज्झाया तहा मुणिणो ।
पढ़मक्खर निप्फण्णो ॐकारो पंच परमिट्ठी ॥

अरिहंत का अ, अशरीरि सिद्ध का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ, और मुनि का म इन सब को परस्पर मिलाने से ॐकार निष्पन्न होता है, जो पंच परमेष्ठी का वाचक है-अ+अ = आ, आ + आ, = आ, आ + उ = औ, औ + म् = ओम् (ॐ) इस प्रकार ॐ पंच परमेष्ठि का वाचक है ही और अर्हम् की भी महिमा अपरम्पार है। श्री हेमचन्द्र सूरिजी म. ने 'श्री सिद्धहेमशब्दानुशासन' की बृहद् वृति में लिखा है कि—
"अर्हमित्येतदक्षरं परमेश्वरस्य परमेष्ठिनो वाचकं सिद्धचक्रस्यादि बीजं सकलागमो-

१ यस्तु परै: श्रूयते भाष्य :

२ उपांशुस्तु परैरश्रूयमाणोऽन्तसजल्परूप . ।

३ तत्र मानसो मनो मात्र वृति निवृत स्वयंवेद्य : ॥

प्रश्न —इन पांचों को नमस्कार करने से क्या लाभ होता है ?

उत्तर —पंच परमेष्ठि को नमस्कार करने से हम को सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र का लाभ होता है तथा वीतराग और वीतरागोपासक श्रमणवर्यों को वन्दना करने से हम भी वीतरागदशा प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। जब हमारी भावना वीतरागोपासना की ओर प्रवाहित होती है, तब हम अच्छे और खराब का विवेक प्राप्त करके आश्रवद्वारों का अवरोध करके संवर और निर्जरा भावना को प्राप्त करके, आत्मसाधना में प्रवृत्त होते हैं। तथा अन्तमें इच्छित की प्राप्ती भी कर सकने में समर्थ हो जाते हैं। यह लोकोत्तर लाभ हमको सकलागमरहस्यभूत महामंत्र श्री नमस्कार मंत्र के स्मरण करने से प्राप्त होता है। तेतीस अक्षर प्रमाण नमस्कार चूलिका में यही तो दिखलाया गया है।

प्रश्न —श्री नमस्कार मंत्र को महामंत्र क्यों कहा जाता है ?

उत्तर —श्री नमस्कार मंत्र को महामंत्र इसलिए कहा जाता है कि इसके त्रिकरण त्रियोग से स्मरण एवं मनन करने से अन्य लौकिक मंत्रों से जो सिद्धि मिलती है, उससे अधिक और अनुपम सिद्धि प्राप्त होती है। यह महामंत्र कर्मक्षय में भी सहायक है। इसके स्मरण से महापापी जनों के पाप धुल जाते हैं, एवं धुल गए हैं। चौदह पूर्व के ज्ञाता-श्रुतकेवली भगवान भी अपना पूरा जीवन एवं अन्तिम समय इसी महामंत्र के स्मरण में व्यतीत करते हैं। मुनिजन चित्तशुद्धि के लिये दिनरात इसी मंत्र का जाप करते हैं। भूतकाल के ऐसे कितने ही उदाहरण हमारे सामने हैं कि जिनकी वास्तविकता में अंश मात्र भी सन्देह को अवकाश नहीं है। वर्तमान काल में भी भावपूर्वक किये गये नमस्कार मन्त्र स्मरण से अचिन्त्यलाभ प्राप्ति के उदाहरण प्रसिद्ध हैं। ऐसे महामहिमाशाली सकलागमरहस्यभूत श्री नमस्कार मंत्र को महामन्त्र अथवा मन्त्राधिराज कहा जाना कोई हर्ज की बात नहीं है अपितु वास्तविक ही है।

प्रश्न—"नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्य" और "अ सि आ उ सा य नम" ये मन्त्र क्या है?

उत्तर—तार्किक शिरोमणी आचार्य प्रवर श्री सिद्धसेन दिवाकर सूरीजी महाराज द्वारा किया गया नमस्कार मंत्र का संस्कृती करण "नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्य" है और "अ सि आ उ सा य नम" यह मन्त्र अरिहन्त का "अ" सिद्ध की 'सि' आचार्य का 'आ' उपाध्याय का 'उ' साधु का 'सा' ये सब मिलकर 'असि आ उ सा य नम' यह अत्यन्त संक्षिप्त स्वरूप भी नमस्कार मन्त्र का ही है। जो आदरणीय एवं स्मरणीय है। कितने ही लोग ऐसे होते हैं कि जिन्हें "फौडी की कमाई नहीं और क्षण मात्र का समय नहीं" उनके लिये थोड़ा समय लगने वाले पद स्मरणीय हैं। जिन्हें समय बहुत मिलता है परन्तु वे आलस्य

के कारण ऐसे लघु मंत्रों का स्मरण करते हैं। उन्हें तो प्रमाद स्थानों को छोड़ कर मूलमंत्र का ही स्मरण करना चाहिये।

प्रश्न—श्री नमस्कार मन्त्र का जाप किस प्रकार से करना चाहिये?।

उत्तर—कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज ने योग शास्त्र में श्री नमस्कार मन्त्र के जाप का विधान विस्तार पूर्वक बतलाया है। अतः इस विषय के लिए योगशास्त्र के आठवें प्रकाश का ही अवलोकन करना चाहिये। श्रीपाद् पादलिप्त सूरीजी ने श्रीनिर्वाणकलिका में जाप के भाष्य उपांशु और मानस, ये तीन प्रकार दिखलाये है। जो इस प्रकार हैं—नमस्कार स्मरण करने वालों के द्वारा अन्यलोग भले प्रकार से सुन सके वैसे स्पष्ट उच्चारण पूर्वक जो जाप होता है उनको 'भाष्य'[1] जाप कहते हैं।

भाष्य जाप की सिद्धी होने पर स्मरण करने वाला कण्ठ गत वाणी से दूसरे लोग सुन तो न सके परन्तु उनको यह ज्ञात हो जाय कि जाप कर्ता जाप कर रहा है। उस जाप को 'उपांशु[2]' जाप कहते हैं।

उपांशु जाप की सिद्धी हो जाने पर जाप करने वाला स्वयं ही अनुभव करता परन्तु दूसरों को ज्ञात नहीं हो सकता उस जाप को 'मानस[3]' जाप कहते हैं।

इस प्रकार भाष्य, उपांशु और मानस जाप करने में जाप करने वालों में कोई सम्पूर्ण नवकार का और कोई अ. सि. आ. सा. उ. य नमः तो कोई नमोऽर्हन्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यः का तो कोई ॐ अर्हन्नमः इस अत्यन्त संक्षित परमेष्ठि मन्त्र का स्मरण करते हैं।

ॐ अर्हन्नमः मंत्र में पंच परमेष्ठि का समावेश इस प्रकार होता है—

अरिहंता असरीरा आयरिया उवज्झाया तहा मुणिणो।
पढ़मक्खर निप्फण्णो ॐकारो पंच परमिट्ठी॥

अरिहंत का अ, अशरीरि सिद्ध का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ, और मुनि का म इन सब को परस्पर मिलाने से ॐकार निष्पन्न होता है, जो पंच परमेष्ठी का वाचक है–अ+अ = आ, आ + आ. = आ, आ + उ = ओ, ओ + म् = ओम् (ॐ) इस प्रकार ॐ पंच परमेष्ठि का वाचक है ही और अर्हम् की भी महिमा अपरम्पार है। श्री हेमचन्द्र सूरिजी म. ने 'श्री सिद्धहेमशब्दानुशासन' की बृहद् वृति में लिखा है कि—
"अर्हमित्येतदक्षरं परमेश्वरस्य परमेष्टिनो वाचकं सिद्धचक्रस्यादि बीजं सकलागमो-

१ यस्तु परै श्रयते भाष्य:

२ उपाशुस्तु परैरश्रूयमाणोऽन्तसंजल्परूप: ।

३ तत्र मानसो मनो मात्र वृति निवृत्त स्वयंवेद्य: ॥

पतिपद्भूतमशेष निघ्न विघातनिघ्नमखिलदृष्टादृष्ट सकल्पकल्पद्रुमोपम, शास्त्राध्ययनाध्या पनावधि प्रणिधयम्'

'अर्हम्' ये अक्षर परमेश्वर परमेष्ठि के वाचक हैं। सिद्धचक्र के आदि वीज हैं। सकलागमों के रहस्य भूत है, सब विघ्न समूहों का नाश करने वाले हैं। सब दृष्ट याने राज्यादि सुख और अदृष्य याने सकल्पित अपवर्ग सुख का अभिलषित फल देने में कल्पद्रुम के समान हैं। शास्त्रों के अध्ययन और अध्यापन के आदि में इसका प्रणिधान करना चाहिये। अर्हत् का महत्व दिखलाते हुए आचार्यश्री ने योगशास्त्र में भी फरमाया है कि—

अकारादि हकारात, रेफमध्य सबिन्दुकम्।
तदेव परमतत्व, यो जानाति स तत्व वित् ॥
महातत्त्वमिद योगी, यदैव ध्यायति स्थिर ।
तदैवानन्दसपद्भूमुक्ति श्री रूपतिष्ठते ॥

जिसके आदि में अकार है। जिसके अन्तमें हकार है। बिन्दुसहित रेफ जिसके मध्य में है। ऐसा अहम् मत्रपद है। वही परमतत्व है। उसको जो जानता है-समझता है वही तत्वज्ञ है। जब योगी स्थिर चित्त होकर इस महातत्व का ध्यान करता है, तब पूर्ण आनद स्वरुप उत्पत्तीस्थान—रूपमोक्ष—विभूति उसके आगे आकर प्राप्त होती है।

वाचक प्रवर श्रीमद् यशोविजयजी भी फरमाते हैं कि—

अर्हमित्यक्षर यस्य चित्ते स्फुरति सर्वदा
पर ब्रह्म तत शब्द ब्राह्मण सोऽधिगच्छति ॥२७॥
पर सहस्रा शरदा, परे योगमुपासताम्।
हताहन्तमनासेव्य, गन्तारो न पर पदम् ॥२८॥
आत्मायमहतो ध्यानात् परमात्मत्वमश्नुते।
रसविद्ध यथाताम्र स्वर्णत्वमधिगच्छति ॥२९॥
(द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका)

अर्हम् ऐसे अक्षर जिसके चित्त में हमेशा स्फुरायमान रहते हैं। वह इस शब्द ब्रह्म से परब्रह्म (मोक्ष) की प्राप्ती कर सकता है। हजारों वर्षों पर्यत योग की उपासना करनेवाले इतर जन वास्तव में अरिहत की सेवा किये बिना परम पद की प्राप्ती नही कर सकते। जिस प्रकार रस से लिप्त ताबा सोना बनता है। उसी प्रकार अरिहत के ध्यान से अपनी आतमा परमातमा बनती है।

कितने ही लोग 'नमो अरिहताण' यह सप्ताक्षरी मन्त्र और कितने ही लोग अरिहन्, सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहु' इस षोडशाक्षरी मन्त्र का स्मरण करते

है। सप्ताक्षरी (नमो अरिहंताणं) के लिये योगशास्त्र के आठवें प्रकाश में लिखा है कि-

यदीच्छेद् भवदावाग्नेः समुच्छेदम् क्षणादपि ।
स्मरेत्तदादिमन्त्रस्य वर्ण सप्तकमादिमम् ॥

यदि संसार के रूप दावानल का क्षण मात्र में उच्छेद करने की इच्छा हो तो आदि मन्त्र (नमस्कार) के आदि के सात अक्षर (नमो अरिहंताणं) का स्मरण करना चाहिये।

षोडशाक्षरी मन्त्र की महत्ता के विषय में कहा गया है कि—

यदुच्चारण मात्रेण, पाप संघः प्रलीयते ।
आत्मादेयः शिरोदेय न देयः षोडषाक्षरी ॥

शरीर का नाश कर देना, मस्तक दे देना परन्तु जिसके उच्चारण मात्र से ही पापों का संघ (समूह) नष्ट हो जाता है, ऐसा षोडषाक्षरी मंत्र किसे भी नहीं देना चाहिये।

इस प्रकार के महामहिमाशाली सकल श्रुतागम रहस्य भूत श्री मंत्राधिराज महामन्त्र नमस्कार को प्राप्त करके भी नाम तो जैन रखते हैं और अत्यन्त लाभप्रदाता मंत्र को छोडकर अन्य मन्त्रों के लिए इधर उधर भटकते देखे जाते हैं। मंत्रों के लोभ से लुब्ध होकर भटकने वाले इज्जत धन एवं धर्म तक से हाथ धोते देखे गए हैं। सब ओर से लुट जाने के पश्चात् वे मंत्रेच्छु साधुओं के पास उनसे मन्त्र प्राप्त कर बिना महनत के श्रीमन्त बनने की इच्छा से आते हैं। उनकी सेवा शुश्रूषा करते है। अकारण दयावान् वे मुनिराज उन्हें महा मंगलकारी श्री नवकार मन्त्र देते हैं। तो वे कहते हैं। महाराज? इस मे क्या धरा है। यह तो हमारे नन्हे मुन्ने बच्चों को भी आता है। इसका स्मरण कर कर के कितने ही वर्ष पूरे हो गए। परन्तु कुछ भी नहीं मिला कृपा कर के अन्य देवी देवता की आराधना बतलाइए। जिस के साधन स्मरण से मेरी सभी चाहनाएँ पूर्ण हो जाय। मुनिराज बहुत समझाते हैं। परन्तु वे नहीं समझते। वे मन्त्रों को लोभ से लुब्ध मुग्ध जीव यह नहीं जानते कि क्या ये देवी देवता हमारे पूर्वकृत कर्मों को मिटा सकने में समर्थ हैं? वे भी तो कर्मपाश में बन्धे हैं। स्वयं बन्धा हुवा दूसरे को बन्धनों से कैसे छुडा सकता है? देवी देवता हमको धन पुत्र कलत्रादि देकर सुखी कर देंगे। उनकी प्रसन्नता से हमारा सारा का सारा कार्य चुटकी बजाते ही हो जायगा। इस भ्रान्त धारणाने हमको पुरुषार्थ हीन बना दिया है। जरा सा दुःख आया अरिहंत याद नहीं आते अपितु ये सकामी देवी देवता याद आते है। मुझे आश्चर्य तो जब होता है ऐसे लोग चिकित्सकों के औषधोपचार से रोग मुक्त होते हैं तथा अकस्मात् कहीं या किसी ओर से कुछ लाभ होता है तो चट से ऐसा कहे जाते सुनता हूँ कि "मैंने अमुक देव की या देवी की मानता ली थी, उन्हों ने कृपा कर के मुझे रोग से मुक्त कर दिया, मेरा यह काम सफल कर दिया। यदि उन्हों की कृपा नही होती तो मैं रोग से मर

पनिपद्भूतमशेष विघ्न विघातनिघ्नमखिलदृष्टादृष्ट सकल्पकल्पद्रुमोपम, शास्त्राध्ययनाध्यापनावधि प्रणिधेयम्'

'अर्हम्' ये अक्षर परमेश्वर परमेष्ठि के वाचक हैं। सिद्धचक्र के आदि बीज है। सकलागमों के रहस्य भूत हैं, सब विघ्न समूहों का नाश करने वाले हैं। सब दृष्ट याने राज्यादि सुख और अदृष्य याने सकल्पित अपवर्ग सुख का अभिलषित फल देने में कल्पद्रुम के समान हैं। शास्त्रों के अध्ययन और अध्यापन के आदि में इसका प्रणिधान करना चाहिये। अर्हत् का महत्व दिखलाते हुए आचार्यश्री ने योगशास्त्र में भी फरमाया है कि—

अकारादि हकारान्त, रेफमध्य सबिन्दुकम्।
तदेव परमतत्व, यो जानाति स तत्व वित्॥
महातत्वमिद योगी, यदैव ध्यायति स्थिर।
तदैवानन्दसपद्भूमुक्ति श्री रूपतिष्ठते॥

जिसके आदि में अकार है। जिसके अन्तमें हकार है। बिन्दुसहित रेफ जिसके मध्य में है। ऐसा अर्हम् मन्त्रपद है। वही परमतत्व है। उसको जो जानता है-समझता है वही तत्वज्ञ है। जब योगी स्थिर चित्त होकर इस महातत्व का ध्यान करता है, तब पूर्ण आनंद स्वरूप उत्पतीस्थान—रूपमोक्ष-विभूति उसके आगे आकर प्राप्त होती है।

वाचक प्रवर श्रीमद् यशोविजयजी भी फरमाते हैं कि—

अर्हमित्यक्षर यस्य चित्ते स्फुरति सर्वदा
पर ब्रह्म तत शब्द ब्राह्मण सोऽधिगच्छति॥२७॥
पर सहस्रा शरदा, परे योगमुपासताम्।
हन्तार्हन्तमनासेव्य, गन्तारो न पर पदम्॥२८॥
आत्मायमहतो ध्यानात् परमात्मत्वमश्नुते।
रसविद्ध यथाताम्र स्वर्णत्वमधिगच्छति॥२९॥
(द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका)

अर्हम् ऐसे अक्षर जिसके चित्त में हमेशा स्फुरायमान रहते है। वह इस शब्द ब्रह्म से परब्रह्म (मोक्ष) की प्राप्ती कर सकता है। हजारों वर्षों पर्यन्त योग की उपासना करनेवाले इतर जन वास्तव में अरिहंत की सेवा किये बिना परम पद की प्राप्ती नहीं कर सकते। जिस प्रकार रस से लिप्त ताम्बा सोना बनता है। उसी प्रकार अरिहंत के ध्यान से अपनी आत्मा परमात्मा बनती है।

कितने ही लोग 'नमो अरिहंताण' यह सप्ताक्षरी मन्त्र और कितने ही लोग अरिहत, सिद्ध आयरिय उवज्झाय साहू' इस षोडशाक्षरी मन्त्र का स्मरण करते

है। सप्ताक्षरी (नमो अरिहंताणं) के लिये योगशास्त्र के आठवें प्रकाश में लिखा है कि-

यदीच्छेद् भवदावाग्नेः समुच्छेदम् क्षणादपि।
स्मरेत्तदादिमन्त्रस्य वर्ण सप्तकमादिमम् ॥

यदि संसार के रूप दावानल का क्षण मात्र में उच्छेद करने की इच्छा हो तो आदि मन्त्र (नमस्कार) के आदि के सात अक्षर (नमो अरिहंताणं) का स्मरण करना चाहिये।

पोडशाक्षरी मन्त्र की महत्ता के विषय में कहा गया है कि—

यदुच्चारण मात्रेण, पाप संघः प्रलीयते।
आत्मादेयः शिरोदेय न देयः षोडशाक्षरी ॥

शरीर का नाश कर देना, मस्तक दे देना परन्तु जिसके उच्चारण मात्र से ही पापों का संघ (समूह) नष्ट हो जाता है, ऐसा षोडषाक्षरी मंत्र किसे भी नहीं देना चाहिये।

इस प्रकार के महामहिमाशाली सकल श्रुतागम रहस्य भूत श्री मंत्राधिराज महामन्त्र नमस्कार को प्राप्त करके भी नाम तो जैन रखते हैं और अत्यन्त लाभप्रदाता मंत्र को छोडकर अन्य मंत्रों के लिए इधर उधर भटकते देखे जाते हैं। मंत्रों के लोभ से लुब्ध होकर भटकने वाले इज्जत धन एवं धर्म तक से हाथ धोते देखे गए हैं। सब ओर से लुट जाने के पश्चात् वे मंत्रज्ञ साधुओं के पास उनसे मन्त्र प्राप्त कर बिना महनत के श्रीमन्त बनने की इच्छा से आते हैं। उनकी सेवा शुश्रूषा करते हैं। अकारण दयावान् वे मुनिराज उन्हें महा मंगलकारी श्री नवकार मन्त्र देते हैं। तो वे कहते हैं। महाराज? इस में क्या धरा है। यह तो हमारे नन्हे मुन्हे बच्चों को भी आता है। इसका स्मरण कर कर के कितने ही वर्ष पूरे हो गए। परन्तु कुछ भी नहीं मिला कृपा कर के अन्य देवी देवता की आराधना बतलाईए। जिस के साधन स्मरण से मेरी सभी चाहनाएँ पूर्ण हो जाय। मुनिराज बहुत समझाते हैं। परन्तु वे नहीं समझते। वे मन्त्रों को लोभ से लुब्ध मुग्ध जीव यह नहीं जानते कि क्या ये देवी देवता हमारे पूर्वकृत कर्मों को मिटा सकने में समर्थ है? वे भी तो कर्मपाश में बन्धे हैं। स्वयं बन्धा हुवा दूसरे को बन्धनों से कैसे छुडा सकता है? देवी देवता हमको धन पुत्र कलत्रादि देकर सुखी कर देंगे। उनकी प्रसन्नता से हमारा सारा का सारा कार्य चुटकी बजाते ही हो जायगा। इस भ्रान्त धारणाने हमको पुरुषार्थ हीन बना दिया है। जरा सा दुःख आया अरिहंत याद नहीं आते अपितु ये सकामी देवी देवता याद आते हैं। मुझे आश्चर्य तो जब होता है ऐसे लोग चिकित्सकों के औषधोपचार से रोग मुक्त होते हैं तथा अकस्मात् कहीं या किसी ओर से कुछ लाभ होता है तो चट से ऐसा कहे जाते सुनता हूँ कि "मैंने अमुक देव की या देवी की मानता ली थी, उन्हों ने कृपा कर के मुझे रोग से मुक्त कर दिया, मेरा यह काम सफल कर दिया। यदि उन्हों की कृपा नही होती तो मैं रोग से मर

श्री नमस्कार मन्त्र—महात्म्य की कथाएं

लेखक—श्री भवरलाल नाहटा

I

प्रत्येक धर्म में इष्ट देव और गुरू की भक्ति—पूजा का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। हरेक धर्म में कुछ मंत्र भी विशेष श्रद्धा के साथ जाप किये जाते हैं और उनके द्वारा उस धर्म का आदर्श सामने आता है। जैन धर्म में देव या ईश्वर सम्बन्धी मान्यता अन्य धर्मों से कुछ पृथक् है। अन्य धर्मों में उनके इष्ट देव रुष्ट और तुष्ट होते हैं ऐसी मान्यता होने के कारण उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए या उपद्रव निवारण व सुखप्राप्ति के लिए पूजे जाते हैं, पर जैन धर्म के देव और गुरू न रुष्ट होते हैं, न तुष्ट होते हैं, वीतरागता ही उनका आदर्श है। उनकी उपासना अपनी आत्मशुद्धि और सद्गुण प्रकटीकरण की प्रेरणा के लिए की जाती है। आध्यात्मिक दृष्टि से जैन धर्म का यह मन्तव्य है कि, सुख या दुख या नरक-स्वर्ग और मोक्ष का मूल कारण अपनी आत्मा ही है देव और गुरू तो निमित्त कारण हैं। जैन धर्म के प्रवर्तक व प्रचारक तीर्थंकर अपनी साधना के द्वारा ही आत्मा की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त किये थे। प्राणी मात्र के कल्याण के लिए उन्होंने आत्मोत्थान का मार्ग प्रकाशित किया इस लिए परमोपकारी होने से उनकी भक्ति-पूजा की जाती है। उनके जीवन और प्रवचनों से विशेष प्रेरणा मिलती है इसी प्रकार उनके प्रदर्शित पथ के अनुयायी निर्ग्रन्थ मुनि गुरू माने जाते हैं। उनके द्वारा तीर्थंकरों का मङ्गलमय उपदेश प्रसारित होता है, वे यथा शक्य आत्मोन्नति की साधना में प्रवृत्त रहते हैं। इसलिए उनका जीवन भी दूसरों के लिए पथप्रदर्शक और अनुकरणीय होता है।

जैन धर्म में अरिहंत और सिद्ध दो परमेश्वर या देव माने जाते हैं। एवं आचार्य, उपाध्याय व साधु ये तीनों गुरूस्थानीय हैं। इन पाचों को परमेष्ठि कहा जाता है। प्रत्येक जैन के लिए ये इष्ट और उपासनीय होते हैं, इसलिए जैन धर्म का जो मूलमन्त्र है उसमें पंच परमेष्ठि को नमस्कार किया गया है। उसके पश्चात् चार पदों में उपर्युक्त परमेष्ठियों के नमस्कार के महात्म्य का वर्णन किया गया है, और पंच परमेष्ठि के पांच पद एवं नमस्कार महात्म्य के चार पद मिलाकर नव पद होते हैं जिसे नवकार मन्त्र कहा जाता है। इस मन्त्र में पाचों परमेष्ठियों को नमस्कार किया है इस से नमस्कार मन्त्र भी कहते हैं। अपने इष्ट पूज्य पुरुषों का नामस्मरण

१ पंच परमेष्ठि के पाच पद एवं दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप इन चारों को मिलाकर नवपद कहा जाता है। [illegible] में देव गुरु के अतिरिक्त धर्म तत्त्व भी सम्मिलित हो गया व साध्य साधक साधना की त्रिपुटी भी मिल गयी है [illegible] सिद्धचक्र कहा जाता है और उसकी बड़ी महिमा है। इसके माहात्म्य पर श्रीपाल की कथा बहुत प्रसिद्ध है [illegible] [illegible] की साधना की जाती है।

व वंदन-नमन समस्त पापों का नाश करनेवाला एवं समस्त मंगलों में प्रधान व श्रेष्ठ है। इसी भाव को पीछे के चार पदों में अभिव्यक्त किया गया है। पूरा नवकार मंत्र इस प्रकार है:—

णमो अरिहंताणं — अरिहन्तों को नमस्कार
णमो सिद्धाणं — सिद्धों को नमस्कार
णमो आयरियाणं — आचार्यों को नमस्कार
णमो उवज्झायाणं — उपाध्यायों को नमस्कार
णमो लोए सव्वसाहूणं — लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार
एसोपंच णमुक्कारो — ये पांचो नमस्कार
सव्व पावप्पणासणो — समस्त पापों का नाश करनेवाले हैं।
मंगलाणंच सव्वेसिं — सर्व मंगलों में
पढमं हवइ मंगलं। — यह प्रथम या प्रधान मंगल है।

इस नमस्कार मंत्र के जाप की सुविधा की दृष्टि से संक्षितिकरण भी किया गया है। संस्कृत में नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्यः प्रसिद्ध है ही, प्राकृत में पांचों पदों का प्रथमाक्षर लेकर 'असिआउसाय नमः' मंत्र के जाप का विधान भी है। सब से संक्षिप्त रूप प्रणव मंत्र "ॐ" है। जिसमें पंच परमेष्ठि के सूचक अ आ आ उ म् इन पांचों का संयुक्त रूप ॐ कार माना गया है। यों ॐ प्रणव मंत्र सर्व मान्य है ही। इन हैं से पहले के पांच पद तो समस्त जैन सम्प्रदायों को समान रूप से मान्य हैं। दिगम्बर, श्वेताम्बर स्थानकवाली तेरापंथी आदि प्रत्येक जैन के लिए यह आदर्श मंत्र है। महात्म्य वर्णन वाले अंतिम चार पदों को कोई कोई प्रधानता नहीं देते, व कोई कोई देते हैं। कई जैन सूत्रों का प्रारंभ भी नमस्कर मंत्र से होता है। षड़ावश्यक आदि सभी विधि विधान एवं व्याख्यान भी इसी मंत्रोच्चार के साथ प्रारंभ किया जाता है। इस मंत्र के पद वाक्यों में कोई भी व्यक्ति न्यूनाधिक न कर सके इसलिए अक्षर आदि की गणना भी निश्चित कर दी गयी है। ८ संपदा. ६८ लघु अक्षर, ७ गुरु अक्षर इस मंत्र के बतलाये गये हैं। इसके जप का बडा भारी महात्म्य है। लक्ष और कोटी की संख्या में जप करने का विधान पाया जाता है, और उसका बडा फल बतलाया गया है।

जिन मणिकों के द्वारा इस मंत्र का जाप किया जाता है उनकी संख्या १०८ होती है, जो इन पंच परमेष्ठियों के गुणों की संख्या पर आधारित है। अरिहंत के १२, सिद्ध के ८, आचार्य के ३६, उपाध्याय के २५, और साधु के २७ गुण, कुल मिलाकर १०८ हो जाते हैं। नवकार मंत्र को इन १०८ मणियोंवाली माला से गुणने के कारण ही इसका नाम नवकारवाली पडा। जैनोंके अनुकरण में अन्य धर्मावलम्बियों ने भी जप करनेवाली माला १०८ मणको की ही स्वीकार की, यद्यपि उनकी संख्या १०८ होने का कोई स्पष्ट कारण उन लोगों में नहीं बतलाया गया है।

श्री नमस्कार मन्त्र–महात्म्य की कथाएं

लेखक—श्री भवरलाल नाहटा

प्रत्येक धर्म में इष्ट देव और गुरू की भक्ति–पूजा का महत्वपूर्ण स्थान होता है। हरेक धर्म में कुछ मन्त्र भी विशेष श्रद्धा के साथ जाप किये जाते है और उनके द्वारा उस धर्म का आदर्श सामने आता है। जैन धर्म में देव या ईश्वर सम्बन्धी मान्यता अन्य धर्मों से कुछ पृथक है। अन्य धर्मों में उनके इष्ट देव रुष्ट और तुष्ट होते हैं ऐसी मान्यता होने के कारण उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए या उपद्रव निवारण व सुखप्राप्ति के लिए पूजे जाते हैं, पर जैन धर्म के देव और गुरू न रुष्ट होते हैं, न तुष्ट होते हैं, वीतरागता ही उनका आदर्श है। उनकी उपासना अपनी आत्मशुद्धि और सद्गुण प्रकटीकरण की प्रेरणा के लिए की जाती है। आध्यात्मिक दृष्टि से जैन धर्म का यह मन्तव्य है कि, सुख या दुख या नरक-स्वर्ग और मोक्ष का मूल कारण अपनी आत्मा ही है देव और गुरू तो निमित्त कारण है। जैन धर्म के प्रवर्तक व प्रचारक तीर्थंकर अपनी साधना के द्वारा ही आत्मा की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त किये थे। प्राणी मात्र के कल्याण के लिए उन्होने आत्मोत्थान का मार्ग प्रकाशित किया इस लिए परमोपकारी होने से उनकी भक्ति–पूजा की जाती है। उनके जीवन और प्रवचनों से विशेष प्रेरणा मिलती है इसी प्रकार उनके प्रदर्शित पथ के अनुयायी निग्रन्थ मुनि गुरू माने जाते हैं। उनके द्वारा तीर्थंकरों का मङ्गलमय उपदेश प्रसारित होता है, वे यथा शक्य आत्मोन्नति की साधना में प्रवृत्त रहते हैं। इसलिए उनका जीवन भी दूसरों के लिए पथप्रदर्शक और अनुकरणीय होता है।

जैन धर्म में अरिहंत और सिद्ध दो परमेश्वर या देव माने जाते है। एवं आचार्य, उपाध्याय व साधु ये तीनों गुरुस्थानीय हैं। इन पाचों को परमेष्ठि कहा जाता है। प्रत्येक जैन के लिए ये इष्ट और उपासनीय होते हैं, इसलिए जैन धर्म का जो मूलमन्त्र है उसमें पंच परमेष्ठि को नमस्कार किया गया है। उसके पश्चात् चार पदों में उपर्युक्त परमेष्ठियों के नमस्कार के महात्म्य का वर्णन किया गया है, और पंच परमेष्ठि के पांच पद एवं नमस्कार महात्म्य के चार पद मिलाकर नव पद[1] होते हैं जिसे नवकार मन्त्र कहा जाता है। इस मन्त्र में पांचो परमेष्ठियों को नमस्कार किया है इस से नमस्कार मन्त्र भी कहते हैं। अपने इष्ट पूज्य पुरुषों का नामस्मरण

---

१ पंच परमेष्ठि के पांच पद एवं दर्शन ज्ञान चारित्र तप इन चारों को मिलाकर नवपद कहा जाता है। इस में देव गुरु के अतिरिक्त धर्म तत्त्व भी सन्निहित हो गया व साध्य साधक, साधन की त्रिपुटी भी मिल गयी है। यह सिद्धचक्र कहा जाता है और उसकी बड़ी महिमा है। इसके माहात्म्य पर श्रीपाल की कथा बड़ी प्रसिद्ध है एवं [illegible] नवपद की साधना की जाती है।

व वंदन-नमन समस्त पापों का नाश करनेवाला एवं समस्त मंगलों में प्रधान व श्रेष्ठ है। इसी भाव को पीछे के चार पदों में अभिव्यक्त किया गया है। पूरा नवकार मंत्र इस प्रकार है :—

णमो अरिहंताणं — अरिहन्तों को नमस्कार
णमो सिद्धाणं — सिद्धों को नमस्कार
णमो आयरियाणं — आचार्यों को नमस्कार
णमो उवज्झायाणं — उपाध्यायों को नमस्कार
णमो लोए सव्वसाहूणं — लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार
एसोपंच णमुक्कारो — ये पांचो नमस्कार
सव्व पावप्पणासणो — समस्त पापों का नाश करनेवाले हैं।
मंगलाणंच सव्वेसिं — सर्व मंगलों में
पढमं हवइ मंगलं।— यह प्रथम या प्रधान मंगल है।

इस नमस्कार मंत्र के जाप की सुविधा की दृष्टि से संक्षितिकरण भी किया गया है। संस्कृत में नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्यः प्रसिद्ध है ही, प्राकृत मे पांचों पदो का प्रथमाक्षर लेकर 'असिआउसाय नमः' मंत्र के जाप का विधान भी है। सब से संक्षिप्त रूप प्रणव मंत्र "ॐ" है। जिसमें पंच परमेष्टि के सूचक अ आ आ उ म् इन पांचों का संयुक्त रूप ॐ कार माना गया है। यों ॐ प्रणव मंत्र सर्व मान्य है ही। इन हैं से पहले के पांच पद तो समस्त जैन सम्प्रदायों को समान रूप से मान्य हैं। दिगम्बर, श्वेताम्बर स्थानकवासी तेरापंथी आदि प्रत्येक जैन के लिए यह आदर्श मंत्र है। महात्म्य वर्णन वाले अंतिम चार पदों को कोई कोई प्रधानता नहीं देते, व कोई कोई देते हैं। कई जैन सूत्रों का प्रारंभ भी नमस्कर मंत्र से होता है। षड़ावश्यक आदि सभी विधि विधान एवं व्याख्यान भी इसी मंत्रोच्चार के साथ प्रारंभ किया जाता है। इस मंत्र के पद वाक्यों में कोई भी व्यक्ति न्यूनाधिक न कर सके इसलिए अक्षर आदि की गणना भी निश्चित कर दी गयी है। ८ संपदा, ६८ लघु अक्षर, ७ गुरु अक्षर इस मंत्र के वतलाये गये हैं। इसके जप का वडा भारी महात्म्य है। लक्ष और कोटी की संख्या में जप करने का विधान पाया जाता है, और उसका वडा फल वतलाया गया है।

जिन मणिकों के द्वारा इस मंत्र का जाप किया जाता है उनकी संख्या १०८ होती है, जो इन पंच परमेष्ठियों के गुणों की संख्या पर आधारित है। अरिहंत के १२, सिद्ध के ८, आचार्य के ३६, उपाध्याय के २५, और साधु के २७ गुण, कुल मिलाकर १०८ हो जाते हैं। नवकार मंत्र को इन १०८ मणियोंवाली माला से गुणने के कारण ही इसका नाम नवकारवाली पडा। जैनोंके अनुकरण में अन्य धर्मावलम्बियों ने भी जप करनेवाली माला १०८ मणको की ही स्वीकार की, यद्यपि उनकी संख्या १०८ होने का कोई स्पष्ट कारण उन लोगों में नहीं वतलाया गया है।

नवकार मंत्र की व्याख्या और उसके महात्म्य पर बहुत बडा साहित्य निर्मित हुआ है। कई शब्द शास्त्री मुनियोंने एक एक पद के शताद्धिक अर्थ किये है। एसी कुछ शतार्थी स्वताप मत्रराज गुणकल्प महोदधि, और अनेकार्थ रत्नमजूषा में प्रकाशित भी हो चुके हैं। प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रंश राजस्थानी, गूजराती आदि के कई स्तुति स्तोत्र प्रकाशित हुए है। कुच्छ प्रकरणग्रथ भी रचे गये हैं। नमस्कार मंत्र सम्बधी रचनाओं के दो विशिष्ट सग्रह शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाले हैं। जिनमें से पहला मुनि जिनविजयजी सम्पादित के कई फरमे हमने कई वप पूर्व छपे देखे थे। दूसरा जैन साहित्य विकास मंडल की ओर से तेय्यार हो रहा है। मुनि भद्रकरविजयजी ने गुजराती में एक ग्रथ प्रकाशित किया है जिसके अत मे खरतर गच्छीय श्रीजिनचद्रसूरि रचित पच परमेष्ठि प्रकरण आदि भी सानुवाद प्रकाशित हुए है। आत्मानद सभा भावनगर से एक इनामी योजना इस विषय में निवन्ध तैयार कराने के लिए की गयी थी जिसमें वगाली विद्वान श्रीहरिसत्य भट्टाचार्य का निवन्ध सर्व प्रथम रहा। उस निवन्ध का गूजराती अनुवाद भी भावनगर की आत्मानंद सभा से प्रकाशित हो चुका है। इसी प्रकार नमस्कार महामत्र के विशेष विधिविधान और उनके फलको वतलानेवाला नवकार कल्प भी प्रकाशित है श्वेताम्वर समाज में तो इस सम्बन्ध में बहुत विशाल साहित्य है, अनेक ग्रन्थो की टीकाओं में इस मत्र के महात्म्य को प्रकट करने वाली कई कथाऍ भी प्राप्त होती हैं, और उन कथाओ को लेकर कई रास आदि रचे गये हैं। ऐसे ही एक सतरहवी शदी के कवि हीरकलश कृत रास के आधार से कुछ कथाऍ यहा प्रकाशित की जा रही हैं। रासकार ने मूल एक कथा की उपकथाओं के रूप में अन्य कई कथाओं को गूथ लिया है यह इस रास की उल्लेखनीय विशेषता है।

राजसिंह रत्नावती कथा

भरतक्षेत्र में रयणापुर नामक नगर था। यहा मृगाङ्क नरेश्वर राज्य करता था। जिसकी पटरानी विजया शीलादि गुणों से विभूषित थी। राजसुख भोगते हुए रानी ने सिंह स्वप्न सूचित राजसिंह नामक कुमार को जन्म दिया। पाच धाय माताओं द्वारा लालन पालन होकर कुमार बडा हुआ। उसे बहुत्तर कलाओं का अभ्यास कराया गया। मत्रीश्वर मतिसागर का पुत्र सुमतिकुमार उसका समवयस्क था, जिससे उसकी मित्रता हो गई। एक दिन दोनों मित्र अश्वारूढ हो कर धूमने निकले। उन्हें वन में घूमते मध्यान्ह हो गया। धूप में व्याकुल होकर वे एक आम्रवृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे थे तो एक पथिक उनके दृष्टिगोचर हुआ। कुमार ने उसे बुलाकर पूछा आप कहा से आ रहे हैं और किस तरफ जावेंगे? पथिक ने कहा–मैं पद्मपुर नगर से शत्रुञ्जय गिरि की यात्रा के हेतु निकला हू। राजकुमार ने उसे कोई कौतुक की बात सुनाने का आदेश दिया।

पथिक ने कहा पदमपुर में सिंहरथ राजा की कमला नामक रानी है। उसकी रत्नावती नामक अत्यन्त सुन्दर पुत्री है जो चौसठ कलाओं में निपुण और तरुण वय

प्राप्त है। राजा उसके अनुरूप वर की चिन्ता में था, मंत्रीश्वर ने कहा आप निश्चिन्त रहें इसके भाग्यबल से योग्य वर अवश्य प्राप्त होगा। इतने ही में नाट्य मंडली आई और नटुवे ने पुलिन्द का वेश धारण कर भीली नृत्य प्रारम्भ किया। नृत्य देखती हुई राजकुमारी एकाएक मुर्छित हो धराशायी हो गई जिससे सर्वत्र हाहाकार होने लगा। शीतोपचार से सचेत होने पर राजा ने रत्नावती से इसका कारण पूछा। उसने कहा—पिताजी! नट को देखकर मुझे जातिस्मरण ज्ञान हुआ है. मेरा पूर्वभव का पति पुलिन्द मिलेगा तभी मुझे सुख मिलेगा अन्य से मुझे प्रयोजन नहीं। राजा ने देश-विदेश में दूत भेजे। तदनुसार बहुत से सुन्दर सुन्दर राजकुमार एकत्र हुए और राजकुमारी से अपने पूर्वभव में पुलिन्द होने की बनावटी बातें बताई। कुमारी के यह पूछने पर कि पूर्वभव मे क्या सुकृत किया जिससे राजवंश में उत्पन्न हुए? तो उत्तर में किसीने कहा—हमने ब्रह्माजी की पूजा की, किसीने कहा—हमने दान दिया, किसीने कहा—पंचाग्नि तपश्चर्या की। राजकुमारी ने कहा—यह कपट पूर्ण धपलेबाजी मुझे अच्छी नहीं लगती। इस प्रकार के मिथ्या व्यवहार के वंचक पुरुषों के प्रति वह घृणा-भाव धारण कर केवल स्त्री समुदाय में ही रह कर अपना काल निर्गमन करती है, और पुरुष का मुंह देखना भी पसंत नहीं करती। मैं यह कौतुक वार्त्ता देखकर ही पद्मपुर से आरहा हूं. जो आपसे निवेदन की है।

पथिक के वचन सुन कर राजसिंह तत्काल मूर्छित हो गया। थोडी देर में शीतल वायु से सचेत होने पर पथिक ने मूर्छा का कारण पूछा. तो कुमार ने अपने पूर्व भव की स्नेह वार्ता का संकेत बता कर उसे वस्त्राभरणों से संतुष्ट कर विदा किया। राजकुमार के मन पर उसकी पूर्व जन्म की प्रिया ने ऐसा अधिकार जमाया कि वह किसी प्रकार उसे भुला न सका। मंत्री पुत्र सुमतिकुमार के पूछने पर उसके कहा—मित्र! जम्बूद्वीप में सिद्धावट ग्राम है वहां सिद्धसेन सूरि नामक अणगार पधारे, उन्होंने वही चौमासा किया। उनका शिष्य समयसारमुनि तपश्चर्या करने के निमित्त गुर्वाज्ञा लेकर गिरीकन्दरा में गुफावास करने के लिए आए। उन्हे सिंहादि हिंसक जन्तुओं का कोई भय नहीं था क्योंकि वे स्वयं क्रोधादि कषायों से रहित थे। एक दिन उनके पास भील युगल आया और मुनि को प्रमाण कर भक्ति पूर्वक बैठा। मुनिराज ने उन्हें भद्र परिणामी जान कर के नवकार मंत्र सिखाया। उस नमस्कार मन्त्र के निरन्तर जाप से मैं यहां राजकुमार हुआ और मेरी पूर्व जन्म की प्रिया पद्मपुर में सिंहरथ राजा की पुत्री रत्नावती हुई है। पथिक के वचनों से जातिस्मरण प्राप्त कर मैं उसके लिए बडा व्याकुल हुं! उसकी प्राप्ति के बिना मैं जल और अग्नि मे प्रविष्ट होकर या फांसी खाकर मरने को उत्सुक हो रहा हूं। मंत्रीपुत्रने कहा—धैर्य्य रखो, जीता हुआ मनुष्य ही सुख परम्परा को प्राप्त करता है, मरने पर नहीं।

इस अवसर पर एक ऐसा प्रसंग उपस्थित होता है, कि नागरिक लोग एकत्र

होकर राज प्रासाद में आते हैं। नगर के प्रमुख लोग उन का प्रतिनिधित्व कर रहे थे जिन के नाम इस प्रकार हैं—

आल्हण, आवड, अचलसी, आमड, आसड, अमरसी, आपू, अक्कड, अरजनसींह आपमल्ल, अमृतसींह, ऊदड, ऊहड, ऊघड, आसधीर, आसू, अज्जड, अमरड, इसर, अर्मीपाल, अक्खड, काजड, करमण, कुमरसी, करणड, केसव, करमसी, कान्हड, केल्हण, काजलिसाह, कृष्णड, कोडउ, कूमड, कूपउ, कम्मउ, कुसलउ, काल्उ, कमलउ, कउरड, केल्ड, कपूरचन्द, कल्हू, खरहथ, खेतड, खीमसी, खीरदेव, खिंडपति, खेतसी, खीडड, खोखर, खिवराज, खीढड, खेमड, क्षेमराज, गेहउ, गागड, गुणराज, गोपड, गोदड, गिरराज, गोइद, गुणू, गोपाल, गोढ़ू, गोरड, गुणपाल, गढमल, गूजर, गुणदत्त, गज्जू, गोवींदास, गोयल, गौडीदास, आदि—

इन महाजन लोगों ने राजा से निवेदन किया कि आपका पुत्र राजसिंह अत्यन्त रूपवान है जो प्रतिदिन नगरी में घूमता है। कुमार का नाम सुनते ही रूप मुग्ध स्त्रियां घर के काम काज और बच्चों को रोते छोडकर उसकी रूप सुधा को लोचनो द्वारा पान करने के लिए उद्यत रहती हैं। कोइ, भोजन करती हुई, कोइ पानी छानती हुइ कोइ मोतियों के हार पिरोती हुई सारे काम छिटका कर कुमार को देखने दौडती है। जिससे हम लोगों की बडी हानि होती है, एक दिन का तो काम नहीं, सदा का प्रश्न है! आप मालिक है, विचार करें। राजा ने कहा—ठीक है, हम कुमार को शिक्षा देंगे आप लोग निश्चित होकर सुख समाधि पूर्वक रहिए!

अब राजा ने कुमार को बुलाकर कहा—पुत्र! घूमना फिरना अच्छा नहीं, तुम घर बैठे ही आराम से रहो! पिता की यह शिक्षा कुमार को अरुचिकर लगी। उसने मित्र से कहा—मुझे पिता ने घर में रहने का आदेश दिया है, जो मुझे सवथा नही सुहाता। मुझे तो रत्नावती चाहिए, मैं विदेश जाऊगा और अपने भाग्य की परीक्षा कर देखूगा। तुम यहा सुखपूर्वक रहो! मित्र ने कहा—"मैं तुम्हारे बिना यहा नहीं रह सकता, जो तुम्हारी गति वही मेरी गति" इस प्रकार दोनों ने विचार करके मध्य रात्रि में प्रयाण कर दिया।

ये दोनों मित्र क्रमश वन–मार्ग का उलघन करते हुए एक दिन रात्री के समय किसी सूने मन्दिर में ठहरे। मध्यरात्रि के समय मानव रुदन के स्वर सुनकर कुमार ने सोचा इन निर्जन वन में कौन दुखी मानव चिल्ला रहा है? वह तुरत खड्ग लेकर शब्द की अनुसार दूर निकल गया। आगे जा कर उसने देखा—एक राक्षस ने एक पुरुष को पकड रखा है। कुमारने कहा—अहो राक्षस! इसने क्या बिगाडा है? उसने कहा—इसने बहुत सी विद्याए सीखी है, इसने मुझे आकर्षित किया, मैंने इससे बलि रूप में अपना मास देने को कहा। इसके अस्वीकार करने पर मैं इस साधक को ही भक्षण करने को उद्यत हुआ हू। कुमार ने कहा—मैं अपना मास देने को प्रस्तुत हू।

तुम इस साधक को छोड दो ! उसने सत्वर अपने शरीर पर खड्ग का वार किया। राक्षस ने प्रसन्न हो कर कहा – बस कुमार मैं संतुष्ट हूं, मनोवांछित मांगो ! कुमार ने कहा – राक्षसराज ! साधक को सिद्धि दो ! राक्षस ने कमार का वचन मान्य किया और साधक का मनोरथ पूर्ण हुआ। राक्षस ने कुमार को चिन्तामणी रत्न दिया। कुमार मित्र के समीप पहुंचा। कुमार और मंत्रीपुत्र प्रातःकाल वहां से दोनों चले वे क्रमशः कंचनपुर पहुंचे और वहां कनकमय जिन प्रासाद देखकर लोगों से पूछने लगे कि यह किसने निर्माण करवाया है ? लोगों ने कहा —

शिवकुमार कथा

इसी कंचनपूर में सुभद्र सेठ रहता था। जिसको सुमंगला नामक भार्या थी। उनका पुत्र शिवकुमार सातो व्यसनों में आसक्त था। माता की हितशिक्षा को न मान कर वह दिनरात दुर्व्यसनों में निमग्न रहा करता था। अंत समय में पिता ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से पुत्र को बुलाकर नवकार मंत्र सिखाया और कहा कि आपत्ति के समय इस चतुर्दशपूर्व के सारभूत महामंत्र का स्मरण अवश्य करना। पिता की मृत्यु के उपरान्त शिवकुमार और भी अधिक निरंकूश होकर दुर्व्यसनों का सेवन करने लगा। फलस्वरूप निर्धन हो कर दुखी हो गया। एक योगी का आश्रय प्राप्त कर उसकी सेवा करने लगा उससे द्रव्य याचना करने पर योगी ने कहा – काली चतुर्दशी के दिन मेरे साथ स्मशान में चलना, तुम्हें खूब धन दूंगा। निर्दिष्ट समय पर दोनो स्मशान में गए। योगी ने मंडल की रचना कर गूगल का धूप किया, वाकुला, लापसी तैयार कर तिलों का होम किया। एक मुडदे के हाथ में खड्ग देकर सुलादिया और शिवकुमार को उसके पांवों मे तेल मालिश करने की आज्ञा दी। योगी मंत्र जाप करने बैठा, शिवकुमार मुडदे के पांव मसलता हुआ भयभीत होकर सोचने लगा, आज मरणान्त आपदा आई, किस प्रकार इसके चंगुल से निकलूंगा ? तभी उसे पिताके वचन स्मरण हुए और मन ही मन एकचित्तसे नवकार मंत्र का जाप करना प्रारंभ कर दिया। योगी के मंत्र प्रभाव से मुडदा उठा, पर वापस भूमिसात् हो गया। योगी ने फिर से जाप किया पर फिर वोही वात हुई। योगी ने अपनी विद्या सिद्ध न होते देख कर सआश्चर्य शिवकुमार से पूछा – तुम भी कोई मंत्र जाप करते हो क्या? शिवकुमार ने कहा – यदि मैं मंत्र जानता तो आप के पीछे क्यों भटकता। योगी ने तृतीय वार जाप प्रारंभ किया, शिवकुमार विशेष एकाग्रतापूर्वक नवपद का ध्यान करने लगा। इस मंत्र के प्रभाव से वेताल विकराल हो कर उठा और योगी की चूंटी पकड कर उसे, अग्नि में झोंक दिया। इससे यह स्वर्ण पुरुष सिद्ध हुआ। शिवकुमार ने नवकार मन्त्र का प्रत्यक्ष चमत्कार देखा। स्वर्ण पुरुष को भूगर्भ में छिपा कर वह नगर में आया और राजा से मिल कर रातकी सारी वात निवेदित की। राजा ने स्वर्ण पुरुष शिवकुमार को प्रदान किया। इस स्वर्ण पुरुष की यह महिमा थी कि मस्तक और हृदय के अतिरिक्त जितना भी सोना काट कर लिया जाय दूसरे दिन परिपूर्ण हो जाता। इस प्रकार अनर्गल संपत्ति

का स्वामी हो कर थोडे दिन में शिवकुमार नगर का प्रधान धनाढ्य हो गया। वह प्रतिदिन नवकार महामत्र का जाप करता और सद्गुरु के वचनो से सम्यक्त्व प्राप्त कर यह स्वर्ण मय चैत्य निमाण कराया और अन्त में शुभ भावों द्वारा स्वर्ग प्राप्त हुआ

कुमार राजसिंह ने यह वृतात श्रवण कर जिनेश्वर प्रभु के दर्शन किये और नवकार के प्रभाव से चमत्कृत हो मत्री पुत्र के साथ वहा से प्रयाण कर के पोतनपुर नगर पहुचे। यहाँ घर घर में उत्सव देख कर राजसिंह ने लोगों से पूछा कि—इस नगर में आज क्या पर्व है? लोगो ने कहा-कुमार, ध्यान देकर सुनिये।

श्रीमती कथा

इस पोतनपुर में धनदत्त नामक शुद्ध समकितधारी सेठ निवास करता था। उसकी श्रीमती नामक अत्यन्त सुन्दर और सुशीला कन्या थी। एकदिन एक मिथ्यात्वी श्रेष्ठिपुत्र श्रीमती के रूप पर मुग्ध होकर उससे पाणिग्रहन करने के लिए निमित्त कपटपूर्वक श्रावकपना धारण किया। वह प्रतिदिन जिन दर्शन करके भोजन करता। साधु साध्वियों का योग मिलने पर वन्दन करने जाता। उसने शास्त्र सीखा और लोगों के समक्ष कहता मैंने इतने दिन मिथ्यात्व म व्यर्थ गवाये। अब जिनेश्वर प्रणित धर्म का मर्म प्राप्त कर शिवमत का त्याग कर कृतार्थ हुआ। इस प्रकार लोक प्रसिद्ध श्रावक हो कर उसने श्रीमती से पाणिग्रहण किया। श्रीमती उसके घर आई, तब वह पुन जैसा का तैसा शैवधर्मी हो गया। श्रीमती घर का सारा काम करती पर मिथ्यात्व का अनुसरण कदापि नहीं करती। जिससे सास, नणद, जिठानी आदि घर के सभी लोग उससे रुष्ट रहते और उन्हें नाना प्रकार के] ताने कसे जाते। श्रीमती निर्विकार हो सब कुछ सहती, किन्तु अपने व्रतनियमों पर दृढ रह कर जिन धर्म का पालन करती। एक दिन माता ने पुत्र को सिखाया-तुम्हारी वहू धूर्तारी पाखण्ड का त्याग नहीं करती। अत अपनी आज्ञा को अमान्य करने वाली इस दुष्टा को मार कर दूसरी अच्छी वहू को लाओ। माता की शिक्षानुसार पुत्र ने श्रीमती का परिच्छेद समाप्त करने के लिए एक कृष्ण सर्प को गुप्तरूप स लाकर घडे में ढक कर रखा। उसने श्रीमती स कहा-प्रिये! घडे में मैंने सुन्दर सुगन्धित पुष्प रखे हैं, निकाल कर लाओ। पतिव्रता श्रीमती स्वामी की आज्ञा पालन करने गयी और हृदय में अरिहत का जाप करती हुई तीन नवकार गिन कर ज्योंही उसने घडे में हाथ डाला कृष्ण सर्प नवकार के प्रभाव से पुष्प रूप हो गया। श्रीमती ने उसे लाकर स्वामी को दिया। उसने चकित होकर घडे को देखा तो उसमें उत्तम सुगन्धी प्रस्फुटित हो रही थी। पति ने सोचा यह महान् सत्वशालिनी है, देवता भी इसकी सानिध्य करते हे। मै महापापी हू जो ऐसी महिलारत्न को मारने के लिए उद्यत हुआ। उसने समस्त स्वजन परिजनों को एकत्र कर उनके समक्ष सारा चरित्र प्रकाश कर श्रीमती से क्षमा याचना की। और सारा कुटुम्ब जैन धर्मानुयायी हुआ। इस नवकार मन्त्र के प्रभाव के हेतु ही आज नगर में यह उत्सव मनाया जा रहा है।

कुमार राजसिंह और मन्त्री पुत्र यह वात सुनकर अपने को नवकार मंत्र के प्रति अत्यन्त श्रद्धान्वित करते हुये विस्मय पूर्वक आगे वढे और अविछिन्न प्रयाण करते हुए क्रमशः मन्दिरपुर पहुंचे। वहां भी घर घर में उत्सव मनाया जाता देख कर एक आदमी को वुला कर कुमार ने उस उत्सव का कारण पूछा तो उसने कहा—

जिनदास श्रावक कथा.

इस मन्दिरपुर नगर में वलि नामक राजा राज्य करता है। एक वार वर्षा ऋतु में नदी के प्रवाह में प्रवाहित होता हुआ एक विजौरा आया। एक व्यक्ति ने उसे लेकर राजा को भेट किया। राजाने उस स्वादिष्ट फल को खा कर पूछा कि यह किस की वाडी का है? उस व्यक्ति ने कहा राजन्! यह नदी मे प्रवाहित होकर आया है। राजाने इसका उत्पत्ति स्थान शोध करने की आज्ञा दी। राजपुरुप नदी के किनारे किनारे उस वाटिका की शोध में निकल पड़े। आगे जाने पर एक वाड़ी मिली। जिसमें उन्होंनें प्रवेश किया तो आस पास के लोगोंने कहा—इस वाटिका का जो फल फूल ग्रहण करेगा, उसकी अवश्य मृत्यु होगी! राजपुरुपों ने राजा से यह वात निवेदित की। राजा तो रस लोलुप था, उसने तलारक्षक को आज्ञा दी कि वह प्रतिदिन विजोरा फल मंगाने की व्यवस्था करे। उस ने समस्त नागरिकों को एकत्र कर उनके नाम चिठी पर लिख कर एकत्र रख दिये। अव प्रतिदिन कुंवारी कन्या के हाथ से चिट्टी निकाली जाती, जिसका नाम निकलता वही व्यक्ति उस वाटिका में फल लेने के लिए जाता। वह फल तोड़कर नदी में फेंक देता जिसे राज-पुरुप ले आते। उस फल लाने जाने वाले व्यक्ति का वाडी में ही संहार हो जाता इस प्रकार प्रतिदिन एक पुरुप की हत्या से नगर में हा हा कार मच गया।

एक दिन जिनदास श्रावक के नाम की चिठी निकली। जिनदास श्रावक निर्भय होकर जीव राशि क्षामणा पूर्वक सागारी अनशन लेकर नवकार मन्त्र का जाप करते हुए वाटिका की ओर वढा। उसने वाटिका के द्वार पर जा कर उच्च स्वर से नव-कार मन्त्र का उच्चारण किया। जव वन यक्ष ने सुना तो वह स्तब्ध हो कर कुछ सोचने लगा। फिर उसने उपयोग देकर देखा कि—मैंने पूर्व भव में सांसारिक भोगों को त्याग कर संयम धर्म स्वीकार किया था। पर शुद्ध चारित्र न पालन कर वहुत से दोष लगाए जिससे मर कर व्यंत्तर योनि में उत्पन्न हुआ हूं। धिक्कार है मुझे, मैने कौडी के मोल चिन्तामणि रत्न को गँवाया। अव यह जिनदास श्रावक मेरा गुरु है, इस की सेवा करनी चाहिए। यह सोचकर वह प्रत्यक्ष होकर जिनदास के चरणों मे गिरकर कृतज्ञता ज्ञापन करता हुआ, वर मांगने के लिए कहने लगा। सेठ ने कहा—एक तो जीव हिंसा न करने का नियम लो, और दूसरा मुझे प्रतिदिन घर वैठे एक विजोरा पहुंचा दिया करो। यक्ष ने जिनदास का वचन स्वीकार किया। जिनदास श्रावक विजौरा लेकर राजा के पास पहुचा और

सारा वृतान्त बतलाये हुए कहा कि मैं प्रतिदिन आपको बिजौरा भेंट करूगा। यक्ष प्रतिदिन बिजौरा लाकर जिनदास को देता है और वह राजा को भेंटकर उसका मनोरथ पूर्ण करता है। सारे नगर में प्रतिदिन का संहार दूर होने से आज यह उत्सव मनाया जा रहा है। सर्वत्र जिनदास सेठ और उसके धर्म की प्रशंसा हो रही है जिसने समस्त नागरिकों को अभयदान दिया।

कुमार राजसिंह और मित्र नवकार मन्त्र के महात्म्य का यह प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर आगे बढे और क्रमश चम्पावती नगरी पहुचे। उन्होंने वहा एक आश्चर्य देखा कि छोटे बडे सभी लोग जाप कर रहे थे। कुमार ने लोगों से इसका कारण पूछा, एक व्यक्ति ने कहा—हे नरश्रेष्ठ इस जपमाला की वार्त्ता सुनिये!

चण्डपिंगल चोर कथा

इस चम्पावती नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता है। उसको मदनावली नामक साक्षात् इन्द्राणी के सदृश रूपवती पटरानी है। इसी नगरी में चण्डपिंगल नामक एक चोर बडा कठोर, अन्यायी और दुर्जेय था, उसने समस्त नागरिकों को बडा संत्रस्त कर रखा था। एकदिन उसने राजा के भाण्डागार में खात दी, और पटरानी के अत्यन्त मूल्यवान हार को निकाल कर ले गया। उस नगरी में कलावती नामक वेश्या बडी प्रसिद्ध थी जो कुछ श्राविका और कुछ मिथ्यात्वग्रस्त थी। चण्डपिंगल कलावतीपर आसक्त था। उसने वह हार उसे दे दिया। एकबार मदनत्रयोदशीपर्व के दिन सभी नायिकाओंने श्रृंगार किया तो कलावती भी हार पहन कर उद्यान में गयी। पटरानी की दासीने कलावती के गले में पहने हुए हार को पहचानकर रानी से हार का अनुसन्धान बतलाया। रानी ने राजा से निवेदन किया। राजा ने तुरत प्रतिहार को आज्ञा दी कि वह चोर को पकड कर लावे। प्रतिहार ने अवसर देखकर चण्डलपिंगल को कलावती के यहा से गिरफ्तार कर लिया और राजसभा में पेश किया। राजाने उसे विटम्बनापूर्वक शूली का दण्ड दिया। जब कलावती को यह मालुम हुआ तो वह उसके पास गई और यह सोच कर कि इसने मेरे लिए अपने प्राण दिये तो मैं भी परपुरुष का त्याग करती हूँ—उसने चण्डपिंगल से कहा—प्रियतम, नवकार मन्त्र का जाप करो और यह नियाणा करो कि मैं मर कर राजकुमार होऊ। नियाणा के प्रभाव से उसने रानी की कुक्षि से जन्म लिया। राजा ने उत्सव महोत्सव पूर्वक उसका नाम पुरन्दर-कुमार रखा। कलावती ने दिनगणना से अनुमान कर लिया कि यह अवश्य मेरा प्रियतम् चण्डपिंगल होगा। इसे अवश्य देखना चाहिए। वह राजमहलों में रानी मदनावलि के पास गयी और पुरन्दरकुमार को हुलराते हुए जब वह रोता तो कहने लगती, रे चण्डपिंगल! तुम क्यों रोते हो? यह सुनकर बालक को जातिस्मरण ज्ञान हुआ, उसने पूर्वभव ज्ञात कर नवकार मन्त्र का प्रभाव प्रत्यक्ष देखकर मन में विस्मित होकर रोना बंद कर दिया। जब राजकुमार पुरन्दर बडा हुआ तो पिता के स्वर्गवासी होने पर सिंहासनारूढ हुआ और गणिका कलावती का उपकार स्मरण कर उसने उसे

पटरानी स्थापित की। अब राजा स्वयं नवकार का जाप करता है और नागरिक लोग भी जपमाला लेकर नवकार मंत्र जपते हैं। इतना वृतान्त बतला कर वह व्यक्ति अपने मार्ग लगा। मित्र और राजकुमार आगे बढे। वे क्रमशः मथुरापुर जा पहुंचे। नगर प्रवेश करते ही प्रथम एक देवल देखा और वे दोनों उसी में प्रवेश कर गये। उन्होंने उस में देखा कि पाषाण की शूली पर एक पाषाण का पुरुष बैठाया हुआ है। दूसरी पुरुषमूर्त्ति समक्ष खड़ी हुई नवकार मंत्रोच्चारण कर रही है। उन्होंने एक आदमी से पूछा कि यह किसका मन्दिर है? किसकी मूर्ति है, और किसने निर्माण करवाया? उत्तर में उसने इस प्रकार निवेदन किया :—

हुंडक चोर कथा

इस मथुरापुर में शिवदेव नामक शूरवीर और न्यायवान राजा राज्य करता है। वहां एक हुंडक नामक चोर रहता था। उसने एकदिन एक सेठ के घर में प्रवेश कर के चोरी की। घरधणी के कोलाहल करने पर राजपुरुषों ने तुरत आकर पदचिन्हों का पीछा कर चोर को पकड लिया। प्रातःकाल राजा के समक्ष पेश करने पर उसने सोचा यदि इसे छोड़ दूंगा तो नगर में मच्छगलागल मच जायगी अतः शीघ्रतापूर्वक उसे शूली का दण्ड दे दिया। हुंडक चोर को विडम्बनापूर्वक शूली पर चढादिया गया लोग कहने लगे देखो, बुरे काम का फल हुंडक को हाथोहाथ मिला। राजाने नगर में उद्घोषणा की कि — कोई व्यक्ति हुंडक का हित न करे, यदि कोई करेगा तो वह मेरा अपराधी होगा और उसकी भी हुंडक की तरह दुर्गति की जायगी। नगर का तलारक्षक गुप्त रूप से चौतरफ नजर रखने लगा कि कौन इस चोर से बात करता है। नगर के लोगों ने राजभय से उसतरफ जाना छोड दिया। हुंडक प्यास से व्याकूल होकर सूलीपर चिल्ला रहा था पर लोग सुनते हुए भी दूर से टल जाते। जब जिनदत्त सेठ कार्यवश उधर से निकला तो चोर ने पुकारा - सेठ तुम तो नगरमें शिरोमणि हो, सबका उपकार करनेवाले हो। अतः कृपा करके मुझे जल पिलाओ! सेठ ने उसके पास आकर कहा - मेरी बात मानो मैं तुम्हारे लिए लोटा भर कर जल लाता हूं, तबतक तुम नवकार मन्त्र का जाप करो! सेठ इतनी बात कर लोटा, पीछे से हुंडक चोर के प्राण निकल गए और वह देव हुआ। इधर चर पुरुषों ने राजा से सेठ की चुगली खाई। राजा ने सेठ जिनदत्त को चोर से वार्ता करने के दण्ड में शूली की आज्ञा दी। सेठको शूली पर ले जाया गया। हुंडक देव ने अपने ज्ञानोपयोग से सारा वृत्तांत ज्ञात कर क्रुद्ध होकर नगर पर शिलाविकर्षण की और कहने लगा - मै इस शिला को यहां गिराकर राजा व नागरिक लोगों को चूर चूर कर डालूंगा। तुम दयालू सेठ जिनदत्त की जो मेरा उपकारी है, विडम्बना करते हो तो उसका फल प्रत्यक्ष देखो! राजाने देव से अपराध क्षमा करने की प्रार्थना की। देव नें कहा - जिनदत्त से क्षमा मांगो और पूर्व दिशा की ओर मेरा चैत्य कराओ जिसमें सूली - चोर और सामने सेठ की मूर्ति व नवकार मंत्र लिखाओ। फिर उसकी हमेशा पूजा करो, तो मैं तुम्हारी आपदा दूर करूंगा। राजा के बात मानने पर देव

स्वस्थान गया। राजाने सेठ को गजारूढ कर स्वय छत्र धारण कर नगर प्रवेश कराया और क्षमायाचना की। फिर यक्षायतन निर्माण कर मूर्ति निर्माण करवायी, यही इस मंदिर का इतिहास है। — — — — —

राजकुमार अपने मित्र मन्त्रीपुत्र के साथ वहा से आगे बढा। और नाना प्रकारके कौतुहल देखते हुए एक वन में पहुचे। आम्रवृक्षों की शीतल छाया वाला एक सुन्दर जलाशय देखकर वे दोनों वहा विश्राम करने के लिए ठहरे। राजकुमार को नींद आगइ और मन्त्रीपुत्र समीपवर्ती वृक्षों से आहार के निमित्त फल फूल लेने लगा।

इसी समय आकाशमार्ग से जाते हुए एक विद्याधर ने सौन्दर्यमूर्ति राजसिंह को सोये हुए देखकर सोचा – यदि इस अत्यन्त सुन्दर पुरुष को मेरी स्त्री कहीं देख लेगी तो इसके प्रति प्रीति धारण कर मुझे त्याग देगी, और वह पीछे आ ही रही है। उसने यह सोचकर एक वन की जडी लेकर कुमार के हाथ को बाध दी जिससे वह स्त्री रूप धारी हो गया। विद्याधर के जाने के पश्चात् जब उस मार्ग से विद्याधरी आयी तो उसने सोचा इस सुन्दर रमणी को यदि मेरा पति देखेगा तो अवश्य ही इस पर आसक्त होकर मेरा त्याग कर देगा। उसने तुरत एक वनौषधि लेकर राजकुमार के दाहिने हाथ में बाध दी जिससे वह पुन अपने पुरुष रूप में आ गया। मन्त्री पुत्र सुमति कुमार ने दूर खडे खडे सारा वृतान्त देखा और उन दोनों औषधियों को लेकर आनन्दित चित्त से राजकुमार को जगाया और राज कुमारी से व्याह करने में सहायक – साधन इन जडियों की प्राप्ति की सारी बात कह सुनायी। वे दोनों मित्र क्रमश आगे चलते हुए पद्मपुर पहुचे। सर्व प्रथम उन्होंने जिनालयको देखा उसमें प्रवेश किया तो जिनेश्वर भगवान के दिव्य तेजो मय जगमगाहट करते हुए बिम्ब के दर्शन हुए। उन्होंने कहा – आज हमारा जन्म सफल हो गया जो जिनदर्शन प्राप्त किया, हमारे दुख, दोहग सब टले और मनो वाछित फल प्राप्ति हुइ। प्रभु की स्तवना कर वे चिन्तामणि के प्रभाव से जिना लय के पास रहते हुए अरिहन्त का ध्यान करने लगे।

एक दिन राजकुमारी रत्नावती अनेक स्त्रियों के साथ उस जिनालय में आइ। राजकुमार राजसिंह और मन्त्री पुत्र सुमति कुमार दोनों स्त्री का रूप कर उसके पास खडे हो गए। रत्नवती ने सुगन्धित जल लेकर प्रभु को न्हवण कराया, फिर चन्दन घनसगर, कस्तूरी आदि से नव अग अर्चना कर दामणक, मरूआ, जाइ, जूही, मुचकुन्द, केतकि, चम्पक आदि पुष्पों को भावोल्लास पूर्वक चढाए। फिर फलादि चढा कर गीत वाजित्रादि के साथ नृत्यादि से भक्ति कर रत्नावती जिना लय से बाहर निकली उसने बाहर खडे स्त्री रूपधारी होने मित्रों को देखा। राजसिंह के अत्यन्त सुन्दर रूप को देखकर उसने सम्मान पूवक पूछा कि आप लोग कहा से आ रही है? सुमतिकुमार ने कहा – रतनपुर के राजा मृगाङ्क की यह पुत्री है, और म इसकी दासी हू। एकवार वसन्त ऋतु मे क्रीडा करने के निमित्त हम लोग सखि

धारण कर निर्मल चरित्र की आराधना कर मोक्ष सुख को प्राप्त करेंगे।

उपर्युक्त कथाओ के अतिरिक्त और भी कई कथाएँ श्वेताम्बर साहित्य में नवकार मंत्र के महात्म्य पर लिखी गई प्राप्त है। दिगम्बर साहित्य में इन कथाओंको कहां तक अपनाया गया हैं एवं इनके अतिरिक्त और कौन कौनसी नवकार मन्त्र महात्म्य कथाएँ किन किन ग्रन्थों में पायीं जाती है, इसकी जानकारी दिगम्बर विद्वानों से अपेक्षित है। दोनों संप्रदायों के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन किया जाना बहुत ही आवश्यक है। कई वातों में दोनों संप्रदायों का साहित्य एक दूसरे का पूरक है। कई वातो में मौलिकता भी है, कुछ वातों का उल्लेख किसी में अधिक तो किसी में कम। अत· जहांतक समभाव से उभय संप्रदायों के साहित्य का अध्ययन नहीं किया जायगा वहां तक जैन साहित्य का वास्तविक महात्म्य हम जेनी स्वयं ही अनुभव नहीं कर सकेंगे तो दूसरों को वतलाने की वात ही कहां?

दिगम्वर समाज में व्रत कथाओं का साहित्य वहुत विशाल है और उनमें कई कथाएँ तो वडी रोचक हैं, कुछ लोक-कथाए एवं पौराणिक कथाएँ भी उनमे अपनायी गयी है। साधारण जनता को धर्म या व्रतमार्ग की ओर आकृष्ट करने के लिए इन माहात्म्य वर्णन करने वाली कथाओं का वडा ही महत्व है। इन कथाओं के सुफल सुन कर ही वैसे फल की प्राप्ति के लिए लोग लालापित होते है, अतः इन प्रेरणादायक कथाओं को अधिकाधिक एवं लोक रूचि के अनुकूल वना कर प्रकाश में लाना आवश्यक है।

संगीत और नाट्य की विशेषता

लेखक — माधवलाल डोंगी

जिस प्रकार सुन्दर शरीर अलंकारों के धारण से और भी निखर उठता है, उसी प्रकार आत्मा भी संगीत रूपी अलंकार को धारण कर खिल-खिल उठती है। यदि यह कहें कि संगीत आत्मा की खुराक है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। संगीत की स्वरलहरी इस संसार की महानाट्यशाला को सदा अनुप्राणित करती रही है और करती रहेगी। संगीत और आत्मा का सम्बन्ध कोई नया नहीं है—प्रारम्भ से ही है जो सनातन है। आत्मा और संगीत को विलग नहीं किया जा सकता। संगीत पर कई शास्त्रों की रचना हुई है और सभी मतमतान्तरों में संगीत को प्रमुख स्थान प्राप्त है।

जैन आगमों में भी संगीत और नाट्य की विशद् चर्चा है[1]। पार्श्वदेव रचित "संगीत सार," सुधाकलश का "संगीतोपनिषद्" तथा अनुयोग द्वार सूत्र में सप्त स्वरों आदि का अच्छा वर्णन है। 'प्रश्न व्याकरण' में अनेक वाद्यों के नाम तथा प्रकार मिलते हैं।

हजारों वर्ष के प्राचीन हमारे जिन-मन्दिरों में भगवान के सामने सभामण्डप में बनी पुतलियाँ, हाथों में कई प्रकार के वाद्य लिये नृत्य-संगीत करती हुई जो दिखाई देती हैं—इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि हमारे यहाँ संगीत के लिये कितना बड़ा स्थान रहा होगा। आज भी जिन-मन्दिरों में नवपदादि विविध प्रकारी पूजायें जो पढ़ी जाती हैं वे गा बजा कर ही तो। हमारे पूर्वाचार्यों ने जिनकी अनेक राग में रचना की वे साक्षी रूप हैं कि संगीत हमारे साध्य के लिये कितना आवश्यक साधन समझा जाता रहा। इनके अतिरिक्त गंधर्व (एक विशेष जाति) के लोग नृत्य संगीत में श्रीपाल मैना सुन्दरी नाटकादि खेलते हैं वे हममें धार्मिक श्रद्धा को पुष्ट करने के लिये कितने सुन्दर साधन हैं।

संगीत मानव मात्र की आत्मा का एक ऐसा भोजन है जिसके अभाव में मानवोचित गुण फूल फल नहीं सकते—उनका विकास नहीं हो सकता। जिसे मानवता के विकास की उत्कट इच्छा है, उसे कोई भी धर्मगुरू चित्त की स्थिरता के लिये—मन को वश करने के लिये संगीत के आश्रय का ही आदेश देगा।

१—संगीत और नाट्य की चर्चा के लिये देखिये श्री अभिधान राजेन्द्र कोष तीसरे भागमें "गीय" शब्द और चौथे भाग में "णट्ट" शब्द।

मन के एकाग्र हुए विना कोई भी धर्म-क्रिया फलप्रद नहीं होती। वह तो एक ढोंग होगा, दिखावा होगा, निरर्थक होगा और फिजूल होगा। माला हाथ में लेकर नाम स्मरण, पूजा, पाठ या और धर्म-कृत्य करिये आप का मन तुरंग बाजारों की सैर करता किसी प्रकार का सौदा खरीदता मिलेगा। इसलिए मन को वश में करने के लिये याद रखिये संगीत ही एक ऐसा साधन है कि उस पर विजय पा सकता है। विना चित्त स्थिर हुए संगीतज्ञ अपने गले से आऽऽऽऽऽ ऐसा शब्द भी उच्चारण नहीं कर सकता। अतः हमे मानना पड़ेगा कि चित्त स्थिरता के लिये संगीत ही सब से सरल मार्ग है।

संगीत विश्वात्मा की परम सात्विक तथा नितान्त आकर्षक चुम्बक शक्ति है। भूमंडल में ऐसा कोई स्थल नहीं जहाँ इसका अस्तित्व न हो। संगीत विद्या का कोई अन्त नहीं संगीत वह ललित व दिव्य कला है। जिसके पास जाने वाला परम आनन्द-शाश्वत सुख की प्राप्ती सुगमता से कर लेता है। संगीत वह जादू है जिसको सुन कर मनुष्य ही नहीं वरन् पशु-पक्षी भी अपनी सुध बुध खो देते हैं। संगीत वह साधक है, जिन के जरिये मनुष्य सहज मोक्ष प्राप्त कर लेता है। प्रति वासुदेव राजा रावण ने अष्टापद पर्वत पर प्रभुआदिनाथ भगवान की स्तुति गायन-वादन द्वारा ही करके तीर्थंकर गौत्र का उपार्जन कर लिया था। आज भी इस युग में सिद्ध-संगीतज्ञ अपने संगीत के प्रभाव से कई असाध्य रोगों को दूर कर देते तथा कई हिंसक पशुओं को अपने वश में कर लेते देखे गये हैं। पागल आदमी संगीत की स्वरलहरी सुनाकर अच्छे किये जा रहे हैं। चाहिये एक निष्ठ सच्चा साधक। जिन्दा जादू जिसे हम कहते है वह संगीत ही तो है। जिस प्रकार मनुष्य की आत्मा परमात्मा की अनुभूति में एक आध्यात्मिक विश्राम की प्राप्ति के लिये व्याकुल रहती है उसी प्रकार चित्त और मस्तिष्क एक भौतिक सुख और सन्तोष पाने के लिये मानसिक विश्राम के विविध केन्द्रों की खोज में भटकता रहता है। वह अपनी आध्यात्मिक और मानसिक दोनों प्रकार की भूख मिटाना चाहता है। और इन दोनों प्रकार की भूख के लिए ललित कलाओं का आश्रय आवश्यक है। भूखे को यदि पुष्टि दायक और शुद्ध भोजन न मिले तो वह हानिकारक और अशुद्ध भोजन से ही अपना पेट भर लेता है। ठीक इसी प्रकार आज का मानव सिनेमा संगीत के अश्लील और भद्दे गाने गुनगुना कर ही अपनी भूख इस प्रकार के अशुद्ध भोजन द्वारा मिटा रहा है। सच मानीये जिस तरह के आदि व्यंजनों के साथ अ आदि स्वरों का जो सम्बन्ध है ठीक इसी तरह साहित्य और संगीत का संबंध है। इन दोनों का चोली-दामन का सा साथ है यदि यह एक दूसरे से अलग हो तो इनका कोई अस्तित्व नहीं। यदि संगीत के साथ गन्दे साहित्य का मेल हो जाय तो समझ लीजिये फिर पतन का गहरा गह्वर तैयार है। और संगीत के साथ यदि प्रभु-भक्ति--भावों से ओत प्रोत हमारे पूर्वाचार्यो अनेक विद्वान् साहित्य कारों व कवियों द्वारा शास्त्रीय राग रागनियों में तालबद्ध अवगुंठित किये हुए

भजन स्तवन हो तो निश्चित ही ऐसे सगीत गा बजा कर हम अपने गन्तव्य स्थान अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त करके अपनी आत्मा का कल्याण कर सकते हैं।

सगीत मनीषियों ने स्वरों के सात रूप बताये हैं जिन्हें हम सा, रे, ग, म, प, ध, नि के नाम से क्रमश षडज, ऋषभ, गधार, मध्यम, पचम, धैवत और निषाद के नाम से पहिचानते पुकारते हैं। मयूर की आवाज से षडज, चातक से ऋषभ बकरे से गधार, कौए से मध्यम, कोयल की आवाज से पचम, मेंढक से धैवत और अकुश द्वारा ताडित किये जाने पर हाथी की जो आवाज होती है उससे निषाद स्वर को पहचाना। इन्हीं स्वरो के आधारभूत सात खभो पर सगीत की विशाल इमारत खडी है। इन सात स्वरों को सात महासागर की उपमा भी दी गई है, जिसमे सगीत का अथाग जल भरा पडा है। गुणीजनों ने इनके अतिरिक्त दो स्वर षडज और पचम को छोडकर चार स्वरों को कोमल और एक को तीव्र बना कर बारह सुर मान लिये, जीन के आधार से छ राग और छत्तीस रागनियों की उत्पत्ती हुई जो छत्तीस राग रागनियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके भेद उपभेद तथा उनके गुण आदि देखना हो तो उपा० श्रीमद् यशोविजयजी कृत 'श्रीपाल राजा नो रास" नामक ग्रन्थ में देख सकते हैं। उसमें विस्तार से इसका वर्णन देखने को मिलेगा।

यदि कोई सगीत तथा नृत्य के रूप को देखना चाहे, उसे समझना चाहे तो उसे दूर जाने की आवश्यकता नहीं! प्रकृति देवी की अनेक पुस्तके उसके लिये खुली पडी हैं। जेसे - मेघों की गडगडाहट व उसकी मथरगति, पवन के सनसन करते हुए झोंके, सूर्य की किरणें, भ्रमर की गुंजार व उसकी उडान, मोर, कबुत्तर, चिडियों आदि की किल्लोलें व चहचहाट, तथा पशुओं में हिरन, बेल, घोडा, हाथी आदि की गतियों व बोलियों पर नदी, झरनों का कलकल नाद इत्यादि ऐसी अनेक चीजे हैं जो नर्तक व सगीतकार में स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती हैं। सच्चा सगीतज्ञ व नृत्यकार साधक इन्हीं से सबकुछ सीखता है, अपने में उन्हीं भावों को उतारता है और अपने आप में लीन हो सुध बुध खो देता है। मानव शरीर ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण शक्तियों का लघु केन्द्र है। विश्वकी सगीत शक्ति का शरीर के माध्यम द्वारा आत्मा से सभोग कराना ही सगीत का वास्तविक अध्ययन है।

मुसलमान कवि गालिब ने कहा है—

> "मय जो पीता हूँ इसलिये नहीं कि मुझे खुषी होती है।
> मैं जो पीता हूँ बस ने खुदी के लिये'
>
> — गालिब

एक लौ लगाये, अपने आप को भूल कर जो कलाकार साधक भक्ति भाव में डूब जाता है उसके सामने सर्व सिद्धियाँ हाथ बांधे खडी रहती हैं। स्वर (सुर) ही देवता और अस्वर (असुर) बेसुरा ही राक्षस है। अन स्वरों की शुद्ध साधना करने

हुए अपने संगीत को उस पैमाने पे लाकर खडा कर दो जैसे कि हम एक सुई की नोक पर एक थाली को अधर टिका रहे हैं, अपने हाथ में तैल से लबालब भरा कटोरा लिये घूम रहे हैं उसमें से एक बूँद नीचे न गिरने पावे। इस प्रकार जब हमारा ध्यान संगीत स्तवना करते समय केन्द्रित होने लगे, रोम रोम में प्रभु गुण गाण गूँजने लगे तब समझ लो मुक्ति हम से दूर नहीं।

तो, हमारा जीवन संगीत मय हो, विश्व संगीत मय हो और संगीत की तन्मयता में हम सब आत्मविभोर हो उठे और ऐसे समाज का, विश्व का निर्माण हो जहां झूठ, कपट, हिंसा, घमंड आदि बातों का नामो निशाँन न हो।
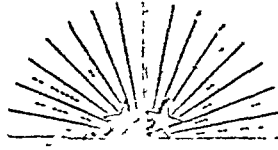
आदिकाल का हिन्दी जैन साहित्य और उसकी विशेषताएँ

लेखक — हरिशंकर शर्मा 'हरीश' रिसर्च स्कोलर (हिन्दी विभाग) इलाहाबाद युनिवर्सिटी

हिन्दी साहित्य का आदिकाल एक संक्रांति-काल है। इसमें अनेक प्रकार का साहित्य मिलता है। इतिहासकारोंने कुछ वीरगाथात्मक रचनाओं के कारण इसे वीरगाथा काल भी कहा है। पर जो सात-आठ रचनाएं वीरगाथाओं के नाम से उपलब्ध हुई थीं, उनमें से कोई भी रचना तत्कालीन प्रवृत्ति का सही प्रतिनिधित्व नहीं करती थीं। यों 'वीरगाथा' शब्द वीरगीतों या वीरपूजा आख्यानकों की वीरतामूलक प्रवृत्तियों के पोषक साहित्य के लिए रूढ हो जाता है; अत इतर साहित्य का उस में समावेश कठिनाई से हो पाता था। आदिकाल नामकरण से अब स्थिति थोडी सुलझ सी गई है। वस्तुत अब इस काल में वीरता से इतर तत्कालीन अनेक प्रवृत्तियों की पोषक रचनाओं का भी सरलता से समावेश किया जा सकता है।

आदिकाल में उपलब्ध होनेवाली सिद्धों और नाथों की अनेक रचनाएँ मिलती हैं, परन्तु उनकी प्रतिलिपियाँ एक तो बहुत ही बाद की मिलती हैं, और जो मिलती भी हैं उनकी प्रामाणिकता भी सदेह से मुक्त नहीं कही जा सकती। ऐसी स्थितिमें आदिकाल की भाषा और साहित्य को सुरक्षित रखनेवाला एक विशाल स्रोत तत्कालीन जैन साहित्य का है। शोध करने पर गुजरात, जैसलमेर, पाटण, अहमदाबाद, बीकानेर, आमेर और जयपुर आदि स्थानों के जैन भंडारों से यह आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य प्रचुर मात्रा में मिला है।

इस विशाल साहित्य को जन्म देने का श्रेय अपभ्रंश को है। प्राकृत से अपभ्रंश का उद्भव हुआ और अपभ्रंश से समस्त आधुनिक बोलिया या देश्यभाषाएँ बनी हैं। हिन्दी जैसी भाषा के उद्भव और विकास का श्रेय भी अपभ्रंश को ही है। अपभ्रंश की इसी विशालता पर प्रकाश डालते हुए श्री अगरचंद नाहटा लिखते हैं कि, "देश्य भाषाओं की समस्त क्रियायें एवं धातुरूप प्राकृतसभूत अपभ्रंश में ढले हैं। इतना ही नहीं, हिन्दी को तो अपभ्रंश से कई वरदान व अमूल्य देन प्राप्त हुई हैं। हिन्दी भाषा के विकास के अध्ययन के लिए अपभ्रंश का साहित्य बहुपयोगी है। क्यों कि अपभ्रंश में प्राचीन अथवा आदि हिन्दी कहा जानेवाला स्वरूप यथावत् विद्यमान है, और अपभ्रंश में प्राचीन हिन्दी गद्य का मूल सुरक्षित है। हिन्दी के लिए अपभ्रंश की यह सेवा सुरक्षा की दृष्टि से कम महत्व की नहीं है।[१]"

---

१ देखिए श्रीमद् राजेन्द्रसूरि — स्मारक ग्रन्थ पृ ६२० पर श्री अगरचन्द नाहटा और भँवरलाल सिंह लोढा 'अरविन्द' द्वारा लिखित — "हिन्दी जैन साहित्य" लेख।

अतः अपभ्रंश भाषा इन समस्त भाषाओं के वाङ्मय को जन्म देने में निधान कलश है, यह स्पष्ट हो जाता है। उत्तर भारत की ये समस्त विभाषाएँ अपभ्रंश से ही उद्भूत होकर विकास को प्राप्त हुई हैं। यवनों के आक्रमण से देश में एक भयानक संक्रांति हुई और इस विप्लव के संक्रमण से राजस्थान, गुजरात और मध्य देश में अत्यन्त अधिक परिवर्त्तन हुए। उस समय से लेकर १७ वीं शताब्दी तक जैनेतर विद्वानों के साहित्यरचनाक्रम में एक शिथिलता आगई थी। अतः ऐसे समय में नगर-नगर घूम-घूम कर साहित्यरचना-क्रम अव्याहत रखनेवालों का श्रेय इन जैनविद्वानों को है। उपदेश की भावना से लिखा हुआ यह साहित्य अत्यन्त विशाल है। विशेष रूप से राजस्थानी और गुजराती भाषाओं में इन जैन विद्वानों का यह योगदान वरदान के रूप में सिद्ध हुआ है। श्वेताम्बरी जन साधुओं, कवियों और विद्वानों का क्षेत्र अधिकतर राजस्थान और गुजरात ही रहा और दिगम्बरी कवियों और साधुओं का क्षेत्र दक्षिण भारत और मध्यदेश रहा है। अतः दक्षिण की विभाषाओं में शोध होने पर इन दिगम्बरी विद्वानों का विशाल साहित्य मिलने की संभावना है। इन दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों की रचनाएँ जो विभिन्न विभाषाओं में प्रतिपादित हुई हिन्दी साहित्य के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। उपयोगी ही नहीं, वे स्वयं हिन्दी साहित्य का एक प्रमुख अंग भी हैं। राजस्थानी या गुजराती अनेक भाषाओं की ये रचनाएं श्वेताम्बर मुनियों की ही अधिक हैं। जयपुर तथा आमेर के भंडारों से भी यह जैन साहित्य विशाल रूप में मिला है। परन्तु यह अधिकांश साहित्य मध्यकाल की सीमाओं में ही आता है। जहां तक आदिकाल के हिन्दी जैन साहित्य का प्रश्न है, इन भंडारों में अबतक यह प्रचुर प्रमाण मे नहीं मिलता। यह भी सम्भव है कि अभीतक भंडारों की सम्यक् शोध नहीं हो पाई हो। अस्तु, प्राप्त रचनाओं के आधार पर ही इन रचनाओं का परिचय दिया जा सकता है। इन उपलब्ध रचनाओं को राजस्थान के विद्वान् प्राचीन-राजस्थानी और गुजरात के विद्वान् प्राचीन गुजराती या जूनी गुजराती भाषा को बतलाते हैं। पर ये रचनाएं वास्तव में अपभ्रंश के उत्तरकाल की हैं। इन्हें आदिकाल मे समाविष्ट करने मे कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। एक ही साथ अनेक प्रवृत्तियो की उपलब्धि होने और उनकी पूर्ण शोध नहीं होने और निश्चित गन्तव्यों के नहीं मिलने से आदिकाल को श्री डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने "स्वतोव्याघातों" का काल कहा है।[१] परन्तु जैन साहित्य की इन अनेक रचनाओं की संदिग्धता तथा अप्रामाणिकता का निराकरण हो जाता है। अब तक आदिकाल का यह हिन्दी जैन साहित्य प्रकाश में नहीं आ पाया था। श्री अगरचंद नाहटा "हिन्दी भाषा का निखरा रूप १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध्द में हिन्दी अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त बनने लगती है" लिखते हैं।[२]

१४ वीं शताब्दी के पूर्व हमें गोरखनाथ आदि नाथों की रचनाएं उपलब्ध

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : हजारीप्रसाद द्विवेदी

२ देखिए राजेन्द्रसूरि स्मारक-ग्रंथ, पृ. ६२१

होती ह, परन्तु उनके साहित्य की हस्तलिखित प्रतियाँ १७ वीं शताब्दी तक की ही मिलती हैं। अत नाथों की रचनाओं के द्वारा उनकी भाषा के तत्कालीन स्वरुप की प्राचीनता १७ वीं शताब्दी से की हस्तलिखित प्रतियों के अभावमें सिद्ध नहीं हो पाती। नाथों से इतर साहित्य भी आदिकाल के साहित्य की प्राचीनता में अधिक योग नहीं देता। अत जैन साहित्य ही शेष रह जाता ह। लगभग ११ वीं से १६ वीं शताब्दी तक बोलिया या प्रान्तीय भाषाओं में लिखा हुआ यह साहित्य अनेक हस्त लिखित प्रतियों के रूप सुरक्षित है। अस्तु, आदिकाल की तत्कालीन भाषा और साहित्य का स्वरूप इसी साहित्य की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। इनमें से अनेक कृतिया प्रकाशित भी हो चुकी हैं।[1]

हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् रामचद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में इस सामग्री का विवेचन नहीं किया है। क्यों कि एक ता उनकी दृष्टि में यह "धार्मिक सामग्री' मात्र थी। दूसरे उस समय शोध की कठिनाइया थीं और ये रचनाए उस समय उपलब्ध भी नहीं थीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने जैन भडारों का निरीक्षण भी नहीं किया और "इसे केवल मात्र धार्मिक या उपदेश प्रधान साहित्य मानने की सभावना करके उन्होंने इस साहित्य का स्पर्श ही नहीं किया। इन अपभ्रश रचनाओं की बात तो दूर रही, बहुत पहले स्वय प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् और भाषाशास्त्री पिशेल को भी शोध की असुविधा से अपभ्रश साहित्य के लिए भी यह कहना पडा था कि "अपभ्रश का समृद्ध और विपुल साहित्य खो गया है"।[2] अत उस समय इस आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य पर ध्यान जाता तो और भी कठिन या असाध्य कार्य था। इसके अतिरिक्त जिन जन, अजैन लेखकों ने इस साहित्य पर प्रकाश डाला भी, तो इसके प्रति विद्वानों की दृष्टि उपेक्षित ही रही। ऐसा क्यों हुआ है? इसके कारण पर आगे प्रकाश डाला जायगा। यह कहा जा सकता है कि सभवत या तो उनकी यह कल्पना रही हो कि यह साहित्य दुर्लभ साहित्य है। या वे जैन भन्डारों की यात्रा और शोध करना समय नष्ट करना ही सम झते हों, या अन्य कोई कारण। परन्तु जहा तक इन कृतियों की साहित्यिकता, काव्यात्मकता और कलात्मकता का प्रश्न है, मैं पूर्ण दृढता से कह सकता हू कि, न तो यह साहित्य एकदम धार्मिक ही है और न केवल उपदेश मात्र। यह तो जीवन क बहुत पास आकर झाकनेवाला यथार्थवादी सुन्दर साहित्य है। जिसके मूल में प्रेरणा देने के लिए धर्म व्यवहृत हुआ है। इस समय ऐसी अनूठी रचनाए मिलती हैं, जो किसी भी भाषा के उत्तम साहित्य की श्रेणी में रखी जाने योग्य हैं। ११ वीं शताब्दी का धनपाल लिखित 'महावीर उत्साह १२ वीं शताब्दी की 'जिनदत्त सूरि स्तुति' 'नवकार महात्म्य,' १३ वीं शताब्दी का शालिभद्र सूरि

१ देखिए लेखक का — "साहित्यकार" फरवरी सन् १९५८ में प्रकाशित 'आदिकाल का प्रकाशित हिन्दी जैन साहित्य" लेख।

२ श्री राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रथ प ६२।

विरचित 'भरतेश्वर बाहुवली रास', धर्मविरचित 'स्थूलीभद्ररास', जम्बूस्वामिचरित', १४ वीं शताब्दी के 'समरारास,' 'कच्छूली रास,' 'जिनपद्मसूरि पट्टाभिषेक-रास', घेल्ह रचित सं. १३७१ का 'चउवीसगीत' (दिगं०)।[1] पद्मसमुधर और जिन-पद्म सूरि विरचित 'नेमिनाथफागु' तथा १५ वीं शताब्दी में रचे गये अनेक ऐतिहासिक रास, फागु, गीतिकाव्य, खंडकाव्य तथा प्रबंधकाव्य तथा — शालिभद्रसूरि विरचित 'पांचपाण्डवरास', मंडलिक रचित 'पेथडरास', हीरानंद सूरि रचित 'कलिकाल रास' 'विद्याविलास पवाडों', जयशेखर सूरिकृत 'त्रिभुवन दीपक प्रबंध', विजयभद्ररचित 'हंसराज–वच्छराज–चउपई', तथा शालिसूरि विरचित 'विराटपर्व', तथा दयासागर रचित 'धर्मदत्त चरित[2]' (दिगं०). तथा सधार रचित 'प्रद्युम्न चरित' (दिगं.)[3] आदि अनेक उत्कृष्ट कोटि की रचनाएं उपलब्ध हैं, जिनकी साहित्यिकता पर कोई भी प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकता, जो साहित्य की अपूर्व निधि हैं। तथा जिनका पर्याप्त अध्ययन और विश्लेषण अनेक संदिग्ध तथ्यों, भ्रांत धारणाओं और त्रुटिपूर्ण स्थापनाओं का निराकरण करने में सक्षम है। इसके अतिरिक्त वीरगाथाकाल में वीरगाथात्मक कही जाने वाली लगभग सभी रचनाओं की अप्रामाणिकता भी सिद्ध हो चुकी है।[4] वस्तुतः उक्त सभी रचनाओं की प्राप्ति से पूर्व वीरगाथा काल सिर्फ वीरगाथाकाल ही बना रहा और पीछे वीरगाथाओं के साथ इस युग की अन्य प्राप्त कृतियों का सादृश्य नहीं होने से यह काल उल्टा "अंधकार काल"[5] कहा जाने लगा। अस्तु—

इस अंधकार में प्रकाश किरणों से आदिकाल को सुषमा प्रदान करने वाली अनेक हिन्दी जैन रचनाएं हैं। इन उपर्युक्त भंडारों में लगभग ५०० से भी अधिक हिन्दी जैन रचनाएं उपलब्ध हो चुकी हैं, जो निश्चित रूपसे हिन्दी साहित्य के आदिकाल की सम्पत्ति हैं। इन श्वेतांबर और दिगम्बर विद्वानों ने इन कृतियों के माध्यम से अनेक विषयों पर अनेक रूपों में प्रकाश डाला है। ये सब विषय मात्र धार्मिक ही नहीं, लोकोपकारक भी हैं। साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त इस आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य में व्याकरण, छंद, अलंकार, वैद्यक, गणित, ज्योतिष, नीति, ऐतिहासिक, सुभाषित, बुद्धिवर्धक, विनोदात्मक, कुव्यसननिवारक, शिक्षाप्रद, औपदेशिक, ऋतुकाव्य*

---

१ वही, पृ. ६२४.

२. जैन गुर्जर कवियो — श्री मोहनलाल दलीचद देसाई, पृ. ४३०.

३. देखिए "राजस्थान के जैन शास्त्र भन्डारों की ग्रन्थ–सूची, तृतीय भाग — प्रकाशक बुधिचन्द गगवाल पृ. ५,१९ तथा हिन्दी अनुशीलन वर्ष ९, अक १–४ में श्री अगरचन्द नाहटा का "सं. १४११ में रचित प्रद्युम्न चरित्रका कर्ता" लेख।

४ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४७ अंक ३–४ में श्री नाहटाजी द्वारा लिखित "वीरगाथा काल की रचनाओं पर विचार, लेख

५ देखिए — हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य ग्रन्थ : श्री पृथ्वीनाथ कुलश्रेष्ठ — आरभिक अश,

* श्री. राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ पृ ७०७ – १०

सवाद तथा लोकवार्तात्मक आदि अनेक प्रकार की रचनाए उपलब्ध होती हैं। चाहे ये सब विषय आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य में नहीं आते हों पर मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य की तो ये कृतिया सम्पत्ति है ही। इनमें से कुछ विषयों पर आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य में भी आ जाते हैं। वस्तुत इन रचनाओं का क्षेत्र बहुमुखी है। इन रचनाओं को मात्र धार्मिक मान लेना भी इनकी प्रगति में बाधक सिद्ध हुआ है। वास्तव में धर्म को साहित्य से अलग मानकर चलना, साहित्यिक तत्वों की उपेक्षा करना है। ऐसी मान्यताओं को बिल्कुल युक्तिसगत नहीं कहा जा सकता है। इस तरह यदि धार्मिक साहित्य कह कर रचनाओं की उपेक्षा की जायगी तो सूर, तुलसी, कबीर, मीरा आदि के धार्मिक साहित्य से हमें एकदम वचित हो हाथ धोना पडेगा। अत रचनाओं की उपेक्षा का यह आधार एकदम निर्मूल ही लगता है। आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य की ये रचनाए एकदम धार्मिक ही नहीं, अपितु साहित्यिक हैं। डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ 'आदिकाल के प्रथम प्रवचन' में ही स्पष्ट कर दिया है कि — "उपदेशविषयक उन रचनाओंको जिनमें केवल सूखा धर्मोपदेश मात्र लिखा गया है, साहित्यिक विवेचना के योग्य नहीं समझना ही उचित है। परन्तु +++ कई रचनाएँ ऐसी भी हैं कि जो धार्मिक तो है, किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाये रखने का पूरा प्रयास है। धर्म वहा कवि को केवल प्रेरणा दे रहा है। जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हों, उससे वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न है। जिसमें धर्म–भावना प्रेरकशक्ति के रूप में काम कर रही हो, और साथ ही हमारा सामान्य मनुष्यता आदोलित, मथित और प्रभावित कर रही हो, इस दृष्टि से अपभ्रश की कई रचनाए जो मूलत जैन धर्म–भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निसदेह उत्तम काव्य हैं। और 'विजयपाल रासो' और 'हम्मीर रासो' की भाँति ही साहित्यिक इतिहास के लिए स्वीकार हो सकती है। यही बात बौद्ध, सिद्धों की रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है। इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाइ पडने लगी है कि धार्मिक रचनाए साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी–कभी शुक्लजी के मत को भी इस मत के समर्थन में उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए। +++× धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का यह 'रामचरित मानस' भी साहित्यक्षेत्र में आलोच्य हो जायगा, और जायसी का पद्मावत भी साहित्य-सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा। ××× केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रन्थों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदि काव्य से भी हाथ धोना पडेगा। 'तुलसी रामायण' से भी अलग होना पडेगा कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पडेगा और जायसी को भी दूर से दण्डवत् करके विदा कर देना होगा। मध्ययुग के साहित्य की प्रधान प्रेरणा धर्म–साधना ही रही

है, जो भी पुस्तकें आज संयोग और सौभाग्य से बची रह गई हैं. उनके सुरक्षित रहने का कारण प्रधान रूप से धर्म बुद्धि ही रही है। काव्यरसकी भी वही पुस्तकें सुरक्षित रह सकी हैं, जिनमें किसी न किसी प्रकार धर्म भाव का संस्पर्श रहा है। ××× इस प्रकार मेरे विचार से सभी धार्मिक पुस्तकों को साहित्य के इतिहास में त्याज्य नहीं मानना चाहिए।"[1] वस्तुत: आदिकालीन समस्त जैन हिन्दी कृतियाँ धार्मिक कहकर नहीं भुलाई जा सकतीं। धर्म और आध्यात्मिक के तत्त्व इनके मूल में प्रेरणा का कार्य करते हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन तो अपभ्रंश की कृतियों को भी दृढकंठ से पुरानी हिन्दी ही घोषित करते हैं।[2]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि उपलब्ध साहित्य अपभ्रंश का परवर्ती साहित्य है, जो पुरानी हिन्दी कहा जा सकता है। प्रसिद्ध विद्वान् श्री गुलेरीजीने 'पुरानी - हिन्दी' के अन्तर्गत आनेवाली परवर्ती अपभ्रंश की रचनाओं का विवेचन किया है। अतः उनके विचार से भी ये सब रचनाएं हिन्दी की पूर्ववर्ती स्थिति के रूप की प्रतिनिधि ही हैं।[3] हेमचंद्र के दोहे, भोज और मुंज के पद्य, प्रबंध चिन्तामणि में वर्णित अनेक प्रसंग, तथा "कुवलयमाला" जैसे प्राकृत के ग्रन्थ में प्रासंगिक रूप में आये हुए अपभ्रंश गद्य ही इस साहित्य की पृष्ठभूमि के सबल परिणाम हैं। मुनिरामसिंह कृत पाहुड़ दोहा, स्वयंभू की रामायण, राजस्थानी साहित्य के आदिकाव्य "ढोला मारु रा दूहा" दामोदर शर्मा द्वारा लिखित 'युक्त-व्यक्ति-प्रकरण' तथा जूनी गुजराती की समस्त भाषाकृतियां हमारे आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य के मूलभूत तत्वों पर प्रकाश डालनेवाले अन्तरंग और बहिरंग प्रमाणों के स्रोत हैं। अपभ्रंश के चरितकाव्य भी एतदर्थ बड़े सहायक हैं। अपभ्रंश भाषा के परिवार में राजस्थानी को विद्वानों ने 'अपभ्रंश की जेठी बेटी कहा है। अत प्राचीन राजस्थानी की समस्त सामग्री प्राचीन हिन्दी की ही कही जायगी। परन्तु राजस्थानी भाषा के साहित्य का सम्बन्ध सिर्फ हिन्दी से ही नहीं है। एक ओर उसका अविच्छेद्य सम्बन्ध गुजराती से ही है। कभी कभी एक ही रचना को एक विद्वान् पुरानी राजस्थानी कहता है, तो दूसरा विद्वान् उसे जूनी गुजराती कह देता है। इस पुरानी राजस्थानी या जूनी गुजराती में दोनों ही प्रदेशों की भाषा के पूर्वरूप मिलते हैं। और प्राकृत और अपभ्रंश का रूप तो इन में मिला ही रहता है। अनेक जैन कवियों ने इस प्रकार के साहित्य की रचना की है।[4] डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी और डॉ. एल. पी. टेस्सीटोरी ने १५ वीं शताब्दी के पूर्व की राजस्थानी और गुजराती भाषा को एक ही भाषा माना है।[5] और गुजराती का

---

१. देखिए हिन्दी साहित्य का आदिकाल : आचार्य डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ. ११—१२.

२. हिन्दी काव्य धारा : श्री राहुल साङ्कृत्यायन — भूमिका भाग.

३. देखिए पुरानी हिन्दी — चन्द्रधर शर्मा गुलेरी — नागरीप्रचारिणी सभा, संस्करण—पृ. ३—४.

४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ. ९.

५ देखिए—राजस्थानी भाषा — श्री सुनीतिकुमार चटर्जी, तथा प्राचीन राजस्थानी श्री डॉ एल. पी. टेस्सीटोरी—अनुवादक—श्री नामवरसिंह

स्वतंत्र भाषा के रूप में अस्तित्व १६ वीं शताब्दी से ही स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त उपलब्ध रचनाओं के पाठ को देखने से भी इस तथ्य का पूर्ण स्पष्टीकरण हो जाता है। अत यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि १५ वीं शताब्दी के पूर्व की जूनी गुजराती कही जानेवाली लगभग समस्त रचनाएं आदिकालीन हिन्दी साहित्य की ही सम्पत्ति है। यों राजस्थानी को तो हिन्दीसाहित्य के विद्वानों ने हिन्दी मान ही लिया है। मीरा के भजन, पृथ्वीराज रासो, कबीर के भजन, ढोला मारू का दूहा, बीसलदेव रास आदि अनेक प्रसिद्ध कृतियां आज हिन्दी की सम्पत्ति कही जाती है। यह तथ्य सर्वमान्य है। अत इस आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य को सुरक्षित रखने का श्रेय पुरानी राजस्थानी या जूनी गुजराती को ही दिया जायगा। यह पूर्णतया स्पष्ट है। इस विशाल साहित्य की मूलप्रवृत्तियां और अनेक विशेषताओं का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है —

१ साहित्यिक और लोकभाषामूलक —

आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य साहित्यिक और लोक भाषा–दोनों में लिया गया है। जैनी साधुओं और कवियों में कई तो स्वान्त सुखाय लिखनेवाले थे, तथा कई ग्राम-ग्राम नगर-नगर घूम-घूम कर लोकोपकारक उपदेशप्रधान तथा आध्यात्मिकता से पूर्ण साहित्य लोकभाषा में निर्मित करते थे। अत एक तरफ इसमें चोटी की साहित्यिक विधाओं और तत्वों का समावेश है, तो दूसरी ओर इसमें जनभाषा और बोलियों का स्वभाविक प्रवाह। अत यह साहित्य श्रेष्ठ साहित्यिक रचनाओं के साथ बोलचाल की रचनाओं का भी श्रेष्ठ कोष है।

२ प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण का प्रतिनिधि —

इस उपलब्ध साहित्य की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि इस में बड़ी-बड़ी से लेकर छोटी-छोटी अनेक रचनाएं उपलब्ध होती हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यहां प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण की रचनाएं काफी अच्छी संख्या में मिलती हैं। तथा उस समय की हस्तलिखित प्रतियां भी पूर्ण सुरक्षित हैं। कुछ प्रतियां तो मूल लेखकों की भी कही जा सकती हैं। हरेक शताब्दी की अनेक रचनाएं एक ही साथ उपलब्ध होने से इनकी प्रामाणिकता में भी कोई संदेह नहीं रह जाता। अत हिन्दी भाषा और साहित्य के क्रमिक विकास में योग देने के लिए ११ वीं से १५ वीं शताब्दी के हर चरण का ये रचनाएं प्रतिनिधित्व करती हैं।

३ विविध विषयक —

इस विशाल साहित्य में सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक काव्यों के साथ-साथ लोक-आख्यानक काव्य भी मिलते हैं। रामायण, महाभारत सम्बन्धी

कथाओं को भी इन जैन कवियों ने अत्यन्त दक्षता से संवारा है। उदाहरणार्थ 'भरतेश्वर बाहुबली रास',[1] 'नेमिनाथ फागु'[2] 'पंचपाण्डव चरितरास', 'विराट पर्व', 'विद्याविकास पवाडो',[3] 'ज्ञानपंचमी चौपाई', 'हंसराज वच्छराज चौपाई' आदि प्रबंध काव्यों के अतिरिक्त 'स्थूलिभद्र फागु', 'नेमिनाथ चतुष्पदिका', 'जंबूस्वामी चरित' जैसे मधुर खंडकाव्य भी हैं। सैंकड़ों की संख्या में नीति-उपदेशमूलक स्तोत्र तथा स्तवन-साहित्य मिलता है। अतः इसका भंडार अत्यन्त समृद्ध है। जहां तक सामाजिक विषयों से सम्बन्ध हैं, इन कृतियों में लगभग सभी प्रकार के विषय आ गये हैं। अतः केवल मात्र धर्म पर ही लिखे हुये ये ग्रन्थ नहीं हैं।

४. विविध परंपराओं का द्योतक :—

ये कृतियाँ जैनियों के साहित्य और समाज की विविध परंपरा में बंधी होने के कारण ही पूर्णतया सुरक्षित रह सकी हैं। जिन परंपराओं पर भी ये कृतियाँ प्रकाश डालती हैं उनका विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है :—

प्रथम परंपरा है :— आगमों का स्वाध्याय, जैनेतर साहित्य का अनुशीलन, मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन। अतः इन नियमों के कारण जैन साहित्य के अतिरिक्त जैनेतर विषय भी इन कवियों और विद्वानों के विषय बनाये जाते थे और उन विषयों का वे सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत करते थे।

द्वितीय परंपरा है :— ज्ञान के अनेक भंडारों की स्थापना, सुरक्षा और उनका सम्यक् प्रबंध। अतः इसी परंपरा से इन जैन भंडारों में जैन तथा जैनेतर कृतियाँ सुरक्षित रही हैं। तथा भंडारों की व्यवस्था भी संतोषजनक मिलती है। अन्यथा अबतक इस साहित्य का अधिकांश साहित्य कभी का नष्ट हो गया होता।

तृतीय परंपरा है :— ग्रंथ-लेखन और प्रतिलिपि-कार्य करना। अनेक लिपीकार भंडारों के ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ करते थे। कई लिपिकारों की तो जीविका भी इसी कार्य से चलती थी। उदाहरणार्थ आज भी पाटण, अहमदाबाद, बीकानेर और नागौर में इस प्रकार के प्रतिलिपिकार (लेखक) हैं जो अपनी आजीविका प्रतियोंकी प्रतिलिपि करके ही कमाते हैं। जैन श्रावक, जैनी धनिक, तथा राजकीय यशप्राप्त जैनी स्वयं अपना प्रचार और धर्म-प्रचार आदि कार्यों के लिए इन कृतियों की प्रतिलिपि आदि करवाते थे। अतः अनेक जैनेतर ग्रन्थों की प्रतियां और प्रतिलिपियाँ तथा प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियाँ भी वहां पर सुरक्षित हैं, तथा जैन लेखकों की तो हैं ही।

---

१. देखिए—भरतेश्वर बाहुबलीरास संपादक श्री लालचंद भगवानदास गांधी—प्रकाशक—प्राच्यविद्यामंदिर बड़ौदरा, विक्रम संवत १९९७

२. G. O. S. Cxviii पृ ६५—७४.

३. वही, पृ. १—११७.

यह भी सभव है कि ये प्रतिया विभिन्न शाखाओं की हों। अत पाठनिमान जस विपय के लिए ये भडार बहुत महत्त्व के हैं तथा यह लेखन-परपरा भी मुख्यत पाठालोचन के विद्यार्थी के लिए शोध की वस्तु है। उदाहरणार्थ 'वीसलदेव रास' जसी कृतिकी समस्त प्रतियाँ जैन लेखकों की ही मिली हैं। अत इन भडारों का महत्व और भी बढ जाता है।

चतुर्थ परपरा है — साहित्यिक भापा में रचना करने के साथ लोकभापा ग्रहण करने की। अत इन कृतियों में इसका सम्यक् निर्वाह है। इस प्रकार जन भापा में लिखे जाना इस साहित्य की लोकप्रियता की सबसे बडी विशेपता है।

पचम परपरा है — जैन धर्म का प्रचार तथा जैन दर्शन को छोटी-छोटी कथाओं के माध्यम से जनता में प्रचलित करना। ये कथाए बडी ही मधुर और सरस है। तथा जैन दशन इनके द्वारा खूब मुखरित हुआ है। इन कथाओं की मुख्य गर्भवस्तु चरित्र-निर्माण, अहिंसा, कर्मवाद और आदशवाद हैं। अस्तु, उक्त परपराओ ने इन कृतियों में जीवन डाल दिया है।

५ परवर्ती साहित्य पर इसका प्रभाव —

एक प्रमुख विशेपता इन कृतियों की यह है कि, क्या रचना प्रकार, क्या शैली, क्या वस्तु और क्या उद्देश्य आदि सब दृष्टियों से परवर्ती काव्य को प्रभावित करने के तत्व बीज रूप में इन में विद्यमान हैं। प्राकृत में किसी काव्य रूप का क्या स्वरूप था? अपभ्रश में आकर वह क्या हुआ? और 'पुरानी हिन्दी' में क्या हुआ? और पुरानी हिन्दी या प्राचीन राजस्थानी अथवा जूनी गुजराती में इन काव्यरूप कथाओं अथवा वर्ण्य विषयों का क्या रूप रहा? परम्पराओं (cycles) में किस तरह परिवर्तन हुआ? आदि अनेक तथ्यों का स्पष्टिकरण इन कृतियों से होता है। अत परवर्ती साहित्यकी पूर्ववर्ती स्थितियों का बीज रूप में अध्ययन करने के लिए यह साहित्य बडा उपयोगी है।

६ काव्यरूपों में वैविध्य —

काव्यरूपों के क्षेत्र में भी इस साहित्य ने अपना वैविध्य प्रस्तुत किया है जिसमें रास, फागु, छप्पय, चतुष्पदिका, प्रबध, गाथा, चच्चरी, गुर्वावली, गीत, वर्णन, दोहा, स्तुति, महात्म्य, उत्साह, अभिपेक, कळश, चैत्यपरिपाटी, सधिकडवक, धवळ, विवाहलो, मगल, वेलि, पव, आदि सैकडों प्रकार की रचनाए[1] उपलब्ध हैं, जिनपर श्री अगरचद नाहटाने विस्तार से प्रकाश डाला है। अपभ्रश के काव्यरूपों को देखते हुए इस आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य की कृतियों का यदि तुलनात्मक विवेचन किया जाय

१ नेखिए नागरी पत्रिका, वर्ष ५८, अंक ४, स २०१० में श्री अगरचंद नाहटा द्वारा लिखित—'प्राचीन भापा काव्यों की विविध संज्ञाएँ" लेख पृ ४१७—३६

तो अधिकांश काव्य रूप ऐसे हैं जिनके उद्भव का श्रेय इसी साहित्य को है। यह इन्हीं कृतियों का मौलिक अनुदान है। उदाहरणार्थ 'रास' अपभ्रंश में भी १३ वीं शताब्दी से ही मिलता है। 'फागु' का महत्व भी अपने ही प्रकार का है। कवित्त, उपदेश, चर्च, कुलक, धवळगीत आदि अनेक रचनाएं ऐसी हैं जिनका प्रारंभ अपभ्रंश में बादमें मिलता है। एक बात यह भी है कि काव्यरूपों के सम्बन्ध में अपभ्रंश का काल भी यही पड़ता है। अतः दोनों में कुछ साम्य है और कई काव्यरूपों में असाम्य है, जिन्हें आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्यकी अपनी ही देन कहा जाता है। विस्तार से इन काव्य रूपों का परिचय अग्रांङ्कित कुछ रचनाओं की सूची द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार यह साहित्य काव्य की विविधमुखी विषयक परंपराओं से गुंथा हुआ है।

७. भाषाविज्ञान का एक प्रमुख अंग :—

भाषाविज्ञान की दृष्टि से इन कृतियों का बड़ा महत्व है। आदिकाळ स्वतोव्याधातों का काल होने से इस समय की भाषा सम्बन्धी संक्रांति को समझना भी अत्यावश्यक है। अपभ्रंश का हिन्दी के विकास में योग, अपभ्रंशतर भाषा या पुरानी हिन्दी या प्राचीन राजस्थानी अथवा प्राचीन गुजराती के शब्दरूप और ध्वनियों का अध्ययन करने के लिए ये कृतियां बड़ी उपयोगी हैं। भाषाविज्ञान के विद्वानों का ध्यान मैं विनम्रता से इस ओर आकर्षित करना चाहता हूं, ताकि हिन्दी के जन्म, विकास आदि का अध्ययन प्रस्तुत किया जा सके। हिन्दी की लोकभाषा सम्बन्धी प्रवृत्तियों का अध्ययन करने में ये कृतियां बहुत सहायक सिद्ध होंगी। वि. सं. ११०० से १५०० तक के उपलब्ध साहित्य के अभाव में अब तक भाषा के विकास में जितनी अडचने अनुभव की जा रही थीं, उनका निराकरण करने की क्षमता इन कृतियों में पूर्णतया विद्यमान हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि उनकी प्रामाणिकता में संदेह नहीं है।

८. प्राचीनता की दृष्टि से उनका महत्त्व :—

उपलब्ध लेखन-सामग्री में अत्यन्त पुरातन प्रतियां इस साहित्य के भंडारों में उपलब्ध हुई हैं। राजस्थान के जैन भंडारों में लाखों की संख्यामें हस्तलिखित प्रतियां सुरक्षित हैं। जिनमें जैसलमेर का भंडार ताडपत्रीयप्रतियां एवं ग्रंथों के संग्रह के रूप में विश्वविदित है। श्री नाहटाजी का कथन है कि "उस भंडार में ९।१० वीं शताब्दी की ताडपत्रीय और १३ वीं शताब्दी की कागज पर लिखित प्रतियां प्राप्त हैं।" उतनी प्राचीन ताडपत्रीय व कागज पर लिखी हुई प्रतियां भारतभर के किसी सुरक्षित जैन भंडार में उपलब्ध नहीं हैं।[१] कागज की एक प्रति खंभात भंडार में सं. १२××, की उल्लेखनीय है। जयपुर के जैन भंडार में भी सन् १२६२ का एक ग्रन्थ कागज पर लिखा हुआ सुरक्षित है।[२]

१. श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरि-स्मारक ग्रन्थ पृ. ७०५-७०६।

२. राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों की ग्रन्थ सूची, भाग तीन, सम्पादक कस्तूरचन्द कासलीवाल पृ. २ प्रस्तावना।

अत ये प्रतिया अपनी जैनेतर साहित्य-सिद्धों, नाथों तथा अन्यान्य साहित्य-की प्राप्त प्रतियों मे अधिक प्रामाणिक व प्राचीनतम हैं ।

९ विशुद्ध ऐतिहासिक रचनाए —

आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य में सबसे बडी एक विशेपता यह है कि अनेक रचनाए विशुद्ध ऐतिहासिक है जिनमें अनेक गीतिकाव्य हैं, खडकाव्य हैं तथा अनेक गीति मुक्तक । इन ऐतिहासिक रचनाओं से तत्कालीन जैन कवियों और लेखकों के इतिहास से सम्बन्ध स्पष्ट होते हैं । साथ ही अनेक ऐतिहासिक स्थानों का विवेचन, तीर्थों, नगरों मन्दिरों, शिलालेखों, आक्रमणों, जैन सघों, ऐतिहासिक यात्राओं तथा प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों के वर्णन मिलते हैं । उदाहरणार्थ—सत्यपुरीय महावीर उत्साह[1] सघपति समरा रास,[2] जिनकुशलसूरि पट्टाभिषेक रास,[3] पेथडरास,[4] देवरत्नसूरि फाग आदि अनेक ग्रथ रचनाए ऐसी हैं जिनमें तत्कालीन राजा, बादशाह तथा प्रसिद्ध जैन तीर्थों, महापुरुषों तथा ऐतिहासिक चरित्रनायकों के वर्णन-विवरण मिलते हैं ।

कई स्थानों पर तो ऐसे वर्णन भी मिलते हैं जहा जैन कवि मुसलमान बादशाहों को प्रभावित करते देखे गये हैं तथा उनकी विद्वत्ता पर उनको राज्य की ओर से अनेक सम्मान दिए गये—यथा—स १३३५ में जिनप्रभसूरि ने दिल्ली में यवनपति मुहम्मदशाह से भेंट की थी और अपने व्याख्यान द्वारा उन्होंने सुल्तान का मन मोह लिया । सुल्तान ने उनकी बडी भक्ति की, फरमान निकाला और जुलूस निकाला तथा वसति-निर्माण कराई ।+ जिनप्रभसूरि ने यवन पति कुतुबुद्दीन को भी प्रसन्न कर लिया था ।* अत इन जैनों को राजकीय मन्त्रित्व आदि कई अनेक पद मिलते थे । वाणिज्यमन्त्री तो अधिकतर जैन ही होते थे । पेथड, समरसिंह आदि सबधित पेथड और समरा रास× इसी प्रकार के हैं । इसी प्रकार वस्तुपाल तेजपाल का रास' तथा 'रेवतगिरि रास'× आदि रचनाए बडी महत्वपूर्ण हैं जो विशुद्ध ऐतिहासिक हैं ।

---

१ जैन साहित्य संशोधक—खण्ड ३, अंक ३, पृ २४१—२४३ संपादक मुनि जिनविजयजी सं १९८४

२ जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संचय—मुनि जिनविजयजी प २३८

3 ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह—श्री अगरचन्द भवरलाल नाहटा, प १५

४ प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह—श्री सी डी दलाल—पृ २४ परिशिष्ट १० (AppendixX)

५ जै ऐ गु का सं —मुनिजिनविजयजी, पृ १५०

+ ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह—श्री नाहटा बंधु प्र प्रस्तावना प १६ द्वारा डॉ हीरालाल जैन द्वारा लिखित

* देखिए वही ग्रंथ—जिनप्रभसूरिगीत पृ १२

× देखिए प्रा गु का सं श्री दलाल संपादित बड़ौदा संस्करण, सन् १९२०, पृ १—७

१०. गद्य की प्राचीनतम रचनाओं का साहित्य :—

अनेक पद्य रचनाओं के साथ-साथ इन कृतियों में गद्यरचनाएँ भी सुरक्षित हैं। ये रचनाएं हिन्दी की प्राचीनतम रचनाएं कही जा सकती हैं।[१] १४ वीं शताब्दी से ही गद्य की प्रामाणिक प्रतियां मिलती है। आराधना, अतिचार, बालशिक्षा, षडावश्यक, बालावबोध, कल्याण मंदिर बाला०, भक्तामर स्तोत्र बाला०, श्रावक बृहदतिचार आदि अनेक रचनाएं १४ वीं व १५ वीं शताब्दी की ज्ञात-अज्ञात जैन लेखकों की उपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में कई गद्य की कृतियां को प्रकाशित भी की जा चुकी हैं।[२] इसके साथ हिन्दी साहित्य में गद्य के साथ-साथ 'गद्यकाव्य' की परम्परा को जन्म देने का श्रेय भी आदिकाल के हिन्दी जैन साहित्य को ही है। १५ वीं शताब्दी की श्री माणिक्यसुंदरसूरि लिखित 'पृथ्वीचंद वाग्विलास'[३] अब उपलब्ध गद्यकृतियों में गद्यकाव्य की परंपरा का उन्मेश करनेवाली प्राचीनतम एवं शीर्ष की कृति है। ऐसी अनूठी कृति निस्संदेह उल्लेखनीय है। अतः हिन्दी साहित्य की प्रामाणिक प्राचीनतम गद्यरचनाओं के साथ-साथ गद्यकाव्य का उद्भव भी इसी साहित्य से हुआ है।

११. संख्यामें सर्वाधिक रचनाएं :—

इस साहित्य की रचनाओं की संख्या अद्यावधि प्राप्त आदिकालीन जैनेतर साहित्य से अधिक है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने वीरगाथाकाल नामकरण का आधार एक ही प्रवृत्ति की प्राप्त होनेवाली रचनाओं की संख्या को ही दिया है।[४] और उन्हें जो कुछ रचनाएँ वीरगाथाकालीन प्रवृत्ति की प्राप्त हुई वे सब अप्रामाणिक सिद्ध हुई हैं। अतः इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो एक ही जैन धारा की प्रवृत्ति का उचित विश्लेषण व प्रतिनिधित्व करनेवाली हिन्दी जैन रचनाओं की संख्या लगभग ५०० है। संभवतः अन्य अनेक राजस्थानी, देहली, मेरठ, सहारनपुर, जयपुर, अजमेर, नागौर आदि भन्डारों की शोध होनेपर यह संख्या और अधिक बढ़ जाय। अतः रचनाओं की संख्या को ही नामकरण का आधार बनाया जाय तब तो आदिकाल को "हिन्दी जैनकाल या आदि हिन्दी जैन युग" या "अपभ्रंश युग" भी कहा जा सकता है। पर क्योंकि नामकरण के लोभ से हम जैनेतर कृतियों का महत्त्व भी कम नहीं करना चाहते। हमारा मन्तव्य तो यहां सिर्फ यही है कि यह साहित्य आदिकाल में अद्यावधि उपलब्ध अपभ्रंशेतर साहित्य से संख्या में सबसे अधिक है, विविध विषयक तथा बहुमुखी है। कुछ प्रकाशित कृतियों पर लेखक ने प्रकाश भी डाला है।[५] इसके

१ देखिए लेखक का "साहित्यकार" जनवरी सन् १९५८ में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य की प्राचीनतम गद्यरचनाएं' लेख।

२. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह—श्री दलाल सम्पादित पृ ८६-९३.

३. वही ग्रन्थ—पृ. ९३.

४. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य शुक्ल—वीरगाथाकाल.

५. देखिए साहित्यकार—फरवरी १९५८, में प्रकाशित लेखक का "आदिकाल का प्रकाशित हि. जै. साहित्य" शीर्षक लेख

अतिरिक्त भी इस साहित्य की जो छोटी–मोटी अनेक विशेषताएँ और मुख्य प्रवृत्तिया हैं उनका विवेचन हम इस प्रकार कर सकते हैं —

१२ विश्वसनीय साहित्य :—

ये प्रतिया विश्वसनीय तथा प्रामाणिक हैं। क्योंकि ये जैन भडारों में पूर्णतया सुरक्षित थीं। तथा आक्रमणकारियों ने राजस्थान के जैन भडारों को बहुत कम प्रभावित किया है। वे इन प्रच्छन्न भडारों को, सच तो यह है कि, प्राप्त ही नहीं कर सके। हिन्दी प्रदेश के अन्य प्रातों में अनेक प्रतिया आक्रमणकारियों ने नष्ट करदीं। क्योंकि आदिकालीन प्रतिया अवधी, विदर्भ, भोजपुरी, व्रज आदि विभाषाओं में बिलकुल नहीं मिलती हैं। राजस्थान और गुजरात के भडार ही इसे ज्यों का त्यों सुरक्षित रख सके हैं। जैनमुनियों का अध्ययन-अध्यापन, पठन–पाठन तथा लेखन ही व्यसन था। अत ये प्रतिया प्रामाणिक और पूर्ण विश्वसनीय हैं। तथा इनकी हस्तलिखित प्रतिया भी तत्कालीन उपलब्ध जैनेतर साहित्य की प्रतियों और प्रतिलिपियों से प्राचीनतम हैं।

१३ तत्कालीन स्थितियों का इतिहास —

इस साहित्य की कृतिया तत्कालीन समय का इतिहास प्रस्तुत कर सकती है। आदिकालीन आचारविचार, समाज, धर्म, राजनीति की सही स्थितिया पर प्रकाश डालने में ये कृतिया पूर्ण सक्षम हैं। ये प्रामाणिक तथ्य और घटनाओं के यथार्थ चित्रण में योग देती हैं। अत इतिहासकारों को आदिकाल के इतिहास लिखने में भी ये पूर्ण सहायता करेंगी। और क्योंकि इनमें वर्णित साहित्य जनता का साहित्य है, अत इसमें जीवन के स्वच्छ और यथार्थ दृष्टिकोण व चित्रण को अपनाया गया है। तत्कालीन विद्वानों की मान्यताए और कविगत सत्यों का भी अध्ययन इन्हीं के माध्यम से किया जा सकता है।

१४ केवल धार्मिकता नहीं —

इन रचनाओं में केवल धार्मिकता ही नहीं। इन में साहित्यिकता की अजस्र शोभालिनी सर्वत्र एक ही गति से प्रवहमान् है। इसमें चरितनायकों की स्तुतियों की सक्षिप्तता से लेकर प्रबधकाव्यों तक का विस्तार है। उपलब्ध रचनाओं में अद्यावधि यद्यपि कोई महाकाव्य नहीं मिला है, तथापि प्राप्त प्रबंधकाव्यों में महाकाव्यों का भी वहन करने की अपार क्षमता है। यह सभव है कि कालान्तर में शोध करने पर कुछ महाकाव्य भी प्राप्त हों। क्योंकि जैनकवियों द्वारा लिखे अपभ्रश में कई महाकाव्य उपलब्ध हुए हैं और ये कृतिया अपभ्रश की उत्तर स्थिति की उपज हैं।

१५. राज्याश्रय रहित जनता का साहित्य :—

जैन कवि आत्मानंद में मग्न रहनेवाले, भौतिक आडंबरों से दूर रहनेवाले तथा समाजसेवी थे। धर्म, त्याग और संयम के कठोर बंधन में ही वे बंधे थे। अतः एक ओर उन्हें अपनी धार्मिक नियमबद्धता और गुरुओं की आज्ञापालन का कर्त्तव्य करना पड़ता था, तो दूसरी ओर जनता के भावों को कबीर की भांति जनता के ही विचारों में पहुंचाना और प्रचार करना पड़ता था। अतः राज्याश्रय और कृतिम दबाव इन कवियों की आत्मा और काव्यानुभूति की तीव्रता और यथार्थ चित्रण को कलुषित नहीं कर पाया। अतः अनेक साहित्यकवियों ने उच्चकोटि की स्वान्तः सुखाय रचनाएं लिखी हैं। जिनमें जीवन का चित्रण भी "आँखों का देखा" हुआ है—"कागज का लिखा" नहीं। अस्तु, आदिकालीन हिन्दी जैनकवियों के चित्रण में अतिरंजना को कहीं स्थान नहीं है।

१६. वर्णन के मूलतत्वः धर्मप्रचार और उपदेशमूलकता :—

इन कृतियों में अपने दैनिक जीवन की प्रभावोत्पादक घटनाओं, आध्यात्म के पोषक तत्वों; चरितनायकों, शलाकापुरुषों, आदर्श श्रावकों, तपस्वियों तथा पात्रों के जीवन-वर्णन हैं, हीनमानव और अतिमानव के गुणों का विश्लेषण है, संयमित जीवन के स्रोतों का स्पष्टीकरण है, कर्म और नियतिवाद के तत्वों का प्रकाशन है। साथ ही इनमें श्रृंगारिक चित्रण, दान-वर्णन, संघ-वर्णन, यात्रा-वर्णन, नगर-तीर्थ तथा प्रसिद्ध स्थानों के वर्णन, पूजा की विधियों का वर्णन एवं धार्मिक जीवन और पवित्र श्रावकों और भक्तों के लिए नियमों का निर्धारण, अहिंसा, उपवास, शम, दम, नियम, नीति आदि की गतिविधियों का विश्लेषण और जीवन के विविध मूल तत्वों का सही चित्रण हैं। उपदेशात्मकता इन कवियों की मुख्य प्रवृत्ति है जिसके मूल में इनकी धर्म में दृढ प्रवृत्ति और प्रचार है।

१७. असाम्प्रदायिक साहित्य :—

धर्म का प्रचार और चरितनायकों के आख्यानमूलक साहित्य होने पर भी इन रचनाओं में कहीं भी साम्प्रदायिकता की गंध नहीं है। आज का अतिवादी मानव चाहे इनको वर्तमान जीवन के लिए अव्यावहारिक कहने की भूल कर सकता है; पर इनका तो मुख्य उद्देश्य लोकोपकारिता ही है। आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य की मुख्य दृष्टि चरित-निर्माण, उपकार, दया-दान-सत्य और शौच ही हैं। त्याग ओर शांति तो इसके मूल में ही हैं। अहिंसा और जनजागरण के अनूठे चित्रों के साथ निर्वेद या शम की भावना ही इस साहित्य का प्राण है। इतना सबकुछ होते हुए भी जैन कवि प्रश्न खड़ा करके नहीं चलते। वे उलझी ओर कठिन समस्याओं का हल अपने दैनिक जीवन में ही ढूंढ़ निकालते हैं। उनका साहित्य समस्या खड़ी नहीं करता—उसका हल प्रदान करता है। वह जीवन से दूर या अव्यावहारिक नहीं है। वह तो कदम-कदम पर जनजीवन से समझोता करके चलनेवाला है।

१८ लोकभाषाओं की सम्पन्नता —

इस साहित्य का शृंगार है लोक-चित्रण, सेवा और दया। औदार्य इन कवियों का स्वाभाविक गुण था। विश्वशांति की वर्तमान ज्वलंत-समस्याएं (Burning Problems) की ओर ये प्रारंभ से ही उपदेश देते थे। लोक ही उनका क्षेत्र था। अतः उस साहित्य में लोकसंस्कृति, भाषा और साहित्य के उन्नयन के प्रमुख तत्व हैं। हिन्दी भाषा के उद्भव और विकास के इतिहास के उलझे प्रश्नों को भी उन कृतियों से सुलझाया जा सकता है। तथा विश्वजनीन जीवनमूल तत्वों का प्रेरक उस साहित्य को कहा जा सकता है।

१९ कथारूढियों और परंपराओं (cycles) की मौलिकता —

इन प्रतियों में उपलब्ध कथाओं की परंपराएं और कथारूढियां भी अपने ही प्रकार से वर्णित हुई हैं। इन परंपराओं में भी प्राकृत, अपभ्रंश आदि से अलग अपने ही प्रकार की मौलिकता है। कथाओं और उनकी रूढियों में परंपरा का निर्वाह मिलते हुये भी उनके पात्रों, कथानकों वर्णनपद्धतियों, उद्देश्यों आदि में एक अपने ही प्रकार का चित्रण है।

२० रसराज शान्त —

अन्य रसों के वर्णन के साथ जैन कवियों ने शृंगार के स्थान पर शान्त को ही रसराज माना है। यद्यपि इस साहित्य में करुण वीर, शृंगार आदि सभी रसों की सफल निस्पत्ति की है। उदाहरणार्थ 'भरतेश्वर बाहुबली रास' वीररस की सफलकृति है। और 'नेमिनाथ चतुस्पदिका' में राजुल के आंसू करुण रस की उत्कृष्ट निस्पत्ति के प्रतीक हैं। परन्तु फिर भी ये रस शांतकी क्रोड में ही पलते हैं। शांत या निर्वेद इन कृतियों की समाप्ति पर अपने साधारणीकरण की छाप पाठक और श्रोता सब पर छोड़ देता है। अधिकांशतः प्रधान रूप से इसी रस को इन काव्यकारों ने निष्पन्न किया है। अर्थात् जैन विद्वानों ने शृंगार के रसराजत्व को गौण और शांत के रसराजत्व को प्रमुख मान्यता दी है। विश्वशांति के उपायों का सुंदर हल, मातृत्व, सौहार्द तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की सारी योजनाएं इनकी मुख्य संवेदना में देखी जा सकती हैं।

२१ शैलीगत मौलिकता —

इन कृतियों के वर्णन में विचित्र एवं अपने ही प्रकार की शैली के दर्शन होते हैं। वर्णन में विशालता के साथ पर्याप्त वैज्ञानिकता दिखाई देती है। वर्णन कहीं भी शिथिल नहीं है। यहां तक की जहां कवि धर्म के सिद्धान्तों का उपदेश देता है वहां भी उसमें साहित्यिक सरसता बनी रहती है। लौकिक, अलौकिक आदि लगभग सभी क्षेत्रों को इन जैन कवियों ने अपना वर्ण्य विषय बनाया है और अपनी शैली में ढाला है।

२२. मानवता को संदेश—

छंदों तथा अलंकारों के साथ-साथ इन कृतियों की अनुभूतियां प्रौढ साहित्य की प्रतीक हैं। इन संदेशों पर मानव के जीवन-स्तरका उन्नयन कर, उसकी नैतिक निष्ठाओं का निर्माण करना है। अहिंसा, दान, शांति आदि के लिए ये लेखक और कवि सदैव से ही सतर्क रहे हैं। इन्हीं का पाठ पढाना इनका कर्त्तव्य रहा है। अस्तु, हिंसा से दूर, सुख, सौहार्द, एकता, त्याग और आनंद का मुख्य संभार लेकर ये काव्य विजयिनी मानवता के प्रति सुन्दर संदेश देते हैं। अतः आदिकालीन जैन साहित्य अपने में पूर्ण एवं सर्वांश सुन्दर है।

संक्षेप में हमने ऊपर इस साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियों और विशेषताओं का विश्लेषण किया है। एक आवश्यक तत्व का स्पष्टीकरण यहां कर देना उचित प्रतीत होता है की इतना सम्पन्न साहित्य होते हुए भी अबतक विद्वानों में इस साहित्य के प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण क्यों बना रहा!! इसका मूल कारण यह स्पष्ट होता है कि विद्वान् इनमें से अनेक कृतियों को गुजराती भाषा की समझते रहे, क्यों कि वे गुर्जर प्रदेश में लिखी गई थीं। गुजराती को स्वतंत्र और अलग भाषा मानने के कारण ही इन कृतियों पर विद्वानों ने ध्यान नहीं दिया। प्रेमीजी, डॉ. हीरालाल जैन, प्रभृति जैन, अजैन विद्वानों ने इस ओर लेख भी लिखे. परन्तु इन कृतियों पर फिर भी हमारी दृष्टि इस ओर नहीं गई। श्री अगरचंद नाहटा ने पिछले कुछ वर्षों से राजस्थानी और प्राचीन गुजराती की कृतियों का यह पारस्परिक संबंध स्पष्ट किया और विभिन्न कृतियों पर 'वीरगाथाकालीन भाषा साहित्य' पर नागरीप्रचारिणी आदि कई पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाश डाला। इसके पूर्व डॉ. सुनीतिकुमार, और डॉ. टेस्सीटोरी भी प्राचीन राजस्थानी और जूनी गुजराती का परस्पर एकत्व स्पष्ट कर चुके थे। पर राजस्थानी के इस आदिकालीन विशाल हिन्दीजैन साहित्य की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय राजस्थान के प्रसिद्ध विद्वान् श्री अगरचंद नाहटा को तथा गुजराती के प्रसिद्ध इतिहासकार और विद्वान् साधक स्वर्गीय श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई को है। श्री देशाई का ग्रंथ "जैन गुर्जर कवियो" के तीनों भाग आज आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य के लिए मीलस्तंभ या Mile Stone का कार्य करते हैं। इन कृतियों में कई रचनाएं तो राजस्थान में ही रची गईं जिन्हें विद्वान् गुजराती की ही समझते रहे, पर राजस्थानी तो हिन्दी की ही एक बोली है। अतः प्राचीन राजस्थानी और जूनी गुजराती के पृथक-पृथक होने की इस भेदबुद्धिका अब निराकरण होजाता है। जूनी गुजराती नाम से कृतियों का समयनिर्धारण और स्थाननिर्धारण के विषय में अबतक हमारी जो धारणा थी वह अनेक विद्वानों के अध्ययन तथा शोधपूर्ण निबंधों से लगभग दूर हो चुकी है। अतः प्राचीन राजस्थानी और जूनी गुजराती की कही जानेवाली सभी रचनाएं आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य की ही हैं—यह मत पूर्ण तथा असंदिग्ध है।

काव्यरूपों को आधार मानकर नीचे इन कृतियोंमें से कुछ कृतियों की एक

वर्गीकृत सूची प्रस्तुत की जा रही है। अज्ञात कवियों की अनेक कृतियों को इसमें नहीं लिया गया है, उनपर अन्यत्र विचार करेंगे। इनमें से अधिकाश रचनाएँ श्वेताम्बर विद्वानों की ही है। दिगम्बर विद्वानों की एक दो रचनाओं का ही इसमें समावेश किया गया है। क्योंकि दिगम्बर कृतियों की अभी पूरी शोध लेखक नहीं कर सका है। आशिक रूप से इस वर्गीकरण में रचना काल में भी क्रम रखनेका प्रयास किया गया है, पर प्रधानता काव्यरूपों को ही दी गई है। इन काव्यरूपों को देखते हुए हम इस साहित्य की विविधता का, बहुमुखी क्षेत्रका तथा सपन्नताका अनुमान सहज ही लगा सकेंगे। राजस्थानी, गुजराती, जैन, अजैन अनेक विद्वानों ने भी इस साहित्य की प्रचुरता, वैज्ञानिकता और विशालता पर अनेक ग्रन्थ लिखे है। अत यह साहित्य महत्वशाली सिद्ध हो जाता है। नीचे आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य की रचनाओं की एक वर्गीकृत सूची दी जा रही है। इस सम्बन्ध में एक लेख पहले भी प्रकाशित किया जा चुका है।[1]

शताब्दी	काव्यप्रकार	कृतिनाम	रचनाकाल	रचनाकार
११ वीं शताब्दी	उत्साह	* सत्यपुरीय महावीर उत्साह	सवत् १०८१ लगभग	धनपाल
१२ वीं शताब्दी	महात्म्य	* नवकार महात्म्य	स ११६७ लगभग	जिनवल्लभसूरि
	स्तुति	* जिनदत्तसूरिस्तुति	स ११७०	पल्ह
,,	,,	* श्री मुनिचद्रगुरस्तुति	स १२०० लगभग	वादिदेवसूरि
१३ वीं शताब्दी	घोर	* भरतेश्वर बाहुबलीघोर	स १२२५	वज्रसेनसूरि
,,	रास	* भरतेश्वर बाहुबलीरास	स १२४१	शालिभद्रसूरि
,,		* बुद्धिरास	स ,, के आसपास	,,
,,		* चदनबालारास	स १२५७	आसगु
,,		* जीवदयारास	स ,,	,,
,,		* स्थूलिभद्ररास	स १२५७ के बाद	धर्म
,,		* रेवतगिरिरास	स १२८८	विजयसेनसूरि
,,		* आबूरास	स १२८९	राम (?)
,,		* नेमिनाथरास	स १२९०	सुमति गणि
,,	चरित	* जबूस्वामीचरित	सं १२६६	धर्म
,,	चतुष्पदिका	* सुभद्रासतीचतुष्पदिका	स १२६६ के लगभग	धर्म

[1] देखिए लेखक का — "साहित्यकार" फरवरी १९५८ में प्रकाशित "आदिकाल का प्रकाशित हिन्दी जैन साहित्य" लेख —

१३ वीं शताब्दी	गुणवर्णन	जिनवल्लभसूरि – गुणवर्णन	सं. १२७५ के लगभग	नेमिचंद्र भंडारी
,,	धवलगीत	जिनपतिसूरि – धवलगीत	सं. १२७८	शाहरयण
,,		जिनपतिसूरि धवलगीत	सं. १२७८ के लगभग	भत्तउ
,,	दोहा	मातृका दोहा	सं. १३०० के लगभग	पृथ्वीचंद
,,	संधि	भावना संधि	सं. १३०० के लगभग	जयदेव
,,	वस्तु	जम्बूस्वामी सत्कवस्तु	सं. १३०० के आसपास	अज्ञात (?)
१४ वीं शताब्दी	रास	× महावीररास	सं. १३०७	अभयतिलक
,,		सतक्षेत्रीरास	सं. १३२७	अज्ञात (?)
,,		शांतिनाथदेवरास	सं. १३१२	लक्ष्मीतिलक
,,		शालिभद्रमुनिवररास	सं. १३३०	राजतिळकगणि
,,		जिनेश्वरसूरि–विवाहवर्णन रास	सं. १३३१ के बाद	सोममूर्ति
,,		बारव्रतरास	सं. १३३८	विनयचंद्रसूरि
,,		कच्छूलीरास	सं. १३६३ के आसपास	प्रज्ञातिळक सूरिशिष्य
,,		वीस विहरमानरास	सं. १३६८	वस्तिग
,,		श्रावकविधिरास	सं. १३७१	गुणाकरसूरि
,,		समरारास	सं. १३७१ आसपास	अम्बदेवसूरि
,,		जिनचंदसूरिवर्णनरास	सं. १३७१-के लगभग	लखमसीहु श्रावक
,,		जिनकुशळसूरि पट्टाभिषेकरास	सं. १३७७ के आसपास	धर्मकळश
,,		मयणरेहारास	सं. १३८० आसपास	रयणु (?)
,,		जिनपद्मसूरिपट्टाभिषेक रास	सं. १३९० आसपास	सारमूर्ति
,,	चतुष्पदिका	नेमिनाथचतुष्पदिका	सं. १३२५	विनयसूरि
,,	यचउपई	चतुर्विंशतिजिन–चतुष्पदिका	सं. १४०० के पूर्व	मोदमंदिर

१४ वीं शताब्दी		सम्यक्त्व माइ चउपइ	सं १३३१ के पहले	जगड़
,,		पद्मावतीदेवी चौपाइ	सं १३८० के आसपास	जिनप्रभसूरि
,,	संधि	आनन्दप्रथमोपासकसंधि	सं १३५३ के पूर्व	विनयचन्द्रसूरि
,,	छप्पय	उपदेशमाला कथानक छप्पय	सं १४०० के आसपास	उदयधर्म
,,	फाग	नेमिनाथफागु	सं १३०८ के लगभग	पद्म
,,		स्थूलिभद्रफागु	सं १३९०	जिनपद्मसूरि
,,		नेमिनाथफागु	सं १४३० के पूर्व	समुधर
,,		थूलिभद्रफागु	सं ,,	राजवल्लभ
,,	चच्चरी	जिनप्रबोधसूरि चच्चरी	सं १३३१ के बाद	सोममूर्ति
,,		चाचरी	सं १३३१ के आसपास	जिनेश्वरसूरि
,,		जिनचंद्रसूरिचच्चरी	सं १४०० के पूर्व	हेमभूषण
,,		चर्चरिका	सं १४०० के आसपास	सोलणु
,,	गीत	चउवीसगीत (दिग)	सं १३७१	घेल्ह
,,	तलहरा	अनिरुद्धदेवीपूर्वभव-वर्णन तलहरा	सं १३८० के आसपास	उदयकरुद्ध (?)
,,	कलश	चन्द्रप्रभकलश	सं १४०० के पूर्व	वीरप्रभ
,,	स्तवन	चउवीसजिनस्तवन	सं ,,	राजकीर्ति
,,	चैत्यपरिपाटी	गुरावली	सं १३७६ के पूर्व	फेरु
	मातृका	दूहामातृका	सं १३५८ के पूर्व	पद्म
	कक्क	सालिभद्र कक्क	सं १३५८ के पूर्व	पद्म
	अभिषेक	महावीरजन्माभिषेक	सं १३३१ के बाद	जिनेश्वरसूरि
१५ वीं शताब्दी	रास	पचपांडवचरितरास	सं १४१०	शालिभद्रसूरि
,,		गौतमस्वामीरास	सं १४१२	विनयप्रभ
,,		त्रिविक्रमरास	सं १४१५	जिनोदयसूरि
,,		श्रीजिनोदयसूरिपट्टाभिषेकरास	सं १४१५	ज्ञानकलश
,,		देवसुन्दरसूरिरास	सं १४४५	चाँप (?)
,,		शालिभद्ररास	सं १४५५	साधुहंस
,,		वस्तुपाल तेजपालका रास	सं १४८४	हीरानंदसूरि

,,		दशार्णभद्ररास	सं. १४८४ बाद	हीरानंदसूरि
,,		वयरस्वामीगुरुरास	सं. १४८९	जयसागर
,,		गौतमरास	सं. १४९० के आसपास	जयसागर
,,		* कलिकालरास	सं. १४८६	हीरानंदसूरि
,,		ऋषभरास	सं. १४९२ पश्चात	गुणरत्नसूरि
,,		सिद्धचक्र श्रीपालरास	सं. १४९८	मॉडण
,,		कमलावती सती का रास	सं. १५०० के पूर्व	विजयभद्र
,,		प्रद्युम्नचरित्र (दिगंबर)	सं. १४११	सधारु (दिगं.)
,,		चैत्यप्रवाडीरास	सं. १५०० के पूर्व	कर्ण सिंह
,,		भरतबाहुबलीरास	सं. ,, ,, ,,	तेजवर्द्धन (?)
,,		* पेथडरास	सं. ,, ,, ,,	मंडलिक
,,		मत्स्योदरकुमार रास	सं. ,, ,, ,,	साधुकिर्ति
,,		विक्रमचरितकुमाररास	सं. ,, ,, ,,	,,
,,		शांतरास।	सं. ,, ,, ,,	मुनिसुन्दरसूरि
,,		जिनभद्रसूरि पट्टाभिषेक रास	सं. ,, ,, ,,	समयप्रभ
,,		नलदमयंतीरास	सं. ,, ,, ,,	चंप
,,	फाग	* नेमिनाथफागु	सं. १४०५	राजशेखरसूरि
,,		* स्थूलिभद्रफागु	सं. १४०९	हलराज
,,		* प्रथम नेमिनाथफागु	सं. १४२२	जयसिंहसूरि
,,		* द्वितीय ,, ,,	सं. ,, के लगभग	,, ,,
,,		रावणि पार्श्वनाथ ,,	सं. ,, ,, ,,	प्रसन्नचंद्रसूरि
,,	फागु	* जीरापल्ली पार्श्वनाथफागु	सं. १४३२	मेरुनंदन
,,		* नेमिनाथफागु	सं. १४६०	जयशेखर
,,		* देवरत्नसूरिफागु	सं. १४८९	देवरत्नसूरिशिष्य
,,		* नेमिनाथ नवरसफागु	सं. १५०० के लगभग	रत्नमंडण गणि
,,		* नेमिनाथफागु	,, ,, ,, ,,	समरा
,,		* पुरुषोत्तम पंचपाण्डवफागु	,, ,, ,, ,,	(अज्ञात)
,,		* बसंतफागु	,, ,, ,, ,,	गुणचंदसूरि
,,		* नारीनिरासफागु	,, ,, ,, ,,	रत्नमंडन गणि

,,		वसंत विलास	सं १५०० के लगभग	(अज्ञात)
,,		नेमिनाथ फागु	,, ,, ,, ,,	समधर
,,	स्तवन	बीस विहरमान जिन स्तवन	स १४११ के लगभग	तरुणप्रभसूरि
,,		तीर्थयात्रा स्तवन	स १४१२ के आसपास	विनयप्रभ
,,		अबुदालंकार श्री युगादि-देवस्तवन	सं १४३० के पूर्व	जिनरत्नसूरि
,,		नेमिनाथ स्तवन	स १४३० के पूर्व	,, ,,
,,		सीमधर स्तवन	स १४३३ के पूर्व	मेरुनंदन
,,		अजितशांति स्तवन	स १४३३	,,
,,		नंदीश्वरस्थ प्रतिमा स्तवन	स १४५० के लगभग	माल्देव
,		स्तवनो	स १४६० के बाद	जयशेखरसूरि
,,		अष्टमी स्तवन	स १४९० के आसपास	समरो
,		नेमिनाथ नवभव स्तवन	स १४९० के बाद	सोमसुंदरसूरिशिष्य
,,		महावीर स्तवन	,, ,, ,, ,,	भानसुंदर ,,
,,		तीर्थमाला स्तवन	स १४९९ पूर्व	मेघो (मेहो)
,		राणकपुर स्तवन	स १४९९	,, ,,
,,		नवसारी स्तवन	स १४९९ के बाद	,, ,,
,	बावनी	अष्टापदतीर्थ बावनी	स १४८९ के पश्चात्	जयसागर
,,	स्तोत्र या स्तवन	चउवीस जिनस्तोत्र	स १४८९ के बाद	जयसागर
,,		जिन स्तोत्र	स १४८९ से १५०० तक ये सब स्तोत्र, स्तवन मिलते है।	,,
,,		अजित स्तोत्र	,, ,, ,,	,,
,,		स्तंभन पार्श्व स्तवन	,, ,, ,,	,,
,,		महावीर स्तवन	,, ,, ,,	,,
,,		आदिनाथ स्तवन	,, ,, ,,	,,
,,		शांति स्तवन	,, ,, ,,	,,
,,	विवाहलउ	जिनोदयसूरि विवाहलउ	स १४३२	मेरुनंदन
,		नेमिनाथ विवाहलो	स १४९९ बाद	जयसागर

१५ वीं शताब्दी		जंबूस्वामी को विवाहलो	सं. १४८५	हीरानंदसूरि
,,	धवलगीत	नेमिनाथधवल	सं. १४६० वाद	जयशेखरसूरि
,,		महावीरगीत	सं. १४७५ के वाद	जिनभद्रसूरि
,,	गुर्वावली	तपागच्छगुर्वावली	सं. १४८२ से पूर्व	जिनवर्द्धमानगणि
,,	स्तुति नमस्कार	चतुर्विंशति जिनस्तुति	सं. १४९० के वाद	जयसागर
,,		चतुर्विंशति नमस्कार	सं. १५०० पूर्व	जिनशेखर
,,	तीर्थमाला	अष्टोत्तरी तीर्थमाला	सं. १५०० के पूर्व	मुनिप्रभसूरि
,,	प्रबंध (बंध)	त्रिभुवनदीपकप्रबंध	सं. १५०० पूर्व	जयशेखरसूरि
,,		भरत वाहुबली प्रबंध (पवाडो)	सं. ,, ,,	गुणरत्नसूरि
,,		नेमिश्वर चरित फाग बंध	सं. १४७० आसपास	माणिक्यसुंदरसूरि
,,		विराट पर्व	सं. १४७८ पूर्व	शालिसूरि
,,	परिपाठी	चैत्यपरिपाठी	सं. १४८७	जयसागर
,,		नगर कोट महातीर्थ चैत्य परिपाठी	सं. १४८४ के आसपास	जयसागर
,,	पवाडो	विद्याविलास पवाडो	सं. १४७८ पूर्व	हीरानंदसूरि
,,	चतुष्पदिका या	जिनकुशलसूरि चतुष्पदिका	सं. १४८१	जयसागर
,,	चउपई	उत्तमा रिषि संघ स्मरणा चतुष्पदी	सं. १५०० पूर्व	देवसुंदर
,,		हंसराज वच्छराज चउपई	सं. १४११	विजयभद्र
,,		ज्ञानपंचमी चउपई	सं. १४२३	विद्धणु
,,		कारबंधि चउपई	सं. १४५०	देवसुंदरसूरिशिष्य
,,		शकुन चौपई	सं. १४९२ के आसपास	गुणसमुद्रसूरिशिष्य
,,		गौतमपृच्छा चौपई	सं. १५०० पूर्व	साधुहंस
,,		नंदीश्वर चौपई	सं. ,, ,,	मालदेव
,,		मंगलकलश चौपई	सं. ,, ,,	सर्वानंदसूरि
,,		चिहुगति चौपई	सं. १४६२ पूर्व	वस्तिग (वस्तो)
	बारहमास	स्थलिभद्र बारहमास	सं. १४८६ वाद	हीरानंदसूरि

१५ वीं शताब्दी	नेमिनाथ फाग		
	बारहमास	स १५०० पूर्व	कान्ह
,,	कवित्त	स्थूलिभद्र (कवित्त) स १४८१	सोमसुदरसूरि

उक्त सूची में कुछ कृतियों के काव्यरूपों का परिचय दिया गया है। प्रस्तुत सूची को तैयार करने में गुजराती विद्वान स्वर्गीय मोहनलालजी दलीचद देसाई के ग्रथ–जेन गुर्जर कवियों भाग १ और ३ से पूरी सहायता मिली हे। उक्त सूची में अनेक रचनाओं की प्राचीन हस्तलिखित प्रतिया अथवा आधुनिक प्रतिलिपियां हिन्दी जेन साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान और शोधक श्री अगरचद नाहटा ने अपने अभय जेन ग्रथालय, बीकानेर में सग्रहीत की हैं। उनकी इस सामग्री तथा नाहटा जी के लेखों से बडी भारी सहायता मिली है। जिसके लिए लेखक उनका आभारी है।

अनेक स्थानों के जैन भडारों की शोध अभी नहीं हो पाई है। दिल्ली, मेरठ बडौदा, नागौर, जयपुर, अजमेर आदि स्थानों के जैन भडारों से खडी बोली का प्रारभिक स्वरूप प्रदान करने वाली अनेक रचनाए उपलब्ध होने की आशा है। अत शोध होने पर उनपर भी यथासमय प्रकाश डाला जायगा।

जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि यह वाड्मय विशाल हे तथा जैन भडारों में भरा पडा है, तथा इस का महत्व अत्यन्त असाधारण हे। और यही आदिकालीन हिन्दी–जैन–साहित्य हिन्दी के आदिकाल की अनेक उलझी कडियों को सुलझाने में पूर्ण सक्षम है। आशा है प्रस्तुत लेख से आदिकालीन हिन्दी जैन साहित्य का कुछ परिचय मिल सकेगा। यदि इस साहित्य के सम्बन्ध में अबतक बनी " धार्मिक साहित्य मात्र' जैसी भ्रात धारणाओं का निराकरण हो सका और इन कृतियों के प्रति आलोचना की एक निष्पक्ष दृष्टि या 'नीर क्षीर विवेक' को प्रश्रय मिल सका तो लेखक अपना प्रयास सफल समझेगा। कहना न होगा कि हिन्दी जैन-साहित्य आदिकालीन साहित्य का एक अविभाज्य और असाधारण अग है।

मंत्री मण्डन और उसका गौरवशाली वंश

दौलतसिंह लोढ़ा, 'अरविंद'

इतिहासकारों के लिये वैसे अभी भारत का अधिकांश भाग अछूता रह रहा है ऐसा कहा जा सकता है। जिसमें जैन क्षेत्र तो अस्पर्शित सा ही है। मात्र मेरा प्राग्वाट-इतिहास निकला है। वैसे तो उपकेशज्ञातीय 'ओसवाल-इतिहास' नाम का बृहद् पोथा भी प्रकाशित किया गया, परन्तु उसके रचयिताओं का प्रमुख उद्देश्य श्रीमंतों से धन ऐंठना मात्र रहा और वह अधिकांश में धनदाताओं की कथा और चित्र-पट्टिका ही बन कर रह गया, और इतिहासों में उसकी गणना नहीं हो सकी। इस लेख के द्वारा जावालीपुर (जालोर) के एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष और उसके वंश का यथाप्राप्त वर्णन देने का प्रयास कर रहा हूँ।

ठक्कुर आभूशाह का जैन बनना —

राजस्थान के मरुधर-जोधपुर राज्य का प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर जावालीपुर (जालोर) स्वर्णगिरि नामक पर्वत की पौर्वात्य तलहटी मे सुकडी नदी के पश्चिम तट पर अवस्थित है। स्वर्णगिरि पर १॥ मील लम्बा और एक मील चौडा पर्वतभाग घेर कर लगभग १२०० फीट की ऊंचाई पर प्राचीन सुदृढ दुर्ग विनिर्मित है। यह दुर्ग राजस्थान के अति इतिहासप्रसिद्ध दुर्गों मेंसे है। विक्रमीय ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य तक यहां परमारों का राज्य रहा। तत्पश्चात् यहां चौहान क्षत्रियोंका राज्य रहा। अल्लाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में यह यवनों के आधिपत्य में चला गया। राज्यपरिवर्त्तनों के विरोध में भी नगर की रमणीयता में एवं समृद्धि में न्यूनता नहीं आई। तेरहवीं शताब्दी पर्यंत इसकी समृद्धता जैसे-तैसे बनी रही। जैनियों का यहां सदा प्रभाव और प्रभुत्व रहा। प्रायः राजकीय उच्च विभागों पर जैन ही नियुक्त हुआ करते थे और व्यापार भी जैनियों के करों में ही रहा। मं. मण्डन का मूल जैन पुरुष आभू था। आभू जैसा वीर था वह वैसा ही दयावंत और ईश्वरभक्त भी था। वह सौनगढ़ा चौहान था। वि. सं. ११४३ मे जालोर में अजितदेवसूरि पधारे। आभूने इन महाप्रभावक आचार्य के तेज एवं व्याख्यान से प्रभावित हो कर जैनधर्म अङ्गीकृत किया। आचार्यश्री ने आभू को धर्म स्वीकार करवा कर उसको जैन वर्ग मे सम्मिलित किया। आभू दृढ जैनधर्मी रहा।

आभू के पौत्र आंवड का अजमेर सम्राट् सोमेश्वर का दंडनायक बनना—

आभू का पुत्र धर्मात्मा, दयालु अभयदेव था। अभयदेव का पुत्र आंवड था।

+ आभू प्राग्वाट, श्रीमाल, ओसवाल वर्गों में से किस वर्ग में सम्मिलित हुआ यह अभी विवादग्रस्त है।

आवड़ बचपन से ही नटखट था और शस्त्रास्त्रों के अभ्यास एव प्रयोगों में अधिक रुचि रखता था। वह १५-१६ वर्ष की वय में ही एक निपुण योद्धा गिना जाने लगा। राजस्थान में उसकी वीरता और रणकौशलता की चर्चा दूर-दूर फैलने लगी। जालोर में उस समय परमार वीशलदेव राज्य कर रहा था। अजमेरसम्राट् सोमेश्वर की राजसभा में भी आवड की प्रसिद्धि पहुँची। सम्राट् सोमेश्वर ने जालोर से आवड को निमन्त्रित किया ओर उसकी वीरता पर एव साहस पर मुग्ध होकर उसने उसको अपनी सैन्य में दण्डनायक के स्थान पर नियुक्त किया। कुछ कारणों पर परमार वीशलदेव और सम्राट् सोमेश्वर में विद्वेश उत्पन्न हो गया। फलस्वरूप सोमेश्वर ने जालोर पर आक्रमण किया। दण्डनायक आवड भी इस युद्ध में सम्राट के सग था। वीशलदेव पराजित हुआ। परन्तु वह लडा बडी वीरता से था और सत्य की दृष्टि से उसका अपराध भी कुछ नहीं था। युद्ध स्थगित हो जाने पर सोमेश्वर को प्रसन्न देखकर दण्डनायक आवड ने उसके समक्ष वीशलदेव के गुण और वीरता की बड़ी प्रशंसा की। इस प्रकार आवड के कहने पर सोमेश्वर ने जालोर राज्य पुन वीशलदेव को लौटा दिया ओर वीशलदेव को अपने सामन्त-मण्डल में प्रमुख स्थान प्रदान किया।

आवड द्वारा पुत्र सहणपाल को देशनिष्कासन का दण्ड—

आवड के पाल्हा और सहणपाल नामक दो पुत्र थे। इन दोनों पुत्रो के साथ वह अजमेर में रहता था। दोनों पुत्र धनुर्विद्या सीखते थे। एक दिवस धनुर्विद्या के अभ्यास के समय सहणपाल का तीर सहसा एक निर्दोष मनुष्य को लग गया और वह विक्षत होकर गिर पडा। यह दुर्घटना-समाचार जब आवड़ के कर्णों में पडे, वह अत्यन्त क्रोधित हुआ और सहणपाल को बुलवा कर तुरत उसको देशनिष्कासन का दण्ड दिया और अविलम्ब अजमेर छोड देने की आज्ञा दी। मित्र एव परिचित व्यक्तियों ने आवड का क्रोध शान्त करने और दण्ड को कम कराने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु कठोर हृदय आवड द्रवित नहीं हुआ। यहा विचारना इतना ही है कि वह कितना न्यायी था कि अपने प्राणों से प्रिय पुत्र को भी अपराध पर भारी से भारी दण्ड दे सकता था। जिसका हृदय पुत्र के लिये भी द्रवित न हो वह रणाङ्गण मे तो कैसा तेजस्वी वीर होगा यह सहज अनुमान किया जा सकता है।

सहणपाल का दिल्ली सम्राट् अल्तमस की सेना में सैनापति बनना—

पिता द्वारा तिरस्कृत होकर सहणपाल अजमेर का त्याग कर शीघ्र दिल्ली पहुँचा। दिल्ली के सिंहासन पर उस समय गुलामवशीय सम्राट् अल्तमस था। वह वीरों का स्वागत करता था और उनको शाही सैन्य में योग्य स्थानों पर नियुक्त करता था। सहणपाल ने सम्राट् से भेंट की और अपने तिरस्कृत हो कर आने की सर्व कथा कह सुनाइ। सम्राट ने सहणपाल को निर्भीक योद्धा एव सत्यभाषी समझकर उसको शाही सैन्य में एक सैनानायक का पद प्रदान किया। सहणपाल गुलामवश के अन्तिम बादशाह कैकबाद के शासनकाल तक दिल्ली सम्राटों की सेवा करता रहा। अनेक युद्धों में उसने

भाग लिया और अपनी वीरता और रणकौशल पर अनेक वार बहुमान प्राप्त किये।

सहणपाल का पुत्र नाणा—

नाणा भी अपने पिता के सदृश ही वीर और नीतिज्ञ था। दिल्ली के सिंहासन पर कैकवाद के पश्चात् खिलजियों की सत्ता स्थापित हुई। प्रथम खिलजी सम्राट् अल्लाउद्दीन के दोनों पिता-पुत्र विश्वासपात्र मंत्रियों में रहे। अल्लाउद्दीन के हाथों जब जलालुद्दीन मारा गया तो इस वंश-कलह से ये वडी दुःखी हुये और राज्यसेवाओं से इन्होंने त्याग लेकर घर पर ही धार्मिक जीवन व्यतीत करना प्रारंभ किया। नाणा ने श्रीमद् जिनचन्द्रसूरि और विजयसेनसूरि की तत्त्वावधानता में श्री शत्रुंजय महातीर्थ की महान् संघयात्रा की और पूर्वजोंद्वारा अतुल द्रव्य का संघयात्रा एवं तीर्थ में व्यय करके उसने अक्षुण्ण कीर्त्ति प्राप्त की।

दुसाजु का सम्राट् गयासुद्दीन तुगलक का मन्त्री बना—

नाणा का पुत्र दुसाजु था। दिल्ली में खिलजी वंश की सत्ता के पश्चात् तुगलक वंश की सत्ता स्थापित हुई। सम्राट् गयासुद्दीन ने दुसाजु को वीर, न्यायी एवं प्रतिभा-सम्पन्न समझ कर उसको अपने मुख्य एवं विश्वासपात्र मंत्रियों में स्थान दिया। सम्राट् दुसाजु से अति महत्व की मन्त्रणायें करता और उसकी सम्मति प्रायः मानता था। राजसभा में दुसाजु का अत्यन्त सम्मान था।

दुसाजु का वीर एवं धर्मात्मा पुत्र वीका—

यह वड़ा वीर था और था वड़ा सज्जन। इसका अधिक समय जिनेश्वर देव की आराधना और धर्माचरण मे व्यतीत होता था। वैसे यह रण में भी कभी-कभी भाग लेता था। सम्राट् गयासुद्दीन ने जब सपादलक्ष पर आक्रमण किया था, यह भी सम्राट् के संग था। रण में वीका बडी वीरता से लडा था। सपादलक्ष का राजा अपने सात मित्र राजाओं की सहायता से रणभूमि में दिल्ली सम्राट् के विरुद्ध उतरा था; परन्तु वह अन्त मे परास्त ही हुआ और उसने बादशाह की आधीनता स्वीकार की। वीका दुर्भिक्ष और अन्नकष्ट के समय निर्धन एवं अन्नहीनों को अन्न दिया करता था।

वीका का पुत्र झांझण का दिल्ली त्याग कर माण्डवगढ़ में मन्त्री बनना—

तुगलक वंश की सत्ता के अस्त होने पर दिल्ली और दिल्लीराज्य की दशा शोचनीय बनती गई। फलतः दिल्ली से योग्य एवं श्रीमंत पुरुष और वंश धीरे-धीरे अन्यत्र चले गये। वीका का पुत्र झांझण भी दिल्ली का त्याग कर के राजस्थान में चला गया। उन दिनों में राजस्थान के मरुप्रदेश मे नाडूलाई के राजा प्रसिद्ध और पराक्रमी माने जाते थे। झांझण नाडूलाई के राजा गोपीनाथ की सभा में उपस्थित हुआ और राजा का प्रमुख मन्त्री बना। दिल्ली का मन्त्री नाडूलाई जैसे सामन्तराज का मंत्री कैसे बना रह सकता था। कुछ समय में ही गोपीनाथ और झांझण में अन-

वन प्रारम्भ हो गई। झाझण बड़ा स्वाभिमानी और योग्य मन्त्री था। वह नाडुलाई का त्याग कर के माण्डवपुर की राजसभा में पहुँचा। माण्डवपुर के सम्राट दिल्ली सम्राटों की समता रखते थे। राज्य और राजधानी समृद्धता, कला, साहित्य एवं संगीत में दिल्ली की स्पर्धा रखते थे। माण्डवपुर के तत्कालीन सम्राट् होशंगशाह ने झाझण शाह का बड़ा सम्मान किया और उसको अपना विश्वासपात्र मन्त्री बनाया। सम्राट् होशंग पूर्व से ही झाझण से परिचित था और अतः झाझण को राजसभा में योग्य स्थान प्राप्त करने में अधिक विलम्ब नहीं लगा। माडव में रहकर मन्त्री झाझण ने प्रसिद्ध जैन तीर्थ शत्रुञ्जय, गिरनार और आबू आदि की संघयात्रायें कीं। और इन यात्राओं में उसने पुष्कल द्रव्य व्यय किया। संघयात्राओं में सम्मिलित होने वाले स्वधर्मी बंधुओं को उत्तम वस्त्र, घोड़े एवं मार्ग-व्यय आदि भेंट कर के अच्छी संघ भक्तिया की। झाझण माडवपुर में अधिक काल जीवित नहीं रहा और वह वहा दीर्घकाल पर्यंत रहता तो वह राज और धर्म की अधिक उल्लेखनीय सेवायें करता।

झाझण के छः पुत्र और उनका परिचय —

(१) चाहड़—झाझण के छः पुत्र चाहड, बाहड़, देहड, पद्मसिंह, आल्हू और पाल्हू थे। छः ही भ्राता बड़े धर्मात्मा और नीतिनिपुण थे। चाहड ने श्री जीरापल्लीतीर्थ और अर्बुदतीर्थ (आबू) की संघयात्रा की और प्रत्येक स्वधर्मी बंधु को बहुमूल्य वस्त्र और घोड़ा भेंट में दिया। इसके चन्द्र और खेमराज नामक दो पुत्र थे।

(२) बाहड़—इसके समधर और मण्डन नामक दो पुत्र थे। इसने गिरिनार तीर्थ की संघयात्रा करके विपुल द्रव्य व्यय किया था।

(३) देहड़ और उसका विद्वान् पुत्र धनराज—देहड ने भी श्री अर्बुदतीर्थ की संघ यात्रा की थी। इसके धनराज अथवा धनपति नामक अति सुयोग्य विद्वान् पुत्र था। धनराज ने भर्तृहरि की भांति 'नीति धनद,' 'शृङ्गार धनद' और 'वैराग्य धनद' नामक तीन ग्रंथ रचे थे। वैराग्य धनद वि. सं. १४९० में माण्डवपुर में समाप्त किया था। देहड की माता का नाम गंगादेवी था।

(४) पद्मसिंह—इसने श्री स्तंभेश्वर तीर्थ की भारी समारोह के साथ संघयात्रा की थी और संघपति का तिलक धारण किया था।

(५) आल्हू—इसने मंगलपुर और जीरापल्लीतीर्थ की संघयात्रायें की थीं। जीरापल्लीतीर्थ में इसने सभामण्डप की रचना करवाई।

(६) पाल्हू—इसने जिनचन्द्रसूरि की अध्यक्षता में श्री अर्बुद और जीरापल्ली तीर्थ की संघयात्रायें करके अत्यंत धनव्यय किया था।

उन दिनों संघयात्रा का निकालना कष्टसाध्य और विपुल धनसाध्य होता था। कारण कि मार्ग चोर और शत्रुराजाओं के उत्पातों से रिक्त नहीं थे। भारी संघों का

निकालना संघपति का प्रभावशाली, अत्यन्त धनपति और राजसम्मानित एवं अन्य राजाओं की राज्यसभाओं में मान–प्रतिष्ठाप्राप्त होना सहज सिद्ध होता है। सम्राट होशंगशाह भी इन छः ही भ्राताओं का बड़ा मान रखता था। विशिष्ट कार्य एवं अवसरों पर इनकी वह संमतियां लेता था। इन छः भ्राताओं के प्रयत्नों से ही राजा केसीदास, राजाहरिराज, राजा अमरदास और वराट, लूणार और वाहड नामक अति प्रसिद्ध एवं स्वाभिमानी ब्राह्मणों को सम्राट् होशंगशाह की कारागृह में से मुक्ति मिली थी।

विद्वानवर्य्य मंत्री मण्डन—

यह आंझण का पौत्र और वाहड़ का पुत्र था। यह बड़ा प्रतिभासम्पन्न, विद्वान और राजनीतिज्ञ था। श्रीमंतकुल में उत्पन्न होने के कारण इसमें लक्ष्मी और सरस्वती दोनों का अद्भुत एवं अभूतपूर्व मेल था। यह उदार और बड़ा दयालु भी था। अल्प वय से ही यह बादशाह होशंग का कृपापात्र बन गया था और आगे जाकर यह बादशाह का प्रमुख मंत्री बना। सम्राट् इसकी विद्वता पर भी बहुत मुग्ध था। मण्डन के प्रभाव से माण्डव पुर में विद्वानों का समागम बढ चला था और राजसभा में भी आयेदिन विद्वानों का सत्कार होता था। राजकार्य के उपरान्त बचे हुए समय को यह विद्वद् सभाओं में और विद्वद् गोष्ठियों में ही व्यय करता था। राजसभा में जाने के पूर्व प्रातः होते ही इसके महालय में कवियों एवं विद्वानों का मेला सा लगा रहता था। यह प्रत्येक विद्वान् और कवि का बड़ा सम्मान करता था और उनको भोजन, वस्त्र एवं योग्य पारितोषिक देकर उनका सम्मान करता और उनका उत्साह बढाता था। यह संगीत का भी बड़ा प्रेमी था। रात्रि को निश्चित समय पर संगीत कार्यक्रम प्रस्तुत होता था। जिसमें स्थानीय और नवागंतुक संगीतज्ञों का संगीत–प्रदर्शन और प्रतियोगितायें होती थीं। इसका संगीतप्रेम श्रवण करके गूर्जर, राजस्थान और अन्य प्रान्तों से भी संगीत कलाकार बड़ी लम्बी–लम्बी यात्रायें करके आते थे। यह भी उनका बड़े प्रेम से सत्कार एवं मूल्य करता था और उनको सन्तृप्त करके लौटाता था। मण्डन स्वयं भी कुशल संगीतज्ञ एवं यंत्रवादक था। बड़े २ संगीताचार्य इसकी संगीत में निपुणता देख कर अचम्भित रह जाते थे। संगीत के अतिरिक्त मण्डन ज्योतिष, छंद, न्याय, व्याकरण आदि अन्य विद्याओं एवं कलाओं का भी मर्मज्ञ था। इसकी सभा मे कभी २ धर्मवाद भी होते थे और प्रमुख का स्थान इसके लिये सुरक्षित रहता था। यह इसके निष्पक्ष एवं असाम्प्रदायिक भावनाओं का परिचायक है। सांख्य, बौद्ध, जैन, वैदिक, वैशेषिक आदि विरोधी विचारधाराओं का एक स्थल पर यों शान्त विचार–विनिमय एवं शास्त्रार्थों का निर्वाह होते रहना निस्सन्देह मण्डन में अद्भुत ज्ञान, धैर्य, क्षमता–क्षमा और न्यायादि गुणों का होना सिद्ध करता है। मण्डन की विद्वद्–सभा में कई विद्वान् एवं कुशलकवि स्थायी रूप से रहते थे जिनका समस्त व्यय वह ही सहन करता था। मण्डन के द्वारा लिखे गये ग्रन्थों मे अभी निम्नलिखित ग्रंथों का परिचय प्रकाश में आया है—

१ कादम्बरीदर्पण, २ चम्पूमण्डन, ३ चन्द्रविजयप्रबध, ४ अलकार-मण्डन, ५ काव्य मण्डन, ६ शृङ्गारमण्डन, ७ सगीतमण्डन, ८ उपसगमण्डन, ९ सारस्वतमण्डन, १० कविकल्पद्रुम

उपरोक्त ग्रथों में प्रथम छ ग्रथ तो श्री हेमचन्द्राचार्य सभा, पाटण [गुर्जर] द्वारा प्रकाशित भी हो चुके हैं।

'कादम्बरी' की रचना मण्डन ने सम्राट् होशग के कहने पर की थी। होशगशाह को 'कादम्बरी' के श्रवण से बडा प्रेम था परन्तु मूल 'कादम्बरी' ग्रथ बडा होने के कारण बादशाह समयाभाव की स्थिति में पूणरूप से उसको अबाधगति सुन नहीं पा सकता था, फलत बादशाह के आदेश पर मण्डन ने 'कादम्बरी का सक्षिप्तरूप 'कादम्बरीदर्पण' नाम से रचकर बादशाह को सुनाया था।

'चन्द्रविजय प्रबध' की रचना का कारण भी अति ही मनोरञ्जक है। एक रात्रिको मण्डन के निवास पर प्रसिद्ध विद्वानों एव कवियों का भारी समारोह लगा था। पूर्णिमा अथवा पूर्णिमा के लगभग की तिथि होने के कारण चन्द्र भी पूर्णकलाओं के साथ था। सभा समस्त रात्रि और द्वितीय दिवस सध्यापर्यंत जुड़ी रही। विद्वानों ने चन्द्रमा को अपनी समस्त कलाओं के सहित पूर्व में उदय होते देखा, फिर प्रात रवि की किरणों से परास्त होकर पश्चिम में निस्तेज होकर विलीन होते अवलोकन किया, और पुन अपनी समस्त कलाओं के सहित पूव में ही उदय होते देखकर इन्हीं भावों को लेकर एक काव्य की रचना करने का प्रस्ताव रखा कि जिसमें चन्द्र और सूय के मध्य सग्राम होने का वणन हो और अंत में अष्ट प्रहर के भयकर सग्राम के पश्चात् चन्द्रमा विजयी हुआ हो। मण्डन ने इस आशय का काव्य रचने के प्रस्ताव को सर्व प्रथम स्वीकार किया। इस घटना पर 'चन्द्रविजय प्रबध' नामक एक मौलिक काव्य की उत्पत्ति हुई।

सक्षेप में कि मण्डन आप स्वयं उद्भट विद्वान् था। विद्वानों का समादर करता था और सरस्वती का महात्म्य बढाना उसके निकट प्रथम कर्तव्य था। यही कारण था कि वह राजा न होकर भी राजाओं जैसा विद्वानों एव कवियों को आश्रय देता था।

जैसा उपर वर्णित किया गया है मण्डन ने अनेक ग्रन्थों की रचना की और अनेक प्राचीन ग्रन्थों की प्रतिया लिखवाई। ऐसा भी कहीं आभास मिलता है कि कुछ स्थानों पर उसने ज्ञान-भडारों की स्थापना भी करवाई थी। कहीं पर उसने 'बृहद् सिद्धान्त कोष नामक एक पुस्तकालय की स्थापना भी की थी। वह जैन विद्वान जैन धर्मी होते हुए भी वेद और वेदज्ञ एव इतर धम और धर्मात्माओं तथा विद्वानों का मुक्त हृदय से स्वागत करता था। इस अद्भुत गुण के कारण ही वह इतना लोक एव राजप्रिय बन सका था। आज भी आधुनिक विद्वानों के निकट वह उतना ही समादर का पात्र बना हुआ है।

मण्डन के चार पुत्र थे जैसा 'भगवती सूत्र' की प्रशस्ति से, जो अभी पत्तन के ज्ञानभण्डार में है, विदित होता है। पूजा, जोगा, संग्रामसिंह और श्रीमल्ल उनके आनुक्रम से नाम थे। मण्डन वि० पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत तक जीवित था।

- वंशवृक्ष
- आभू
  - अभयदेव
    - आम्बड
      - पाल्हा
      - सहणपाल
        - नाणा
          - दुसाजु
            - वीका
              - झांझण
                - चाहड
                  - चन्द्र
                  - खेमराज
                - बाहड
                  - समधर
                  - मण्डन
                    - पुजा
                    - जोगा
                    - संग्रामसिंह
                    - श्रीमल्ल
                - देहड
                  - धनराज
                - पद्मसिंह
                - आल्हू
                - पाल्हू
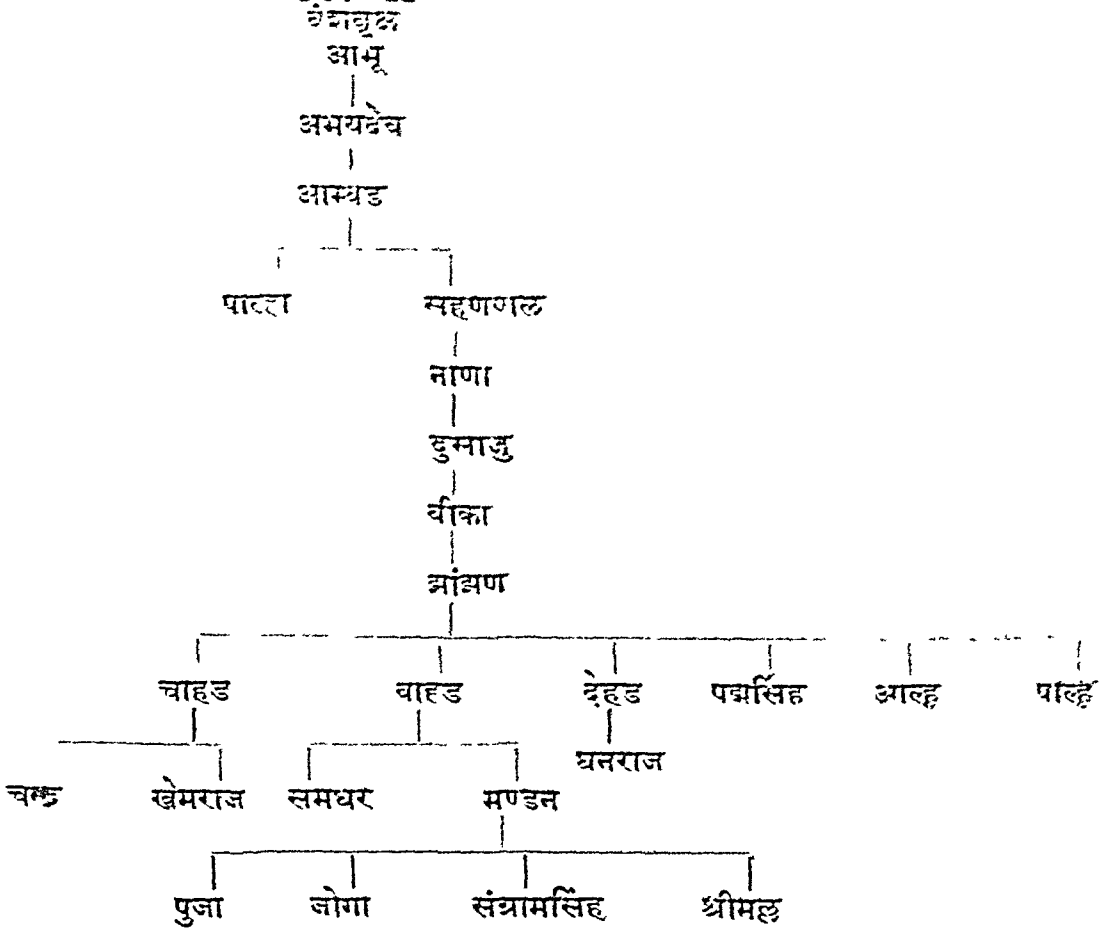
१८ (अ) मण्डन द्वारा लिखे एवं लिखवाये गये ग्रंथों की प्रतियों में प्रदत्त प्रशस्तियों से ज्ञात होता है।

(ब) जैन साहित्य का इतिहास पृ० ४७१–४८६ में मण्डन को श्रीमाल जातीय दर्शित किया है।

जैन श्रमणों के गच्छों पर संक्षिप्त प्रकाश

लेखक—अगरचंद नाहटा

गच्छ शब्द का प्राचीन प्राकृत रूप 'गण' है। श्वे० जैनागमों के अनुसार भ० ऋषभदेव से लेकर भ० महावीर तक प्रत्येक तीर्थंकरों का विशाल श्रमण संघ शिष्योंकी पढाइ, व्यवस्था आदि की सुविधा के लिये कई समुदायों में विभक्त रहता था और प्रत्येक समुदाय का नेता एकेक गणधर होता था, अत जितने 'गण' होते थे उतने ही गणधर भी होते थे। जैसे भ० ऋषभदेव के श्रमणों के ८४ समुदायों में विभक्त होने पर उनके ८४ गण प्रसिद्ध हुये। प्रत्येक समुदाय का एक नेता होने से उनके गणधरों की संख्या भी ८४ थी। भ० पार्श्वनाथ तक तो यही क्रम चलता रहा। कल्पसूत्र की स्थिविरावली के अनुसार उनके ८ गण और ८ ही गणधर थे। पर भ० महावीर के गण पर गणधरों की संख्या में अन्तर पाया जाता है, उनके गणधर ११ थे पर गण ९ ही बतलाये गये हैं। इसका कारण १-२ गणधरों की वाचना एक होना बतलायाहै।

स्थिविरावली में यह भी बतलाया गया है कि ९ गणधर तो भ० महावीर की विद्यमानता में ही मोक्ष पधार गये, केवल गौतमस्वामी व सुधर्मास्वामी दो ही विद्यमान रहे। उनमें भी गौतम स्वामी को वीर निर्वाण की रात्रि को केवलज्ञान होगया, अत उनका गण सुधर्मास्वामी के सुपर्द होजाने से आज जो भी श्रमण समुदाय है वह श्री सुधर्मा स्वामी के ही परम्परा का है। उपकेश गच्छ को छोड़कर श्वे० सभी गच्छों की पट्टावलियों में भी परम्परा सुधर्मा स्वामी से सम्बधित पाई जाती है। उपकेश (ओसवाल-पीछे से केवल गच्छ प्राप्त) गच्छवालों ने अपनी परम्परा भ० पार्श्वनाथ से मिलाई है, पर वास्तव में देखा जाय तो भ० महावीर के समकालीन पार्श्व-परम्परानुयायी श्रमणों के प्रधान आचार्य केशी (उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें अध्ययन के अनुसार) गौतम गणधर से भ० पार्श्वनाथ एवं भ० महावीर की शासन भिन्नता के कारणों सम्बन्धी प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर पाकर उनके शासन में सम्मिलित हो गये थे। उस आगम सूत्र में ही है "पंच महव्वयं धम्मं पडिवज्जइ भावओ" अर्थात् भ० महावीर के प्ररूपित ५ महाव्रतों का स्वीकार कर उनके संघ में सम्मिलित होगये थे। अत उनकी परम्परा स्वतंत्र नहीं रह जाती।

जिस प्रकार जैन गृहस्थों की जातियां प्रधान तया स्थान, व्यक्ति व कार्यों के नाम से पड़ती ही चली गई एवं मध्यकाल में जैन जैनेतर जातियों की संख्या ८४ बतलाई जाती है। उसी प्रकार उन्हीं कारणों को लेकर श्वे० जैन श्रमणों के गच्छों की संख्या ८४ लिखी मिलती है। वास्तव में संख्या का यह अंक ८४ अंक के महत्त्व का ही परि

चायक है। न तो ८४ जातियां और न ८४ गच्छ ही एक साथ बने और न उनकी संख्या उतनी ही थी। न्यूनाधिक एवं भिन्न-भिन्न समय में स्थापित होने पर भी जातियां एवं गच्छों की संख्या की ८४ अंक की लोकप्रियता के कारण वैसी सूची बनादी गई है। ८४ संख्यावाली जातियों व गच्छादि की प्राप्त सूचियों में परस्पर भिन्नता पाई जाती है। उनमें के कई नामों का तो कोई महत्त्व नहीं है एवं अन्वेषण करने पर अन्य मे कई नाम उस सूची में सम्मिखित करने योग्य प्राप्त होते हैं।

प्राचीन श्वे. गण, कुल, वंश व शाखायें :—

कोई भी संघ ज्यों-ज्यों संख्या में बढता चला जाता है, व्यवस्था की सुगमता एवं विचारभेद आदि के कारण वह अनेक भागों में विभक्त होता रहता है। भ. महावीर के पश्चात् जैन श्रमण संघ पर यही प्राकृतिक नियम लागू होता है। वास्तव मे यह विभाजक कोई बुरा नहीं है, अपितु कई दृष्टियों से आवश्यक एवं उपयोगी भी है। पर इसमें खराबी का प्रारम्भ वहीं से आरंभ होता है जहां से व्यक्तिगत अहंभाव बढने लगता है। इसी अहंभाव के बढ जाने से विचारभेद विरोधभाव तक पहुँच जाता है और विरोध के बढते ही संघ की छिन्नभिन्नता व स्वच्छन्दता बढ़ने लगती है और वहीं उनके विनाश का मूल कारण है। एक ही माता के गर्भ से यावत् साथ ही दो उत्पन्न व्यक्तियों के विचार एक से नहीं होते तो हजारों-लाखों व्यक्तियों में विचारों की एकता होना असंभव प्राय है। पर इससे खास खराबी नहीं होती यदि वह विरोध का रूप धारण न कर मर्यादादि अनुशासन में रहता है। अतः संघव्यवस्थाके लिये अनुशासनप्रियता आवश्यक गुण है-पर होना चाहिये वह योग्य व्यक्ति का।

श्वे. जैन श्रमण परम्परा का प्राचीन इतिवृत्त कल्पसूत्र एवं नंदीसूत्र की स्थविरावली में पाया जाता है। इनमें से कल्पसूत्र की स्थविरावली विस्तृत होने से अधिक महत्व की है। प्राचीन श्रमण परम्परा में गण, कुल, वंश व उनकी शाखाओं का समय-समय पर उद्भव कैसे व किनसे हुए? इसका यत्किंचित् विवरण इसी स्थविरावली में पाया जाता है।

कल्पसूत्र की स्थविरा के अनुसार भ. महावीर के शासन में आ. सुधर्मा की परम्परा में ५ वीं शती (वीरात् ९८०) तक के गण, शाखा, कुल, वंश के नाम इस प्रकार है—

गण :—

(१) सुप्रसिद्ध आ. भद्रबाहु के शिष्य स्थविर गोदास से "गोदासगण" प्रसिद्ध हुआ। इसकी ४ शाखाएं हुई १ तामलित्तिया, २ कोडी रिसिया, ३ पंडु (पौंड) वद्ध-णिया, ४ दासीखव्वडिया।

(२ आर्य महागिरि के शिष्य उत्तर वलिस्सह से "उत्तरवलिस्सह गण" निकला। इसकी भी ४ शाखायें हुई।

१ कोसम्बिया, २ सोइतिया[1] (सुत्तिगतिआ) ३ कोडनाणी[1], ४ चन्दनागरी

(३) आर्य सुहस्ति के शिष्य आर्य रोहण से "उद्देहगण" निकला। उसकी ४ शाखायें व ६ कुल निम्नोक्त हुए—

शाखायें —१ उदुंबरिज्जिया[1] २ मासपूरिआ[4] ३ मइपत्तिया[1] ४ पुण्ण* (पण्ण) पत्तिआ।

कुल—१ नागभूए २ सोमभूइ [सोमभूतिक] ३ उल्लगच्छ+ ४ हत्थलिज्ज ५ नंदिज्ज ६ " पारिहासय×।

(४) आर्य सुहस्ति के अन्य शिष्य श्रीगुप्त से "चारणा गण" प्रसिद्ध हुआ। इसकी ४ शाखायें व ७ कुल हैं—

शाखायें—१ हारियमालागारी २ संकासीआ ३ गवेधुर (ड) आ ४ वज्जनागरी
कुल १ वत्थलिज्ज[1] २ पीइधम्मिय ३ हालिज्ज ४ पूसमितिज्ज ५ मालिज्ज ६ अज्जवेडय ७ कण्हस[1]।

(५) आर्य सुहस्ति के शिष्य भद्रजश (यशभद्र) से "उडुवाडिय' गण' निकला। इसकी ४ शाखायें व ३ कुल हुए।

शाखा —१ चंपिज्जिया २ भद्दिज्जिया ३ काकंदिया ४ मेहालिज्जिया

कुल —१ भद्दजसिय (जसित्र) २ भद्दगुत्तिय ३ जसभद्द

(६) आर्य सुहस्ति के शिष्य कामिड्ढी से ' वेसवाडिय गण" निकला। इसकी ४ शाखायें व ४ कुल हुए।

शाखा —१ सावत्थिया २ रज्जपालिया ३ अंतरिज्जिया ४ खेमलिज्जिया

कुल —१ गणिय २ मेहिय ३ कामड्ढिअ ४ इन्दपुरग

(७) आर्य सुहस्ति के शिष्य इसिगुप्त से "माणवगण" निकला। इसकी ४ शाखायें व ३ कुल हुए।

शाखायें—१ कासविज्जिया[1] २. गोयमिज्जिया[2] ३ वासिट्ठिया ४ सोरट्ठिया[1]

कुल —१ इसिगुत्तिय २ इसिदत्तिअ[1] ३ अभिजयन्त (जयत)

गणहर सत्तरी में पाठान्तर—

१ संतिमद, २ कोडिधाणी ३ उंबरविजया ४ सोमपुरिमा, ५ महुरज्जी " सोवबतसिया, + भरगेच्छ × मारिहस्मिय

१ वच्छ २ चेरग ३ कत्रमुर ४ उद्द ५ महिलज्जिया

(८) आर्य सुहस्ति के शिष्य सुस्थित सुप्रतिबुद्ध से "कोडिय गण" निकला, जो कोटिक गण आज भी प्रसिद्ध है। इसकी ४ शाखायें व ४ कुल हुए।

शाखा—१. उच्चानागरी २. विज्जाहरी ३. वैइरी ४. मज्झिमिल्ला

कुल —१. बंभलिज्ज[1] २. वत्थलिज्ज ३. वाणिज्ज ४. मण्हवाहणय

(९) उपर्युक्त कोटिक गण के सुस्थित सुप्रतिबुद्ध के शिष्य प्रियग्रन्थ एवं विद्याधर गोपाल से क्रमशः मज्झिमा (मध्यम) एवं विज्जाहारी (विद्याधरी) शाखा निकली।

(१०) आर्य दिन्न के शिष्य आर्य शांति श्रेणिक (सेन) से "उच्चानागरी" शाखा निकली।

(११) आर्य शांति श्रेणिक के निम्नोक्त ४ शिष्यों से ४ शाखायें निकलीं।

१. अज्जसेणिय से अज्जसेणिया

२. अज्जतावस से अज्जतावसी

३. अज्जकुबेर से अज्जकुबेरी

४. अज्जइसिपालिय से अज्जइसिपालिया

[२] आर्य सिंहगिरी के शिष्य आर्य वज्र एवं आर्यसमित से क्रमशः बंभदीपिया व अज्जवइरी शाखा निकली।

[१३] आर्य वज्र के शिष्यों से निम्नोक्त ३ शाखायें निकलीं

१. आर्य वज्रसेन से अज्जनाइली

२. आर्य पद्म से अज्जपउमा

३. आर्य रथ+ से अज्जजयंती

[स्थविरावली के प्रारंभ में आर्य वज्रसेन के ४ शिष्यों में से १ आर्यनाईल से अज्जनाइला २ आर्यपोमिल से अज्जपोमिला ३ आर्यजयन्त से अज्जजयन्ती एवं ४ आर्यतापस से अज्जतापसी]

[१४] नंदि स्थिरावली के अनुसार आर्य नागहस्ति से 'वाचक वंश' प्रसिद्ध हुआ. जिसमें रेवती नक्षत्र, वह्मद्वीपकेशि. स्कंदिलाचार्य आदि आचार्य हुए। तत्वार्थ-

---

१ कासविज्ज २ गुत्तमिज्जिआ. ३ सोवीरी ४ सिरिगुत्तिय. ५ वमणिज्ज

+ स्थिरावली के प्रारंभ में वज्र के वज्रसेन के शिष्य आर्यनाईल व आर्य जयन्त से जयंती शाखा निकलने का उल्लेख है और अंत में वज्रसेन व रथ से इन नामोंवाली शाखा निकलना लिखा है। शाखा के नाम के अनुसार प्रारंभ का कथन ठीक लगता है।

१ भरद्दिज्ज

सूत्र के प्रणेता आ उमास्वाति भी इसी वाचक वश में हुए ह ।

[१५] नदि स्थिरावली की १८ वीं गाथा में आ भूतदिन के नाइलकुल' का भी उल्लेख है ।

[१६] परम्परा व प्रभावकचरित्रादि के अनुसार वज्रसेनसूरि के शिष्य चद्रसूरि से 'चन्द्रकुल' प्रसिद्ध हुआ । विद्यमान सभी गच्छ 'चद्रकुलीन' माने जाते हैं । इसी प्रकार नागेद्र, निवृत्ति व विद्याधर' कुल का प्रादुर्भाव भी उन नाम वाले आचार्यों से हुआ। ये सभी वज्रसेनसूरि के शिष्य थे।

छट्टी शताब्दी के प्रारम्भ तक उपर्युक्त गण, शाखा व कुलों का पता चलता है, पर ये सब, समुदाय या गुरुपरम्परा विशेष से सबन्धित ह । इनमें क्रिया, अनुष्ठानों [विधि-विधानों] में कोइ भेद था, इसका उल्लेख नहीं पाया जाता। पर इसके पीछे जो गच्छों का भेद हुआ उन सब में कोई न कोइ सैद्धान्तिक व विधि-विधान सबधी मत भेद अवश्य है । मेरे नम्र मतानुसार चैत्यवास का प्रारभ पहले से होने पर भी उनका प्रभाव ६-७ वीं शती में ही अधिक रूप से बढा । इस समय आगमों की आम्नायों का तथाविध प्रचार व पठनपाठन न रहने से ह्रास होने लगा। साधारण विचार भेदों को महत्व देने से छिन्नभिन्नता आने लगी । अपने अपने चैत्यों की सार—सभाल-आमदनी बढाने व अनुयायियों को आकर्षित कर अपने सम्प्रदाय में रोके रहनेके स्वार्थ व अहम्मभाव का विस्तार इन गच्छों के प्रादुर्भाव में सहायक बना।

उपर्युक्त गण, शाखा व कुल की नामावली पर दृष्टिपात करत हुए आर्य सुहस्ति तक के आचार्यों की शिष्यसतति को प्रसिद्ध आचार्य क नाम स सम्बोधित किया जाता, उसे 'कुल' एव जिन-जिन स्थानों में जिस श्रमण समुदाय का विहार अधिकतर होता उन स्थानों के नाम से 'शाखायें' प्रसिद्धि में आइ ह । प्रधान आचाय का विशाल समुदाय हो जाने पर उनके नाम से या अन्य काय विशेष के कारण प्रचलित नामों को 'गण' की सज्ञा दी गई । जिस प्रकार गोदास से गोदास 'गण' हुआ यह आचाय के नाम से व कोटिक गण का नामकरण आचार्य सुस्थित सुप्रतिबुद्ध के करोड सूरिमत्र के जप के कारण हुआ, कहा जाता है । पर पीछे

प्रभावकचरित्र पर्यालोचक में मुनि कल्याणविजयजी ने लिखा है कि कल्पसूत्र स्थिरावली में वज्रसेन के शिष्यों व उनके कुलों के नाम भिन्न बतलाये हैं, अत विचारणीय है। ११ वीं शती तक तो नागेन्द्र, चन्द्र निवृत्ति व विद्याधर ये कुलसज्ञा से ही प्रसिद्ध थे। पर पीछे से इन्होंने गच्छोंका नाम धारण कर लिया । आचाराग के टीकाकार शीलांकाचार्य व उपमितिभव प्रपंचा के कर्ता सिद्धर्षि निवृत्तिकुलीन व आ० हरिभद्रसूरि विद्याधर कुल के थे । नागेंद्र एवं चन्द्रगच्छ स्वतंत्र रूप में पीछे तक प्रसिद्ध रहा है। जैन सा स० प्रबंधादि में प्रभावकचरित्रानुसार आ० पादलिप्तसूरि को विद्याधर गच्छ का बतलाया है । पर मुनि कल्याणविजयजी की मान्यतानुसार ये विद्याधर गोपाल से निकली हुई विद्याधरी शाखा के होने संभव है विद्याधर कुल के नहीं ।

शाखायें भी आचार्यों के नाम से प्रसिद्ध हुई जो परम्परानुसार 'कुल' कहलाने चाहियें थे। बहुत वर्षों बाद तो कुल भी गच्छ के नाम से प्रसिद्धि में आगये।

गुजरात एवं राजपूताने [विशेषतः सीरोही व मारवाड राज्य] में क्रमशः जैनधर्म का प्रभाव बढ़ने लगा और वहाँ के बहुत से स्थानों में चैत्यों का निर्माण हुआ व उनमें चैत्यवासी आचार्य स्थायी रूप से रहने लगे। तब से उन स्थानों के नाम से भी अनेक गच्छों का प्रादुर्भाव हुआ। जिनमें कुछेक गच्छों की परम्परा तो कई शताब्दियों तक चलती गई और उनमें अनेक विद्वान व प्रभावक आचार्य हुए। कई गच्छ बहुत ही कम प्रसिद्धि में आये व शीघ्र ही नामशेष होगये।

जैन गच्छों के इतिवृत्त को जानने के मुख्य साधन उन-उन गच्छों की पट्टावलियां, ग्रन्थ-प्रशस्तियाँ व अभिलेख ही हैं। इनमें से पट्टावलियां तो बहुत थोड़े से गच्छों की ही मिलती हैं और उनमें कई तो आचार्यपरम्परा की नामावलि ही हैं। ग्रन्थप्रशस्तियां (ग्रन्थरचना व प्रतिलेखन) व अभिलेख अधिकांश तो साधारण होती हैं जिनमें ग्रन्थनिर्माता व प्रतिलिखनेवाले की गुरु-परम्परा के २।४ नाम ही पाये जाते हैं।

जैन गच्छों का इतिहास जैन धर्म के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। पर अभी तक इस ओर बहुत ही कम कार्य हुआ है। आ. बुद्धिसागरसूरिजी ने ३२ वर्ष पूर्व 'जैन गच्छ मत प्रबंध' नामक ग्रन्थ आध्यात्म ग्रन्थ प्रसारक मंडल, पादरा से प्रकाशित किया था। उसके पश्चात् कई गच्छों की पट्टावलियां तो प्रकाश में आई हैं पर समस्त गच्छों का परिचयात्मक कोई लेख भी प्रकाशीत हुआ, मेरी जानकारी मे नहीं है। इसीलिये अधिकारी न होते हुए भी यत्किंचित परिचय प्रकाशित करने की मुझे अन्तःप्रेरणा हुई और उसीका मूर्त्तरूप प्रस्तुत निबंध है। इसमें गच्छों का विस्तृत इतिहास देना संभव नहीं है, पर उनके सम्बन्ध में जो कुछ जानकारी प्राप्त हुई है उसको निर्देश मात्र कर उपलब्ध साधनों का सार संक्षेप में पाठकों तक पहुँचा देना ही मेरा उद्देश्य है। जैन समाज में इतिहासप्रेमी विद्वान बहुत कम हैं और फिर अन्वेषणकार्य करने वाले तो १५ लाख में १५ व्यक्तियों का नाम भी मुश्किल से लिया जा सकता है। अतः मेरे इस प्रयास से प्रेरणा लेकर कोई विद्वान इस क्षेत्र में विशेष अनुसन्धान कर प्रकाश डालेंगे, ऐसी आशा तो कम है। फिर जिस प्रकार मैंने अपने अन्य लेखो मे विविध विषयो की ओर ध्यान आकर्षित किया है इस लेखद्वारा उस सूची में और एक विषय की अभिवृद्धिभर कर देता हूँ। आशा है भावी इतिहास-लेखकों को यह प्रयत्न कुछ सहायक हो सकेगा।

वैसे तो गच्छों की संख्या मुनि ज्ञानसुंदरजी (देवगुप्तसूरि) ने ३१० तक बतलाई है। पर उनमें कुछ तो शाखाभेद हैं, कुछ पाठान्तर से नामादि होंगे। अतः मैंने जो सूची करीब १२५।१५० नामों की तैयार की है वह प्रतिमालेखों और ग्रन्थों की रचना एवं लेखन-प्रशस्तियों में जिन गच्छों का नाम आता है उन्हीं के आधार से

तैयार की है। अकारादि क्रम से ज्ञातव्य जानकारी एव साधननिर्देश के साथ उसे नीचे दी जा रही है—

[१] अचलगच्छ—इसका अपर नाम विधिपक्ष है। इस नाम की स्थापना स ११६९ में उपाध्याय विजयचद्र [आर्य रक्षितसूरि] ने विधिमार्ग के पालन का पक्ष रखने से हुई। फिर श्रावकों के मुहपत्ति के स्थान पर वस्त्र का अचल (छोर) से वन्दनादि के विधान के कारण इसका नाम 'अचल गच्छ' प्रसिद्ध हुआ। आज भी कई आचार्य व साधु इस गच्छ में विद्यमान है। कच्छ व काठियावाड (जामनगरादि) में इस गच्छ के श्रावकों के घर है। इस गच्छ के अनेक विद्वानों ने उपयोगी एव महत्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण किया व हजारों प्रतिमाए उपदेश देकर श्रावकों से प्रतिष्ठित करवाई। इस गच्छ की मान्यताओं का पता शतपदी, प्रवचनपरीक्षा, अचलमतखडनादि से भली भाँति मिल जाता है। शतपदी में इस गच्छ का सक्षिप्त इतिहास भी पाया जाता है। विशेष जानने के लिए म्होटी पट्टावली [शा सोमचद्र धारशी, कच्छ अजार से प्रकाशित] व जैन गुर्जर कविओं भा २ के परिशिष्ट में प्रकाशित अचलगच्छ पट्टावली का सार देखना चाहिये।

स १२९४ की शतपदी में कई गच्छों के सम्बन्ध में महत्व की सूचनाए मिलने से उन्हें भी यहाँ दिया जाता है-

नाणक ग्राम के नाम से प्रसिद्ध नाणक गच्छ में [उद्योतनसूरि] चैत्यवासी आचार्य के लघुवय में ही दीक्षित सर्वदेवसूरि आगमों के अध्ययन से सुविहित मार्गानुयायी हुए। उन्हें गुरुश्री ने आबू के समीपवर्त्ती आर्नी और हरेली ग्रामों के मध्यवर्त्ती वड के नीचे छाणा के वासक्षेप से सूरिपद प्रदान किया। विशाल शिष्यसमुदाय व कई आचार्य होने से इनके समुदाय का नाम बृहद् या वडगच्छ पडा।

सर्वदेवसूरि के सन्तानीय यशोदेव उपाध्याय के शिष्य जयसिंहसूरि ने चद्रावती के वीर जिनालय में एक साथ ९ शिष्यों को सूरिपद दिया जिनमें से शातिसूरि से पीपलीयागच्छ, देवेन्द्रसूरि से सगम खेडिया गच्छ, चद्रप्रभसूरि, शीलगुणसूरि, पद्मदेवसूरि और भद्रेश्वरसूरि से पूनमीया गच्छ की ४ शाखायें चलीं। मुनिचद्रसूरि के वादिदेवसूरि हुए, बुद्धि सागरसूरि से श्रीमालिया गच्छ, मलयचद्रसूरि से आशापल्लीय गच्छ निकला। इन्हीं जयसिंहसूरि के शिष्य विजयचद्र उपाध्याय थे, जिनसे 'विधिपक्ष' गच्छ निकला। पूनमीया शीलगुणसूरि इनके मामा थे। लघुशतपदी (स १४५० में मेरुतुंगसूरिरचित) के अनुसार उ विजयचद्र को उनके शीलगुणसूरिशिष्य जयसिंहसूरि ने सूरिपद देकर आर्य रक्षितसूरि नाम दिया व आ हेमचद्र व कुमारपाल के समय इस गच्छ का नाम अचल गच्छ प्रसिद्ध हुआ।

अड्डालिजीय—सभवत 'अडालिजा' स्थान के नाम से इसकी प्रसिद्धि हुई है। स ११३६ से १२७३ तक के ४ लेख प्राचीन लेख सग्रह भा १ में प्रकाशित हैं।

आगमगच्छ—इसका अपर नाम त्रिस्तुतिक मत भी है। पूर्णिमागच्छीय शीलगुणसूरि व उनके शिष्य देवभद्रसूरि से 'जीवदयाण' तक का शक्रस्तव, ६७ अक्षरों का परमेष्ठि-मंत्र, तीन स्तुति से देववंदन आदि आगम पक्ष के समर्थन से सं. १२१४ या १२५० में आगमिक गच्छ का प्रादुर्भाव हुवा। इसकी पट्टावलि मैंने जैन सत्य प्रकाश व. ६ अं. ४ में प्रकाशित की थी व देसाई के जैन गुर्जर कविओं भा. ३ के पृ. २२२४ में कुछ विस्तृत पट्टावलि प्रकाशित है। उसके अनुसार इस गच्छ की धुंधकिया व विडालंबिया शाखा का भी पता चलता है। ये दोनों शाखायें स्थान के नाम से प्रसिद्ध हुईं। विडालंबिया शाखा में मंगलमाणेक [१७वीं] अच्छे कवि हो गये हैं। दे. जै. गु. क. भा. १ पृ. २४७। धुंधकिया शाखा के कवि मतिसागर के लिये दे. जै. गु. क. भा. १ पृ. ४१६।

उत्तराध गच्छ—लौंकाशाह के अनुयायी ऋ. भाणा से जिन्होंने सं. १५३१ में स्वयं दीक्षा ली थी; इस इच्छ की परपंरा पाई जाती है। उत्तर प्रान्त – पंजाब में लौंकामत के जिस समुदाय का विहार अधिक रहा, उस प्रान्त के नाम से ही उनके समुदाय का नाम 'उत्तराध गच्छ' प्रसिद्ध हुआ। हमारे संग्रह के एक पत्र में उसे उतराधी 'सरोवा मती' लिखा है। इससे इसकी उत्पति सरवर या सरोवा ऋषि से होकर संभवतः सं. १६०० के लगभग इसका नामकरण हुआ लगता है। डॉ. बनारसीदासजी ने 'आत्मानंद जन्म शताब्दी ग्रन्थ' के हिन्दी विभाग के पृ. १६६ में इस गच्छ के जटमल्ल से उत्तम ऋषि तक की नामावलि प्रकाशित की है। हमें २२ पद्यों का एक 'उतराध गच्छ परंपरा गीत' ऋषि जट्ट रचित मिला है जिससे निम्नोक्त ज्ञातव्य प्राप्त होता है—

सं. १५३१ में स्वयं दीक्षित ऋ. भूणा के शिष्य नूणा हुए, जो ओसवाल तोला संघई का भाई था व ४५ व्यक्ति उनके साथ [दीक्षित हुए] थे। उनके दीक्षित ओसवाल ज्ञातीय भीदा का शिष्य पल्लीवासी ओसवाल भीम हुआ। भीमा के नवरूडपुर वासी ओसवाल जगमाल व उनके दिल्लीवासी श्रीमाल सिंधुर? गोत्रीय सरवर ऋषि हुए। सरोवर के शिष्य रायमल्ल के पट्टधर पोरवाड़ सदारंग हुए। उनके ओसवाल सिंघराज शिष्य हुए। सिंघराज के अग्रवालकुलीन जट्टमल पट्टधर हुए। उनके मनहर ऋषि हुए जिन्होंने अर्गलनगर में अणसण किया। उन्होंने सुंदरदास को पट्टधर बनाया। उनके ओसवाल जातीय सदानंद पट्टधर हुए।

इस गच्छ के कई आचार्यों व विद्वानों के रचित लिखित ग्रन्थ प्राप्त हैं।

उपकेश गच्छ—इसका अपर नाम ऊकेश, उएस, ओसवाल व कवला गच्छ भी है। एकमात्र यही गच्छ भ. पार्श्वनाथ से अपनी परम्परा जोड़ता है। वस्तुतः जोधपुर राज्य के ओसियां ग्राम से ही इसका उपकेश, उएश गच्छ नाम पड़ा है। यद्यपि ओसवालों एवं ओसियों की उत्पत्ति वीरात् ७० में रत्नप्रभसूरिजी से कही जाती है; पर

१ प्र जैनभारती १२।६

२ देखें. श्रमण व अं.

इतिहासकारों के मत से यह ६ ठीं से ८ वीं सदी में हुई होगी ।

इस गच्छ के सम्बन्ध में सब से प्राचीन साधन उपकेशगच्छ चरित्र (स १३९३ कक्कसूरिरचित) एव नाभिनन्दनोद्धार प्रबध नामक काव्य हैं । पीछे की पूर्ति अन्य संस्कृत एव अन्य भाषा की पट्टावलियों से होती है । इस गच्छ की आचार्य-परम्परा वैसे बीकानेर के सिद्धसूरि से लोप हो गई थी, पर मुनि ज्ञान सुन्दरजी ने देवगुप्तसूरि नाम रख कर उसे पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने पार्श्वनाथ परम्परा का विस्तृत इतिहास दो भागों में प्रकाशित किया है । उपकेश गच्छ की एक पट्टावली मुनि जिनविजयजी ने जैन साहित्य सशोधक में प्रकाशित की थी व वही "पट्टावली समुच्चय" में उद्धृत की गई है। उक्त पट्टावली एव उपकेश गच्छ चरित्र का पे सार, स्व देसाइ ने जैन गुर्जर कवियो भा ३ के परिशिष्ट में दिया है। ४० श्लोकों की १ गर्वावली मुनि जिनविजयजी ने विविध गच्छीय पट्टावली में सग्रह में दी है । उसके अनुसार स १२६६ के चैत्र वैशाख में द्विवंदन आदि के मतभेद व आचरण से सिद्धसूरि से "द्विवदनीक" शाखा निकली एव स १३०८ त्रिश्रृगमपुर के महीपाल राजा के समय 'खरतपा' विरुद प्राप्त होने से 'खरतपा' नामक दूसरी शाखा चली । द्विवन्दनीक गच्छ के प्रतिष्ठित प्रतिमा लेखों को मुनि ज्ञानसुदरजी ने पार्श्वनाथ परम्परा के इतिहास के परिशिष्ट में संग्रहीत कर प्रकाशित किया है ।

मुनिज्ञानसुदरजी ने कोरटकगच्छ को भी इस गच्छ की शाखा बतलाते हुए उसकी आचार्य-परम्परा-नामावली भी उक्त ग्रन्थ में दी है ।

इसकी एक शाखा में मेंदुरीय का उल्लेख एक लेख में पाया जाता है ।

उवढवेल्य (उढवगच्छ)—इस गच्छ के कमलचन्द्रसूरि के प्रतिष्ठित स १४४६ का लेख प्राचीन लेख सग्रह (लेखाक ८९) में प्रकाशित है । हमारे लेख सग्रह में चिंतामणि भडारस्थ स १३९१ के लेख में 'उवढवेल्य' नाम आता है । सभवत दोनों एक ही । लेखों के पढने व खोदने में अन्तर रह गया है ।

कच्छोलीवाल (कच्छ)—१५ वीं शती के लेख में 'कछोइया गच्छ' नाम भी मिलता है । वास्तव में यह पूर्णिमा पक्ष की द्वितीय शाखा है एव कच्छोली स्थान से सम्बन्धित प्रतीत होता है जो कि सीरोही राज्य में रोहीडा स्टेशन से नैऋत्य दिशा में ३१ माइल पर अवस्थित है । प्राचीन गुर्जर काव्यसग्रह एव पट्टावली समुच्चय भा २ में प्रकाशित कच्छूलीरास में आचार्य-परम्परा के कुछ नाम मिलते हैं ।

कडुआमत—नडुलाइ के, वीसानगर ज्ञातीय कड़वा शाह नामक श्रावक से स १५६२ में उसी के नाम से यह गच्छ या मत चला । इस गच्छ के मान्यताभेद व परम्परा के सम्बन्ध में अष्टम सवरी तेजपाल रचित कडवा मत पट्टावली (स १६८५ पौ सु १५ रचित) एव मुनि जिनविजयजी के जैन साहित्य सशोधक में प्रकाशित पट्टावली

देखनी चाहिये । इस मत के रचित साहित्य के सम्बन्ध में मेरा एक लेख जैन सत्य प्रकाश में प्रकाशित हो चुका है

कदरसा गच्छ—पार्श्वनाथ परम्परा के इतिहास में पृ. १५०४-५ में इनका उल्लेख है । पर पुण्यवर्धनसूरि का उल्लेख होने से उसी लेख के अनुसार इसका नाम भिन्न रहा सभव है। कई गच्छों के नाम अशुद्ध खुदे व पढे गये हैं ।

कमलकलशागच्छ—वास्तव में यह तपागच्छ की ही एक शाखा है । कमलकलश नामक आचार्य से १६ वीं शती से यह शाखा अलग हुई । इसके श्री पूज्यजी विजयजिनेन्द्रसूरि धनारी (सीरोही राज्य) में विद्यमान हैं ।

काम्पक गच्छ—निर्वतक कुलीन इस गच्छ के महेश्वरसूरि का सं. ११०० भा. व. २ सो. का एक प्रशस्ति-लेख 'प्राचीन लेख संग्रह' ले. ५०१ में प्रकाशित है।

कुतवपुरा गच्छ—पाटण के निकटवर्ती कुतबपुर के नाम से आ. इन्द्रनंदि की परम्परा का यह नाम पड़ा। इस गच्छ के हर्षविजय से निगममत निकला। पट्टावली समुच्चय भा २ पृ. २४३. वास्तव में यह तपागच्छ की ही शाखा है ।

काशहद—सिरोही राज्य के कासिंद्रा या काइंद्रा स्थान के नाम से इसका नामकरण हुआ है, जो किवरली स्टेशन से ४ माइल व आबूरोड से ईशान कोण में ८ मील पर है । इस गच्छ के १३ वीं शताब्दी के कई लेख मिलते हैं व इस गच्छ के नरचंद्रसूरि ने ज्योतिष के कई उपयोगी ग्रन्थों का निर्माण किया है ।

कुर्चपुरीय—संभवतः नागोर के निकटवर्त्ती कूचेरा (कुर्चपुर) से इस गच्छ की उत्पत्ति हुई है। खरतर गच्छीय जिन वल्लभसूरिजी पहले इसी गच्छ के थे। फिर अभयदेवसूरि से अध्ययन कर उपसंपदा ग्रहण की ।

कूवडगच्छ—प्राचीन लेख संग्रह ले. ११० में सं. १४७१ का एक प्रतिमा लेख इस गच्छ के भाव शेखरसूरि का प्रतिष्ठित छपा है। संभव है हूँबड़ को कूबड अशुद्ध रूप में पढ़ने से यह नाम प्रकाश में आया हो ।

कृष्णर्षिगच्छ—आर्य सुहस्तिसूरि के शिष्य श्रीगुप्त के 'चारण लब्धिसंपन्न होने से प्रसिद्ध चारण गण' की चौथी शाखा व्रज नागरी के विटप नामक द्वितीय कुल में ९ वीं शती में प्रभावक आचार्य कृष्ण ऋषि हुए । उन्हीं की सन्तान की प्रसिद्धि कृष्णर्षि गच्छ के नाम से हुई । इस गच्छ के विद्वानों के रचित कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्राप्त होते हैं[१] जिनके सम्बन्ध में विशेष जानने के लिये पं. लालचंद्र भ. गांधी का कण्ह (कृष्ण) मुनि शीर्षक लेख देखना चाहिये जो जैन सत्यप्रकाश वर्ष ७ के दीपोत्सवी विशेषांक में प्रकाशित है । १६ वीं शती तक इसकी परम्परा के विद्यमानता का पता

१ देखें धर्मोपदेशमाला वृत्ति एव गणधरवाद की भूमिका

चलता है। इस गच्छ की तपा शाखा का उल्लेख नाहर लेखाक १२७४ में है। कृष्णर्षि के सम्बन्ध में उपकेशगच्छ चरित्र में भी ज्ञातव्य पाया जाता है।

कोरटक गच्छ—कोरटवद्दन मारवाड के ऐरणपुरा स्टेशन से पश्चिम १२ मील पर अवस्थित 'कोरटा' ग्राम से यह गच्छ प्रसिद्धि में आया है। 'उपकेश गच्छ चरित्र' के अनुसार यह स्थान २॥ हजार वर्ष प्राचीन है। इसके सम्बन्ध में श्री यतींद्रसूरिजी का 'कोरटातीर्थ का इतिहास' देखना चाहिये। इस गच्छ को उपकेश गच्छ की शाखा ही समझिये। इसमें कनकप्रभ, सोमप्रभादि पहले नामवले फिर कक्कसूरि व सावदेवसूरि व नन्नसूरि ये तीन नामवाले ही आचार्य (पुन २) हुए। इस गच्छ के आचार्यों की नामावलि मुनि ज्ञानसुन्दरजी ने 'पार्श्वनाथ परम्परा के इतिहास के पृ १४२१ में दी है एव प्रतिमा-लेखों को भी सग्रह करके परिशिष्ट में प्रकाशित किये हैं जो कि स १२१२ से १६१२ तक के हैं। ज्ञानसुन्दरजी के निर्देशानुसार इस गच्छ के श्रीपूज्य स १९०० तक विद्यमान थे। स १५२५ के एक लेख में कोरटक तपा नाम भी मिलता है। दे प्रा ले स ले ३८७।

खडिल्लगच्छ—खडिल स्थान या आचाय के नाम से प्रसिद्ध में आया है। १२ वीं शती में वीरगणि व स १४१२ में पार्श्वनाथ चरित्र के रचयिता कालिकाचार्य सैंतानीय इसी गच्छ में हुए।

खडेरक—सडेरक को ही कहीं खडेरक नाम दिया है। दे जै सा स इ पृ – २९० टिप्पणी।

खरतर—श्वे समस्त गच्छों में तपागच्छ के बाद अधिक प्रभावशाली यही गच्छ रहा है। स १०८० के लगभग पाटण में दुलभराजा की सभा में चैत्यवासियों को शास्त्रार्थ में हराकर जिनेश्वरसूरि ने सुविहित – खरतर विरूद प्राप्त किया। इस गच्छ का साहित्य एव प्रतिमा-लेख प्रचुर हैं। 'युगप्रधानाचाय गुर्वावली' इस गच्छ के ११ वीं से १४ वीं के अत तक के इतिहास के लिये महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके पश्चात् विज्ञप्ति महालेख, विज्ञप्ति त्रिवेणी व अनेक पट्टावलिया ऐ रास, गीत आदि विशाल ऐ० सामग्री प्राप्त होती है। समुदाय वढने के साथ इसकी शाखायें भी वढती गईं। उनमें प्रमुख गच्छभेद इस प्रकार हैं—

१) मद्दुकरा (मधुकरा)—जिनवल्लभसूरि (स ११६७) के समय, इस शाखा के अलग होने का उल्लेख पट्टावलियों में मिलता है। इस गच्छ के कुछ प्रतिमा-लेख प्रकाशित हैं।

२) रुद्रपल्लीय—स १२०४ में जिनेश्वरसूरि से रुद्रपल्लीय स्थान के नाम से यह गच्छ भेद हुआ। इसमें वहुत से विद्वान् ग्रन्थकार हुए। १७ वीं सदी तक यह शाखा विद्यमान थी।

३) लघु खरतर—स १३३१ में सुप्रसिद्ध प्रभावक जिनप्रभसूरि के गुरु जिनसिंह

सूरि से यह शाखा भेद हुआ। इसके सम्बन्ध में हमारा 'शासन प्रभावक जिनप्रभसूरि' निबंध देखना चाहिये।

४) वेगड़—सं. १४२२ में जिनेश्वरसूरि से यह भेद हुआ।

५) पिप्पलक—सं. १४७४ से जिनवर्द्धनसूरि से यह शाखा अलग हुई। पिप्पलक स्थान से संबंधित होने से पिप्पलक कहलाया।

६) आद्यपक्षीय—सं. १५६४ में जिनदेवसूरि से यह शाखा अलग हुई। इसकी पाली में गद्दी थी जिसके श्रीपूज्य ५-७ वर्ष हुए कालधर्म को प्राप्त हुए हैं।

७) भावहर्षीया—सं. १६२१ में भावहर्षसूरि से यह शाखा अलग हुई। इसकी गद्दी वालोतरा में है। अभी श्रीपूज्य नहीं हैं।

८) लघुआचार्य शाखा—सं. १६८६ में जिनसागरसूरि से यह शाखा अलग हुई। उनकी गद्दी बीकानेर में है व श्रीपूज्य जिनचन्द्रसूरिजी के पट्टधर सोमप्रभसूरि विद्यमान हैं।

९) जिनरंगसूरि शाखा—सं १७०० में जिनरंगसूरिजी से यह शाखा चली। इनकी गद्दी लखनऊ में है व श्रीपूज्य विजयसूरि हैं।

१०) श्रीसारीय—सं. १७०० के लगभग श्रीसार उपाध्याय से यह भेद पड़ा, पर इसकी परम्परा चली प्रतीत नहीं होती।

११) मंडोवरा—सं. १८९२ में जिनमहेन्द्रसूरि से यह शाखा मंडोवर स्थान के नाम से मंडोवरा कहलाई। इसकी गद्दी जयपुर में है व श्रीपूज्यजी धरणेन्द्रसूरिजी हैं। इनमें से लघु आचार्य शाखा की पट्टावली मुनि जिनविजयजीसंपादित 'खरतरगच्छ पट्टावली संग्रह' में प्रकाशित हो चुकी है। वेगड, पिप्पलक, जिनरंगसूरि शाखा आदि के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण हमारे ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह में प्रकाशित हैं। मूल जिनभद्रसूरि शाखा की भी अवान्तर शाखायें कई हुई जिनमें १ क्षेमधाड़ी (क्षेमकीर्त्तिजी से) २. कीर्त्तिरत्नसूरि ३. सागरचंद्रसूरि विशेष प्रसिद्ध हैं।

खरतर गच्छ के इतिहास के सम्बन्ध में हमने विशेष अन्वेषण किया है। समस्त खरतरगच्छीय साहित्य व प्रतिमा-लेखों की सूची व शाखाओं का इतिवृत्त तैयार किया गया है।

भट्टारक जिनभद्रसूरि शाखा की मूल गद्दी बीकानेर में है जिसके श्रीपूज्य विजयेंद्रसूरि विद्यमान हैं।

विशेष जानने के लिए 'खरतर गच्छ इतिहास' ग्रन्थ प्राप्त है।

खरातपा—यह उपकेशगच्छ की शाखा होने से उस गच्छ का परिचय देते हुए प्रकाश डाला जा चुका है। २-४ प्रतिमा-लेखों के अतिरिक्त इसका उल्लेखनीय कोई भी वृत्तान्त ज्ञात नहीं है।

गुदउच शाखा — यह वडगच्छ की एक शाखा है। पाली से दक्षिण १० मील पर गुन्दौच स्थान है। उससे यह निकली है। इसके कई प्रतिमा-लेख प्रकाशित हैं।

घोपपुरीप — मुनिजिनविजयजी सपादित 'जैन पुस्तक प्रशस्ति सग्रह' में १४ वीं शताब्दी की न १९ की प्रशस्ति में इस गन्छ का नाम आता है। नाम पर विचार करने से यह घोपपुर नामक स्थान से सम्बन्धित प्रतीत होती है।

चद्रगन्छ — सभवत चन्द्रकुल ही पीछे से चद्रगन्छ रूप में प्रसिद्धि में आगया हो। इस गच्छ के १३ से १५ वीं शताब्दी की प्रशस्तिया व अभिलेख प्राप्त होते हैं। तपागन्छ एव खरतरगच्छ के लिए भी गुर्वावलि व प्रशस्ति में चद्रगन्छ नाम लिखा मिलने से चद्रकुल की एकता समर्थित है।

चद्रप्रभाचार्यगच्छ — नाहरजी के जैनलेख सग्रह में स ११९७ का (ले ४५६) इस गच्छ के उल्लेखवाला लेख है। नाम से यह चद्रप्रभसूरि समुदाय ही ज्ञात होता है।

चैत्रवाल गच्छ — सुप्रसिद्ध तपागच्छ के मूल पुरुष जगचद्रसूरि मूलत इसी गच्छ के भुवनचन्द्रसूरि के शि देवभद्र के शिष्य थे। अत देवेन्द्रसूरि व क्षेमकिर्ति सूरि ने तपागन्छ की परम्परा इसीसे मिलाई है, पर पीछे से यह बृहद् गच्छ से मिला दी गई है। चैत्रपुर नामक स्थान से इसका नाम चैत्रगच्छ पडा ऐसा बृहत्कल्पवृत्ति एव मुनिचन्द्रसूरि के गुर्वावलि (पद्याक ६४) से स्पष्ट होता है। १३ वीं से १७ वीं शती तक के इस गच्छ के उल्लेख मिलते हैं। बुध्दिसागर सूरि के मतानुसार इसका उत्पत्ति स्थान चैत्रवाल नगर मारवाड में है।

प्राचीन लेख सग्रह से इस गच्छ की ३ शाखायें —

१ धारणपद्रीय, २ चाद्रसमीय, ३ सलखणपुरा का पत्ता चलता है। प्राचीन जैन लेख सग्रह में इसकी चौथी 'सार्दूल शाखा' (१७ वीं शती) का भी नाम है।

राजगच्छ पट्टावलि के अनुसार वह इसी गन्छ से उत्पन्न हुआ व वीरगणि से इसकी कम्बोइया व अष्टापद शाखा प्रसिध्दि में आई।

छघपल्लीय — बुध्दिसागरसूरि के जैन धातु प्रतिमा लेख सग्रह भा २ ले १३३ में इस गच्छ के पद्मप्रभसूरि (स १२०४) का उल्लेख है। छत्रापल्ली नामक किसी स्थान से इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है।

छीतायरगच्छ — आबू लेखाक ५१९ वें में स १२९० के लेख में यह नाम मिलता है। अन्य कोई उल्लेख नहीं मिला। श्वेताम्बर से छीतायर अपभ्रश नाम होना सभव है।

छहिलेरा — नाहरजी के जैन लेख सग्रह ले ११९४ में स १६१२ का इस गच्छ का एक लेख है। सभव है लेख खोदने व पढने में अशुध्दि के कारण यह नाम प्रसिध्दि में आया है।

जाखडीया—समाचारी शतक व सुधर्मगच्छ परीक्षा में उल्लेख है। आबू लेखांक ६५५ के अनुसार यह मडाहड़ गच्छ की शाखा है।

जाथडाण—नाहर ले. १२८८ मे सं. १५३४ के कमलचंद्रसूरि के लेख में यह नाम आता है, पर वह अशुद्ध खोदा व पढ़ा गया प्रतीत होता है।

जेरंड—धातु प्रतिमा लेख संग्रह में गच्छाचार्य सूची में नाम आता है।

जांगेड—जैनगच्छ मत प्रबंध में इसका तथा जेरंड दोनों का उल्लेख (पृ. ४०) है।

जालिहर-जाल्योद्धर—सं. १२२६ से १४२३ तक के मोढ वंश संबन्धित इस गच्छ के ४ अभिलेख व १ प्रशस्ति मिली हैं। जैन साहित्यनो सक्षित इतिहास के पेरा ४९२ में जालिहर गच्छ के देवसूरि के सं. १२५४ में पद्मप्रभचरित्र रचने का उल्लेख है देशाई ने इस ग्रन्थ के अंत की गाथा उद्धृत की है जिसमें जालिहर के साथ कासहर का भी नाम आता है। ये दोनों गच्छ एक साथ निकले थे।

जीरापल्ली गच्छ—बृहद् (वड) गच्छ की पट्टावलि के अनुसार यह वड़ गच्छ की शाखा है। मंढार से उत्तर १० मील व रणाद्रा से पश्चिम १४ मी. पर 'जीरावल' नामक प्राचीन स्थान है जहां से जीरावला पार्श्वनाथ की भी बहुत प्रसिद्धि हुई। उस स्थान से यह गच्छ निकला है। सं. १४०६ से १५१५ के कई प्रतिमा-लेख इस गच्छ के प्रकाशित हैं।

ज्ञानकीय—नाणकीय का संस्कृतीकरण लगता है।

तपागच्छ—विगत ७०० वर्षों से इसका प्रभाव दिनोंदिन बढ़ता रहा व आज भी वह श्वे. गच्छों में सबसे अधिक प्रभावशाली व समृद्ध गच्छ है। सं. १२८५ में (आघाट मेवाड़) में जगचंद्रसूरि के उग्र तप करने से इसका नाम 'तपा' पड़ा। वे पहले वड़गच्छीय थे। चित्रवाल गच्छ के देवभद्र के पास उपसम्पदा ग्रहण की थी। इस गच्छ के ऐतिहासिक साधन भी प्रचुर हैं जिनमें से कई पट्टावलियां व ऐ. काव्य रासादि प्रकाशित हो चुके हैं। खरतरगच्छ की भांति इसकी भी कई शाखायें हैं। यथा—

(१) वृद्ध पौशालिक—तपागच्छस्थापक जगचंद्रसूरि के गुरुभ्राता विजयचन्द्रसूरि से हुआ। इस गच्छ की पट्टावलि जिनविजयजीसंपादित विविध गच्छीय संक्षिप्त पट्टावलि संग्रह में व जैन गुर्जर कविओ भा. २-३ के परिशिष्ट में इसका गुजराती में सार प्रकाशित है।

२) लघु पौशालिक—जगचंद्रसूरि के द्वितीय गुरु भ्राता देवेन्द्रसूरि का समुदाय लघुपौशालिक कहलाया। इसकी पट्टावलि भी उक्त दोनों ग्रन्थों में प्रकाशित है।

३) विजयाणंद या आणंदसूरिशाखा—यह विजयतिलकसूरि के पट्टधर, सं. १६७० में आचार्यपद प्राप्त विजयाणन्दसूरि से सं. १६८१ में निकली। इसकी पट्टावलि का सार भी जैन गुर्जरकविओ भा. २ के परिशिष्ट मे प्रकाशित है।

४) विजयदेवसूरि-देवसूरिशाखा – स १६८१ में विजयदेवसूरि नाम से प्रसिद्ध हुइ ।

५) विमलशाखा—स १७४९ में ज्ञानविमलसूरि से यह शाखा चली ।

६) सागरशाखा—स १६८१ के लगभग राजसागरसूरि से सागरशाखा निकली। अहमदाबाद के सेठ शातिदास ने इसमें बहुत सहयोग दिया । परम्परा के लिये दे जै गु क भा २ परिशिष्ट व जैन गच्छ मत प्रबन्ध ।

७) रत्नशाखा—उपकेश की द्विवदनीक शाखा के कक्कसूरि के शिष्य रायवल्लभ सूरि के शिष्य राजविजयसूरि से रत्नशाखा १७ वीं सदी में चालू हुई । इस शाखा के आचार्य व मुनियों के नाम रत्नात होने से यह नाम प्रसिद्ध हुआ । इसकी सक्षिप्त पट्टावलि जैन गुजर कवियों भा ३ के परिशिष्ट में प्रकाशित है ।

८) कमलकलश शाखा — १६ वीं सदी के कमलकलशसूरि से यह शाखा निकली । इस शाखा की गद्दी अब भी धनारी में विद्यमान है व वत्तमान श्री पूज्य का नाम विजयजिनेन्द्रसूरि है ।

९) कुतबपुरा—कुतबपुरा स्थान से इसका नामकरण हुआ है । इस शाखा के १६ वीं शती के उल्लेख नाहरजी के लेख सग्रह में प्रकाशित हैं। इन्द्रनदिसूरि का समुदाय इस नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

१०) निगम—कुतबपुरा शाखा में से हर्षविनयसूरि [१६ वीं] ने निगममत निकाला । इसका अपर नाम भूकटीया मत भी है ।

११) रत्नाकर गच्छ—१४ वीं शताब्दी के रत्नाकरसूरि से प्रसिद्ध हुआ । इसकी एक भृगुकच्छीय शाखा का भी उल्लेख मिलता है । विशेष जानने के लिए पट्टावलि समुच्चय भा २ की पूरवणी देखें ।

तालध्वजीयशाखा — प्रसिद्ध तलाजा नामक स्थान से इसका सम्बन्ध है। पीपल गच्छ की शाखा है । प्राचीन लेखसग्रह न ४१६ में स १५२८ का लेख प्रकाशित है।

त्रिभवियागच्छ — वास्तव में यह पिपलगच्छ की शाखा है। इसके १५-१६ वीं शती के कइ प्रतिमा-लेख प्रकाशित ह । पिप्पलगच्छीय धर्मदेवसूरि न सारगरायको उसने तीन पूवभव वतलाये । इसी घटना को लेकर इसकी परम्परा का नाम 'त्रिभविया' पड़ा प्रतीत होता है ।

थारापद्रीय — डीसा के पश्चिम ४० माइल पर थराद नामक ग्राम है। उसीसे यह गच्छ प्रसिद्धि में आया है। इसका ११ वीं शती का एक लेख प्राप्त है । उत्तराध्ययन की पाइय टीका व तिलकमजरी टिप्पन के निमाता शातिसूरि (११ वीं,), सग्रहणी वृत्ति (स ११३९) के निर्माता शालिभद्रसूरि व उनके शिष्य काव्यालकार व आवश्यक

वृत्ति के रचयिता [सं. ११२२-२५] नमिसाधु इसी गच्छ में हुए हैं। इस गच्छ के १२ वीं से १४ वीं शताब्दी तक के कुछ अभिलेख प्रकाशित हैं। पट्टावलि समुच्चय भा. २. २२५ देखें.

रामसेण के सं. १०८४ के लेखानुसार इस गच्छ का आदि पुरुष वटेश्वराचार्य हैं। अतः मुनि कल्याणविजयजी ने इसकी उत्पत्ति ७ वीं शती मानी है।

देवाचार्यगच्छ—नाम से स्पष्ट है कि देवसूरि से इसकी प्रसिद्धि हुई। संभवतः ये देवाचार्य सं. ११४४ के लेखवाले हों (जि. ले. ३८२) जिनविजयजी के प्रा. जैन ले. सं. ले. ४२२, १२४६ के लेख में इसका उल्लेख है व सं. १३८१ का लेख व प्रशस्ति में "देवसूरि गच्छ" नाम आता है।

देवसूरिगच्छ—तपागच्छ के विजयदेवसूरि से शाखा चली। वह देवसूरिगच्छ के नाम से भी प्रसिद्ध हुई।

देवानंदगच्छ (देवानंदित)—सं. ११९४ व १२०१ की ग्रंथ-लेखन प्रशस्ति में इसका नामः आता है। नाम से देवानंदसूरि से इसकी प्रसिद्ध हुई स्पष्ट है। इस गच्छ के महेश्वरसूरि शि. रचित चंपकसेनरास (सं. १६३०) उपलब्ध है। उनसे करीव ५०० वर्ष तक यह परम्परा चलती रही सिद्ध है।

धर्मघोषगच्छ—१२ वीं शताब्दी में धर्मघोषसूरि से इस गच्छ का नामकरण हुआ। नागौर के महात्मा के पास इस गच्छ की परम्परा की विस्तृत नामावलि है जिससे इस गच्छ की १. उच्छित्रवाल २. मंडोवरा ३. बुढ़ावाल ४. वागौरियादि शाखाओं की आचार्य-परम्परा की नामावलि प्राप्त होती है। हमारे संग्रह में उसकी संक्षित नकल है।

धर्मघोषसूरि का जीवन "राजगच्छ पट्टावली" व धर्मघोषसूरि स्तुतिद्वय से ज्ञात होता है। सुराणा गोत्र से इसका विशेष सम्बन्ध है। ये उस गोत्र के प्रति-बोधक थे।

नड़ीगच्छ—श्री अर्बुद प्राचीन जैन लेख संग्रह के लेखांक ५८१ में (सं. १४२३) नड़ीगच्छ नाम आता है। इसे जयंतविजयजी ने गुजरात के नडीआद से इसका पूरा नाम नडीआदगच्छ होने की संभावना की है।

नाइल (नायल):—संभव है नाइल कुल से इसका संबंध हो। सं. १३०० का लेख प्राप्त है।

नागेन्द्र गच्छ:—संभवतः नागेंद्र कुल ही पीछे से नागेंद्र गच्छ के नाम से प्रसिध्द हुआ है। ९ वीं सदी से १६ वीं तक के आचार्यों की नामावलि मुनि जिन-विजयजी संपादित प्राचीन लेख संग्रह में प्रकाशित है। अणहिल्ल पाटण के स्थापक वनराज चावडा के गुरु शीलगुणसूरि इसी गच्छ के थे। उनके शिष्य देवचन्द्रसूरि की मूर्ति पाटण में अब भी विद्यमान है। जैन शासन-प्रभावक, अद्वितीय कला के

उपाध्याय महामना वस्तुपाल तेजपाल के गुरु विजयसेनसूरि भी इसी गच्छ के थे। वे एव उनके शिष्य उदयप्रभ, वासुपूज्यचरित के रचयिता वद्धमानसूरि (स १२९९) मेरुतुगसूरि प्रबध चिन्तामणि (स १३५१) आदि कई विद्वानों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रतिमा-लेख भी बहुत से प्रकाशित हैं। चिन्तामणि भूमिगृहस्थ धातु प्रतिमा लेखों में श्रीदेवचन्द्राचार्य नागेन्द्र गच्छीय का नाम है। स १४५५ के धातु प्रतिमा लेख में "पूर्वे नागेन्द्र गच्छ आदौकेशगच्छ सिदि कक्क" उल्लेख मिलने से १५ वीं शती में यह गच्छ उपकेश (उकेश) गच्छ में समागया प्रतीत होता है। परम्परा नामावलि के लिये देखें पट्टावलि समुच्चय भा २ पृ २३२

नागपुरीय तपागच्छ —सुप्रसिद्ध वादविजेता वादि देवसूरि के शिष्य पद्मप्रभसूरि ने नागौर में तप करने से सं ११७४ या ७७ में नागौरी तपाविरुद प्राप्त किया। उसके अनतर १६ वीं शताब्दी में इसकी परम्परा में पार्श्वचद्रसूरि नामक प्रसिद्ध विद्वान हुए जिनके नाम से इसका पार्श्वचद्रगच्छ नाम प्रसिद्ध हुआ। इस गच्छ के श्रावक प्रधानत बीकानेर, अहमदाबाद व कच्छ प्रान्त में हैं। बीकानेर के श्रीपूज्य देवचद्रसूरि का स्वर्गवास कुछ वर्ष हुये होगया। अभी कतिपय साधु व यति हैं। इस गच्छ की सस्कृत पट्टावलि "विविध गच्छीय पट्टावली सग्रह" में एव गु भाषा में अहमदाबाद से व जैन गुजर कविओ भा २ के परिशिष्ट में प्रकाशित है।

कई लोग इसे नामसाम्य पर प्रसिद्ध तपागच्छ की ही शाखा मानते हैं, पर वह सही नहीं है। वास्तव में यह उससे स्वतत्र है। पट्टावलि के अनुसार तो यह नाम तपागच्छ से भी सौ वर्ष पुराना है पर जहाँ तक मुझे ज्ञात है "नागपुरीय तपागच्छ" नाम का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है और वह भी स १७ वीं के पहले का नजर नहीं आता।

नाणकीय—पींडवाडा से ईशान कोण में १०॥ माइल पर अवस्थित नाणा ग्राम से यह गच्छ निकला है। १२ वीं से १६ वीं तक के इस गच्छ के लेख प्राप्त होते हैं। इसका अपर नाम नाण, नाणावाल व ज्ञानकीय भी मिलता है।

निवृत्ति—समवत निवृत्ति कुल से ही पीछे से इस गच्छरूप में प्रसिद्ध हुआ हो। समरा शाह रास के कर्त्ता अवदेवसूरि इसी गच्छ के थे। इस गच्छ के १०-१५।१६ वीं शती के कतिपय अभिलेख प्रकाशित हैं।

नागर गच्छ—धातु प्रतिमा लेखसंग्रह भा २ ले १३ में नाम आता है, पर नागेन्द्र को ही नागर पढा गया हो तो पता नहीं।

निंबजीयगच्छ—गच्छ मत प्रबन्ध के पृ, ४४ में इसका उल्लेख है।

पंचासरीय गच्छ—समवत पाटण के पचासरा स्थान से इसका सबन्ध हो। नाहर ले १०७३ में सं ११२५ के लेख में इसका नाम? प्रश्नवाचक चिन्ह के साथ छपा है।

पल्लिकीय (पल्लीवाल)—जोधपुर राज्य के पाली शहर से इसका उद्भव हुआ है। इस गच्छ की एक पट्टावलि मैंने आत्मानंद जन्म शताब्दी ग्रन्थ में प्रकाशित की है। एक अन्य प्राकृत पट्टावलि भी प्राप्त है, पर उसकी प्रामाणिकता के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। श्रीयुत् देसाई ने जैन गुर्जर कविओ भा. ३ के परिशिष्ट में इन दोनों का सार दिया है।

पर्वीयगच्छ—ना. ले. ४१२ सं. १५०७ के लेख में यह नाम मिलता है, पर अशुद्ध ज्ञात होता है। आचार्य का नाम यशोदेव होने से मुझे शुद्ध नाम पल्लकीय होना जचता है।

पार्श्वचन्द्रगच्छ—दे. नागपुरीय तपागच्छ

पिप्पलगच्छ—इसका नामकरण पिपल स्थान या वृक्ष से हुआ संभव है। बृहद् गच्छ के मूलपुरुष सर्वदेवसूरि के शि० नेमिचन्द्रसूरि के शि० शांतिसूरि से सं. ११२२ में आठ (८) शाखावाला यह गच्छ निकला। पुण्यसागर के अंजना रास से सं. १६८९ तक इस गच्छ की शाखा साचोर मे विद्यमान होना निश्चित है। हमारे संग्रह की 'गुरु स्तुति' व 'धूल धौल' में शांतिसूरि से पट्टानुक्रम इस प्रकार दिया है।

१) शांतिसूरि (पृथ्वीचन्द्र चरित्र रचयिता) इन्होंने नेमिचैत्य में ८ मुनियों को आचार्य-पद दिया। उनके नाम इस प्रकार हैं।
१ महेंद्र २. विजयसिंह ३. देवेंद्रचन्द्र ४. पद्मदेव ५. पूर्णचंद्र ६. जयदेव ७. हेमप्रभ ८. जिनेश्वर.

२) २ विजयसिंहसूरि सं. १२०८, ३. देवभद्रसूरि, ४. धर्मघोषसूरि, ५. शीलभद्रसूरि, ६. पूर्णदेव, ७. विजयसेनसूरि, ८. धर्मदेवसूरि—इन्होंने देव के आदेश से सारंगराय व घुघल के तीन भव बतलाकर प्रतिबोधित किया। उनमें घुघल धारापद्र का राणा हुआ और उसने सरस्वती मंडप बनवाया। ९. धर्मचंद्रसूरि, १०. धर्मरत्नसूरि [१३८०], ११. धर्मतिलकसूरि [सं. १४३७], १२. धर्मसिंहसूरि (गूदियनगर में प्रासाद बनवाया), १३. धर्मप्रभसूरि (सं. १४७६), १४. धर्मशेखरसूरि (सं. १४८४ सं. १५०५), १५. धर्मसागरसूरि (सं. १५२१), १६. धर्मवल्लभसूरि (सं. १५५३)। प्रतिमा-लेखों में इनसे भिन्न परंपरा के नाम मिलते है जो शाखा-भेद के सूचक है। १८ वीं शती तक के लेख इस गच्छ के प्राप्त है। प्राचीन लेख संग्रह से इसकी 'त्रिभविया' व तलध्वजीय शाखा का पत्ता चलता है। इसमें त्रिभविया संभवतः उपरोक्त धर्मदेवसूरि के तीन भव कहने से पड़ा है और तलध्वजीय शाखा तलाजा स्थान के नाम से प्रसिद्ध हुई होगी।

पूर्णतल्लगच्छ—सुप्रसिद्ध हेमचंद्रसूरि इसी गच्छ में हुए हैं। उनके त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र की प्रशस्ति में उन्होंने अपना गच्छ पूर्णतल लिखा है। विशेष विवरण देखें पट्टावलि समुच्चय भा. २ पृ. २२६

पूर्णिमा — पक्षी [पाक्षिकपत्र] चतुर्दशी को मानी जाय या पूर्णिमा को ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में पूर्णिमा का पक्ष ग्रहण करने के कारण इसका नाम पूर्णिमागच्छ पड़ा। इसका आविर्भाव सं ११४९ या ५९ में चन्द्रप्रभसूरि से हुआ। इस गच्छ की एक संस्कृत पट्टावलि विविध गच्छीय पट्टावलि सग्रह में व भाषापद्य की पट्टावलि जैन युग में प्रकाशित है जिसका सार जै गु भा ३ के परिशिष्ट में दिया है। इस गच्छ की १ ढंढेरीया, २. साधुपूर्णिमा (स १२३६ में निकली) ३ भीमपल्लीय, ४ वटप्रदीय, ५. बोरसिद्धिय, ६ भृगुकच्छीय, ७ छापरिया, ८ द्वि कछोलीवाल आदि शाखाओं का पता चलता है।

बुद्धिसागरसूरि के गच्छमतप्रबंधानुसार इस गच्छ के श्रीपूज्य पाटण में व महात्मा कई स्थानों में विद्यमान हैं।

प्रद्योतनाचार्य गच्छ — पाली में स ११४४ व ५१ के दो लेख इस गच्छ के मिलते हैं। प्रद्योतनाचार्य से इस गच्छका यह नाम पड़ा है।

प्रभाकर गच्छ — इस गच्छ का स १५७२ का एक लेख ना ले ७९४ में प्रकाशित है, पर संभवत नाम ठीक से नहीं पढ़ा गया।

प्राया गच्छ — ना ले १०४२ में श्री राम (?) प्राया गच्छ नाम छपा है, पर अशुद्ध है।

ब्रह्माणगच्छ — सीरोही राज्य के मडार से उत्तर में १० मील पर व हणाद्रा से पश्चिम में १२ मील पर वरमाण नामक ग्राम है। उसीसे इस गच्छ का निकास हुआ है। स ११२५ से १६ वीं शती तक के लेख इस गच्छ के प्रकाशित हैं। वास्तव में यह बृहद् गच्छ की एक शाखा है।

ब्राह्मीगच्छ — प्राचीन लेख सग्रह के ३८२ में स ११८४ के लेख में यह नाम आता है।

बाहड — ना ले २२२९ में स १५२१ के लेख में बाहड गच्छ छपा है। उसमें यशोभद्रसूरिसंतानीय ईश्वरसूरि का उल्लेख होने से यह संडेरक गच्छादि से सम्बन्धित लगता है।

बोकडिया गच्छ — इस गच्छ के कई प्रतिमा लेख ना जैन लेख सग्रह में प्रकाशित हैं। वडगच्छ पट्टावली के अनुसार यही उसीकी एक शाखा है। स १४३०-१५१८ के लेख में भी इसे बृहद गच्छ की शाखा ही दिया है।

बृहद गच्छ — नामानुरूप यह बहुत बड़ा समुदाय वाला गच्छ है। अनेक शाखा प्रशाखा इसकी शाखायें हैं। स ९९४ जेठ सु ८ र. उद्योतनसूरिजी के शिष्य सर्वदेव सूरि ने ८ मुनियों को सूरिपद दिया। तभी से यह बृहद गच्छ कहा जाने लगा। मतान्तर से स ९९४ में सर्वदेवसूरि को नादिया ग्राम के पास टेडेकडिया? वृक्ष के नीचे उद्योतनसूरि ने आचार्यपद पर स्थापित किया। हमें इसकी भटनेर शाखा की

पट्टावलि प्राप्त हुई है जिसका आवश्यकीय भाग विविध गच्छीय पट्टावली संग्रह में मुद्रित हुआ है। उसके अनुसार इस गच्छ की ८४ शाखायें हुईं जिनमें से निम्नोक्त २५ शाखाओं के नाम उसमें दिये गये हैं —

१. साचोरा	९. महुडासिया	१७. तपा
२. झेरंडिया	१०. भयरुच्छा	१८. भीनमाला
३. आनापुरा	११. दासरुआ	१९. जालउरा
४. गूंदाउआ	१२. जीरावला	२०. रामसेणा
५. ओढवियां	१३. मगउडिया	२१. वोकडिया
६. डेवाडआ	१४ ब्रह्माणिया	२२. चितउडा
७. घोघवाडा	१५. मड्डाहडा	२३. गंगेसरा
८. सावडउला	१६. पिप्पलीया	२४. कूचडिया
		२५. सिद्धान्ती

भर्तृपुरीय [भटेवरा] —जे. पु. प्र. सं. की सं. १३३२ की प्रशस्ति में इस गच्छ का नाम आता है। नामसे इसका निकाश भर्तृपुर [मेवाड़-भटेवर ग्राम] से होना स्वयं सिद्ध है।

भावडार गच्छ — सुप्रसिद्ध कालिकाचार्य की संतान का यह नाम पंजाव में पड़ा है। पंजाव में अवभी ओसवालों को भावड़ा ही कहते हैं। इस गच्छ के कई प्रतिमा लेख आदि प्रकाशित हैं। मूलतः यह खंडिल गच्छ के कालिकाचार्यसंतानीय भावदेव-सूरि से ११ वीं शती में प्रसिद्धि में आया। प्रभावक चरित्र के अनुसार वीराचार्य इस गच्छ के थे व पार्श्वनाथ चरित्र के कर्त्ताभावसूरि भी। भावदेव, विजयसिंह, वीर और जिनदेवसूरि ये चार नाम पुनः २ इस गच्छ के पट्टधरों के मिलते हैं। १७ वीं शती तक यह चालू रहा।

भिन्नमाल गच्छ — प्रसिद्ध श्रीमाल नगर का नाम भिन्नमाल भी है। उसी स्थान के नाम से वहां जो समुदाय अधिक समय रहा उसका यह नाम पड़ गया। वड गच्छ पट्टावलि में इसे उस गच्छ की एक शाखा मानी है।

मधुकर गच्छ — खरतर गच्छ की शाखा है। दे. खरतरगच्छ। इसके एक अभि-लेख में 'चतुर्दशी पक्ष' विशेषण भी पाया जाता है।

महौकराचार्य — (सं. १४६६ गुणप्रभसूरि ले.) संभवतः मधुकर ही हो।

मड्डाहडीय — सीरोही राज्य के मंडार स्थान से यह नाम पड़ा है। जो हणाद्रा से नैऋत्य में १८ मील, सीरोह से ४० मील व डीसा से ईशान कोण में २४ मील पर अवस्थित है। वड़गच्छ की पट्टावलि के अनुसार यह उसीकी शाखा है। १७ वीं सदी में कवि सारंग इस गच्छ में हो गये हैं। रत्नपुरीय इस गच्छकी एक शाखा थी।

भीमपल्लीय गच्छ — डीसा से पश्चिम दिशा म ८ कोस पर भीलडी भीमपल्ली नामक स्थान से इस गच्छ का नाम पडा है। इस गच्छ के कतिपय प्रतिमा लेख प्रकाशित हैं। १६ वीं सदी के लेखों से यह पूर्णिमा गच्छ की शाखा ज्ञात होती है।

मलधारी इसका मूलनाम हर्षपुरीय गच्छ है जिसका सम्बन्ध हर्षपुर स्थान से है। इस गच्छ के अभयदेवसूरि को कर्ण राजा ने मलमलीन गात्र देख मलधारी कहा। इसीसे यह गच्छ नाम पडा। विशेष जानने के लिये देखें–हर्षपुर गच्छ। इस गच्छ के लेख १३ वीं से १६ वीं तक के मिलते हैं। अभयदेवसूरि आदि कई बडे बडे विद्वान भी इस गच्छ में हुए। दे अनेकार महोदधि की लालचद गाधी लिखित प्रस्तावना।

मोढगच्छी (मोढेरक)--नाहर लेखाक १९९४ के स १३२७ के लेख में मोढगच्छे याग भट्टि संतान जिनभद्राचार्य का प्रतिष्ठापक के रूप में उल्लेख है। गुजरातवर्त्ती मोढेरा नामक स्थान से इसकी प्रसिद्धि हुई है। यहीं से मोढनामक जाति भी प्रसिद्ध हुई।

भावसूरिगच्छ—भावसूरि आचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आबू लेख सन्दोह में एक लेख प्रकाशित है।

यशसूरिगच्छ—ना ले ५३० में स १२५७ के पचतीर्थी के लेख में यशसूरिगच्छ का नाम आता है। नाम से यह यशसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुआ स्पष्ट है।

रघुगच्छ—ना ले १६२५ म पचतीर्थी के स १७७६ के लेख में यह नाम आता है। पर नाम अशुद्ध पढा गया प्रतीत होता है।

राकागच्छ—ना ले १७४० में स १३२० में महीचद्रसूरि प्रतिष्ठित प्रतिमा के लेख में यह नाम मिलता है। ओसवालों म राका गोत्र भी है।

राजगच्छ—मुनि विनयसागर से प्राप्त राजगच्छ पट्टावलि के अनुसार नन्नसूरि से राजगच्छ नाम प्रसिद्ध हुआ। पर प्रभावक चरित्र के अनुसार धनेश्वरसूरि से, त्रिभुवनगिरि के राजा कर्दम भूपति के पुत्र होने व राजमान्य होने से उनसे राजगच्छ नाम पड़ा लिखा है। यही ज्यादा ठीक प्रतीत होता है। इसी गच्छ के धर्मघोषसूरि से धर्मघोष गच्छ निकला। राजगच्छ की पट्टावली का सार जैन सत्य प्रकाश व ११ अ ८१ में प्रकाशित है। पट्टावली के अनुसार चैत्र गच्छ से इसका सम्बन्ध था। इस गच्छ के प्रतिमा लेख भी प्राप्त हैं।

रामसेनीय गच्छ—डीसा से वायव्य कोण में १० मील पर रामसेन नामक स्थान से यह गच्छ निकला है। इस गच्छ के कई प्रतिमा लेख प्रकाशित हैं। वडगच्छ पट्टावली के अनुसार यह उस गच्छ की एक शाखा है। स १२५४ के लेख से भी यही सिद्ध है।

रुद्रपल्लीय—स १२०४ में जिनशेखरसूरि से रुद्रपल्लीय स्थान के नाम से यह प्रसिद्ध हुआ है। इस गच्छ में कई विद्वान ग्रन्थकार हो गये। १७ वीं शताब्दी तक

इसके यति विद्यमान थे। यह खरतर गच्छ की शाखा है।

लाटह्लद गच्छ--लाटह्लद नामक स्थान के नाम से ही यह प्रसिध्दि में आया है। इस गच्छ के पूर्णभद्र का प्रतिष्ठित एक धातु प्रतिमा लेख हमारे वीकानेर जैनलेख संग्रह में संग्रहित है जो लिपि की दृष्टि से ९ वीं शती का प्रतीत होता है।

लुंपक-लोंकागच्छ--सं. १५३० के लगभग लोंकाशाह नामक श्रावक से यह मत निकला। इसका मुख्य मतभेद जिन प्रतिमा की पूजा को न मानना है। लोंकाशाह स्वयं दीक्षित नहीं हुए। इस मत का प्रचार पारख लखमसी व ऋ० भाणा के द्वारा हुआ। थोड़े समय में ही यह कई शाखाओं में विभक्त हो गया। यथा—

१. पारखमती—लखमसी पारख से यह नाम पड़ने का उल्लेख मिलता है।

२. गुजरातीगच्छ—सं. १५४२ मे रूपा गुजराती से यह शाखा निकली। जिसकी गद्दी अब भी वड़ौदा मे है। इस शाखा की पट्टावली देशाई ने जै. गु. क. भा. ३ के परिशिष्ट में संक्षेप से दी है।

३. उतरार्धी-सरोवामती-पूर्व परिचय दिया जा चुका है।

४. नागौरी--सं. १५८१ में नागौर के रूपचंद, हीरागर व सीचइ गांधी से यह प्रसिद्ध हुआ। इसके दो उपासरे वीकानेर में हैं, श्रीपूज्य नही है। इस गच्छ की संस्कृत भाषा की पट्टावली हमारे संग्रह में है।

५. रासूमती
६. कउरउमती
७. सीहामती
८. नानिगमती
९. दरूगामती
१०. साकरमती
११. वीढ़ामती
१२. पासामिती
१३. दीतामती

हमारे संग्रह के १७ वीं के उत्तरार्द्ध में लिखित पत्र में इन १३ समुदायों का उल्लेख है। इनमें अधिकतः ऋषियों व कुछ स्थानों के नाम से प्रचलित हुई। विजय गच्छ भी वास्तव में इसी लोंका के समुदाय में से निकला है जिसका परिचय आगे दिया जायगा।

इसी मत में से सं. १७०० के लगभग लवजीऋषि से स्थानकवासी सम्प्रदाय निकला जोकि वहुत शीघ्र सर्वत्र फैल गया। संप्रदाय के प्रारंभ में २२ साधुओं का समुदाय होने से वाइसटोले कहलाये व शून्य-ढूंढे से स्थान मे ठहरने से ढूढ़िया कहलाये। क्रमशः संख्या वढने के साथ इनमें से अनेक संघाड़े हैं। अभी इस सम्प्रदाय के सैकड़ों साधु आर्यिकाएं व लाखों श्रावक विद्यमान हैं। इनकी अनेक शाखा, सम्प्रदायों के विषय में ऐतिहासिक नोंध देखना चाहिये। मंदिर को माननेवाले

मदिरमार्गी कहलाते हैं, उसी तरह इसमें उसके स्थान पर साधुमान्य होने से साधुमार्गी।

स १८१८ में रघुनाथजी के शिष्य भीखमजी से तेरापथी सम्प्रदाय का जन्म हुआ। जिन प्रतिमा के अतिरिक्त दयादान सम्बन्ध में भी इनका अन्यों से मतभेद है। २०० वर्षों में इस सम्प्रदाय ने आशातीत सफलता प्राप्त की। आज ६५० करीब सत व सतिया व लक्षाधिक श्रावकादि इसके अनुयायी हैं। विशेष जानने के लिये तेरा पथी पट्टावली, सतश्री भीखमजी व विवरण पत्रिका में प्रकाशित लेख देखने चाहिये। तेरापथी साम्प्रदाय के नवम पट्टधर अभी आचार्य तुलसी हैं।

लोडअगच्छ—आबू लेख सदोह के ले ५२२ में स १२९३ के लेख में यह नाम मिलता है।

वायडगच्छ—डीसा (जिल्ला पालणपुर) के पास वायड ग्राम है। किसी समय यह महास्थान था। उसीके नाम से वायड जाति व वायडगच्छ का नामकरण हुआ है। वायडगच्छ नाम सभवत ६-७ शती में प्रसिद्धि में आया। इसके पट्टधरों के नाम जिन दत्तसूरि, राशिलसूरि, व जीवदेवसूरि ये तीन नाम ही पुन २ आते हैं। विवेक विलास व शकुनशास्त्र ग्रन्थ के रचयिता जिनदत्तसूरि व बालभारतकाव्य कल्पलता, पद्मानद काव्यादि के रचयिता कविवर अमरचद्रसूरि इसी गच्छ में हुए हैं।

वालभगच्छ—यह सडेर गच्छ का पूर्ववर्त्ती नाम होने का उल्लेख जिनविजय प्रकाशित जैन पुस्तक प्रशस्ति सग्रह के प्रशस्ति न ९१ में पाया जाता है।

विधिपक्ष—दे अचलगच्छ।

विद्याधर गच्छ—सभवत विद्याधर कुल ही पीछे से गच्छरूप में प्रसिद्धि में आया। इस गच्छ के कुछ प्रतिमा लेख प्रकाशित हैं।

वीजायती (विजयगच्छ)—लोंकाशाह की सतति में ऋषि वीजा (या विजय) से इसका नाम पड़ा है। यद्यपि वर्तमान श्रीपूज्य अपनी परम्परा भिन्न रूप से बतलाते हैं, पर वास्तव में स १५३२ से ४४ के बीचमें यह वीजा ऋषि से ही पृथक हुआ। कोटा में इस गच्छ के सुमतिसागर सूरि अब भी विद्यमान हैं।

सडेरगच्छ (षडेरक)—जोधपुर राज्य के नाणा से उत्तर में १८ माइल पर साडे राव नामक स्थान है। यह गच्छ उसी स्थान के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। जैन पुस्तक प्रशस्ति सग्रह की प्रशस्ति न अनुसार इसका पूर्वनाम वालभगच्छ था। स ९६४ के लगभग के आ यशोभद्रसूरि, शालिसूरि, सुमतिसूरि, शातिसूरि, ईश्वरसूरि हुए। इस गच्छ में यशोभद्र, यल्भद्र, व क्षमर्षि ये आचार्य बड़े प्रभावक होगये हैं। इनके सम्बन्ध में सस्कृत में प्रबन्ध व भाषा में लावण्यसमय रचित रास उपलब्ध हैं। १७ वीं शती तक के इस गच्छ के अभिलेख प्रकाशित हैं। विशेष जानने के लिये ऐ रा स भा २.

देखना चाहिये। सांडेरवगच्छ की आचार्य-परम्परादिका परिचय पट्टावली समुच्चय भा. २ के पृ. २०३ में दिया है।

आगे आनेवाला हस्तिकुंडी—हथुंडी गच्छ भी इसी गच्छ की शाखा है।

सत्यपुरीय—बृहद्गच्छ की शाखा है। १४ वीं १५ वीं शती के लेख प्राप्त हैं। मारवाड़-राज्य के साचौर (सत्यपुर) से इसकी प्रसिद्ध हुई।

सुराणगच्छ—संभवतः धर्मघोपसूरिजी ने सुराणों को प्रतिबोध दिया जिनके वंशज आज भी सुराणा कहलाते हैं। उसी गोत्र से इसका सम्बन्ध है।

सरवालगच्छ—नाहरजी के जैन लेख संग्रह का प्रथम लेख सं. ११३० का इसी गच्छ का है। सं. ११७४ से १२१२ के ४ लेख जिनेश्वरसूरि संतान के प्राचीन लेख संग्रह मे प्रकाशित है। पिंड नियुक्ति वृत्ति (सं. ११६९) के रचयिता वीरगणि ने भी अपना चन्द्रगच्छ-सरवाल गच्छ बतलाया है।

सागरगच्छ — तपा गच्छ की शाखा है। देखें – तपागच्छ।

साधुपूर्णिमा — पूर्णिमा गच्छ की यह शाखा सं. १२३६ में पृथक हुई। इसके बहुत से अभिलेख प्रकाशित है।

सावदेवाचार्यगच्छ — सावदेव नामक आचार्य के नाम से निकला। धातु प्रतिमा लेख संग्रह भा. २ ले. १०८३ में सं. ११६८ के लेख में यह नाम आता है।

सुधर्मगच्छ — पार्श्वचन्द्रसूरि के प्रशिष्य बह्मर्षिविनयदेवसूरि ने अपना मत इस नाम से सं. १६०२ में चलाया। इस गच्छ के आचरणादि के लिए दे. सुधर्मगच्छ परीक्षा ऐ. रास संग्रह भा. ३.

सुधर्मबृहत्तपागच्छ — २० वीं शताब्दी में श्रीमद्राजेन्द्रसूरिजी म. ने इसे स्थापित किया है। इसको त्रिस्तुतिक (तीन थुई) गच्छ भी कहते हैं। इन्होंने श्री अभिधान राजेन्द्र कोषादि ६४ ग्रन्थों की रचना की है। वर्तमान में श्री यतीन्द्रसूरिजी इस गच्छ के आचार्य हैं। मारवाड, मालवा-नेमाड़ और गुजरात में उनके अनेक श्रावक अनुयायी हैं।

सुविहितगच्छ — धातु प्रतिमा लेख संग्रह में नाम है, पर लेख में गच्छ अक्षुण्ण होनेसे यह विशेषण ही लगता है।

सैद्धान्तिक गच्छ (सैद्धान्तीय)—सैद्धान्तिक विषयों की प्रधानता से यह नाम पड़ा। वड़गच्छ पट्टावलि के अनुसार यह उसीकी शाखा है। १४ वीं शती के लेख प्राप्त हैं।

सोरठगच्छ — इस गच्छ के ज्ञानचंद्रसूरि के रचित कई रास, चौपई (सं. १५६८ से ११९९ मे) का उल्लेख जै. गु. भा. ३ पृ. ५४३ मे मिलता है। सोरठ देश (सौराष्ट्र

काठियावाड) से ही इसका सम्बन्ध होने से यह नाम पडा है । शालीने ग्रन्थ मागरोल में बनाये हे । अत यहा इस की गद्दी व प्रभुत्व होगया ।

हर्षपुरीय गच्छ — हर्षपुर से इस गच्छ का नाम पडा है जो कि सभवत हरसोर नामक स्थान है । दशरथ शर्मा आदि कई विद्वानों ने इसे अजमेर के निकटवर्त्ती हासोट लिखा है पर मेरी राय में मकराने के पास का हरसोर है ।

कल्पसूत्र स्थविरा में कोटिक गण के प्रश्नवाहण कुल का उल्लेख मिलता है । यह गच्छ उसी कुल में से निकला है । इसी गच्छ के अभयदेवसूरि को जयसिंह या रण राजा के मलधारी कहने से मलधारी गच्छ नाम पडा । इस गच्छ में अनेक विद्वान हुए जिनके सम्बन्ध में पाटण भडार सूची व अलकार महोदधिकी प्रस्तवना देखना चाहिये ।

हयकपुरीयगच्छ — चिन्तामणि भडारस्थ धातु प्रतिमा लेख (स १२३७ का) इस गच्छ के नामोल्लेख वाला पाया जाता है ।

हस्तिकुडी-हथुडीगच्छ — जोधपुर राज्य के हथुडी नामक ग्राम से स ९९६ व १०५३ के इस के शिलालेख प्राप्त हुए हैं। उसी स्थान के नाम से यह सडेरगच्छ में से बलभद्र (वासुदेवसूरि) से शाखा निकली । ये बलभद्राचार्य बडे प्रभावक हुए । इनके उपदेश से विदग्धराज ने हस्तिकूडी में स ९७३ में जन मंदिर बनवाया । इनके सम्बन्ध में विशेष जानने के लिये देखें—सडेरगच्छ प्रबन्ध सग्रह व ऐ रा स भा २ ।

हारीजगच्छ — पाटण और सखेश्वर के मध्यवर्त्ती हारीज नामक स्थान से यह गच्छ प्रसिद्ध में आया । इसके १४ वीं से १६ वीं शती तक के लेख प्रकाशित हैं । इस गच्छ के नेमिचद्रसूरि ने तरगवती कथा सक्षेप व ऋषभ पचाशिका वृत्ति बनाई ।

हुबडगच्छ — हुबड स्थान से ही इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है जहाँ से हुबड नामक जाति प्रसिद्धि में आइ । इस गच्छ के १५ वीं शती के लेख प्रकाशित हैं ।

हीरापल्ली — इस गच्छ का एक लेख स १४२९ वीरचदसूरिप्रतिष्ठित प्राचीन लेख संग्रह में प्रकाशित है । सभवत जीरापल्ली को अशुद्ध पढे जाने के कारण ही यह नाम छपा है। यदि पाठ शुद्ध है तो हीरापल्ली नामक किसी स्थान से उत्पत्ति हुइ है । बुद्धिसागरसूरिजी ने इसे बीजापुर के निकटवर्ती हीरपुर होने का अनुमान किया है । प्राचीन लेख सग्रह लेखाक ८० में हीरापल्ली नाम आया है ।

अब कतिपय शंकाशील गच्छ नामा का निर्देश भी यहा कर दिया जाता है—

१ विजयधर्मसूरि सम्पादित प्राचीन लेख सग्रह भा १ में से —

a) उढव एव कुवड गच्छों के नाम विचारणीय हैं। ये अशुद्ध नहीं पढ गये हो ।

b) ल ४०० में खडेरवाल नाम आता है । उसे गच्छ सूची में खडेरवाल के

नाम से दिया गया है, पर वह प्रसिद्ध संडेरक गच्छ ही है।

c) गच्छ नाम सूची में जामाणकीय का नाम है, पर लेख में वहां गच्छ शब्द नहीं होनेसे ग्राम का नाम ही समझना चाहिये।

d) सिडानी को सिध्दान्ती होने का उल्लेख नोटो के पृ. ३४ में कर ही दिया है।

e) लेखांक १२३ में "सेखुरगच्छ" का नाम है वह विचारणीय है।

f) लेखांक १२७ में ब्र. स्याणी गच्छ नाम आता है. पर अशुध्द खुदा या पढा गया प्रतीत होता है।

(२) अर्बुदगिरि लेख संदोह में—

१. चतरूप्रगच्छ का नाम लेखांक १५२ में मिलता है वह संभवतः अशुद्ध है।

(३) नाहरजी के जैन लेख संग्रह में—

१. वाहड (ले. २२६९ में D छपा है वह संडेर संभव है।

२. ता (ज्ञा!) वकीय (ले. ८६७) छपा है, वह ज्ञानकीय संभव है।

३. व्यवसीह (ले. १७०८) छपा है। वह वास्तव में अशुद्ध छपा है व गच्छ का नाम नहीं है।

४. पर्वीय—(ले. ४१२) में छपा है वह पल्लीय संभव है।

५. गच्छ नाम सूची में पार्श्वनाथगच्छ छपा है, पर लेखों में पार्श्वचंद्रसूरि गच्छ नाम मिलता है; अतः भ्रमवश भूल हुई है।

६. ले. ११५९ में चाणा चालगच्छ छपा है। वहाँ नाणावाल होना संभव है। लेख अशुद्ध पढ़ा गया प्रतीत होता है।

७. ले. १२८८ में जापड़ाणगच्छ नाम आता है। वह भी प्रायः अशुद्ध पढ़ा गया प्रतीत होता है।

८. ले. नं. १३४० में "नमदालगच्छ" छपा है। वहाँ ओसवाल गच्छ नाम संभव है। खुदने व पढ़ने में अशुद्धि रह गयी है।

९. ले. १०७९ में निद्रति नाम अशुद्ध छपा है। शुद्धनाम निवृत्ति है।

१०. ले. १०४२ में "राम (!) प्रम्पागच्छ" अशुद्ध छपा है।

११. ले. १६८९ में वापदीय गच्छ छपा है, वायडीय चाहिये।

१२. ले. १६२५ में रदुल गच्छ भी अशुद्ध छपा है।

१४. ले. २४६४ में थिरादा छपा है। वहाँ थिरापद्र पाठ होना संभव है।

१६ ले २२३२ में वापटीय अशुद्ध छपा है, वायडीय होना चाहिये ।

(४) धातुप्रतिमा लेख सग्रह से —

भा १ के गच्छ व आचार्य नामसूची में,

पृ ३८ में शडारे गच्छ छपा है, सडेर चाहिये ।

पृ ३९ में किष्ररस गच्छ छपा है। वह कृष्णर्षिगच्छ न हो ?

पृ ३९ में जेरडगच्छ छपा है । यह अशुद्ध प्रतीत होता है ।

पृ ४० में नाणेंद्र गच्छ छपा है। यहा नागेन्द्र चाहिये ।

पृ ४० में तिहुणा गच्छ छपा है। यह भी अशुद्ध है ।

भा २ ले १३ में नागर (नागेन्द्र) छपा है । यह नागेन्द्र ही सभव है ।

पृ २३६ में गच्छ नाम सूची में सुविहित गच्छ छपा है, पर लेख में गच्छ शब्द नहीं है ।

५) अहमदाबाद से प्रकाशित प्रशस्ति सग्रह में —

पृ ६४ में भावर गच्छ छपा है। यह अशुध्द है।

पृ १०२ में भाव गच्छ ,, ,, ,,

६] जैन गच्छ मत प्रबन्ध में —

१ निगजियगच्छ – ८४ गच्छ नाम सूची से लिया है, पर उसका हाल कोई उल्लेख नहीं मिलता ।

२ स्तनपक्ष गच्छ-किसी पट्टावलि के अनुसार १३ वीं में विद्यमान होना लिखा है, पर अन्य उल्लेख प्राप्त नहीं है ।

३ धीशावल गच्छ – पृ ६७ में जिनवल्लभसूरि के सार्ध शतक पर टीका के रचयिता धनेश्वरसूरि को धीशावल गच्छ का लिखा है; पर प्रशस्ति में केवल चन्द्रकात का उल्लेख है । अत यह नाम सही नहीं ।

४ पुरन्दर गच्छ (पृ ६८) स १४२ के राणपुर के लेख में इस गच्छ का नाम आता है लिखा है । पर यह लेख तपागच्छीय सोमसुंदरसूरि का ही है।

५. पृ १०३ में वागड गच्छ के लेख का अश दिया है। यह वायड सभव है।

६ पृ १०७ सौदाधर्टीय गच्छ के प्रतिमा लेख का उल्लेख है, पर यह अशुद्ध है।

७ ? ४० जागेड का नाम आता है। पर यह अशुद्ध ही प्रतीत होता है ।

(७) चिंतामणि भूमिगृहस्थ धातु प्रतिमा लेखों में —

१ सं १०२० के लेख में सनपुरीय धर्मघोषसूरि है। रत्नपुरीय पाठ संभव है।

२. सं. १०६८ के लेख में गच्छे श्रीपार्श्वसूरिणां

३. सं. १३९१ ,, ,, उवढवेलय श्रीमाणिक्य सूरिपट्टे श्रीवयर-सेणसूरिभिः

४. सं. १४०९ ,, ,, अन्नढंचीय श्रीवयरसेणसूरिभिः

५. सं. १४२० ,, ,, झेरेडीयक श्रीविजयचंद्रसूरिभिः

६. सं. १४२० ,, ,, श्रीवाल गच्छे श्री श्रीमल्ल

७. सं.

८. सं. १४३४/४० ,, ,, दादासिरिचंद्रसूरि

९. सं. १२५८ ,, ,, भावदेवाचार्यगच्छ जिनदेवसूरि

१०. सं. १३६८ ,, ,, वादीन्द्रश्रीदेवसूरिगच्छे धर्मदेवसूरि

११. सं. १४ ,, ,, ओंत्रश्रीगच्छे श्रीसूरिभिः

२ कई गच्छों की आचार्य-परम्परा सम्बन्धी ऐति. नोंध –
(१५ वीं शताब्दी तक की)

नाग्रेन्द्र गच्छे — विजयसेनसूरि, उदयप्रभसूरि, मल्लिषेणसूरि, प्रमाणंदसूरि, शेखर-सूरि, श्री सागरचंद्रसूरि ।

खंडेरगच्छे — यशोभद्रसूरि, शालिसूरि, सुमतिसूरि, ईश्वरसूरि, शांतिसूरि पुनः पुनः ।

वायडगच्छे — श्री जीवदेवसूरि, जिनदत्तसूरि, पंडित अमर, राशिल्लसूरि पुन॰ पुनः ।

थारापद्रीय गच्छे — श्री शांतिसूरि, श्री प्रसन्नचंद्रसूरि, श्री सर्वदेवसूरि, विजय-सिंहसूरि सूरयः ।

पूर्णतल्लगच्छे — श्री दत्तसूरि, यशोभद्रसूरि, प्रद्युम्नाचार्य, गुणशेखरसूरि, श्री देव-चंद्रसूरि, श्री हेमसूरि, बालचंद्रसूरि संताने माणिक्यसूरि, वज्रसेनसूरि, हरि-भद्रसूरि, हरिप्रभसूरि ।

भावडारगछे — श्री विजयसिंहसूरि, श्री वीरसूरि, भावदेवसूरि, जिनदेवसूरि, पुनः पुनः ।

ओसवालगछे — देवगुप्तसूरि, सिद्धसूरि, कक्कसूरि, पुनः पुनः रत्नप्रभसूरि, यक्षदेवसुरि ।

भांडारीगछे — मून्येव नामानि ।

कोरंटावालगछे — श्री नन्नसूरि, कक्कसूरि, सावदेवसूरि, पुनः २ ।

कृष्णर्षि गछे — श्री जयसिंहसूरि, प्रसन्नचंद्रसूरि, महेन्द्रसरि पुनः पुनः ।

हर्षपुरीगछे—श्री तिलकसूरि, राजशेखरसूरि, मुनिशेखरसूरि, मतिसागरसूरि विद्यासागरसूरि

बृहद्गछे—श्री मुनिचंद्रसूरि, देवसूरि, माणदेवसूरि, हरिभद्रसूरि, पूर्णभद्रसूरि, नेमिचंद्रसूरि, नयचंद्रसूरि, मुनिराजसूरि, मुनिशेखरसूरि, श्री तिलकसूरि, भद्रेश्वरसूरि, मुनीश्वरसूरि।

२ हेमप्रभसूरि, वयरसेनसूरि, रत्नशेखर, पुनचंद्रसूरि, हेमहंस सूरि, रत्नसागर।

३ श्री पूर्णभद्रसूरि, पद्मप्रभसूरि, अमरप्रभसूरि, ।

धर्मघोष गच्छे — प्रथम शाखाया-अमरप्रभसूरय, ज्ञानचन्द्रसूरय, सागरचंद्र सूरय, मलयचंद्रसूरि, पद्मशेखरसूरि ।

द्वितीय शाखाया — धर्मदेवसूरि, श्री तिलकसूरि, श्री धर्मशेखरसूरि।

तृतीय शाखाया — सर्वदेवसूरि, सोमप्रभसूरि, गुणभद्रसूरि, सर्वाणंदसूरि, श्रीवीर भद्रसूरि, श्री पद्मचन्द्रसूरि ।

चतुर्थ शाखाया — यशोदेवसूरि, सोमप्रभसूरि, श्री पूर्णचन्द्रसूरि ।

अंचलगछे — आर्य रक्षित सूरि, सिंहतिलकसूरि, चन्द्रप्रभ, सोमचंद्र, सोमतिलक, मेरुतुंगसूरि ।

नाणकीय गछे श्री शांतिसूरि ।

(अवशेष खरतर शाखायें) [अनय जैन ग्रन्थ पत्र १९]

पार्श्वचंद्र के समय के गच्छ नाम —

' लघुशालीय, बृहद्शाखी, भगुकच्छ, खरतर, आगमिक, पौणिमिक, विधि पक्ष, उपकेश, मलधारी, कोरटक, चित्रनाणक, पल्लिका बृहद्गच्छ।

(उपला के पाक्षिक चया से)

१ सर्व गछ शाखा नामानि लिख्यते ।

१ सडेरा। वरदत्त गणधरत

२ ओसवाल। केसीकुमारत

३ चिंतामणिया १ खंभाइतिया (ओस वाला थी पूर्वे ते निर्गता)

४ कोरंटवाल। श्री रत्नप्रभसूरि

५ विवंदणीक, घोगेजीया, सं १९०९ खरतर-तपा इति पहुं विरुद चिंतामणिया थी थयुं।

६ विवंदणीक टींबलिया

७ विवंदणीक खिराल्या

८ नाणवाल सं १० वर्षे थया

९. ब्रह्माणिया, झिंझुवाडीया थंभ द्वीविया

१० ब्रह्माणीया, पाटणीया

११ कोहरिया

१२ भावड हरा

१३. पल्लीवाल सं. १३० वर्षे जाता

१४. कासद्रावाली वर दत्तात् देवर्द्धित संवत्१९८

१५. हीरेजा देवमूर्त्ति तो जाता

१६. नाग्रेंद्रा मोरवीया। नाइला इत्यपि नाम।

१७. नागेंद्रा काकरेचा

१८. नागेंद्रा खारी वावीया

१९. नागेंद्रा चतुर्थी शाखा गच्छे साद्धय (श्रद्धा?) एव वर्तते, न साधवः

२०. मलधारा, पूर्वं हरसउरा राम

२१. कहूरसा। सोपुरवाल वीरात् ७१९ आर्य सुहस्ति सूरि शिष्ये आर्य गुप्तसूरित स्थापना, चारण गच्छस्तच्छाखा वज्र नागरी ततः कृष्ण गच्छ

२२. कन्हुरसा तपा नागपुरे

२३. मांडलेवा विद्याधरा

२४. धर्मघोषा भूढीवाल

२५. धर्मघोषा सूरीणा

२६. धर्मघोषा उचितवाल

२७. चित्रवाल चित्रोडिया

२८. चित्रवाल। सलखणपुरा वड गच्छा ८४ गच्छ

२९ व. सिद्धांती १

३०. व. सालवाडीया २

३१ व. सिरातिवाडिया ३

३२. व. पिंपलिया साचउरा ४

३३. व. पि. थिराद्रा ५

३४. व. पि. वडलीया ६

३५. व. पि. जंवूया ७

३६. व. पि. राजपूरा ८

३७. व. पि. जोगीवाडिया ९

३८. व. पि. खेत्रपालिया १०

३९. व. पि. मंडाहडा ११

४०. व. पि. सीरोहिया १२

४१. व. मी. नडलाइया १३

४२. व. मी. जाखडीया, पूर्वं रतनपुरा १४

४३. व. मं. भटाणीया १५

४४. व. मं. अहलाणीया १६

४५. व. मं. वोकडीया १७

४६. व. मं. जीराडलीया १८

४७. व. मं. भीनमालीया १९

४८. व. मं. ब्रह्माणीया २०

४९. वं. मं. वीलाडीया राडद्रहीयापूर्व २१

५०. व. मं. कापडहेडीया २२

५१. व. सेवंत्रिया। पंचवल्लही शाखा २३

५२. व. देवकपत्तने देवेन्द्रसूरिजा २४

५३. व. डभोइया राजप्रभना २५

५४. व. साहोटीया धनप्रभना २६

५५. ढिल्लीवाल वरडीया २७

५६. वा. हीउवणिय्या गूजरवणिगमुख २८

२७ ५७. व. कूडाई कर्मसुंदरसूरि २९

५८. व. गुंदीडया ३०

५९. व. खांचरोदिया ३१

६०. व. घंसवाला ज्ञानसुंदरिसूरि ३२

६१. पुनमीया छापरीया सं. ११५९ १

६२. पुं. साणदिया २

६३. पु. झांगडिया ३

६४ पु ढढेरीया ४	६५ पु साधपूनमीया प्र शाखा ५
६६ पुनमीया लाढोहीया ६	६७ पु काछेला ७
६८ पु चडोढीहा ८	६९ पु सीरोहिया, कठोरवाल शाखा ९
७० पु सोझतिया, साहलेवाल शा १०	७१ पु सुई ग्रामणि स १०८० खरतरगच्छ
७२ ख भट्टारकीया माणमोमिया १	७३ ख आचार्य जीया २
७४ ख पींपलिया ३	७५ ख बेगड़ा ४
७६ ख मडुकरीकोटी ५	७७ ख रग्लीया नगर ६,
७८ ख छापरिया रद्देलिया ७	७९ ख भाव हरखीया ८

स ११८५ तपागच्छ

८० तपा वडीपोसाल्ना १	८१ त भरुउछा चन्द्रवालाख्या
८२ त सुधर्लीया वड्डा पोसाल	८३ त पाल्हणपुर लघुशाखा
८४ त कमल कलशा लघु शा	८५ त कनकपुरा लघुशाखा
८६ त नीगमिया	८७ त आणद विमलीया लघुशाखा स १५८२ वर्षे
८८ त नागोरी	८९ त म नागोर थी स १५६८ वर्षे जाता पासचद्र
९० आगमीया गाभूचा	९१ आ धूधकीया
९२ आ सरखेआ स ९१२ आचलीया	९३ पूर्णतल्लगच्छे श्री हेमाचार्य
९४ हस्तकुडगच्छे सड	९५ गतनिवृति गच्छे आचारा त वृति ४
९६	९७ मडोवर वालपल्गिा मत ५
९८ वायड गच्छे जिनदत्तसूरि ६	९९ सोझितवाल पल्लगणात् ७

अंग विज्जा

लेखकः—डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल

जैन साहित्य में अंगविज्जा नामक एक प्राचीन ग्रन्थ है। यह लगभग कुशाण-गुप्त युग के संधिकाल का ज्ञात होता है, किन्तु अभी तक कहीं प्रकाशित नहीं हुआ। प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, नई दिल्ली की ओर से अब यह मूल्यवान् संग्रह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, जिसका सम्पादन मुनि श्री पुण्यविजयजी ने किया है।

अंगविद्या प्राचीनकाल की एक लोक-प्रचलित विद्या थी। शरीर के लक्षणों से अथवा अन्य प्रकार के निमित्त या चिह्नों से किसी के लिए शुभाशुभ फल का कथन इस विद्या का विषय था। पाणिनि ने ऋगयनादि गण में ४. ३. ७३ अंगविद्या, उत्पात, उत्पाद, संवत्सर, मुहूर्त, निमित्त आदि विषयों पर लिखे जाने वाले व्याख्यान-ग्रन्थों का उल्लेख किया है। ब्रह्मजाल सुत्त में निमित्त, उप्पाद और अंगविज्जा के अध्ययन को भिक्षुओं के लिए वर्जित माना है (दीर्घनिकाय)। किन्तु यह अंगविद्या क्या थी, इसके बताने वाला एक मात्र प्राचीन ग्रन्थ यही जैन साहित्य में "अंगविज्जा" नाम से बच गया है, जिसकी गणना आगम साहित्य के प्रकीर्णक ग्रन्थों में की जाती है। इसमें कहा है कि दृष्टिवाद नामक बारह वें अंग में अर्हत् वर्धमान महावीर ने निमित्त ज्ञान बताने वाले इस विषय का उपदेश किया था।

अंग, स्वर, लक्षण, व्यंजन, स्वप्न, छींक, भौम, अंतरिक्ष इस प्रकार निमित्त कथन के ये आठ आधार माने जाते थे। इन महानिमित्तों से अतीत और अनागत के भाव जानने का प्रयत्न किया जाता था। इनमें भी अंगविद्या सब निमित्तों में श्रेष्ठ समझी जाती थी। जैसे सूर्य सब रूपों को साफ दिखा देता है, ऐसे ही अंग से अन्य सब निमित्तों के बारे में बताया जा सकता है।

यहां इस ग्रन्थ के अंगज्ञान के विषय में लिखने का उद्देश्य नहीं है, वरन् इसमें जो ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व की शब्दावली है उसकी कुछ सूचियों की ओर ध्यान दिलाना उद्दिष्ट है। इस ग्रन्थ में तत्कालीन जीवन के अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित लम्बी-लम्बी शब्दसूचियां उपलब्ध होती हैं। ये सूचियां बौद्ध ग्रन्थ महाव्युत्पत्ति की सूचियों के समान अति महत्वपूर्ण हैं। इन दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक दृष्टि से सांस्कृतिक अध्ययन आवश्यक है।

ग्रन्थ में कुल साठ अध्याय हैं। कहीं-कहीं लम्बे अध्यायों में पटल नामक अवान्तर विभाग हैं, जैसे आठवें अध्याय में विविध विषय संबंधी तीस पटल और नौवें अध्याय में १८६८ कारिकाएं हैं जिनमें २७० विविध विषयों का निरुपण है।

आरम्भ के अध्यायों में अंगविद्या की उत्पत्ति, स्वरूप, शिष्य के गुण-दोष, अगविद्या का माहात्म्य आदि प्रास्ताविक विषयों का विवेचन है। पहले अध्याय में अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु-इन्हें नमस्कार किया है। इस विद्या का उपदेश महापुरुष ने किया था और ये भगवान महावीर ही ज्ञात होते हैं। निमित्तों के आठ प्रकार हैं— अग, स्वर, लक्षण, व्यञ्जन अर्थात् तिल आदि चिह्न, स्वप्न, छींक, भौम [पृथ्वी सम्बन्धी निमित्त] और अन्तरिक्ष। इन निमित्तों में अंग का विशेष महत्व है। यह विद्या बारहवें अग दिट्ठिवाय के अन्तर्गत मानी जाती थी जिसका भद्रबाहु के शिष्य स्थूलभद्र के समय से लोप हो गया। उसके बाद ग्रन्थ के साठ अध्यायों के नामों की सूची दी गई है।

दूसरे अध्याय में जिन भगवान् की स्तुति है। अध्याय तीसरे से पाचवें में शिष्य के चुनाव और शिक्षण के नियम बताये गये हैं। ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुल में वास करने वाले श्रद्धालु शिष्य को ही इस शास्त्र का उपदेश करना चाहिए। चौथे अध्याय में अगविद्या की प्रशसा की गई है। लेखक के अनुसार अंगविद्या के द्वारा जय-पराजय, आरोग्य, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, अनावृष्टि-सुवृष्टि, धनहानि, कालपरिमाण आदि बातों का ज्ञान हो सकता है। आठवां भूमिकम नामक अध्याय ३० पटलों में विभक्त है और उनमें महत्व की सामग्री है।

आसनों का उल्लेख करते हुए उनके कई प्रकार बताये गये हैं, जैसे सस्ते (समग्घ) महँगे (महग्घ) और औसत मूल्य के [तुलग्घ], टिकाऊ रूप से एक स्थान में जमाए हुए [एकट्ठान], इच्छानुसार कहीं भी रखे जाने वाले [चलित], दुर्बल और बली अर्थात् सुकुमार बने हुए या बहुत भारी या सगीन। आसनों के भेद गिनाते हुए कहा है-पर्यंक, फलक, काष्ठ, पीढिका या पीढिया, आसन्दक या कुर्सी, पल्की, भिसी या वृसी अथात् चटाई, चिफलक या चम्म विशेष का बना हुआ आसन, मचक या मांचा, मसूरक अथात् कपडे या चमडे का चपटा गोल आसन, भद्रासन अथात् पायेदार चौकी जिसमें पीठ भी लगी होती थी, पीढग या पीढा, काष्ठ खाट या लकडी का बना हुआ बड़ा पटीनुमा आसन। इसके अतिरिक्त पुष्प, पत्र, वीन, शाखा, भूमि, तृण, लोहा, हाथीदांत से बने आसनों का भी उल्लेख है। उत्पल का अर्थ सभवत पद्मासन था। एक विशेष प्रकार के आसन को नागद्विश कहा है, जिसका अभिप्राय गेंडे, हाथी आदि के नख की हड्डियों से बनाया जाने वाला आसन था [पृष्ठ १५]। पृष्ठ १७ पर पुन आसनों की एक सूची है, जिसमें आस्तरक या चादर, प्रवेणी या बिछावन और कम्बल के उल्लेख के अतिरिक्त खट्वा, पल्यी, डिप्पर [अर्थ अज्ञात], मेढ्र खड [संभवत क्रीडा या खेल तमाशे के समय काम में आने वाला आसन], समेधणी [अर्थ अज्ञात] आदि का उल्लेख है।

कुषाणकालीन मूर्त्तियों में जो मथुरा से प्राप्त हुई हैं उनमें यक्ष, कुबेर, या साधु आदि अपनी टाग या पेट के चारों ओर वस्त्र बांधकर बैठे हुए दिखाए जाते हैं।

उसे उस समय की भाषा में पल्हत्थिया या पलौथी कहते थे। ये दो प्रकार की होती थीं। समग्र पल्हत्थिया या पुरी पलथी और अर्ध पल्हत्थिया या आधी पलथी। आधी पलथी दक्षिण और वाम अर्थात् दाहिना पैर या बायां पैर मोड़ने से दो प्रकार की होती थीं। मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित सी ३ संख्यक कुबेर की विशिष्ट मूर्ति वाम अर्ध पल्हत्थिया आसन में बैठी हुई है। पलथी लगाने के लिए साटक, बाहु-पट्ट, चर्मपट्ट, वल्कल पट्ट, सूत्र, रज्जु आदि से बंधन बांधा जाता था। मध्य कालीन कायबन्धन या पटकों की भांति ये पल्लत्थिकापट्ट रंगीन, चित्रित अथवा सुवर्णरत्न-मणिमुक्ताखचित भी बनाए जाते थे [पृ. १९]। केवल बाहुओं को टांगों के चारों ओर लपेटकर भी बाहुपल्लत्थिका नामक आसन लगाया जाता था।

नवमें पटल में अपस्सय या अपाश्रय का वर्णन है। इस शब्द का अर्थ आश्रम या आधार स्वरूप वस्तुओं से है। शय्या, आसन, यान, कुड्य, द्वार, खंभ, वृक्ष आदि अपाश्रयों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकरण में कई आसनों के नाम हैं, जैसे आसंदक, भद्रपीठ, डिप्फर, फलकी, वृसी, काष्ठमय पीढ़ा, तृणपीढ़ा, मिट्टी का पीढ़ा, छगण-पीढ़ग (गोबर से लिपा-पुता पीढा)। कहा है कि शयन-आसन, पलंक, मंच, मासालक [अज्ञात], मंचिका, खट्वा, सेज-ये शयनसम्बन्धी अपाश्रय हैं। ऐसे ही सीया, आसंदणा, जाणक, धोलि, गल्लिका [मुंडा गाड़ी के लिए राजस्थानी में प्रचलित शब्द गल्ली], सग्गड़, सगड़ी नामक यानसम्बन्धी अपाश्रय हैं। किडिका [खिडकी], दारुकपाट [दरवाजा], ह्रस्वावरण [छोटा पल्ला], लिपी हुई भींत, बिना लिपी हुई भींत, वस्त्र की भींत या पर्दा (चेलिम कुड्ड), फलकमय कुड्य [लकड़ी के तख्तों से बनी हुई भींत] अथवा जिसके केवल पार्श्व में तखते लगे हों और अन्दर गारे आदि का काम हो-(फलक पासित कुड्ड) ये भींतसम्बन्धी अपाश्रय हैं। पत्थर का खम्भा (पाहाणखंम), धन्नी (गृहस्य धारिणी धरणी), प्लक्ष का खंभ (पिलक्खक थंम), नाव का गुनरखा (णावाखम्भ), छायाखम्भ, झाडफानूस (दीवरुक्ख या दीपवृक्ष), यष्टि (लट्ठि) उदकयष्टि (दगलट्ठि) ये स्तम्भसम्बन्धी अपाश्रय हैं। पिटार (पडल,) कोथली (कोत्थका-पल,) मंजूषा, काष्ठभाजना ये भाजनसम्बन्धी अपाश्रय हैं (पृ. २९)।

इसी प्रकरण में कई प्रकार की कुड्या या दिवारों का उल्लेख आया है। जैसे रगड़कर चिकनी दिवार (मट्ठ), चित्रयुक्त भित्ति (चित्त), चटाई से (कडिल), या फूस से बनी हुई दीवार (तण कुड्ड), या सरकंडे आदि की तीलिओं से बनी हुई दीवार (कणगपासित) जिसके पार्श्वभाग में कणग-या तीलियाँ लगी हुई हों। किन्तु इस प्रकार की भींते अच्छी नहीं समझी जाती थीं। मृष्ट, शुद्ध और दृढ़ दीवारों को प्रशस्त माना जाता था। घृत, तेल रखने की बड़ी गोल केला=कयला=अलिञ्जर, मणि-मुक्ता-हिरण्यमंजूषा, वस्त्रमंजूषा, दधि, दुग्ध, गुड़, लवण आदि रखने के अनेक पात्र-ये सब नाना प्रकार के अपाश्रयों के भेद कहे गये हैं (पृ० ३०)।

स्थित नामक दसमें पटल मे अट्ठाईस प्रकार से खड़े रहने के भेद कहे गये हैं—आसन, शयन, यान, वस्त्र, आभूषण, पुष्प, फल, मूल, चतुष्पद, मनुष्य, उदक,

कर्दम, प्रासादतल, भूमि, वृक्ष आदि के सान्निध्य में खड़े होकर प्रश्न करने के फलाफल का निर्देश किया गया है। (पृ० ३१–३३)

ग्यारहवें पटल में नेत्रों की भिन्न २ स्थिति और उनके फलाफल का विचार है। (पृ० ३४)

बारहवें पटल में चौदह प्रकार के हसित या हँसने का निर्देश करते हुए उनके फल का कथन है। (पृष्ठ ३५-३६)

तेरहवें पटल में विस्तार से पूछनेवाले या प्रश्नकर्त्ता की शरीर-स्थिति और उससे सबंधित शुभाशुभ फल का विचार किया गया है। (पृ ३६–३७)

चौदहवें पटल में वदन करने की विधि को आधार मानकर इसी प्रकार का विचार है। (पृ ३७–४०)

प्रश्नकर्त्ता व्यक्ति जिस प्रकार का सलाप करे उसे भी फलाफल का आधार बनाया जा सकता है—इस बात का पन्द्रहवें पटल में निर्देश है (पृ ४०–४१)

इस प्रकार के बीस सलाप कह गये हैं जो अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष इन चारों भागों में बँटे जा सकते हैं। पुष्प, फल, गन्ध, माल्य आदि मांगलिक वस्तुओं के सबंध की चर्चा अर्थसिद्धि की सूचक है। ऐसी ही अनेक प्रकार की कथा या बातचीत के फल का निर्देश किया गया है।

सोलहवें पटल में आगत अर्थात् आगमन के प्रकारों से शुभ-अशुभ फल सूचित किए गये हैं (पृ ४१–४२)।

सत्रहवें पटल से तीसवें पटल तक रोने–धोने, लेटने, आने–जाने, जमाई लेने, बोलने आदि से फलाफल का कथन है [पृ ४३-५६]। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से इस अंश का विशेष महत्त्व नहीं है।

नौवें अध्याय की सज्ञा अगमणि है। इसमें २७० विषयों का निरूपण है। पहले द्वार में शरीर सबंधी ७५ अंगों के नाम व उनके शुभाशुभ फल का कथन है। विभिन्न प्रकार के मनुष्य, देवयोनि, नक्षत्र, चतुष्पद, पक्षी, मत्स्य, वृक्ष, गुल्म, पुष्प, फल, वस्त्र, भूषण, भोजन, शयनासन, भाण्डोपकरण, धातु, मणि एवं सिक्कों के नामों की सूचियां हैं। वस्त्रों में पटशाटक, क्षौम, दुकूल, चीनांशुक, चीनपट्ट, प्रावार, शाटक, श्वेत शाट, कौशेय और नाना प्रकार के कम्बलों का उल्लेख है। पहनने के वस्त्रों में इनका उल्लेख है–उत्तरीय, उष्णीष, कंचुक, वारबाण [एक प्रकार का कंचुक], सन्नाहपट्ट [कोई विशेष प्रकार का कवच], वितानक और पच्छत्त [संभवतः पिछौड़ी जो पीठ पर डाल कर सामने की ओर छाती पर गठिया दी जाती थी जैसा मथुरा की कुछ मूर्त्तियों में देखा जाता है], मल्लसाटक [पहल्वानों का लंगोट] [पृ० ६४]

आभूषणों के नामों की सूची अधिक रोचक है [पृ ६४–६५]। किरीट और मुकुट सिर पर पहनने के लिए विशेष रूप में काम में आते थे। सिंहभंडक यह आभूषण

कार्षापण और णाणक, मासक, अद्धमासक, काकणी और अट्ठभाग का उल्लेख है। सुवर्ण के साथ सुवर्णमासक और सुवर्ण-काकणी का नाम विशेष रूप से लिखा गया है (पृ. २१६)।

दूसरे द्वार में (पृ० ६६-७२) पिचहत्तर स्त्री नामों की सूचियाँ हैं जिनमें मनुष्य, देवयोनि, चतुष्पद, पक्षी, जलचर, थलचर, वृक्ष, पुष्प, फल, भोजन, वस्त्र, आभूषण, शयनासन, यान, भाजन, भाण्डोपकरण, और आयुधों के नाम हैं। स्त्रीजातीय मनुष्य नामों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं — अमच्ची, वल्लभी, प्रतिहारी, भोगिनी, तलवरी, रट्ठिनी (राष्ट्रिक नामक उच्च अधिकारी की पत्नी), सार्थवाही [सार्थवाह नामक व्यापारी की पत्नी], इब्भी [इभ्य नामक श्रेष्ठी की पत्नी], देश के अनुसार लाटी, किराती, बब्बरी (बर्बर देश की), जोणिका (यवन देश की), शबरी, पुलिन्दी, आन्ध्री, दिमिलि (द्रमिल या द्राविड़ देश की स्त्री) पृ० ६८।

देवयोनि (पृ० ६९) के अन्तर्गत कुछ देवियों के नाम महत्वपूर्ण हैं, जैसे इन्द्रमहिषी, असुरमहिषी, अइरिका, भगवती। किन्तु इस सूची में कुछ विदेश की देवियों के नाम भी आगये हैं, उनमें अपला, अणादित्ता, अइराणि, सालि-मालिनी उल्लेखनीय हैं। अपला यूनानीदेवी पेलस-अर्थीनी और अणाद्रित्ता ईरान की अनाहिता ज्ञात होती हैं। सालि-मालिनी की पहचान चन्द्रमा की यूनानीदेवी सेलिनी से संभवतः की जा सकती है। तिधिणी या तिधणी संज्ञा स्पष्ट नहीं है। हो सकता है यह रोम की देवी डायना का भारतीय रूप हो। अइराणि नाम पृ० २०५ और २२३ पर भी आया है। इसकी पहचान निश्चित नहीं। किन्तु प्राचीन देवियों की सूची में अफ्रोदिति का नाम इसके निकटतम है। यदि अइराणित्ति का पाठ अइरादित्ती रहा हो तो यह पहचान ठीक हो सकती है। रंभत्ति मिस्सकेसित्ति का पाठ भी कुछ बदला हुआ जान पड़ता है; क्योंकि मिश्रकेशी का नाम पहले आचुका है। मोतीचन्द्र जी को प्राप्त एक प्रति में रम्भं तिमिस्सकेसित्ति पाठ मिला था। इनमें तिमिस्सकेसी अरतिमिस नामक यूनानी देवी जान पड़ती है और रम्भ की पहचान इस्तर से संभव है। जो प्राचीन जगत् में अत्यन्त विख्यात थी और जिसे रायी, रीया भी कहा जाता था।

स्त्री जातीय वस्त्रों के नामों में ये शब्द उल्लेखनीय हैं। पत्रोर्ण, प्रवेणी, सोमित्तिक (अर्थ शास्त्र की सौमित्रिका जिसकी पहचान श्री मोतीचन्द जी ने पेरिप्लस के सगमोतोजिन से की है), अर्धकौशेयिका (जिसमें आधा सूत और आधा रेशम हो, कौशेयिका (पूरे रेशमी धागेवाला), पिकानादित (यह संभवतः बहुत महीन अंशुक था जिसे स्त्रियां पिक नामक केशपाश सिर पर बनाते समय बालों के साथ गूंथती थीं। पिक नामक केशपाश का उल्लेख अश्व घोष के सौन्दरनंद ७।७ में शुक्तांशुकाट्टाल नाम से एवं पद्मप्राभृतक नामक भाण में कोकिल केशपाश नाम से आया है और उसका रूप मथुरा वेदिकास्तंभ संख्या जे० ५५ के अशोक दोहद दृश्य में अंकित हुआ है), वाउक या वायुक (बाफ्त हवा), वेलविका (वेलदार या वेलभांत से युक्त वस्त्र), माहिसिक (महिष जनपद या हैदराबाद के बुने हुए वस्त्र), इल्लि (कोमल या कृष्ण वर्ण के वस्त्र),

जामिलिक (बौद्ध सस्कृत में इसे ही यमली कहा गया है), दिव्यावदान २७८।११, पाद ताडितक नामक भाण में श्लोक ५३ में भी इसका उल्लेख हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि यह एक प्रकार का कायबधन या पटका था जिसमें दो सभवत भिन्न रग के वस्त्रों को एक साथ बटकर कटि में बाधा जाता था। (समयुगल निबद्धमध्यदेश)। विशेषत ये वस्त्र चिकने मोटे अच्छे बुने हुए सस्ते या महँगे होते थे। पृ ७१।

स्त्री जातीय आभूषणों में ये नाम है—शिरीषमालिका, नलीयमालिका (नलकी के आकार के मन कों की माला), मकरिका (दो मगरमुखों को मिलाकर बनाया हुआ मस्तक का आभूषण), अरारिका या धनिस के आकार के दानों की माला, पुप्फितिका (पुप्फतिका) गहना, मकण्णी (सभवत लिपटकर बैठे हुए दो बदरों के अलकरण वाला आभूषण) लकड [कान में पहनने के चन्दन आदि काष्ठ के बुन्दे) वाली (कणवल्लिका), कर्णिका, कुण्डमालिका (कुडल), सिद्धार्थिका (वह आभूषण जिस पर सरसों के दाने जैसे रवे उठाये गये हो), अगुलिमुद्रिका, अक्षमालिका (रुद्राक्ष की आकृति के दानों की माला), पयुका (पदिक की आकृति से युक्तमाला), णितरिंगी (सभवत लहरियेदार माला), कटकमाला (नुकीले दानों की माला), घनपिच्छलिका (मोरपिच्छी की आकृति के दानों से घनी गूथी हुई माला), विकालिका (विकालिका या घटिका जैसे दानों की माला), एकावलिका (मोतियों की इकलड़ी माला जिसका कालिदास और बाण में उल्लेख आया है), पिप्पलमालिका (पीपली के आकार के दानों की माला जिसे मटरमाला भी कहते हैं), हारावली (एक में गूथे हुए कई हार), मुक्तावली (मोतियों की विशेष माला जिसके बीच में नीलम की गुरिया पड़ी रहती थी)।

कमर के आभूषणों में काची, रशना, मेखला, जबुका (जामुन की आकृति के बड़े दानों की करधनी, जैसी मथुरा कला में मिलती है), कटिका (कटीली जैसे दानों वाली) सपडिका (कमर में कसी या मिली हुई करधनी) के नाम है।

पैर के गहनों में पादमुद्रिका (पामुद्दिका), पादसूचिका, पादघट्टिका, किंकिणिका (छोटे घूघरू वाला आभूषण) और घंमिका (पैरों का ऐसा आभूषण जिसमें दीमक की आकृति के बिना बजने वाले घूघरू के गुच्छे लगे रहते है, जिन्हें बाजरे के घूघरू भी कहते हैं।) (पृ० ७१),

शयनासन और यानों में प्राय पहले के ही नाम आये हैं। बर्तनों के नामों में ये विशेष हैं—करोडी (करोटिका–कटोरी), कास्यपात्री, पालिका (पाली), सरिका, भृगारिका, कचणिका, कवचिका। बड़े बर्तनों (भाडोपकरण) के ये नाम उल्लेखनीय हैं— अलिन्दक (बड़ा पात्र), पात्री (तश्तरी), ओखली (थाली), कालची, करकी (टोटी दार करवा), कुठारिका (कोष्ठागार का कोई पात्र), थाली, मडी (माड पसाने का बरतन), घड़िया, दव्वी (डोइ), केला (छोटा घड़ा), उष्ट्रिका (गगरी), माणिका (माणक नामक घड़े का छोटा रूप), अणिमका (मिट्टी का सिलौटा), आयमणी (आचमणी या चमची) चुल्ली, घुमणाली (फुंकनी), समडणी (पकड़ने का सडसी), मजूषिका (छोटी

मंजूषा), मुद्रिका (ऐसा वर्तन जिसमें खान-पान की वस्तु मोहर लगाकर भेजी जांय) शलाकाञ्जनी (आंजने की सलाई), पेल्लिका (रस गालने का कोई पात्र), धृतुल्लिका (कोई ऐसा पात्र जिसमें धूता या पुतली वनी हो), पिंछोला (मुंह से वजाने का छोटा वाजा), फणिका (कंधी), द्रोणी, पटलिका, वत्थरिका, कवल्ली (गुड़ वनाने का वड़ा कड़ाह) आदि (पृ. ७२)।

तीसरे द्वार में नपुंसक जाति के अंगों का परिगणन है। चौथे द्वार में दाहिनी ओर के १७ अंगों के नाम हैं। पांचवें द्वार में १९ वाईं ओर के अंग, छठे द्वार में १९ मध्यवर्ती अंग, सातवे द्वार में २८ दृढांग, आठवें द्वार में २८ चल अंग और उनमें शुभाशुभ फलों का कथन है। नवें द्वार से लेकर २७० वें द्वार तक शरीर के भिन्न-भिन्न अग और उनके नाना प्रकार के फलों का वहुत ही जटिल वर्णन है। इन थका देने वाली सूचियों से पार पाना इस विषय के विद्वानों के लिए भी दूभर काम रहा होगा। (पृ. ७१-१२९)

दशवें अध्याय में प्रश्नकर्त्ता के आगमन और उसके रंग-ढंग. आसन आदि से फलाफल का विचार है। (पृ० १३०-१३५)

पुच्छित नामक ग्यारहवें अध्याय में प्रश्नकर्त्ता की स्थिति एवं जिस स्थान में प्रश्न किया जाय उसके आधार पर फलाफल का कथन है। सांस्कृतिक दृष्टि से यह अध्याय महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें तत्कालीन स्थापत्यसंवंधी अनेक शब्दों का संग्रह आगया है; जसे कोट्टक (कोष्ठक या कोण), अंगण (आंगन या अजिर), अरंजरमूल (जलगृह), गर्भगृह (अभ्यंतर गृह या अन्तः पुर), भत्तगिह (भोजनशाला), वच्चगिह (वर्चकुटी या मार्जनगृह), णक्कुड (संभवतः नगकूट या उद्यान), उदकगृह, अग्निगृह, भूमिगृह (भौंहरा), विमान, चत्वर, संधि (दो घरों की भीतों के वीच का प्रच्छन्न स्थान), समर (स्मरगृह या कामदेवगृह), कड़िक तोरण (चटाई या फूँस से बनाया हुआ अस्थायी तोरण), प्राकार, चरिका (प्राकार के पीछे नगर की ओर की सड़क), वेती (संभवतः वेदिका), गयवारी (गजशाला), संकम (संक्रम या परिखा के ऊपर वनाया हुआ पुल), शयन (शयनागार), वलभी (अट्टालिका), रासी (कूड़ी), पंसु (धूल), णिद्धमण [पानी का निकास मार्ग, मोरी], णिकुड [संभवतः निष्कुट], फलिखा [परिखा], पावीर [संभवतः मूल पाठ पाचीर=प्राचीर], पेढिका [पेढी या गद्दी], मोहणगिह [मदनगृह--स्मरशाला], ओसर [अपसरक-कमरे के सामने का दालान, गुजराती ओसरी-हिन्दी ओसारा], संकड़ (निश्छिद्र अल्प अवकाशवाला स्थान). ओसधिगिह, अभ्यन्तर परिचरण (पाठान्तर परिवरण-भीतरी परिवेष्टन-परकोटा), वाहिरी द्वारशाला, गृहद्वार वाहा (गृहद्वार का पार्श्वभाग), उवट्ठाण जालगिह (वह उपस्थानशाला जहाँ गवाक्ष जाल वनें हो; यह प्रायः महल के ऊपरी भाग में वनी होती थी), अच्छणक (आसनगृह या विश्राम स्थान), शिल्पगृह, कर्मगृह, रजतगृह (सोने, चांदी से मांडा हुआ विशिष्ट गृह), ओधिगिह (पाठान्तर उवगिह=उपगृह), उप्पलगृह (कमलगृह), हिमगृह, आदंस

(आदशगृह,- शीश महल), तलगिह (भूमिगृह), आगमगिह (सभवत आस्थायिका या आस्थानशाला,), चतुक्कगिह (चोक), रच्छागिह (रथ्यागृह), दन्तगिह (हाथी दात] से मडित कमरा), कसगिह (कासे से मडित कमरा), पडिक्कमगिह (प्रतिक्रमण या धार्मिक कृत्य करने का कमरा), ककसाला (कक=विशेष प्रकार का लोह-उससे बना हुआ कमरा), आतपगिह, पणियगिह (पण्यगृह), आसणगिह (आस्थान शाला), भोजनगृह, रसोतीगिह (रसवतीगृह, रसोई), हयगृह, रथगृह, गजगृह, पुष्पगृह, धूतगृह, पातरगिह (पात्रगृह), खलिणगिह (वह कमरा-जहाँ घोडे का साज सामान रखा जाता हो), वधरगिह (कारागार), जाणगिह (यानगृह), पृ० १३६।

कुछ दूर बाद स्थापत्यसबधी शब्दों की एक लम्बी सूची पुन आती है। जिसमें बहुत से नाम तो ये ही हैं और कुछ नये हैं, जसे भग्गगिह (लिपा—पुता घर, भग्ग-देशीशब्द=लिपा-पुता, देशीनाममाला ६/९९), सिंघाडग (शृगाटक=साव जनिक चतुष्पथ), रायपथ (राजपथ), द्वार, क्षेत्र, अट्टालक, उदकपथ, वय (व्रज), वप्प (वप्र), फलिहा (परिघ या अगला), पउली (प्रतोली, नगर द्वार), अस्समोहणक (अश्वशाला), मचिका (प्राकारके साथ बने हुए ऊचे बैठने के स्थान), सोपान, खम्भ, अभ्यतर द्वार, बाहिर द्वार, द्वारशाला, चतुरस्सक (चतुष्क), महाणस गिह, जलगिह, रायणगिह (रत्नगृह, जिसे पहले रयनगिह या रजतगृह कहा है वह सभवत रत्नगृह था), भाडगृह, ओसहि गिह (ओषधिगृह), चित्तगिह (चित्रगृह), लतागिह, दगकोट्टक (उदक कोष्ठक), कोसगिह (कोषगृह), पाणगिह (पानगृह), वत्थगिह (वस्त्रगृह, तोशाखाना), जूतसाला (द्यूतशाला), पाणवगिह (पण्यगृह या व्यवहारशाला), लेवण (आलेपन या सुगधशाला), उज्जाणगिह (उद्यानशाला,) अपसण गिह [आदेशनगृह], मडव (मडप), वेसगिह (वेशगृह शृगार स्थान), कोट्ठागार (कोठार), पवा (प्रपाशाला), सेतुकम्म (सेतुकर्म), जणक (सभवत जाणक – यानक), ण्हाणगिह (स्नानगृह), आतुरगिह, ससरणगिह (स्मृतिगृह), सुक शाला (शुल्कशाला), करणशाला (अधिष्ठान या सरकारी दफ्तर), परोहड (घर का पिछवाडा)। अन्त में कहा है कि और भी अनेक प्रकार के गृह या स्थान मनुष्यों के भेद से भिन्न-भिन्न होते हैं, जिनका परिचय लोक से प्राप्त किया जा सकता है (पृ० १३७–१३८)

बारहवें अध्याय में अनेक प्रकार की योनियों का वणन है। धमयोनि का सबध धार्मिक जीवन और तत्सबधी आचार-विचारों से है। अथयोनि का सबध अनेक प्रकार के धनागम और अर्थोपाजन में प्रवृत्त स्त्रीपुरुषों के जीवन से है। काम योनि का सबध स्त्री-पुरुषों के अनेक प्रकार के कामोपचारों से एव गन्ध माल्य, स्नानानुलेपन, आभरण आदि की प्रवृत्तियों और भोगों से है। सत्त्वों के पारस्परिक सगम और मिथुन भाव को सगमयोनि समझना चाहिए। इसके प्रतिकूल विप्रयोगयोनि वह है जिसमें दोनों प्रेमी अलग-अलग रहते हैं। मित्रों के मिलन और आनदमय जीवन को मित्रयोनि समझना चाहिए। जहा आपस में अमैत्री, कलह आदि हों और दो व्यक्ति अहि-नकुल भाव स रहे वह विवाद

योनि है। जहां ग्राम, नगर, निगम, जनपद, पत्तन, निवेश, स्कन्धावार, अटवी, पर्वत आदि प्रदेशों में मनुष्य दूत, सन्धिपाल या प्रवासी के रूप में आते - जाते हों, उस प्रसंग को प्रावासिक योनि मानना चाहिए। ये ही लोग जब ठहरे हुए हों तो उसे पवुन्थ या गृहयोनि समझना चाहिए।

तेरहवें अध्याय में नाना प्रकार की योनियों के आधार पर शुभाशुभ फल का कथन है। सजीव, निर्जीव और सजीव—निर्जीव तीन प्रकार की योनि और तीन ही प्रकार के लक्षण हैं अर्थात् उदात्त, दीन और दीनोदात्त। (पृ. १४०–१४४)

चौदहवें अध्याय में यह विचार किया गया है कि यदि प्रश्नकर्त्ता लाभ के संबंध मे प्रश्न कहे तो कैसा उत्तर देना चाहिए। लाभसंबंधी प्रश्न सात प्रकार के हो सकते हैं—धनलाभ, प्रियजनसमागम, संतान या पुत्रप्राप्ति, आरोग्य, जीवित या आयुष्य, शिल्पकर्म, वृष्टि और विजय। इनका विवेचन चौदहवें से लेकर २१ वें अध्याय तक किया गया है। वृष्टिद्वार नामक वीसवें अध्याय में जलसम्बन्धी वस्तुओं का नाम देते हुए कोटिम्ब नामक विशेष प्रकार की नाव का उल्लेख आया है जिसका परिगणन पृष्ठ० १६६ पर नावों की सूची मे पुनः किया गया है। धनलाभ के संबंध में फल-कथन उत्तम वस्त्र, आभरण, मणि—मुक्ता, कंचन-प्रवाल, भाजन--शयन, भक्ष्य—भोजन आदि मूल्यवान वस्तुओं के आधार पर और प्रश्नकर्त्ता द्वारा उनके विषय में दर्शन या भाषण के आधार पर किया जाता था [पृष्ठ १४४]

पंन्द्रहवें अध्याय में समागम के विषय मे फल-कथन हंस-कुररी-चक्रवाक, कारण्डव, कादम्ब आदि पक्षियों की कामसंबंधी चेष्टाओं अथवा चतुष्पथ, तीर्थ, उद्यान, सागर, नदी, पत्तन आदि की वार्ताओं के आधार पर किया गया है। इसमें समोद, संप्रीति, मित्रसंगम या विवाह आदि फलों का उल्लेख किया जाता था।

सोलहवें अध्याय में संतान के संबंध में प्रश्न का उत्तर कहा गया है, जो बच्चों के खिलौनों या तत्सदृश वस्तुओं के आधार पर कहा जाता था।

सत्रहवें अध्याय में आरोग्यसंबंधी प्रश्न का उत्तर पुष्प, फल, आभूषण आदि के आधार पर अथवा हास्य, गीत आदि भावों के आधार पर करने का निर्देश है।

अठारहवें अध्याय में जीवन और मरणसंबंधी प्रश्नकथन का वर्णन है।

कर्मद्वार नामक उन्नीसवें अध्याय में राजोपजीवी शिल्पी एवं उनके उपकरणों के संबंध में प्रश्नकथन का उल्लेख है।

वृष्टिद्वार नामक वीसवें अध्याय में उत्तम वृष्टि और सस्य – संपत्ति के विषय में फलकथन का निर्देश है, जो नावा, कोटिम्ब, डआलुआ नामक नौका, पद्म उत्पल, पुष्प, फल, कंदमूल, तैल, घृत, दुग्ध, मधुपान, वृष्टि, स्तनित, मेघगर्जन, विद्युत् आदि के आधार पर किया जाता था।

विजयद्वार नामक इक्कीसवें अध्याय में जय-पराजय-सम्बन्धी कथन है। तालवृन्त, भृंगार, वैजयन्ती, जयविजय, पुस्समाणव, शिविका, रथ, मूल्यवान् वस्त्र, माल्य, आभरण आदि के आधार पर यह फल-कथन किया जाता था। उसमें पुस्स मौणव (पुष्यमाणव) शब्द का उल्लेख महाभाष्य ७।२।२३ में आया है (महीपालवच श्रुत्वा जुघुषु पुष्य माणवा)। आगे पृ १६० पर भी सूत मागध के बाद पुष्यमाणव का उल्लेख हुआ है? जिससे सूचित होता है कि ये राजा के बदी मागध जैसे पार्श्वचर होते थे। इसी सूची में जयविजय विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता के अनुसार [अ ४३, श्लोक ३९-४०] राज्य में सात प्रकार की ध्वजाएं शक्रकुमारी कहलाती थीं। उनमें सबसे बड़ी शक्रजनित्री या इन्द्रमाता, उससे छोटी दो वसुंधरा, उनसे छोटी दो जया, विजया और उनसे छोटी दो नन्दा, उपनन्दा ४ कहलाती थीं [पृ १४६]।

बाइसवाँ प्रशस्त नामक अध्याय है। इसमें उन उत्तम फलों की सूची है जिनका शुभ कथन किया जाता था। उनमें से कुछ विषय इस प्रकार थे—क्रय-विक्रय में लाभ, यमद्वारा प्राप्त लाभ, कीर्ति, वन्दना, मान, पूजा, उत्कृष्ट और कनिष्ठ शब्दों का श्रवण, सुन्दर केशविन्यास और मौलिबन्धन, केशाभिबंधन, विवाह, विद्या, इक्षु, सस्यफल आदि का लाभ, खेती में सुभिक्ष, बन्धुजन-समागम, गेय काव्य, पादबन्ध (श्लोक-रचना), पाठ्य, काव्य, गौ आदि पशु एव नर-नारी और स्वानों की रक्षा, गन्ध-माल्य, भाजन-भूषण आदि का सजोना, यान, आसन, शयन, कमलवन, भ्रमर, विहग, द्रुम आदि का समागम, घात, वध, बन्ध एव हास्य, परिमोदन आदि की प्राप्ति ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त, वसन्त, शरद आदि ऋतुओं की प्राप्ति, घोड़े, शूकर आदि का पकड़ना, घटिक (राजप्रासाद में घटावादन करने वाले), चक्रिक (चाक्रिक, घोषणा करनेवाला वदीविशेष, अमरकोष २।८।९८) स्वस्तिक (स्वस्ति वाचन करने वाला), वैतालिक [प्रात काल स्तुतिपाठ द्वारा जागरण करानेवाला], मगलवाचन, मूल्यावान रत्न आदि का ग्रहण, गन्ध, माल्य, आभरण, चिरप्रवास से सफल यात्रा या सिद्ध यात्रा के साथ लौटने पर स्वजन सबंधियों से समागम, भूताधिपत्य, पुण्य उत्पत्ति, चैत्यपूजा के महोत्सव में (महामहिक) तूर्य शब्दों का श्रवण, चोरी हुए भ्रष्ट और नष्ट धन की पुन प्राप्ति, अष्ट-मांगलिक चिह्नों [चिन्धट्ठय] को सुवर्ण में बना कर उनका उच्छ्रित करना, छत्र, उपानह, भृंगार का सप्रदान, रक्षा और सपत्ति की प्राप्ति इच्छानुकूल आनद प्राप्त होना, किसी विशेष शिल्प के कारण सपूजन और अभिवदन, स्वच्छ नल की उत्पत्ति और दर्शन, मन में उत्तम विचार की उत्पत्ति, जल पात्र या जलाशय का पूर्ण होना, जातकर्म आदि सस्कारों में प्रशस्त अग्नि का प्रज्वलित करना, आयुष्य, धन, अन्न, कनक, रत्न, भाजन, भूषण, परिधान, भवन आदि सुखकारी सपदा की प्राप्ति, ऋजु भाजव युक्त साधुओं का पूजन, ज्येष्ठ और अनुज्येष्ठ की नियुक्ति, ज्योति, अग्नि, विद्युत, वज्र मणि, रत्न आदि से द्युति, जन्म आदि अवसरों पर होनेवाला मंडन या शोभा, आप्तजनों का समान और पूजा, ध्यान की आराधना, पुरानी वस्तुओं

का नवीकरण, अध्यात्मगति विषयक दर्शन, किसी आढ्य पुरुष का याग. आभूषणों का झंकृत शब्द इत्यादि अनेक प्रकारके प्रशस्त या उत्तम भाव लोक में हैं। जहां मन की रुचि हो, जो इन्द्रियों को इष्ट जान पड़े, एवं लोक जिसकी पूजा करता हो, उसे ही प्रशस्त जानना चाहिए। [पृ. १४६-१४८]

तेइसवें अध्याय में अप्रशस्त वस्तुओं का उल्लेख है जिसमें रुदन. क्रोध. बुभुक्षा आदि नाना प्रकार के हीन और विनाशकारी भावों की सूची है (पृ० १४८)

२४ वें अध्याय की संज्ञा जातिविजय है। आर्य और म्लेच्छ दो प्रकार के मनुष्य हैं। आर्य के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की गणना है। म्लेच्छवर्ग की गिनती शूद्रों मे है। यह कथन पतंजलि के उस कथन से मिलता है जहां महाभाष्य में उन्होंने शक-यवनों का परिगणन शूद्रों में किया है। ज्ञात होता हैं कि भारतीय इतिहास के उस युग का यह सामाजिक तथ्य था जिसका उल्लेख अंगविज्जा के लेखक ने भी किया है। इन जातियों में कुछ महाकाय [लम्बे शरीरवाले], कुछ मज्झिमकाय [मझले कदके] और कुछ छोटे कद के होते थे। कुछ लोग व्यवहारोपजीवी. कुछ शस्त्रोपजीवी और कुछ क्षेत्रोपजीवी या कृषि से जीविका करते थे। उनके रहने के स्थान नगर, अरण्य, द्वीप, पर्वत, उद्यान (निक्खुड-निष्कुट) आदि थे। पुरत्थिम देसीय, दक्खिण देसीय, पच्छिम देसीय, उत्तर देसीय— इस प्रकार से चार दिशाओं में रहनेवाले जन कहे हुए हैं। एक दूसरा विभाग आर्य देश और अनार्य देश निवासियों का था। (पृ० १४९)

पच्चीसवाँ अध्याय गोत्र नामक है। गोत्र दो प्रकार के थे, पहले गृहपतिक गोत्र और दूसरे द्वि जातिय। इस वर्गीकरण में गृहपति शब्द का अर्थ ध्यान देने योग्य है। गृहपति उस वर्ग की संज्ञा थी जो बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायी थे। उन धर्मो में अनगारिक या गृहहीन व्यक्ति तो श्रमण या मुंडक होते थे, और गृही या अगारिक सामान्य रूप से गृहपतिक कहलाते थे। उनमे, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का भेद उन धर्मो को मनःपूत न था। किन्तु ब्राह्मण धर्मानुयायी गृहस्थ द्विजाति कहलाते थे। गृहपतियों के गोत्रों में माढ, गोल, हारिक, चन्डक, सकित [कसित] वासुल, वच्छ, कोच्छ, कोसिक, कुंड ये नाम हैं। [पृ० १४९]

ब्राह्मण गोत्र चार प्रकार के कहे गए है— १ सगोत्र [ऋषिगोत्र] २ सकविगत गोत्र [इसका तात्पर्य लौकिक गोत्रों से ज्ञात होता है, जो ऋषि गोत्रों से अतिरिक्त थे] ३ वंभचारिक गोत्र (उन नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के गोत्र जिन्होंने ऊर्ध्वरेता होने के कारण गृहस्थ धर्म धारण नहीं किया और शान्तनु भीष्म के समान जिन्हे अन्य सब लोगों ने अपना मान लिया), (४) एवं प्रवर गोत्र। इसी प्रसंग मे कुछ गोत्रों के नाम भी दिये गये हैं, जैसे-मंडव (मांडव्य), सेट्ठिण, वासट्ठ, संडिल्ल [शांडिल्य], कुंभ, माहकी, कस्सव [कास्यप], गोतम, अग्गिरस, भग्गव (भार्गव). भागवत, सड्या, ओयम, हारित. लोकक्खी [लौगाक्षि], पचक्खी, चारायण, पारावण.

अग्गिवेस (अग्निवेश) मोग्गलु (मौद्गल्य), अट्ठिसेण [आर्ष्टिषेण], पूरिमस्स, गद्दभ, वराह, वोहल (वाहल), कटूसी, भागवती, कातुरुन्डी कण्ण [कण्व] मज्झन्दिण (माध्यान्दिन), वरक मूलगोत्र, सख्यागोत्र, कढ [कठ], कलव [कलाप] वालव [व्यालम्ब], सेतस्सतर श्वेताश्वतर तेत्तिरीक [तैत्तिरीय], मज्झरस, वज्झस [सभवत वात्स्य] छन्दोग [छान्दोग्य], मुञ्जायण [मौञ्जायन], कत्थलायण, गहिक, णग्ति, नभच्च, काप्पायण, कप्प, अप्पसत्थभ, सालकायण, यणाण, आमोसल, साक्किज, उपवति, डोम, थभायण, जीवतायण दढक, धणनाथ, सखेण, लोहिच्च, अतभान, पियोभाग, सडिल, पव्वयव, वावक्कारी, आपुरायण वग्घपद [व्याघ्रपाद], पिल्ल [पैल] देवहच्च, वारिणील, सुवर। इस सूची में स्पष्ट ही प्राचीन ऋषिगोत्रों के साथ-साथ बहुत से नये नाम भी है जो पाणिनीय परिभाषा के अनुसार गोत्रावयव या लौकिक गोत्र कहे जायेंगे। इस तरह के नाम या अल्ल समाज में हमेशा बनते रहते हैं, और उस समय के जो मुख्य अल्ल रहे होंगे उनमें से कुछ के नाम यहा आगए हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों और शास्त्रों के नाम भी आये हैं जैसे वैयाकरण, मीमासक छन्दोग, पण्णायिक [प्रज्ञावादी दार्शनिक], ज्योतिष, इतिहास, श्रुतवेद [ऋग्वेद], सामवेद यजुर्वेद, एकवेद, द्विवेद, त्रिवेद, सव्ववेद [सभवत चतुर्वेदी], छलगवी [षडगवित], मेणिक, वेदपुष्ट, आग्निय, अज्झायी [स्वाध्यायी], आचार्य, जानग, णगत्ति वामपाद। (पृ० १)

छब्बीसवा अध्याय नामों के विषय में है। नाम स्वरादि या व्यजनादि अथवा उष्मान्त, व्यजनान्त या स्वरान्त होते थे। कुछ नाम समाक्षर और कुछ विषमाक्षर, कुछ जीवसस्पृष्ट और कुछ अजीवसस्पृष्ट थे। स्त्रीनाम, पुनाम, नपुसक यह विभाग भी नामों का है। आगत, वर्तमान और अनागत काल के नाम यह भी एक वर्गीकरण है। एक भाषा, दो भाषा या बहुत भाषाओं के शब्दों को मिलाकर बने हुए नाम भी हो सकते हैं। और भी नामों के अनेक भेद सभव है। जैसे नक्षत्र, ग्रह, तारे, चन्द्र, सूर्य, तीर्थिया, मडल, दिशा, गगन, उल्का, परिवेश, स्तूप, उद्यान, नदी, सागर, पुष्करिणी, नाग, वरुण, समुद्र, पट्टन, वारिचर, वृक्ष, अन्नपान, पुष्प, फल, देवता, नगर, धातु, सुर, असुर, मनुष्य, चतुष्पद, पक्षी, कीट, कृमि, इत्यादि पृथिवी पर जितने भी पदार्थ हैं। उन सबके नामोंके अनुसार मनुष्यों के नाम पाये जाते हैं। वस्त्र, भषण, यान, आसन, शयन पान भोजन, आवरण, प्रहरण, इनके अनुसार भी नाम रखे जाते हैं। नरकवासी लोक, तिर्यक् योनि में उत्पन्न, मनुष्य, देव, असुर, पिशाच, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गन्धर्व, नाग, सुपर्ण इत्यादि जो देव-योनियों हैं उनके अनुसार भी मनुष्यों के नाम रखे जाते हैं। एक, तीन, पाँच, सात, नौ, ग्यारह अक्षरों के नाम होते है जो विषमाक्षर कहलाते हैं। अथवा दो, चार, आठ, दस, बारह अक्षरों के नाम समाक्षर कहलाते हैं। सकर्षण, मदन, शिव, वैश्रवण, वरुण, यम, चन्द्र, आदित्य, अग्नि, मरुत् देवों के अनुसार भी मनुष्य नाम होते हैं।

मनुष्य नाम पाच प्रकार के कहे गये हैं—[१] गोत्र नाम जिनके अन्तर्गत गृहपति और द्विजाति गोत्र दो कोटिया थीं जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। [२] अपनाम या अधनाम—जैसे उज्झितक, छड्डितक। इसके अन्तर्गत ये नाम

है जो हीन या अप्रशस्त अर्थ के सूचक होते हैं। प्रायः जिनके बच्चे जीवित नहीं रहते वे मातापिता अपने बच्चों के ऐसे नाम रखते हैं। [३] कर्मनाम [४] शरीरनाम जो प्रशस्त और अप्रशस्त होते हैं अर्थात् शरीर के अच्छे-बुरे लक्षणों के अनुसार रखे जाते हैं, जैसे सण्ड, विकड, खरड, खल्वाट आदि दोषयुक्त नामों की सूची में खडसी, काण, पिल्लक, कुब्ज, वामणक, खंज आदि नाम भी हैं। यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्राकृत भाषा में भी नाम रखे जाते हैं। उसमें प्रशस्त नाम वे हैं जो वर्णगुण या शरीरगुण के अनुसार हों—जैसे अवदानक और उसे ही प्राकृत भाषा में मेंड या सेडिल, ऐसे ही श्याम को प्राकृत भाषा में सामल या सामक कहा जायगा, ऐसे ही कृष्ण का कालक या कालिक। ऐसे ही शरीरगुणों के अनुसार सुमुख, सुदंसण, सुरूप, सुजात, सुगत आदि नाम होते हैं। [५] करण नाम वे हैं जो अक्षर-संस्कार के विचार से रखे जाते हैं। इनमें एक अक्षर, द्वि अक्षर, त्रि अक्षर आदि कई तरह के नाम हैं। द्वि-अक्षर-दो अक्षरों वाले नाम तीन प्रकार के होते हैं—जिनके दोनों अक्षर गुरु हैं, जिनका पहला अक्षर लघु और बाद का अक्षर गुरु. इनके उदाहरणों में वे ही नाम हैं जो कुषाणकाल के शिलालेखों मे मिलते हैं—जैसे तात, दत्त दिण्ण, देव, मित्त, गुत्त, गूत, पाल, पालित, सम्म, यास, रात, घोस, भाणु, विध्दि, नंदि, नंद, मान और भी उत्तर, पालिन, रक्खिय, नंदन, नंदिक, नंदक ये नाम भी उस युग के नामों की याद दिलाते हैं जिन्हें हम कुषाण और पूर्वगुप्तकाल के शिलालेखों में देखते हैं।

इसके बाद वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर को लेकर विस्तृत ऊहापोह की गई है कि नामों में उनका उपयोग किस-किस प्रकार किया जा सकता है।

इस अध्याय के अन्त में मनुष्य नामों की कई सूचियाँ दी गई हैं जिनमें अधिकांश नाम कुशाणकालीन संस्कृति के प्रतिनिधि हैं। उस समय नक्षत्र—देवताओं के नाम से एवं नक्षत्रो के नाम से मनुष्य नाम रखने का रिवाज था। नक्षत्र—देवताओं के उदाहरणों में चंद [चन्द्र], रुद्द [रुद्र], सप्प [सर्प], अज्ज [अर्यमा], तट्ठा [त्वष्टा], वायु, मित्त [मित्र], इन्द [इन्द्र], तोय, विस्से [विश्वदेव], ऊजा, बंभा [ब्रह्मा], विण्हु [विष्णु], पुस्सा [पुष्य] हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि उस समय प्राकृत भाषा के माध्यम से नामों का जो रूप लोक में चालू था, उसे ज्यों का त्यों सूची में ला दिया है; जैसे अर्यमा के लिये अज्जो और विश्वदेव के लिये विस्से। नक्षत्र नामों में श्रद्धा, पूसो, हत्थो, चित्ता, साती, जेट्ठा, मूला, मघा—ये रूप हैं। दशार्ह या वृष्णियों के नाम भी मनुष्य नामों में चालू थे जैसे, कण्ह, राम, संब, पज्जुण्ण (प्रद्युम्न), भाणु। नामों के अन्त में जुड़ने वाले उत्तर पदो की सूची विशेष रूप से काम की है; क्योंकि शुंग और कुषाणकाल के लेखों में अधिकांश उसका प्रयोग देखा जाता हैं, जैसे त्रात, दत्त, देव, मित्त, गुत्त, पाल, पालित, सम्म (शर्मन) सेन (सेन), रात (जैसे वसुरात), घोस भाग।

नामों के चार भेद कहे हैं — प्रथम अक्षर लघु, अन्तिम अक्षर गुरु, सर्व गुरु एवं अन्तिम अक्षर लघु। इनके उदाहरण ये हैं — अभिजि (अभिजित्) सवन (श्रवण), भरणी, अदिती, सविता, णिरिति (निर्ऋति), वरुण। और भी कत्तिका, रोहिणी, आसिका,

मूसिका, धाणिज, मगधा, मधुरा, प्रातिका, फग्गुणी, रेवती, अस्सयी (अश्वयुज), अजमा [अयमन्], अग्गिनी, विसाहा, आसाढा, धणिट्ठा, इंदगिरि। सब गुरु नामों की सूची में रोहत्रात, पुस्सत्रात, फग्गुत्रात, हत्थत्रात, अस्सत्रात। उपान्त्य लघुनामों में रिधिसिल (पाठा० रिपितिल) ग्रवणिल, पुथिविल—इन नामों में स्पष्ट ही उत्तरपद का लोप करने के बाद इल प्रत्यय जोड़ा गया है जिसका विधान अष्टाध्यायी में आया है (घनिलचौ ५।३।७९), इल वाले नाम साची के लेखों में बहुत मिलते हैं। अगिल (अग्निदत्त), सातिल (स्वातिदत्त), नागिल [नागदत्त] यखिल [यक्षदत्त] बुधिल (बुद्धदत्त)। ससित्रात, पितृत्रात, भवत्रात, वसुत्रात, अजुत्रात, यमत्रात—ये प्रथमलघु अक्षरवाले नाम थे। शिवदत्त, पितृदत्त, भवदत्त, वसुदत्त, अजुदत्त, यमदत्त उपान्त्य गुरुनामों के उदाहरण हैं। अगविज्जा के नामों का गुच्छा इस विषय की मूल्यवान् सामग्री प्रस्तुत करता है। आगे चलकर गुप्तकाल में जब शुद्ध संस्कृत भाषा का पुनः प्रचार हुआ तब मनुष्य नाम भी एकदम संस्कृत के साँचे में ढल गये। अगविज्जा में उनकी बानगी नहीं मिलती। [पृ० १५८]

सत्ताइसवें अध्याय का नाम ठाणज्झाय है। इसमें ठाण अर्थात् स्थान या सरकारी अधिकारियों के पदों की सूची है। राज्याधिकारियों की यह सूची इस प्रकार है—राजा अमच्च नायक, आसनस्थ (संभवत व्यवहारासन का अधिकारी) भाडागारिक, अभ्यागारिक [संभवत अन्तःपुर का अधिकारी जिसे दौवारिक या गृहचिन्तक भी कहते थे], महाणसिक [प्रधान रसोइया] गन्धाध्यक्ष, मज्जघरिय, [मद्यगृहक] पाणीघरिय [जिसे बाण ने जलकर्मान्तिक लिखा है] णावाधियक्ख [नावाध्यक्ष] सुवणाध्यक्ष हत्थिअधिगत, अस्सअधिगत योग्गायरिय [योग्याचार्य अर्थात् योग्या या शास्त्राभ्यास कराने वाला], गोवयक्ख [गवाध्यक्ष], पडिहार (प्रतिहार) गणिकक्ख (गणिकाओं के ऊपर वेश का अधिकारी), बलगणक [सेना में आर्थिक हिसाब रखने वाला], धरिमधर (धनधर या अन्तःपुर में काम करने वाला] वत्थुपारिसद (वास्तुपार्षद), आरामपाल [उद्यानपाल], पच्चंतपाल [प्रत्यंत या सीमाप्रदेश का अधिकारी], दूत, सन्धिपाल [सान्धिविग्रहिक], सीसारक्ख [राजा का सदा के निकट का अंगरक्षक], पतिआरक्ख [राजा का आरक्षक], मुक्सालिअ [शौल्कशालिक या चुंगीघर का अधिकारी], रज्जुक, पधवावट (पथव्यापृत), अडविक [आटविक] णगराधिक्ख [नगराध्यक्ष] सुसाणवावट (श्मशानव्यापृत) सूणावावट, चारकपाल [गुप्तचर अधिकारी], फलाधियक्ख, पुप्फाधियक्ख, पुरोहित, आयुधागारिक, सेणापति, कोट्ठागारिक [कोष्ठागारिक] [पृ० १५९]

अट्ठाईसवें अध्याय में उस समय के पेशेवर लोगों की लम्बी सूची आई है। आरंभ में पांच प्रकार के कम या पेशे कहे हैं जैसे रायपुरीस [राजपुरुष], ववहार (व्यापार वाणिज्य) कसिगोरक्ख [कृषि और गोरक्षा] कम्मक्ख [अपने हाथ से उद्योग धन्धे करने वाले शिल्पी और पेशेवर लोग] भतिकम्म (मजदूरी पेशा)। राजपुरुषों के ये नाम हैं-रायामच्च (राजामात्य), अस्सवारिक (अश्वाध्यक्ष जैसा उच्च

अधिकारी) आसवारिय (घुड़सवार जैसा सामान्य अधिकारी जिसे पउम चरिय ८।८७ में असवार कहा गया है). पायक, अब्भंतरावचर. अब्भाकारिय (अभ्यागारिक) भण्डागारिय, सीसारक्ख, पडिहारक, सूत. महाणसिक, मज्जघरिय पाणियघरिय, हत्थाधिगक्ख (हस्ताध्यक्ष), महामत्त (महामात्र). हत्थिमेंठ, अस्साधियक्ख. अस्सारोह. अस्सबन्धक. छागालिक. गोपाल. महिसीपाल, उट्टपाल. मगलुद्धग (मृगलुब्धक). ओरब्भिक, (और-भ्रिक). अहितुंडिक (संभवत: अहितुंडिक ७ या गारुडिक) । राजपुरुषों में विशेष रूप से इनका परिगणन है — अस्साधियक्ख, हत्थाधियक्ख. हत्थारोह (हस्त्यारोह). हत्थिमहामत्तो. गोसंखी (जिसे पाणिनि और महाभारत में गोसंख्य कहा गया है). गजाधिति. भाण्डागारिक. कोषरक्षक. सव्वाधिकत (सर्वाधिकृत). लेखक (सर्वलिपिओं का ज्ञाता) गणक. पुरोहित. संवच्छर (सांवत्सरिक). दाराधिकत (द्वारपाल, दौवारिक), बलगणक, सेनापति. अब्भागारिक. गणिकाखंसक. वत्थिघर. वत्थधिगत (वस्त्राधिगत. तोशाखाने का अध्यक्ष) णगरगुत्तिण. (नगरगुप्तिक. नगरगुप्ति या पुर – रक्षा का अधिकारी), दूत, जइ-णक (जविनक या जंघाकर जो सौ – सौ योजन तक संदेश पहुंचाते या पत्रवाहक का काम करते थे). पसेणकारक. पतिहारक. तरपअट्ट (तार प्रवृत्त). णावाधिगत, तित्थपाल. पाणियघरिय ण्हाणघरिय. सुराघरिक. कट्ठाधिकत (काष्ठाधिकृत) तणाधिकत. (तृणाधिकृत) बीजपाल, ओपसेज्जिक (औपशय्यिक- शय्यापाल राजा की शय्या का रक्षक). सीसारक्ख (मुख्य अंगरक्षक), आरामाधिगत. नगररक्ख, अब्भागारिय. अशोकवणिकापाल, वाणाधि-गत, आभरणाधिगत । राज्य के अधिकारियों की इस सूची के कितने ही नाम पहले भी आचुके हैं । कुछ नये भी हैं । प्राचीन भारतीय शासन की दृष्टि से यह सामग्री अत्यन्त उपयोगी कही जा सकती है । प्राय: ये ही अधिकारी राजमहलों में और शासन में बहुत बाद तक बने रहे ।

इसके बाद सामान्य पेशों की एक बड़ी सूची दी गई हैं. जैसे ववहारि (व्यापारी) उदकवड्ढकि (नाव या जहाज बनानेवाला), मच्छबन्ध. नाविक, बाहुविक (डॉड चलानेवाले). सुवण्णकार, अलित्तकार, (अल्ता बनानेवाला). रत्तरज्जक (लाल रंग की रंगाई का विशेषज्ञ), देवड (देव - प्रतिमा विक्रेता), उण्णवाणिय, सुत्तवाणिय. जतुकार. चित्तकार (चित्रकार). चित्तवाजी (चित्रवाद्य जानने वाला) तट्ठकार (ठठेरा), सुद्धरजक, लोहकार. सीत पेट्टक (संभवत: दूध – दहि के भांडों को वरफ मे लपेट कर रखनेवाला) कुंभकार. मणिकार. संखकार, कंसकार, पट्टकार (रेशमी वस्त्र बनाने वाला) दुस्सिक (दुष्य नामक वस्त्र बनाने वाला), रजक, कोसेज्ज [कौशेय या रेशमी वस्त्र बुननेवाला], वाग [वल्कल बनाने वाला], ओरब्भिक, महिसघातक, उस्सणिकामत्त [ऊख पेरने वाले] छत्तकारक वत्थोपजीवी, फलवाणिय, मूलवाणिय, धान्यवाणिय, ओदनिक, मंसवाणिज्ज, कम्मास-वाणिज्ज (कम्मास या घूघरी बेचनेवाला) तप्पणवाणिज्ज (जौ आदिके सत्तू बेचनेवाला अइप्पण (भुजियाके सत्तू बेचनेवाला) लोणवाणिज्ज, आपूपिक, खज्जकारक (खाजा बनानेवाला, इससे सूचित होता है, कि खाजा नामक मिठाई कुशाणकाल में भी बनने लगी थी), पण्णिक (हरी-साग-सब्जी बेचनेवाला) फलवाणियक, सिंगबेर या अदरक बेचनेवाला ।

इसके अनन्तर राजपुरुष और पेशेवर लोगों की मिली जुली सूची दी गई है। जिसमें से नये नाम ये हैं — छत्तधारक, पसाधर (प्रसाधक, प्रसाधन कार्य करनेवाला) हत्थिरसम (पर प्रति के अनुसार हत्थिसरज), अस्सरज्ज [एक प्रति के अनुसार अस्सतरग] सभवत यही मूलरूप था जो उच्चारण में वर्णविपर्यय से रस्स बन गया) अग्गि उपजीवी (आहिताग्नि) कुसीलक, रगावचर (रगमच पर अभिनय करनेवाला), गधिक मालाकार, चुण्णिकार, (स्नानचूर्ण बनाने वाला जिसे चुण्ण-वाणिय भी कहते थे) सूत मागध, पुस्समाणव, पुरोहित, धम्मट्ठ (धर्मस्थ) महामत (महामात्र) गणक, गधिक - गायक दप्पकार बहुस्सुय (बहुश्रुत)। इस सूची के पुस्समाणव का उल्लेख पृ० १४८ पर भी आचुका है। और यह वही है जिसका पतजलि ने 'महीपालवच श्रुत्वा जुघुषु पुष्यमाणवा' इस श्लोकार्ध में उल्लेख किया है। ये पुष्यमाणव एक प्रकार के वन्दी जन या भाट जात होते हैं जो राजा की प्रशसा में कुछ श्लोक पाठ करते या सार्वजनिक रूप से कुछ घोषणा करते थे। यहा 'महीपालवच श्रुत्वा' यह उक्ति सभवत पुष्यमित्र शुग के लिए है। जब उसने सेना-प्रदर्शन के व्याज से उपस्थित अपने स्वामी अंतिम मौर्यराजा बृहद्रथ को मार डाला, तब उसके पक्षपाती पुष्यमाणवों ने सार्वजनिक रूप से उसके राजा बन जाने की घोषणा की। पतजलि ने यह वाक्य किसी काव्य से उद्धृत किया जान पडता है। अथवा यह उसके समय में स्फुट उक्ति ही बन गई हो। पुष्यमाणव शब्द द्वयर्थक जान पडता है। उसका दूसरा अर्थ पुष्य अर्थात् पुष्यमित्र के माणव या ब्राह्मण सैनिकों से था। (पृ० १६०)

दप्पकार का अर्थ स्पष्ट नहीं है। सभवत दप्पकार का आशय अपने बल का घमड करने वाले विशेष बलशाली व्यक्तियों से था। जिन्हें वठ कहते थे और जो अपने भारी शरीर बल से शेर-हाथियों से लडाए जाते थे। गधिक-गायक भी नया शब्द है। उसका आशय सभवतः उस तरह के गवैयों से था जिनमें गानविद्या के ज्ञान की मन्दता या कौशल अभिमान रहता था।

सूची को आगे बढाते हुए मणिकार, सुवणकार कोट्टाक (बढई यह शब्द आचाराग २।१।२ में भी आया है, तुलना — सस्कृत कोटक, मानियर विलियम्स), वट्टकी (सभवत कटोरे बनाने वाला) वत्थु पाढक [वास्तुपाठक, वास्तुशास्त्र का अभ्यासी], वत्थुवापतिक (वास्तुव्यापृतक–वास्तुकर्म करनेवाला), मत्तिक [मान्त्रिक], भडवापत (भाण्डव्यापृत, पण्य या क्रय–विक्रय में लगा हुआ) तित्थवापत [घाट वगैरह बनानेवाला] आरामवावट (बाग बगीचे का काम करनेवाला), रथकार, दायक महाणसिक सूत ओदनिक सामेल्लकार [सभवत समली या कुट्टनिआ की देखरेख करने वाला विद] गणिकारक्ख हत्थारोह, अस्सारोह, दूत, प्रेष्य, वद्धनागरिक चोर लोपहार [चोर एव चोरी का माल पकडनेवाला] मूलक खाणक मूलिक मूलकम्म सव्वसत्थक [सब शस्त्रों का व्यवहार करनेवाला सभवत अय शूल उपायों से वर्तन वाले जिन्हें आय शूलिक कहा जाता था]।

सारवान व्यक्तियों में हरण्णिक सुवण्णिक चन्दन के व्यापारी, दुस्सिक,

संजुकारक [संजु अर्थात् संज्ञा द्वारा भाव-ताव या मोल-तोल करनेवाले जौहरी, जो कपड़े के नीचे हाथ रख कर रत्नों का दाम पक्का करते थे], देवड [देवपट अर्थात देवद्रव्य वेचनेवाले सारवान व्यापारी] गोवज्झमतिकारक [गोवह्यभृतिकारक, बैलगाड़ी से भृति कमानेवाला, वज्झ सं. वह्य], ओयकार [ओकसकार-घर बनानेवाला], ओड [खनन करनेवाली जाति]। गृह-निर्माणसंबंधी कार्य करने वालों में ये नाम भी हैं—मूलखाणक [नींव खोदनेवाले], कुंभकारिक (कुम्हार जो मिट्टी के खपरे आदि भी बनाते हैं), इट्ठकार (संभवतः इष्टका, ईंटे पाथनेवाले) वालेपतुंद (पाठान्तर-छावेगतुंद अर्थात् छापनेवाले, पलस्तर करने वाले), सुत्तवत्त (रस्सी बटने वाले: वत्ता-सूत्र-वेष्टन यंत्र, पाइयसद्दमहण्णवो), कंसकारक [कसेरे जो मकान में जड़ने के लिए पीतल-तांबे का सामान बनाते थे], चित्तकारक (चितेरे जो चित्र लिखते थे), रूवपक्खर (रूप = मूर्त्ति का उपस्कार करनेवाले), फलकारक (संभवतः लकड़ी के तख्तों का काम करनेवाला), सीकाहारक और मट्टहारक इनका तात्पर्य बालू और मिट्टी ढोनेवालों से था, (सीक = सिकता, मट्ट = मृत्तिका)। कोसज्जवाय के (रेशमी वस्त्र बुनने वाले), दिअंडकंवलवायका (विशेष प्रकार के कम्बल बुनने वाले), कोलिका [वस्त्र बुननेवाले], वेज्ज [वैद्य], कायतेगिच्छका (कायचिकित्सक), सल्लकत्त (शल्यचिकित्सक), सालाकी (शालाक्य कर्म अर्थात् अक्षि, नासिका आदि की शल्यचिकित्सा करनेवाला), भूतविज्जिक (भूतविद्या या ग्रहचिकित्सा करनेवाला) कोमारभिच्च (कुमार या बालचिकित्सा करनेवाला), विसतितिथिक [विषवैद्य या गारुडिक], वैद्य, चर्मकार, ण्हाविय-नावित, ओरब्भिक (औरभ्रिक गडरिये), गोहातक [गोघातक या सूना कर्म करनेवाला], चोरघात [दंडपाशिक, पुलिस अधिकारी], मायाकारक (जादूगर), गोरीपाढ़क (गौरी पाठक, संभवतः गौरीव्रत या गौरीपूजा के अवसर पर पाठ करनेवाला), लंखक [बांस के ऊपर नाचने वाले], मुट्ठिक [मौष्टिक, पहलवान], लासक [रासक, रासगानेवाला], वेलंवक [विडंबक, विदूषक], गंडक [उद्घोषणा करनेवाला], घोसक (घोषणा करनेवाला).— इतने प्रकार के शिल्पिओं का उल्लेख कर्म-योनि नामक प्रकरण में आया है। (पृ० १६०-१)

२९ वें अध्याय का नाम नगर विजय है। इस प्रकरण में प्राचीन भारतीय नगरों के विषय में कुछ सूचनाएँ दी गई हैं। प्रधान नगर राजधानी कहलाता था। उसीसे सटा हुआ शाखानगर होता था। स्थायी नगर चिरनिविष्ट और अस्थायी रूप से बसे हुए अचिरनिविष्ट कहलाते थे। जल और वर्षा की दृष्टि से बहूदक या बहुवृष्टिक एवं अल्पोदक या अल्पवृष्टिक भेद थे। कुछ बस्तिओं को चोरवास कहा गया है। जैसे सौराष्ट्र के समुद्र तट पर वेरावल के पास अभी भी चोरवाड नामक नगर है। भले मनुष्यों की बस्ती आर्यवास थी। और भी कई दृष्टियों से नगरों के भेद किये जाते थे=जैसे परिमण्डल और चतुरस्र, काष्ठप्राकार वाले नगर (जैसे प्राचीन पाटलिपुत्र था) और ईंट के प्राकार वाले नगर (इट्ठिका पाकार), दक्षिणमुखी और वाममुखी नगर, पविट्ठ नगर (घनी बस्ती वाले), विस्तीर्ण नगर (फैलकर बसे

हुए), जगली प्रदेश में बसे हुए गहणनिविट्ठ, उससे विपरीत आरामबहुल (बागबगीचों वाले अ पार्कसिटी) नगर, ऊँचे पर बसे हुए उद्धनिविट्ठ, नीची भूमि में बसे हुए, निद्धि गदि (सभवत विशेष गध वाले), या पाणुप्पविट्ठ (चाडालादि जातियों के वासस्थान पाण=श्वपच चाडाल, देशीनाममाला ६।३८)। प्रसन्न या अतीक्ष्ण दड और अप्रसन्न या बहुविग्रह, अल्प परिक्लेश और बहु परिक्लेश नगर भी कहे गये है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर दिशाओं की दृष्टि से अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णों की दृष्टि से भी नगरों का विभाग होता था। बहुअन्नपान, अल्पअन्नपान, बहुवतक (बहुवात या प्रचड वायु के उपद्रव वाले) बहुउण्ह (अधिक उष्ण) आलीपणकबहुल (बहु आग्नीपन या अग्निवाले), बहुदक बहुवृष्टिक, बहुदकवाहन नगर भी कहे गये हैं। (पृ० १६१–१६२)

तीसवाँ अध्याय आभूषणों के विषय में है। पृ० ६४।७१ और ११६ पर भी आभूषणों का वर्णन आ चुका है। आभूषण तीन प्रकार के होते हैं। (१) प्राणियों के शरीर के किसी भाग से बने हुए (पाणजोणिय), जैसे शख-मुक्ता, हाथीदात, जगली भैंसे के सींग आदि, बाल, अस्थि के बने हुए, (२) मूलजोणिमय अर्थात् काष्ठ, पुष्प, फल पत्र, आदि के बने हुए, (३) धातुयोनिगत जैसे–सुवर्ण, रूपा, ताबा, लोहा, त्रपु (रागा), काललोह, आरकूड (फूल कासा), सर्वमणि गोमेद, लोहिताक्ष, प्रवाल, रक्त क्षारमणि (तामडा), लोहितक आदि के बने हुए। श्वेत आभूषणों में चादी, शख, मुक्ता, स्फटिक, विमलक, सेतक्षार मणि के नाम है। काले पदार्थों में सीसा, काललोह, अजन और कालक्षार मणि, नीले पदार्थों में सस्सक (मरकत) और नीलखार मणि आग्नेय पदार्थों में सुवर्ण, रूपा, सवलोह, लोहिताक्ष, मसारकल्ल, क्षारमणि। धातुओं को पीटकर, क्षारमणि को उत्कीर्ण करके और रत्नों को तराशकर तथा चीर-कोर कर बनाते हैं। मोतियों को रगड़कर चमकाया जाता है।

इसके बाद शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों के गहनों की सूचियाँ हैं। जैसे सिर के लिए ओचूलक (अवचूलक या चोटी में गूथने का आभूषण चोटीचक), णदिविणद्धक (कोई मागलिक आभूषण, सभवत मछलियों की बनी हुई सुनहली पट्टी जो बालों में बाईं ओर सिर के बीच से गुद्दी तक खोंस कर पहनी जाती थी जैसे मथुरा की कुशाणकला में स्त्री मस्तक पर मिली है), अपलोकणिका (यह मस्तक पर गवाक्षजाल या झरोखे जैसा आभूषण था जो कुषाण और गुप्तकालीन किरीटों में मिलता है। सीसोपक (सिर का बोर), कानों में तालपत्र, आबद्धक, पलिकामदुघनक (दुघण या मुगरी की आकृति से मिलता हुआ कान का आभूषण), कुडल, जणक, ओकासक (अवकाशक कान में छेद बडा करने के लिए लोढे या डमरू के आकार का), कण्णेपुरक, कण्णुप्पीलक (कान के छेद में पहनने का आभूषण)–इन आभूषणों का उल्लेख है। आँखों के लिए अजन, भौंहों के लिए मसी, गालों के लिये हरताल, हिंगुल और मैनसिल एव ओठों के लिए अलक्तक राग का वर्णन है। गले के लिये आभूषणों की सूची में कुछ महत्त्वपूर्ण नाम है, जैसे वण्णसुत्तक (=सुवर्णसूत्र), तिपिसाचक (त्रिपिशाचक अर्थात् ऐसा आभूषण जिसके ठिकरे में तीन पिशाच या यक्ष जैसी आकृतियां बनी हों),

विज्जाधारक (विद्याधरों की आकृतियों से युक्त टिकरा), अग्गीमालिका (ऐसी माला जिसकी गुरियों या दाने खड्ग की आकृतिवाले हों), पुच्छलक (संभवतः वह हार जिसे गोपुच्छ या गोस्तन कहा जाता है। देखिये अमरकोष—क्षीरस्वामी), आवलिका (संभवतः जिसे एकावली भी कहते थे), मणिसोमाणक (विमानाकृति मनकों का बना हुआ ग्रैवेयक। सोमाणक पारिभाषिक शब्द था। लोकपुरुष के ग्रीवा भाग में तीन-तीन विमानों की तीन पंक्तियां होती हैं जिनमें से एक विमान समणस कहलाता है), अट्ठमंगलक (अष्ट मांगलिक चिन्हों की आकृति के टीकरों की बनी हुई माला जिसका उल्लेख हर्षचरित एवं महाव्युतत्ति में आया है। इस प्रकार की माला संकट से रक्षा के लिये विशेष प्रभावशाली मानी जाती थी), पेचुका (पाठान्तर पेसु, संभवतः वह कंठाभूषण जो पेशियों या टिकरों का बना हुआ हो), वायुमुत्ता (विशेष प्रकार के मोतियों की माला), वुप्पसुत्त (संभवतः ऐसा सूत्र जिसमें शेखर हो: वुप्प=शेखर). कट्टेवट्टक (अज्ञात)। भुजाओं में अंगद और तुडिय (=टड्डे)। हाथों में हस्तकटक. कटक, रुचक, सूची, अंगुलियों में अंगुलेयक, मुद्देयक, वेंटक (गुजराती वींटी=अंगूठी). कटी में कांचीकलाप. मेखला और पैरों में गुल्फ प्रदेश गंडूपदक (गंडोएकी भांति का पैर का आभूषण), नूपुर, परिहेरक (परिहार्यक—पैरों के कड़े) और खिखणिक (किंकिणी-घूंघरू), खत्तियधम्मक (संभवतः वह आभूषण विशेष जिसे आज कल गूजरी कहते हैं) पादमुद्रिका, पादोपक इस प्रकार अंगविज्जा में आभूषणों की सामग्री बहुत से नये नामों से हमारा परिचय कराती है और सांस्कृतिक दृष्टि से भर चुकी है। पृ० १६२-३

वत्थजोणी नामक एकत्तीसवें अध्याय में वस्त्रों का वर्णन है। प्राणियों से प्राप्त सामग्री के अनुसार वस्त्र तीन प्रकार के होते हैं— कौशेय या रेशमी, पतुज्ज, पाठान्तर पउण्ण=पत्रोर्ण और आविक। आविक को चतुष्पद पशुओं से प्राप्त अर्थात् अवया वालों का बना हुआ कहा गया है। और कौशेय या पत्रोर्ण को कीड़ों से प्राप्त सामग्री के आधार पर बना हुआ बताया गया है। इसके अतिरिक्त क्षौर, दुकूल, चीनपट्ट, कार्यासिक ये भी वस्त्रों के भेद थे। धातुओं से बने वस्त्रों में लोहजालिका—लोहे की कड़ियों से बना हुआ कवच जिसे अंगरी कहा जाता है। सुवर्णपट्ट—सुनहले तारों से बना हुआ वस्त्र, सुवर्णखासित—सुनहले तारों से खचित या जरी का काम। और भी वस्त्रों के कई भेद कहे गये हैं जैसे परग्घ-बहुत मूल्य का, जुतग्घ—बीच के मूल्य का. समग्घ-सस्ते मुल्य का, स्थूल, अणुक या महीन, दीर्घ, ह्रस्व, प्रावारक—ओढने का दुशाला जैसे वस्त्र, कोतव-रोंएदार कम्बल जिसको चपक भी कहते थे और जो संभवतः कूचा या मध्य एशिया से आता था। उण्णिक (ऊनी), अत्थरक—आस्तरक या बिछौने का वस्त्र महीन रोंएदार (तणुलोम), हस्सलोम, वध्रवस्त्र, मृतक वस्त्र, आतवितक (अपने और पराये काम में आनेवाला), परक (पराया), निक्खित्त (फेंका हुआ), अपहित (चुराया हुआ), याचित कर (मांगा हुआ) इत्यादि।

रंगों की दृष्टि से श्वेत, कालक, रक्त, पीत, सेवालक (खिरवाल के रंग का हरा), मयूरग्रीव (नीला), करेणुयक (श्वेत-कृष्ण), पयुमरत्तक (पद्म रक्त अर्थात्

श्वेत रक्त), भेणसिल के रग का-(रक्तपीत्त), मेचक (ताम्रकृष्ण) एव उत्तम मध्यम रगों वाले अनेक प्रकार के वस्त्र होते थे । जातिपट्ट नामक वस्त्र भी होता था । मुख के ऊपर जाली भी डालते थे । उत्तरीय और अन्तरीय वस्त्र शरीर के उर्ध्व और अधर भाग में पहने जाते थे । बिछाने की दरी पच्चत्थरण और वितान या चदोवा विताणक कहलाता था (पृ १६३-४)

३२ वें अध्याय की सज्ञा धण्णयोनि (धान्ययोनि) है। इस प्रकरण में शालि, व्रीहि, कोदों, रालक (धान्य विशेष एक प्रकार की कगु), तिल, मूग, उडद, चने, कुरथी, गेहूँ आदि धान्यों के नाम गिनाये हैं। और स्निग्ध, रुक्ष, श्वेत रक्त, मधुर, आम्ल, कषाय आदि दृष्टिओं से धान्यों का वर्गीकरण भी किया है (पृ० १६४-५)

३३ वें जाणजोणि (यानयोनि) नामक अध्याय में नाना प्रकार के यानों का उल्लेख है। जैसे शिबिका, भद्रासन, पल्लकसिका (पालकी), रथ, सदमाणिक (स्यदमानिका एक तरह की पालकी), गिल्ली (डोली), जुग्ग (विशेष प्रकार की शिबिका जो गोल्ल या आन्ध्र देश में होती थी) गोलिंग, शकट, शकटी इनके नाम आये हैं। किन्तु जलीय वाहनों की सूची अधिक महत्त्वपूर्ण है-उनके नाम ये हैं-नाव, पोत, कोटिम्ब, सालिक, तप्पक, प्लव, पिण्डिका, काडे वेलु, तुम्ब, कुम्भ, दति (दृति)। इनमें नाव और पोत को महावकाश अर्थात् बडी आकृति वाले नाव जिनमें बहुत आदमियों के लिए अवकाश होता है । कोटिम्ब, सालिक सघाड, प्लव और तप्पक बिचले आकार का है। उससे छोटे कट्ठ (कड) ओर वेळू होते थे । और उनसे भी छोटे तुम्ब, कुम्भ और दति कहलाते थे। जैसा श्री मोतीचन्द्रजीने अंग्रेजी भूमिका में लिखा है । पेरिप्लस के अनुसार भरुकच्छ के बन्दरगाह में त्रप्पग और कोटिम्ब नामक बडे जहाज सौराष्ट्र तक की यात्रा करते थे ।

यही अंग विज्ञा के कोटिंभ और तप्पग हैं। पूर्वी समुद्र तट के जलयानों का उल्लेख करते हुए पेरिप्लस ने सगर नामक जहाजों का नामोल्लेख किया है जो कि बडे-बडे लट्ठों को जोड़ कर बनाये जाते थे। यही अग विज्ञा के सघाड (स सघार) है। वेळू वासों का बजरा होना चाहिए। काड और प्लव भी लकडी या लट्ठों को जोडकर बनाये हुए बजरे थे। तुम्बी और कुम्भ की सहायता से भी नदी पार करते थे। इनमें दति या दृति का उल्लेख बहुत रोचक है । इसे भी अष्टाध्यायी में भस्त्रा कहा गया है। भेड बकरी या गाय-भैसे की, हवा से फुलाइ हुइ, खालों को भस्त्रा कहा जाता था और इधर इस कारण भस्त्रा या दृति उस बजडे या तमडे के लिये भी प्रयुक्त होने लगा जो इस प्रकार की खालों को एक दूसरे में बाधकर बनाये जाते थे। इन फुलाई हुई खालों के ऊपर बास बाध कर या मछुओं का जाल फैलाकर यात्री उन्हीं पर बैठकर लगभग आठमील प्रति घन्टे की रफ्तार से मजेमें यात्रा कर लेते हैं। इस प्रकार के बजरे बहुत ही सुविधाजनक रहते हैं। ठीकाने पर पहुँच कर मल्लाह खालों को झटक कर कन्धे पर डाल लेता है और पैदल चलकर नदी के ऊपरी किनारे पर लौट आता है। भारत, इरान, अफगानिस्थान और तिब्बत की नदियों

में भस्त्रा या दृति का प्रयोग पाणिनि और दारा के समय से चला आया है। ईरान में इन्हें मशका कहते थे। शालिका संभवतः उस प्रकार की नाव थी जिसमें शाला या बैठने-उठने के लिये मंदिर (केबिन) पाटानान के ऊपर बना हो। पिंडिका वह गोल नाव थी जो बेतों की टोकरी को चमड़े से मढ़कर बनाई जाती थी। (पृ० १६५-६)

३४ वें संलाप नामक अध्याय में बातचीत का अंगविज्जा की दृष्टि से विचार किया है जिसमें स्थान, समय एवं बातचीत करनेवाले की दृष्टि से फलाफलका विचार है।

३५ वें अध्याय का नाम पयाविसुद्धि (प्रजाविशुद्धि) है। इसमें प्रजा या संतान के सम्बन्ध में शुभाशुभ फल पर विचार किया गया है। छोटे बच्चे के लिए वच्छक, पुत्तक की तरह पिल्लक शब्द भी प्रयुक्त होने लगा था जोकि दक्षिणी भाषाओं से लिया हुआ शब्द ज्ञात होता है।

३६ वें अध्याय में दोहल (दोहद) के विषय में विचार किया गया है। दोहद अनेक प्रकार का हो सकता है। विशेष रूप से उसके पांच भेद किये गये हैं। शब्दगत, गंधगत, रूपगत, रसगत, स्पर्शगत। रूपगत दोहद के कई भेद हैं–जैसे पुष्पभेद, समुद्र, तडाग, वापी, पुष्पकरिणी, अरण्य, भूमि, नगर, स्कन्धावार, युद्ध, क्रीडा, मनुष्य, चतुष्पाद, पक्षी आदि के देखने की इच्छा होती हो तो उसे रूपगत दोहद कहेंगे। गन्धगत दोहद के अन्तर्गत स्नान, अनुलेपन, अधिवास, स्नानचूर्ण, धूप, माल्य, पुष्प, फल आदि के दर्शन या प्राप्ति की इच्छा समझनी चाहिये। रसगत दोहद में पान, भोजन, खाद्य, लेह्य और स्पर्शगत दोहद में आसन, शयन, वाहन, वस्त्र, आभरण आदि का दर्शन और प्राप्ति समझी जाती है।

३७ वें अध्याय की संज्ञा लक्षण अध्याय है। लक्षण बारह प्रकार के कहे गये हैं—वर्ण, स्वर, गति, संस्थान, आकुल सघयण (निर्माण), मान या लंबाई, उम्माण (तोल), सत्त्व, आणुक (मुखाकृति), पगति [प्रकृति], छाया, सार—इन बारहों भेदों की व्याख्या की गई है, जैसे :—वर्ण के अन्तर्गत ये नाम हैं:–अंजन, हरिताल, मैनसील, हिंगुर, चाँदी, सोना, मूँगा, शंख, मणि, हीरा, शुक्ति [मोती], अगुरु, चन्दन, शयनासन, यान, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह, तारा, उल्का, विद्युत, मेघ, अग्नि, जल, कमल, पुष्प, फल, प्रवाल, पत्र, घृत, मंड, तेल, सुरा, प्रसन्ना, पद्म, उत्पल, पुंडरीक, चम्पक माल्याभरण आदि। फिर इनमें से प्रत्येक लक्षण का भी शुभाशुभ फल कहा गया है]पृ० १७३-४]।

३८ वें अध्याय में शरीर के व्यञ्जन या तिल, मसा जैसे चिन्हों के आधार पर शुभाशुभ का कथन है।

३९ वें अध्याय की संज्ञा कण्णावासण है। इसमें कन्या के विवाह एवं उसके जन्म के फलाफल एवं कर्मगति का विचार है कि वह अच्छी होगी या दुष्ट होगी—पृ० १७५-६

४०–भोजन नामक चालीसवें अध्याय में आहार के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया गया है। आहार तीन प्रकार का होता है;—प्राणयोनि, मूलयोनि, धातुयोनि। प्राण योनि के अन्तर्गत–दूध, दही, मक्खन, तक्र, घृत, मधु आदि हैं। उसके भी संस्कृत, असंस्कृत, आग्नेय, अनाग्नेय भेद किये गये हैं।

कंद, मूल, फल, फूल, पत्र आदि से भी आहार उपलब्ध होता है। कितने ही धान्यों के नाम गिनाये गये हैं। उत्सवों के समय भोज किये जाते थे। उपनयन, यज्ञ, मृतक, अध्ययन के आदि अन्त एवं गोष्ठी आदि के समय भोजों का प्रबन्ध होता था। भोजन अपने स्थान पर या मित्र आदि के स्थान पर किया जाता था। इक्षुरस, फल रस, धान्यरस आदि पानों का उल्लेख है। यवा, प्रसन्ना, अरिष्ट, श्वेतसुरा ये भक्ष थे। यवागू–दूध, घृत, तैल आदि से बनाई जाती थी। गुड और शक्कर के भेदों में शर्करा, मच्छंडिका, खज्जगुल (खाद्यकगुड) और पिक्कास का उल्लेख है। समुद्र, सैन्धव, सौवर्चल, पासुखार, यवाखार आदि नमक के भेद किये गये हैं। मिठाइयों में मोदक, पिंडिक पप्पड, मुरेन्डक, साला वान्डिक, अम्बट्टिक, ओवल्लिफ, वौक्किनक ओवलफ, पपअड, सक्कुलिका, यूप, फेणक, अक्खयूप, अपदिहन पविनद्धक (पोतल्ग) वेलानिक, पत्तभज्जिन, सिद्धस्थिका, दीयक, ओक्कारिका, भदिल्लिका, दीहसक्कुलिका, खार वट्टिका, खोडक, दीवालिक [दीवले] दमीरिका, मिसकण्टक, मन्थतक–तरह–तरह की मिठाइयाँ और खाद्यपदार्थ होते थे। अम्बट्टिक (आमरी या आम से बनी हुई मिठाई हो सकती है जिसे अवधी में गुलम्बा कहते हैं)। पोवालिक पोली नाम की मीठी रोटी और मुरण्डक छेने का बना हुआ मुरण्डा या तिलके लड्डू होने चाहिये। फेणक-फेणी के रूप में आज भी प्रसिद्ध है।

४१ वाँ वरियगडिका अध्याय है। इसमें मूर्त्तियों के प्रकार, आभरण और अनेक प्रकार की रत-सुरत की क्रीडाओं के नामों का संग्रह है। सुरत क्रीडाओं के तीन प्रकार कहे गये हैं–दिव्य, तिर्यक योनि और मानुषी। दिव्य क्रीडाओं में छत्र, भृंगार, जक्खो पायण (संभवत यक्ष कर्दम नामक सुगध की भेंट का प्रयोग होना है) मानुषी क्रीडा में-वस्त्र, आभूषण, यान उपानह माल्य, मुकुट, कघी, स्नान, विशेषक, गन्ध, अनुलेपन, चूर्ण, भोजन, मुखवासक आदि का प्रयोग किया जाता है। (पृ० १८२-६)

४२ वें अध्याय (स्वप्नाध्याय) में दिट्ठ, अदिट्ठ और अवतदिट्ठ नामक स्वप्नों का वर्णन है। ये शुभ और अशुभ प्रकार के होते हैं। स्वप्नों के और भी भेद किये गये हैं। जैसे श्रुत जिसमें मेघगर्जन, आभूषणों का या सुवर्ण मुद्राओं का शब्द या गति आदिक सुनाई पडते हैं। गंध-स्वप्नों में सुगन्धित पदार्थ का अनुभव होता है। जैसे ही कुछ स्वप्नों में स्पर्शसुख, सुरत, जलचर देव, पशु, पक्षी आदि का अनुभव होता है। अनेक सगे सम्बन्धी भी स्वप्नों में दिखाई पडते हैं जोकि मानुषी स्वप्न कहलाते हैं। स्वप्नों में देव और देवियाँ भी दिखाई पडते हैं। सुवर्णक, रूप्य, काहा पण नामक सिक्के भी स्वप्न में दिखाई पडते हैं। (पृ० १८६–९१)

४३ वें अध्याय में प्रवास या यात्रा का विचार है। यात्रा में उपानह, छत्र या सन्तू, कत्तरिया (छुरी), कुंडिका, ओखली आवश्यक है। यात्री मार्ग में प्रपा, नदी, पर्वत, तडाग, ग्राम, नगर, जनपद, पट्टन, सन्निवेश आदि में होता हुआ जाता था। विविध रूप-रस-गंध-स्पर्श के आधार पर यात्रा का शुभाशुभ कहा जाता था और लाभ-अलाभ, जीवन, मरण, सुख, दुःख, सुकाल, दुष्काल, भय, अभय आदि फल उपलब्ध होते है। (पृ० १९१-१९२)

४४ वें अध्याय में प्रवास के उचित समय, दिशा, अवधि और गन्तव्य स्थान आदि के सम्बन्ध में विचार है। (पृ० १९२—९३)

४५ वें प्रवेशाध्याय नाम प्रकरण में प्रवासी यात्री के घर लौटने का विचार है। भुक्त, पीत स्थिति, कर्णतेल, अभ्यंग, हरिताल, हिंगुल, मैनसील, अंजन समालभण (विलेपन), अलवनक, कलंजक, वण्णक, चुण्णक, अंगराग, उस्सिंघण (सुंगधी सूंघना), मक्खण (मुक्षण-मालिश), अप्मंग, उच्छन्दण (संभवतः आच्छादन), उव्वट्टण (उद्वर्तन उवटन), पघंस (प्रघर्षण द्वारा तैयार सामग्री), माल्य, सुरभिजोगसंविधाणक [विविध गन्धयुक्त], आभरण और विविध भूषणों की संजोयणा [अर्थात् सँजोना] एवं अलंकारों का मण्डन — इनके आधार पर प्रवासी के आगमन की आशा होती थी। इसी प्रकार शिविका, रथ, यान, जुग्ग, कट्ठमुह, गिल्ली, संदण [स्यंदन], सकट [शकट], शकटी और विविध वाहन, हय, गज, वलीवर्द, करभ, अश्व नर, खर, अजा, एडा नर, मरुत दिशा, व्रज, प्रासाद, विमान, शयन आदि पर अधिरोहण, ध्वजा, तोरण, गोपुर, अट्टालक, पलाकासमारोहण, उच्छ्रयण के आधार पर थी, विचार किया जाता था। दूध, दधि, घी, नवनीत, तेल, गुड़, लवण, मधु आदि दिखाई दें तो आगमन होने की आशा थी। ऐसे ही पृथ्वी, उदक, अग्नि, वायु, पुष्प, धान्य, रत्न आदि से भी आगमन सूचित होता था। अंकुर, पुरोह, पत्र, किसलय, प्रवाल, तृण, काष्ठ एवं ओखली पिठर, दविउलंक (संभवतः द्रवका उदंचन) रस, दर्वी, छत्र, उपानह, पाउगा (पादुका) उष्मुभंड [उर्ध्वभांड संभवतः कमण्डलु], उभिखण [अज्ञात] फणख [कंघा] पसाणग [प्रसाधनक] कुप्वट्ठ [संभवतः कुप्यपट्ट लंगोट], वणपेलिका (वर्णपेटिका-श्रृंगारदानी), विवट्टणग-अंजणी (सुरमेदानी और सलाई), आदसंग [दर्पण], सरगपरिभोयण [मद्य-आहार], वाधुज्जोपकरण [वाधुक्य=विवाह-विवाह की सामग्री], माल्य — इन पदार्थों के आधार पर आगमन की संभावना सूचित होती थी। फिर इसी प्रसंग में यह बताया गया है कि कौन सा लक्षण होने पर फिर वस्तु का प्रवेश या आगमन सूचित होता है। जैसे चतुरस्र चित्र सारवंत वस्तु दिखाई पड़े तो कार्षापण, रक्त-पीत सारवान वस्तु के दर्शन से सुवर्ण, श्वेत सारवंत से चांदी, शुक्ल शीतल से मुक्ता, घन सारवंत और प्रभायुक्त वस्तु से मणि का आगमन सूचित होता है। ऐसे ही नाना भांति की स्त्रियों के आगमन के निमित्त बताये गये हैं — [पृ. १९३-४]।

४६ वें प्रवेसण अध्याय में गृहप्रवेश संबंधी शुभाशुभ का विचार किया गया है। अंगचिंतक को उचित है कि घर में प्रवेश करते समय जो शुभ, अशुभ वस्तु

दिखाई पडे उनके आधार पर फल का कथन करें। जैसे — वलीवर्द, अश्व, ऊप्टू, गर्दभ, शुक, मदनशलाका या मेना, कपि, मोर ये द्वारकोष्ठक या अलिन्द में दिखाई पड़े तो शुभ समझकर घर में प्रवेश करना चाहिए ब्रह्मस्थल में [सभवत देवस्थान-पूजास्थान] अरजर या जहा जल का बडा पात्र रखा जाता हो,-उब्भर [धर्मस्थान या जहाँ चूल या भट्टी हो उपस्थान शाला में बैठने पर, उन्दूखल शाला में या कपाट या द्वार के कोने में, आसन दिये जाने पर और अजलिकर्म द्वारा स्वागत किये जाने पर और ऊपर महानस या रसोई घर में या मकान के निक्कुड अर्थात् उद्यान प्रदेश में यदि अग विद्याचार्य वस्तुओं को अस्त-व्यस्त या टूटी-फूटी या गिरी-पडी देखे तो वाहर से सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुओ की हानि बतानी चाहिए। रसोई घर में कचा (करछुल या दवी) को गिरी पडी देखे और मल्लक या मिट्टी के शराव आदि की हडी फैली हुई (आसखि=आकीर्ण) देखे तो कुल भग का फल कहना चाहिए। अथवा अपने दास कमकरों से अर्थों की अप्राप्ति या कष्टों की सभावना कहनी चाहिए। तुष पासु, अगार भग्नवृक्ष से हानि और कुल भग सूचित होता है। लकडी का रोगन उखड गया हो और सधि या जोड यदि ढीले हो तो कुटुम्ब की हानि और अर्थ की अस्थिरता समझनी चाहिए। यदि द्वार की सन्धि शिथिल हो और उसकी सिरदल [उत्तरवर=उतरगा गुजराती में देहली या नीचे की लकडी को अभी तक उम्बर कहते हैं] भग्न हो तो इष्ट वस्तुकी हानि होगी। यदि द्वारकपाट खुला हुआ हो तो दुख से अर्जित धन चला जाता है। द्वार के नीचे की देहली और ऊपर का उत्तरगा (अधरुत्तसम्मिर) टूटे या निकले हुए हों तो घर में कलेश होगा। सिल, वेल्लव (वेलु या वास) और वाक्—छाल में कोठे में रक्खे हुए जव खराब हो जाय या कीडे दिखाइ पडे ता व्याधि समझनी चाहिए। कोठे में बाधा हुआ एलक-मेडा, अश्व पक्षी यदि कुछ विपरीत निमित्त प्रकट करे तो उसमें भी हानि सूचित होती है। यदि घर के भीतर वालक धरती में लोटते हुए मूत्र, पुरीस में सने दिखाई पडे तो हानि और इसके विपरीत यदि ये अलकृत दिखाई पडे तो वृद्धि जाननी चाहिए। आगन में लगे हुए पुष्प और फलों को आगन में भीतर लाया जाता देखा जाय तो वृद्धि सूचित होती है। ऐसे ही आगन में भाजन या वर्तनों को अखड और परिपूर्ण देखा जाय तो आय—लाभ सिद्ध होता है। आगन के आधार पर कइ प्रकार के फलों का निर्देश किया गया है। आगन में यदि पोत्ती (वस्त्र) और णतक (एक प्रकार का वस्त्र, पाइयसद्दमहण्णवो) वीखरे हुए दिखलाई पडे और आसदक (बैठने की चौकी) आदि भग्न हों तो हानि और रोग सूचित होता है। यदि आगन में अलकृत और हृष्ट नर—नारी दिखाइ दे तो सप्रीति और लाभ, यदि क्रुद्ध दिखाइ दे ता हानि सूचित होती है। यदि भरा हुआ अरजर (जल का बडा घडा) अकारण टूट जाय, अथवा कौवे या कुत्ते उसे भ्रष्ट कर दें तो गृहस्वामी का नाश सूचित होता है। इसी प्रकार अलिंजर अथात् जल का घडा और उसकी घटमचिका (पेढिया) के नये पुराने पन से भी विभिन्न विचार किया जाता है। श्रमण के प्रदत्त आसन, सिद्धि अन्न से भी निमित्त सूचित होते हैं। ओदन में कीट, केश, तृण आदि से भी अशुभ सूचित होता है। श्रमण के घर आने पर उससे जिस भाव और मुह से

कुशल प्रश्न (जवणीय) पूछा जाय उसके आधार पर वह सुख, दुःख का कथन करे। जैसे पराङ्मुख होकर पूछने से हानि और अभिमुख होकर पूछने से लाभ मिलेगा। रिक्तभाजन, उदकपूर्ण भांड, फल आदि जो-जो वस्तुएँ घर में दिखाई पड़े वे सब अंगविद् के लिए इष्ट और अनिष्ट फल के सूचक होते हैं (पृ० १९५—७)।

४७ वां यात्राध्याय है। इसमें राजाओं की सैनिक यात्रा के फलाफल का विचार किया गया है। उस संबंध में छत्र, भृंगार, व्यंजन, तालवृन्त, शस्त्र-प्रहरण, आयुध, आवरण, वर्म, कवच—इनके आधार पर यात्रा होगी या नहीं यह फलादेश बताया जा सकता है। यात्रा कई प्रकार की हो सकती हैं—विजयशालिनी (विजइका), आनन्ददायिनी (संमोदी) निरर्थक, चिरकाल के लिये, थोड़े समय के लिए, महाफलवाली, बहुत क्लेशवाली, बहुत असववती, प्रभूत अन्नपानवाली, बहुत खाद्यपेय से युक्त, धनलाभवाली, आयबहुला, जनपदलाभवाली, नगरलाभवाली, ग्राम, खेटलाभवाली, अरण्यगमनभूयिष्ठा, आराम, निम्नदेश आदि स्थानों में गमन युक्त—इत्यादि। यात्रा के समय प्रसन्नता के भाव से विजय और अप्रसन्न भाव से पराजय या विवाद सूचित होता है। यात्रा के समय नया भाव दिखाई पड़े तो अपूर्व जय की प्राप्ति होगी। ऐसे ही वाहनलाभ, अर्थलाभ आदि के विषय में भी यात्राफल का कथन कहना चाहिए। किस दिशा में और किस ऋतु में किस निमित्त से यात्रा संभव होगी यह भी अंगविज्जा का विषय है [पृ० १८७—१९९]।

४८ वें जयनामक अध्याय में जय का विचार किया गया है। राजा, राजकुलगण, नगर, निगम, पट्टण, खेड़, आकर, ग्राम, संनिवेश—इनके सम्बन्ध में कुछ उत्तम चर्चा हो तो जय समझनी चाहिए। ऐसे ही ऋतुकाल में अनुकूल वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली, पुष्प, फल, पत्र, प्रवाल, प्ररोह आदि जय सूचित करते हैं। वस्त्र, आभरण, भाजन, शयनासन, यान, वाहन परिच्छेद आदि भी जय के सूचक हैं। छत्र, भृंगार, ध्वज, पंखा, शिविका, रथ, प्रासाद, अशन, पान, ग्राम, नगर, खेट, पट्टण, अनीपुर, गृहक्षेत्र, सन्निवेश, आपण, आराम, तडाग, सर्वसेतु आदि के सम्बन्ध में उन शब्द या रूप का प्रादुर्भाव हो तो जानना चाहिए कि विजय होगी। इन्हीं के सम्बन्ध में यदि विपरीत भाव अथवा हीन-दीन शब्द रूप की प्रतीति हो तो पराजय सूचित होती है। विजय के भी कितने ही भेद कहे गये हैं। जैसे अपने पराक्रम से, पराये पराक्रम से, बिना पुरुषार्थ के सरलता से विजय, राज्य की विजय, राजधानी या नगर की विजय, शत्रु के देश की विजय, आयबहुल विजय, महाविजय, जोणिबहुल विजय [जिसमें धन का लाभ न हो, किन्तु प्राणिओं का लाभ हो,], शस्त्रनिपात द्वारा विजय, प्राणातिपातबहुल विजय, अहिंसा द्वारा मुदित विजय आदि। [पृ० १९९-२००]

४९ वें अध्याय में इसी प्रकार के विपरीत चिह्नों से पराजय का विचार किया है—[पृ० २०१-२]।

५० वें उवद्दुत (उपद्रव) नामक अध्याय में शरीर के विविध दोष और रोग

आरि का विचार किया गया है। इसमें भी फलकथन का आधार ये ही वस्तु हैं जिनका यात्रा और जय के सम्बन्ध में परिगणन किया गया है। हा, शारीरिक रोगों और भोगा की अच्छी सूची इस प्रकरण में पायी जाती है। जैसे काण, अन्ध, कष्ट (टोंटा), गडीपाद (हत्थीपगा, फीलपाव), खज, कुणीक (टेढे हाथवाला), आउर, पलित, खरड (सिर में रूक्षता या मैल की पपडी, गुनगती खोडो), तिलकालक, निपण्ण (विवणता), चम्मक्खील (मस्सा), किडिग (सीप या श्वेत दाग, संस्कृत-किटिभ) दट्ट (दष्ट देश) किलास (कुष्ठ), कट्ट (सभवत कुट्ठ या कुष्ठ) सिन्भ (सिम्भ या श्लेष्म) कुणिणह (कुनस या टेढे मेढे नख), खस (क्षत) अरुव (अरूप), कायल (कामला), णच्छक (अप्रशस्त) पिल्क (पिल्ल नामक मुख रोग) चम्मखील, गलुक (गलगड) गड (गूलर के आकार की फुडिया) कोठ, कुट्टित (अस्थिभग), वातड (वात के कारण अण्डवृद्धि) अम्हरि (अश्मरी पथरी), अरिस (अर्श) भगदर, कुच्छि रोग (अतिसार जलोदर आदि) यातगुहि (वातगुल्म), शूल, छड्डि (छर्दीवमन), हिक्क (हिचकी), अवायि (अपची नामक रोग=कठमाला), गलगड (घेंघा या गिल्हड), कठसालक (कठशालुक), शालुक=कन्दकी जड, अंग्रेजी (टोन्सिलाईटिस), पट्ठिरोग (पृष्ठिरोग), खण्डोट्ठ (खण्डौष्ठ-कटा हुआ ओष्ठ), गुरुमेढे (करल, करालदात - टेढे दात), खण्ड दत [टूटे हुए दात], सामदत [श्याव दत-दातों का कालापन], ग्रीवा रोग, हत्थछेज्ज [हस्तच्छेद], अगुलीछेज्ज, पादछेज्ज, शीर्षव्याधि, वातिक, पैत्तिक, श्लेष्मिक, सानिपातिक आदि।

५१ वें अध्याय का नाम देवताविजय है। इसमें अनेक देवी-देवताओं के नाम हैं जिनकी पूजा-उपासना उस युग में होती होगी। जैसे यक्ष, गन्धर्व, पितर, प्रेत, वसु, आदित्य, अश्विणी, नक्षत्र, ग्रह, तारा, बलदेव, वासुदेव, शिव, वैस्समण (वैश्रवण), खद (स्कद) विसाह (विशाख), सागर नदी, इन्द्र, अग्नि ब्रह्मा, उपेन्द्र, यम, वरुण, सोम, रात्री, दिवस सिरी [श्री] अइरा (अचिरा= इन्द्राणी) [देखिये पृ० ६९], पुढवी [पृथ्वी], एकणासा (संभवत एकानसा) नवभिगा [नवमिका], सुरादेवी, नागी, सुवर्ण, द्वीपकुमार, समुद्रकुमार, दिशाकुमार, अग्निकुमार, वायुकुमार, स्तनितकुमार, विद्युत्कुमार (द्वीपकुमार से लेकर ये भवनपतिदेवों के नाम हैं)।

लतादेवता, वासेदवता, नगरदेवता, श्मशानदेवता, वच्चदेवता [वर्चदेवता], उक्करुडिक देवता [कूडाकचरा फेंकने के स्थान के देवता]। देवताओं की उत्तम, मध्यम, अवर ये तीन कोटियां कही गई। अथवा आर्य और मिलक्खु या म्लेच्छ देवता ये दोन हैं [पृ० २०४-६]।

५२ वें अध्याय का नाम णक्खत विजय अध्याय है। इसमें इन्द्र-धनुष, विद्युत् स्तनित, चद्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा, उदय अस्त, अमावास्या, पूर्णमासी, मंडल, वीथी, युग, सवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, क्षण, लव, मुहूर्त, उल्कापात, दिशादाह आदि के निमित्तों से

फलकथन का वर्णन किया गया है। २७ नक्षत्र और उनसे होनेवाले शुभाशुभ फल का भी विस्तार से उल्लेख है (पृ. २०८-९)।

५३ वें अध्याय की संज्ञा उत्पात अध्याय है। पाणिनि के ऋगयनादि गण (४.३.७३) में अंगविद्या, उत्पात, संवत्सर मुहूर्त और निमित्त का उल्लेख आया है। जो उस युग में अध्याय के फुटकर विषय थे। ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र, आदित्य, धूमकेतु, राहु के अप्राकृतिक लक्षणों को उत्पात मान कर उनके आधार पर शुभाशुभ फल का कथन किया जाता था। इनके कारण जिन-जिन वस्तुओं पर विपरीत फल देखा जाता था उनका भी उल्लेख किया गया है—जैसे प्रासाद, गोपुर, इन्द्रध्वज, तोरण, कोष्ठागार, आयुधागार, आयतन, चैत्य, यान, भाजन, वस्त्र, परिच्छेद, पर्यंक, अरंजर, आभरण, शस्त्र, नगर, अंतःपुर, जनपद, आरण्य, आराम - इन सब पर उत्पात लक्षणों का प्रभाव बताया जाता था [पृ० २१०–२११]।

अध्याय ५४ वें में सार—असार वस्तुओं का कथन है। सार वस्तुएँ चार प्रकार की हैं—धनसार, मित्रसार, ऐश्वर्यसार और विद्यासार। इनमें भी उत्तम, मध्यम और अवर ये तीन कोटियां मानी गई हैं। धनसार के अन्तर्गत भूमि, क्षेत्र, आराम, ग्राम आदि के स्वामित्व की गणना की जाती है। शयनासन, पान, भोजन, वस्त्र, आभरण की समृद्धि को गृहसार कहते थे। धनसार का एक भेद प्राणसार भी है। जो दो प्रकार का है - मनुष्यसार या मनुष्य - समृद्धि और तिर्यक्योनिसार अर्थात् पशु आदि की समृद्धि-जैसे हाथी, घोड़े, गौ, महिष, अजा, एडक, खर, उष्ट्र आदि का बहुस्वामित्व। धनसार के और भी दो भेद हैं—अजीव और सजीव। अजीव के १२ भेद हैं—वित्तसार, स्वर्णसार, रुप्यसार, मणिसार, मुक्तसार, वस्त्रसार, आभरणसार, शयनासनसार, भाजनसार, द्रव्योपकरण [नगदी] अब्भुपरज्ज सार [अभ्यवहार—खान-पान की सामग्री] और धान्यसार। बहुत प्रकार की सवारी की संपत्ति यानसार कहलाती थी।

मित्रसार या मित्रसमृद्धि पांच प्रकार की होती थी। संबंधी, मित्र, वयस्क, स्त्री एवं भृत्य कर्मकरा। बाहर और भीतर के व्यवहारों में जिसके साथ साम या सख्यभाव हो धनमित्र और जिसके साथ सामान्य मित्रभाव हो वह वयस्क कहा जाता है]

ऐश्वर्यसार के कई भेद हैं—जैसे नायकत्व, अमात्यत्व, राजत्व, सेनापतित्व आदि।

विद्यासार का तात्पर्य सब प्रकार के बुद्धिकौशल, सर्वविद्या एवं सर्वशास्त्रों में कौशल या दक्षता से है। (पृ० २११—२१३)

५५ वें अध्याय में निधान या गढ़ी हुई धनराशि का वर्णन है। निधान संख्या या राशि की दृष्टि से कई प्रकार का हो सकता है—जैसे शतप्रमाण, सहस्त्रप्रमाण, शतसहस्त्रप्रमाण, कोटिप्रमाण अथवा इससे भी अधिक अपरमित प्रमाण। एक, तीन, पांच, सात, नौ, दस, तीस, पचास, सत्तर, नब्बे, शत आदि भी निधान का प्रमाण हो सकता था। किस स्थान में निधान की प्राप्ति होगी इस विषय मे भी अंगवित को

बताना पडता था जेसे प्रासाद में, माल या ऊचे स्थान में, पृष्ठवश में, आलग्ग (आलग्न अथात् प्रासाद आदि से मिले हुए विशेष स्थान खिडकी आले आदि), प्राकार गोपुर, अट्टालक, वृक्ष, पर्वत, निगमपथ, देवतायतन, कूप, कूपिका, अरण्य, आराम, जनपद, क्षेत्र, गर्त, रथ्या, निवेशना, राजमार्ग, क्षुद्र रथ्या, निष्कुट रथ्या [गृहोद्यान मार्ग], आलग्ग [आलमारी या आला], कुड्या, णिन्त्र [नीव्र छज्जा], प्रणालि रूपी वर्चकुटी, गर्भगृह, आगन, मकान का पिछवाडा [पच्छावत्थु]।

निधान बताते समय इसका भी सकेत किया जाता था कि किस प्रकार के पात्र में गडा हुआ धन मिलेगा जैसे लोही [लोहे का बना हुआ गहरा डोलनुमा पात्र गु० चरु], कडाह, अरजर, कुड ओखली, वार, लोहीवार (लोहे का चौडे मुँह का वर्तन)। इनमें से लोहा, कडाह और उष्ट्रिक (ऊष्ट्रिका नामक भाजनविशेष बहुत बडे निधान के लिए काम में लाये जाते थे)। कुड, ओखली, वार और लोहवार मध्यम आकृति के पात्र होते थे। छोटों में आचमनी, स्वस्ति आचमनी, चरुक और कडुछुडि (छोटी कुल डिका या कुल्हाडी, कुल्हडिया = घटिका, पाइयसद्दमहण्णवो)।

अगविद को यह भी सकेत देना पड़ता था कि निधान भाजन में रखा हुआ मिलेगा या सीधे भूमि में गड़ा हुआ अथवा वह प्राप्य है या अप्राप्य। (पृ० २१३–२१४)

अध्याय ५६ की सज्ञा णिधिसुत्त या नीधिसुत्र है। पहले अध्याय में निधान क परिमाण, प्राप्तिस्थान और भाजन का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय में निधान द्रव्य के भेदों की सूची है। वह तीन प्रकार का हो सकता है। प्राणयोनि गत, मूलयोनिगत और धातुयोनिगत। प्राणयोनिसबधित - उपलब्धि मोती, शख, गवल (=सींग), वाल, दन्त, अस्थि आदि से बने हुए पात्रों के रूप में सभव है। मूलयोनि चार प्रकार की कही गई हैं - मूलगत, स्कन्धगत, पत्रगत, फलगत। धातु योनि का सबध सब प्रकार के धातु, रत्न, मणि आदि से है - जैसे लोहिताक्ष, पुलक, गोमेद, मसारगल्ल, क्षारमणि – इनकी गणना मणियों में होती है। घिसकर अर्थात् चीरकर और कोर करके बनाई हुई गुरिया और मणके मणि, शख और प्रवाल से बनाये जाते थे। वे विद्ध और अविद्ध दो प्रकार के होते थे। उनमें से कुछ आभू षणों के काम में आते थे। गुरिया या मनके बनाने के लिये खड़ - पत्थर भिन्न - भिन्न आकृति या परिमाण के लिये जाते थे - जैसे अजण [रगीन शिला], पाषाण, शकरा, लट्ठक [डला] ढेल्लिया [डली] मच्छक [पहलदार छोटे पत्थर], फल्ल [रवेदार सग या मनके]। इन्हें पहले चीरकर छोटे परिमाण का बनाते थे; फिर चिरे हुए टुकडे को कोर कर [कोडिते] उस शकल का बनाया जाता था जिस शकल की गुरिया बनानी होती थी। कोरने के बाद उस गुरिया को खोडित अथात् घिसकर चिकना किया जाता था। कडे सग या मणियों के अतिरिक्त हाथीदत और जगली पशुओं के दात भी [दतठाहे] काम में लाये जाते थे। इन दोनों के कारीगरों को दतलेखक और सखलेखक कहा गया है। बडे टुकडों को चीरने या

तरासने मे जो छोटे टुकड़े या रेजे बचते थे उन्हें चुण्ण कहा जाता था जिन्हें आजकल चुन्नी कहते हैं। इन सबकी गणना धन में की जाती है।

इसके अतिरिक्त कुछ प्रचलित मुद्राओं के नाम भी है, जो उस युग का वास्तविक द्रव्य-धन था। जैसे काहावण (कार्षापण) और णाणक। काहावण या कार्षापण कई प्रकार के बताये गये हैं। जो पुराने समय से चले आते हुए मौर्य या शुंगकाल के चांदी के कार्षापण थे उन्हे इस युग में पुराण कहने लगे थे, जैसा कि अंगविज्जा के इस महत्वपूर्ण उल्लेख से (आदिमूलेसु पुराणे बूया) और कुशाणकालीन पुण्यशाला स्तम्भलेख से ज्ञात होता है (जिसमें ११०० पुराण मुद्राओं का उल्लेख है)। पृ० ६६ पर भी पुराण नामक कार्षापण का उल्लेख है। पुरानी कार्षापण मुद्राओं के अतिरिक्त नये कार्षापण भी ढाले जाने लगे थे। ये कई प्रकार के थे- जैसे उत्तम कहावण, मज्झिम कहावण, जहण्ण [जघन्य] कहावण। अंगविज्जा के लेखक ने इन तीन प्रकार के कार्षापणों का और विवरण नही दिया। किन्तु ज्ञात होता है कि वे क्रमशः सोने, चांदी और तांबे के सिक्के रहे होंगे, जो उस समय कार्षापण कहलाते थे। सोने के कार्षापण अभी तक प्राप्त नहीं हुए, किन्तु पाणिनि सूत्र ४, ३, १५३ (जातरूपेभ्यः परिमाणे) पर हाटकं कार्षापणं यह उदाहरण काशिका में आया है। सूत्र ५।२।१२० [रूपादाहत प्रशंसयोर्यप्] के उदाहरणों में रूप्य दीनार, रूप्य केदार और रूप्य कार्षापण-इन तीन सिक्कों के नाम काशिका में आये हैं। ये तीनों सोने के सिक्के ज्ञात होते हैं। अंग विज्जा के लेखक ने मोटे तौर पर सिक्कों के पहले दो विभाग किए-काहावण और णाणक। इनमें से णाणक तो केवल तांवे के सिक्के थे और उनकी पहचान कुशाणकालीन उन मोटे पैसों से की जा सकती है जो लाखों की संख्या में वेमतक्षम, कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव आदि सम्राटों ने ढलवाये थे। णाणक का उल्लेख मृच्छकटिक में भी आया है। जहां टीकाकार ने उसका पर्याय शिवाङ्कटंक लिखा है। यह नाम भी सूचित करता है कि णाणक कुशाणकालीन मोटे पैसे ही थे, क्योंकि उन में से अधिकांश पर नन्दीवृष के सहारे खड़े हुए नन्दिकेश्वर शिव की मूर्त्ति पाई जाती है। णाणक के अन्तर्गत तांवे के और भी छोटे सिक्के उस युग में चालू थे जिन्हें अंगविज्जा में मासक, अर्धमासक, काकणि और अट्ठा कहा गया हैं। ये चारों सिक्के पुराने समय के तांबे के कार्षापण से संबंधित थे जिसकी तौल सोलह मासे या अस्सी रत्ती के बराबर होती थी। उसी तौल-माप के अनुसार मासक सिक्का पांच रत्ती का, अर्धमासक ढाई रत्ती का, काकणि सवा रत्ती की और अट्ठा या अर्धकाकणि उससे भी आधी तौल की होती थी। इन्हीं चारों में अर्धकाकिणि पच्चवर (प्रत्यवर) या सबसे छोटा सिक्का था। कार्षापण सिक्कों को उत्तम, मध्यम और जघन्य इन तीन भेदों में बाँटा गया हैं। इसकी संगति यह ज्ञात होती है की उस युग में सोने, चांदी और तांबे के तीन प्रकार के नये कार्षापण सिक्के चालू हुए थे। इनमें से हाटक कार्षापण का उल्लेख काशिका के आधार पर कह चुके हैं। वे सिक्के वास्तविक थे या केवल गणित अर्थात हिसाब-किताब के लिए प्रयोजनीय थे इसका निश्चय करना संदिग्ध है; क्योंकि

सुवण कार्षापण अभीतक प्राप्त नहीं हुए। चादी के कार्षापण भी दो प्रकार के थे। एक नये और दूसरे मौर्य-शुगकाल के बत्तीस रत्तीवाले पुराण कार्षापण। चादी के नये कार्षापण कौन से थे इसका निश्चय करना भी कठिन है। सभवत यूनानी या शक-यवन राजाओ के ढलवाये हुए चादी के सिक्के नये कार्षापण कहे जाते थे। सिक्का के विषय में अगविज्जा की सामग्री अपना विशेष महत्त्व रखती है। पहले की सूची में [पृ० ६६] खत्तपक और सतेरक इन दो विशिष्ट मुद्राओं के नाम भी आचुके हैं। मासक सिक्के भी चार प्रकार के कहे गये हैं। सुवर्ण मासक, रजत मासक, दीनारमासक और चौथा कवल मासक जो तावे का था और जिसका सबध णाणक नामक नये तावे के सिक्के से था। दीनार मासक की पहचान भी कुछ निश्चय से की जा सकती है अर्थात् कुशाणयुग में जो दीनार नामक सोने का सिक्का चालू किया गया था और जो गुप्त युग तक चालू रहा, उसीके तोल मान मे सबधित छोटा सोने का सिक्का दीनार मासक कहा जाता रहा होगा। ऐसे सिक्के उस युग में चालू थे यह अग विज्जा के प्रमाण से सूचित होता है। वास्तविक सिक्कों के जो नमूने मिले हैं उनमें सोने के पूरी तौल के सिक्कों के अष्टमाश भाग तक के छोटे सिक्के कुशान राजाओं की मुद्राओं में पाये गये हैं। (पजाब सग्रहालय सूची सख्या ३४, ६७, १२३, १२५, २१२, २३७) किन्तु सभावना यह है कि षोडशाश तौल के सिक्के भी बनते थे। रजतमापक से तात्पर्य चादी के रौप्यमाषक से ही था। सुवण मासक वह मुद्रा ज्ञात होती है जो अस्सी रत्ती के सुवर्ण कार्षापण के अनुपात से पाच रत्ती तौल कर बनाई जाती थी।

इसके बाद कार्षापण और णाणक इन दोनों के निधान की सख्या का कथन एक से लेकर हजार तक किन लक्षणों के आधार पर किया जाना चाहिए यह भी बताया गया है। यदि प्रश्नकर्त्ता यह जानना चाहे कि गडा हुआ धन किसमें बधा हुआ मिलेगा तो भिन्न-भिन्न अगों के लक्षणों से उत्तर देना चाहिए-थैली में (थविका) चमड़े की थैली में (चम्मकोस), कपड़े की पोटली में (पोट्टलिकागत) अथवा अट्टियगत (अटी की तरह वस्त्र में लपेटकर), सुत्तबद्ध, चक्कबद्ध, हेत्तियद्ध-ये पिछले तीन शब्द विभिन्न बधनों के प्रकार थे जिनका भेद अभी स्पष्ट नहीं है। कितना सुवण मिलने की सभावना है इसके उत्तर में पाच प्रकार की सोने की तौल कही गई है अथात् एक सुवर्णभर, अष्टभाग सुवण, सुवर्णमासक (सुवण का सोहलवा भाग), सुवर्ण काकिणी [सुवर्ण का बत्तीसवा भाग] और पल [चार कर्ष के बराबर]।

५८ वें अध्याय का नाम णट्ठकोसय अध्याय है जिसमें कोश के नष्ट होने के सम्बन्ध में विचार किया गया है। नष्ट के तीन भेद हैं-नष्ट, प्रमृष्ट (जबरदस्ती छीन लिया गया) और हारित [जो चोरी हुआ हो]। पुन नष्ट के दो भद किये गये हैं-सजीव और अजीव। सजीव नष्ट दो प्रकार के हैं-मनुष्ययोनिगत और तिर्यक् योनिगत। तिर्यक् योनि के भी तीन भेद हैं—पक्षी, चतुष्पद और सरिसृप। सरिसृपों में दव्वीकर, मडली और राजिल (राइण्ण) नामक सर्पों का उल्लेख किया गया

है। मनुष्यवर्ग में प्रेष्य, आर्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि का उल्लेख है। इनमें भी छोटे-बड़े अनेक भेद होते थे। सम्बन्ध की दृष्टि से भ्राता, वयस्य, भगिनी, श्याल, पति, देवर, ज्येष्ठ, मातुलपुत्र, भगिनीपति, भ्रातृव्य, मातृष्वसा पितृष्वसा आदि के नाम हैं। अजीव पदार्थों की सूची में प्राणयोनि के अन्तर्गत दूध, दही, तक्र, कूचिय (कूर्चिक=खड़ी), आमथित (=आमथित=मट्ठा या दूध में मथी हुई कोई वस्तु), गुड़दधि, रसालादधि, मंथु (सं. मंथ) परमाण्ण (परमान्न, खीर), दधिताव (छौंकी हुई दही या कढी), तक्कोदण (तक्रौदन), अतिकूरक (विशेष प्रकार का भात, पुलाव) इत्यादि. मूलयोनिगत आहार की सूची में शाली, व्रीही, कोद्रव, कंगू, रालक (एक प्रकार की कंगनी), वरक, जौ, गेहूँ, मास, मूँग, अलसंदक (धान्य विशेष) चना, णिप्फावा (गुज० वाल, सेमका बीज), कुलत्था (कुलथी), चणविका (=चणकिका - चने से मिलता हुआ अन्न, प्राकृत चणइया, ठाणांग सूत्र ५-३), मसूर, तिल, अलसी, कुसुम्भ, सावां।

इस प्रकरण मे कुछ प्राचीन मद्यों के नाम भी गिनाये हैं - जसे पसण्णा (सं. प्रसन्ना नामक चावल से बना मद्य, काशिका ५,४,१४ संभवतः श्वेत सुरा या अवदातिका) णिट्ठिता (=निष्ठिता, मद्यविशेष महंगी शराब, संभवतः द्राक्षा से बनी हुई), मधुकर (महुवेकामद्य) आसव, जंगल (ईख की मदिरा), मधुरमेरक (मधुरसेरक पाठान्तर अशुद्ध है। वस्तुतः यह वही है जिसे संस्कृत मे मधुमैरेय कहा गया है, काशिका ६।२।७०), अरिष्ट, अट्ठकालिक (इसका शुद्ध पाठ अरिट्ठकालिका था जैसा कुछ प्रतियों में है। कालिका एक प्रकार की सुरा होती है, काशिका ५।४।३, अर्थशास्त्र २।२५), जालवासव (पुराना तेज मद्य), सुरा, कुसुकुंडी (एक प्रकार की श्वेत मधुर सुरा), जयकालिका।

धातु के बने आभरणों में सुवर्ण, रुप्प, तांबा, हारकूट, त्रपु (रांगा), सीसा, काललोह, वट्टलोह, सेल, मत्तिका का उल्लेख है। धातु निर्मित वस्त्रों में सुवर्णपट्ट (किमखाब), सुवर्ण खचित (जरी का काम) और लौहजालिका (पृ. २२१)। इसी प्रसंग में तीन सूचियां रोचक हैं — घर, नगर और नगर के बाहर के भाग के विभिन्न स्थानों की। घर के भीतर अरंजर, ऊण्ट्रिका, पल्लु [सं. पल्य - धान्य भरने का बड़ा कोठा], कुड्य, किञ्जर, ओखली, घट, खड्डभाजन (खोदकर गाडा हुआ पात्र), पेलिस्स (पेलिका संभवतः पेटिका), माल (घर का ऊपरी तल), वातपाण [गवाक्ष], चर्मकोष (चमडे का थैला), विल, नाली, थंम, अंतरिया (अंत के कोने में बनी हुई कोठी या भंडरिया), पस्संतरिया (पार्श्वभाग में बनी हुई भंडरिया), कोट्ठागार, भत्तघर, वासघर, अरस्स (आदर्श भवन या सीसमहल), पडिकम्मघर (प्रतिक्रमणगृह), असोयवणिया [अशोक वनिका नामक गृहोद्यान], आपुपछ, पणाली, उदकचार, पच्चाङ्क (वर्चस्थान), अरिट्ठागहण (कोपगृह जैसा स्थान), चित्तगिह (चित्रगृह), सिरिगिह (श्रीगृह), अग्निहोत्रगृह, स्नानगृह, पुस्सघर, दासीघर, वेसण।

नगर के विभिन्न भागों की सूची इस प्रकार है — अन्तःपुर या राजप्रासाद, भूमंत्तर [भूम्यंतर - संभवतः भूमिगृह], सिंघाडग (शृंगारक), चउक्क (चौक), राजपथ,

महारथ्या, उम्साहिया [अज्ञात, सभवत परकोटे के पीछे की ऊची सड़क], प्रासाद, गोपुर, अट्टालक, परकटा (प्रकठी नामक बुर्ज), तोरण, द्वार, पर्वत, पासरूल [(अज्ञात), थूभ [स्तूप] पलूय [पड्क], प्रणाली, प्रजात [= प्रपात गड्ढा], वप्प, तडाग, दहफलिहा (हृदयरेखा), वय [व्रज – गोकुल अथवा माग या रास्ता)।

नगरबाह्य स्थानों की सूची इस प्रकार है—ध्वज, तोरण, देवागार, रुक्ख (वृक्ष), पवत, माल, थम, फलुग [द्वार की लकड़ी] पाली (तलाव का बाध) तडाग, चउक्क, वप्र, आराम, श्मशान, चच्चभूमि (चर्चभूमि), मडलभूमि, प्रपा, नदी, देवायतन दड्डवण, (दग्धवन), उड्डियपट्टग (ऊँचा स्थान), जण्णवाड (यज्ञवाटक) सगामभूमि (सग्रामभूमि)।

५८ वा चिन्तित अध्याय है। जैन धर्म में जीव – अजीव के विचार का विषय बहुत विस्तार से आता है। यहा धार्मिक दृष्टिकोण से उस सबध में विचार न करके केवल कुछ सूचिओं की ओर ध्यान दिलाना इष्ट है। जीव, अजीव – इनमें जीव दो प्रकार का है – एक ससारी और दूसरा सिद्ध। ससारी जीव के सम्बध में याचनविवृद्धि, भोग, चेष्टा, आचार – विचार चूडाकर्म (चोल), उपनयन, तिथि (पव विशेष), उत्सव, समाज, यज्ञ आदि विशेष आयोजनों का उल्लेख है। ससार चार प्रकार के होते हैं – दिव्य मानुष तिर्यंच, नारकी। देवताओं की सूची में निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय हैं— वश्रवण, विष्णु, रुद्र, शिव कुमार, स्कद, विशाख [इन तीन नामों का पृथक उल्लेख कुशानकाल की मुद्राओं पर भी पाया जाता है]। ब्रह्मा, बलदेव, वासुदेव, प्रद्युम्न, पवत, नाग सुपर्ण, नदी, अल्णा [एक मातृ देवी], अज्जा अइरानी (पृ० ६९ २०४ पर भी यह नाम आचुका है), माउया [मातृका], सउणी (शकुनी, सभवत सुपर्णी देवी), एकाणसा [एकानसा नामक देवी जो कृष्ण और बलराम की बहिन मानी जाती है] सिरी [श्री लक्ष्मी], बुद्धी, मेधा, कित्ती [कीर्ति], सरस्वती नाग, नागी, राक्षस-राक्षसी, असुर, असुरकन्या, गन्धर्व गन्धर्वा, किंपुरुष – किंपुरुषकन्या, जक्ख—जक्खी, अप्सरा गिरिकुमारी, समुद्र, समुद्रकुमारी, द्वीपकुमार – द्वीपकुमारी, चन्द्र, आदित्य ग्रह, नक्षत्र तारागण, वातकन्या यम, वरुण सोम, इन्द्र, पृथ्वी, दिशाकुमारी, पुरदेवता वास्तुदेवता, वर्चदेवता [दुर्गन्धित, स्थान के अधिष्ठातृ देवता], सुसाणदेवता [श्मशानत देवता]—पितृदेवता, चारण, विद्याधरी, विज्जादेवता, महर्षि आदि। इस सूची में कई बाते ध्यान देने योग्य हैं। एक तो देवताओं की यह सूची जैनधर्म की मान्यताओं की सीमा में सकुचित न रहकर लोक से सगृहीत की गई थी। अतएव इसमें उन अनेक देव – देविओं के नाम आगये हैं जिनकी पूजा परपरा लोक में प्रचलित थी। इसमें एक ओर तो प्राय वे सब नाम आगये हैं जिनकी मान्यता मह नामक उत्सवों के रूप में पूर्वकाल से चली आती थी जैसे वेस्समण मह, रुद्दमह, सिवमह, नदीमह, बलदेवमह, वासुदेवमह, नागमह, जक्खमह, पव्वनमह, समुद्रमह, चद्रमह, आदित्यमह, इन्द्रमह आदि। दूसरे कुछ वैदिक देवता जैसे वरुण, सोम यम, कुछ विशेष रूप से जैन देवता जैसे द्वीपकुमारी, दिशाकुमारी, अग्नि

देवता के साथ अग्निघर और नागदेता के साथ नागघर का उल्लेख विशेष ध्यान देने योग्य है। नागघर या नागभवन या नागस्थान, नागदेवता के मन्दिर थे जिनकी मान्यता कुशाणकाल में विशेष रूप से प्रचलित थी। मथुरा के शिलालेखों में नागदेवता और उनके स्थानों का विशेष वर्णन आता है। एक प्रसिद्ध नागभवन राजगृह में मणियार नाग का स्थान था जिसकी खुदाई में मूर्त्ति और लेख प्राप्त हुए हैं। स्कंद, विशाख, कुमार और महासेन ये चार भाई कहलाते थे जो आगे चलकर एक में मिल गये और पर्यायवाची रूप में आने लगे; पर हुविष्क के सिक्कों पर एवं काश्यप संहिता मे इनका अलग-अलग उल्लेख है, जैसा कि उनमें से तीन का यहाँ भी उल्लेख है। श्री—लक्ष्मी की पूजा तो शुंगकाल से बराबर चली आती थी और उसकी अनेक मूर्त्तियां भी पाई गई हैं। किन्तु मेधा और बुद्धी का देवता रूप में उल्लेख यहां नया है।

मनुष्य योनि के सम्बन्ध में पहले स्त्री, पुरुष और नपुंसक - इन तीन भेदों का विचार किया गया है और फिर पिता, माता आदि संबंधियों की सूची दी है। तदनन्तर पक्षी, चतुष्पद, परिसर्प, जलचर, कीट, पतंग, पुष्प, फल, लता, धान्य, तैल, वस्त्र, धातु, वर्ण, आभरण आदि की विस्तृत सूचियां दी गई हैं जिनसे तत्कालीन संस्कृति के विषय में उपयोगी सूचना प्राप्त होती है। जलचर जीवों में कुछ ऐसे नाम हैं जिनका अंकन मथुरा की जैन कला में विशेष रूप में पाया जाता है। इन्हें सामुद्रिक अभिप्राय (marine matifs) कहा जाता है। जैसे हत्थिमच्छा (हाथी का शरीर और मछली की पूछ मिली हुई, जिसे जलेभ या जलहस्ति भी कहा जाता है), मगमच्छा (मृगमत्स्य), गोमच्छा (गौमत्स्य), अस्समच्छा (आधी अश्व की, आधी मत्स्य की), नरमत्स्य (पूर्वकाय मनुष्य का और अधः काय मत्स्य का) (अं० triton)। मछलियों की सूची में कुछ नाम विशेष ध्यान देने योग्य हैं। जैसे सकुचिका (सकची मच्छ) चम्मिरा (चर्मज, मानसोल्लास), घोहणु, वइरमच्छ (वज्रमच्छ), तिमितिमिंगल, वालीण, सुंसुमार, कच्छभमगर, गद्दभ कप्पमाण[1] (sharlk) रोहित, पिचक, (पिच्छक, मानसोल्लास), णलमीण (नलमीन, अं० eeL.), चम्मिराज, कल्लाडक, सीकुन्डी, उप्पातिक, इंचिका, कुंडुकालक, सित्त मच्छक। (पृ० २२८)

वृक्षों की सूची में चार प्रकार के वृक्ष कहे गये हैं—पुष्पशाली, पुष्पफलशाली, फलशाली, न पुष्पशाली न फलशाली। पुष्पशाली तीन प्रकार के हैं—प्रत्येक पुष्प, गुलुक पुष्प, मंजरी। एक-एक फल अलग लगे तो प्रत्येक पुष्प, फूलों के गुच्छे हों तो गुलुकपुष्प और पुष्पों के लम्बे-लम्बे झुग्गे लगे तो मंजरी कही जाती है। रंगों की दृष्टि से पुष्पों के पांच प्रकार हैं-श्वेत, रक्त, पीत, नील और कृष्ण पुष्प। गंध की दृष्टि से पुष्पों के तीन प्रकार हैं—सुगंध पुष्प, दुर्गन्ध पुष्प, अत्यंतगंध पुष्प। फलदार वृक्ष फलों के परिमाण की दृष्टि से चार वर्गों में बांटे गये है- बहुत बड़े फलेंवाले [कायवंत फल,] जैसे कटहल, तुम्बी, कुष्मांड, ज्झिमकाय (मझले आकार के फलवाले जैसे कैथ, वेल, विचले (मज्झिमाणांतर) फलवाले जेसे आम, उदुम्बर

और छोटे फलवाले जैसे बड, पीपल, पीलु, चीरोंजी, फालसा, बेर, करौंदा । वर्गीकरण की क्षमता का और विकास करते हुए कहा गया है कि भक्ष्य और अभक्ष्य दो प्रकार के फल होते हैं। पुन वे तीन प्रकार के हैं — सुगध, दुर्गंध और अत्यन्त सुगध । रस या स्वाद की दृष्टि से फलों के पाच प्रकार और हैं—तीते, कडुवे, खट्टे, कसैले और मीठे । अशोक, सप्तपर्ण, तिलक ये पुष्पशाली वृक्षों के उदाहरण हैं। आम, नीम, बकुल, जामुन, दाडिम ये ऐसे वृक्ष हैं जो पुष्प और फल दोनों दृष्टिओं से सुन्दर हैं। गध की दृष्टि से वृक्षों के कई भेद हैं—जैसे मूल गध (जिनकी जड में सुगध हो), स्कधगत गध, त्वचगत गध, सारगत गध, [जिसके गूदे में गन्ध हो] निर्यासगत गध [जिसके गोंद में सुगध हो], पत्रगत गध, फलगत गध पुष्पगत गंध, रसगत गध । रसों में कुछ विशेष नाम उल्लेखयोग्य हैं — गुग्गुल विगत (गुग्गुल से बनाई गई कोई विकृति), सज्जलस (सर्ज वृक्ष का रस), इक्कास (सभवत नीलोत्पल कमल से बनाया हुआ द्रव, देशीनाममाला १,७९ के अनुसार (इक्कस=नीलोत्पल या कमल), सिरिवेट्ठक (श्रीवेष्टक-देवदार वृक्ष का नियास), चदन रस, तेल्लवण्णिकरस (तैलपर्णिक लोबान अथवा चदन का रस), कालेयकरस (इस नाम के चन्दन का रस), सहकार रस (इसका उल्लेख बाण ने भी हर्षचरित में किया है), मातुलग रस, कदमदरस, सालफल रस । उस समय भांति भांति के तेल भी तैयार होते थे जिनकी एक सूची भी दी हुई है—जैसे कुसुम तेल, अनसी तेल, रुचिका तेल [=एरड तेल] करज तेल, उण्हिपुण्णामतेल्ल (पुन्नाग के साथ उबाला हुआ तेल] बिल्ल तेल्ल (बिल्व तेल], उसणी तेल्ल [उसणी नामक किसी ओषधि का तेल, सभवत वैदिक उषाणा), वल्ली तेल्ल, सासव तेल्ल [सरसों का तेल], पूतिकरज तेल्ल, सिग्गुक तेल्ल (सांजन का तेल], कपित्थ तेल्ल, तुरुक्क तेल [तुरुष्कनामक सुगधी विशेष], मूलक तेल्ल, अतिमुत्तक तेल । नाना प्रकार के तेल वृक्ष, गुल्म, वल्ली, गुच्छ, वलय (झुग्गे) और फल आदि से बनाये जाते थे। घटिया बढिया तेलों की दृष्टि से उनका वर्गीकरण भी बनाया गया है। तिल, अतसी, सरसों कुसुम के तेल प्रत्यवर या नीची श्रेणी के रेण—एरड, इगुदी, सोंजन के मज्झिमाणतर वर्ग के, मोतिया और पधकठी (अज्ञात) के तेल मध्यम वर्ग के और कुछ दूसरे तेल श्रेष्ठ जाति के होते हैं। चपा और चादनी [चदणिका] के फूलों (पुस्स=पुष्प) से, जाही और जूही के तेल भी बनाये जाते थे। अनेक प्रकार के कुछ अस्त्रों के नाम भी गिनाये गये हैं। (पृ० २३२, प० २७) वस्त्र, भाजन, आभरण और धातुओं के नाम भी गिनाये हैं । सुवण, त्रपु, ताम्र, सीसक काललोह, वट्टलोह, कसलोह, हारकूट, (आरकूट), चादी - ये कई प्रकार की धातुए बतन बनाने के काम में आती थीं। इसके अतिरिक्त वैडूर्य, स्फटिक, मसारगल्ल, लोहिताक्ष, अजनपुलक, गोमेद, सस्यक (पन्ना), सिलप्पवाल, प्रवाल, वज्र, मरकत और अनेक प्रकार की क्षारमणि इनसे कीमती बतन बनाये जाते थे । कृष्णमृत्तिका, वर्णमृत्तिका, सगमृत्तिका, विषाणमृत्तिका पाडुमृत्तिका, ताम्रभूमि मृत्तिका (हिरमिट्टी) मुरुम्ब (मोरम), इत्यादि कई प्रकार [६ मिट्टियां बतन बनाने और रगने के काम में आती थीं।

इस प्रकार मृत्तिकामय, लोहमय, मणिमय, शैलमय - कई प्रकार के भाजन बनते थे।

वस्तुतः इस अध्याय में दैनिक जीवन से संबंध रखने वाली मूल्यवान सामग्री का संनिवेश पाया जाता है। (पृ० २२३-२३४)

५९, वें अध्याय का नाम काल अध्याय है। जिसमें २७ पटल हैं। पहले पटल में काल विभाग के नाम हैं। दूसरे में गुणों का विवेचन है। तीसरे पटल में उत्पात और चौथे में काल के सूक्ष्म विभागों का उल्लेख है। पांचवें पटल से २७ वें पटल तक जीव-अजीव पदार्थों और प्राणियों का काल के साथ संबंध बताया गया है। बारहवां पटल महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि इसमें छह ऋतु और बारह महीनों के क्रम से प्रकृति में होने वाले वृक्ष, वनस्पति, पुष्प, गन्ध, ऋतु आदि के परिवर्तन गिनाये गये हैं। उदाहरण के लिये फाल्गुन महीने के सम्बन्ध में कहा है— फाल्गुन मास में नर-नारियों के मिथुन मिलकर उत्सव मनाते हैं और मुदित होते हैं। उस समय शीत छूट जाता है और कुछ-कुछ उष्णभाव आ जाता है। जिस समय आम्रमंजरी निकलती है और कोयल शब्द करती है उस समय गाने-बजाने और हँसी-खुशी के साथ स्त्रीपुरुष आपानक प्रमोद में मस्त होते हैं। जपा, इन्दीवर, श्यामाक के पुष्पों से आंदोलित ऋतु का नाम वसंत है जिसमें मनुष्य मस्त होकर नाचने लगते हैं, घूमने लगते हैं। स्त्रीपुरुषों के मिथुन मैथुन-कथा-प्रसंगों में लगे हुए नाना भांति से अपना मंडन करते हैं-उसका नाम फाल्गुन मास है। इन ४२ श्लोकों को अपने साहित्य का सबसे प्राचीन बारामासा कहा जा सकता है। (पृ० २४३-४४)

सत्रहवें पटल में प्रातःकाल से लेकर संध्याकाल तक के भिन्न-भिन्न व्यवहार बताये गये हैं। जिसमें प्रातराश, मध्याह्न भोजन, उद्यान भोजन आदि हैं। बीसवें पटल में रामायण, भारत और पुराणों की कथाओं का भी उल्लेख है।

साठवें अध्याय में पूर्वभव अर्थात देवभव, मनुष्यभव, तिर्यक्भव और नैरयिकभव के जानने की युक्ति बताई गई है। इसीके उत्तरार्ध में उक्त भव के जानने की युक्ति का विचार है।

इस प्रसार यह अंग विज्जा नामक प्राचीन शास्त्र सांस्कृतिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण सामग्री से परिपूर्ण है। निःसन्देह इसकी शब्दावली अनेक स्थलों में अस्पष्ट और गूढ है। इस ग्रन्थ की कोई भी प्राचीन या नवीन टीका उपलब्ध नहीं। प्राकृत कोष भी इन शब्दों के विषय में सहायता नहीं करते। वस्तुतः तो स्वयं अंग विज्जा के आधार पर वर्तमान प्राकृत कोषों में अनेक नये शब्दों को जोड़ने की आवश्यकता है। इस ग्रन्थ पर विशेषरूप से स्वतंत्र अर्थ-अनुसंधान की आवश्यकता है। तुलनात्मक सामग्री के आधार पर एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से यह संभव हो सकेगा कि वस्त्र, भाजन, आभूषण, शयनासन, गृहवस्तु, फलफूल, पुष्पवृक्ष, यान, वाहन, पशु

पक्षी, धातु, रत्न, देवीदेवता, पर्व, उत्सव, व्यवहार आदि से सबधित जो मूल्यवान् शब्दसूचिया इस ग्रन्थ में सुरक्षित रह गई हैं, उनकी यथार्थ व्याख्या की जा सके। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के बाद सास्कृतिक इतिहास के विद्वान लेखक इस सामग्री का समुचित उपयोग कर सकेंगे। यहा हमने कुछ शब्दों पर विचार किया है बहुत से अभी अस्पष्ट रह गये हैं। फिर भी जहाँ तक सभव हो सका है, सास्कृतिक अर्थों की दृष्टि से अगविद्या के अध्ययन को आगे बढाने का कुछ प्रयत्न यहा किया गया है।

वसंतगढ की प्राचीन धातु प्रतिमायें

ले० डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह ([illegible])

भूतपूर्व सिरोही रियासतमें वांतपुरा (गढ) नामक ग्राम है। उसका प्राचीन नाम वसंतगढ था। अहमदाबाद - दिल्ही के रेल्वे रास्ते पर स्वरूपगंज स्टेशन से करीब पांच मील दूर बस - रास्ते से वसंतगढ (वांतपुरागढ़) जा सकते हैं। आबूरोड स्टेशन से उत्तर में करीब २८ मील पर स्वरूपगंज स्टेशन है।

करीब तीस - चालीस वर्ष पूर्व वसंतगढ़ से एक प्राचीन शिलालेख मिला है। एपिग्राफीया इन्डिका वॉल्युम ९, पृ० १९१ से आगे में यह प्रतिकृतिमें शिलाछापसह प्रसिद्ध हुआ है। उस लेख के अनुसार (वि०) संवत् ६८२ में किसी सत्यदेव ने एमङ्करी (वर्तमान गुजरात में यह देवी खिमेलमाता या क्षेमार्या कही जाती है)। माता का मन्दिर बनवाया था। लेख के अनुसार उस प्रदेश पर वर्मलात और उनके प्रादेशिक अधिकारी राज्जिल या राजिल का शासन था।

वर्मलात भिल्लमाल (वर्तमान भीनमाल) का राजा था। भीनमाल आबू के उत्तर-पश्चिम ८० मील दूर वर्तमान जालोर जिले में है। संस्कृत भाषा के महाकवि माघ के कथनानुसार उनके पितामह सुप्रभदेव वर्मलात के मन्त्री थे। यह वर्मलात वसंतगढ़ के उल्लेख वाला वर्मलात होगा। इस शिलालेख में वसंतगढ़ को वटाकर कहा गया है।

वि. सं. १०९९ का पूर्णपाल का एक शिलालेख जो वसंतगढ से मिला है उस में सूर्य और ब्रह्मा के मन्दिरों का उल्लेख है। अभी भी वसन्तगढ़ में इन मन्दिरों के अवशेष हैं[1]।

वसन्तगढ़ में मेवाड़ के राणा कुम्भाने किला बनवाया था जिसके अवशेष आज भी हैं। वहां एक प्राचीन सूर्यमन्दिर था जिस के अवशेष डॉ. देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर ने खोज कर अपने रीपोर्ट में प्रकाशित किये थे और जिसकी कला का एक चित्र, स्मिथ ऑर कॉड्रिन्टन के ग्रन्थ. हिस्टरि ऑफ फाइन आर्ट इन इन्डिआ एन्ड सीलोन, चित्र नं. १९ सी. चित्रफलक ७८ बी में प्रकाशित हुआ है। ये सूर्यमन्दिर के अवशेष गुप्तोत्तर–कालीन कला (Post Gupta Art) के हैं। राजपूताना म्युझियम, अजमेर में नं. २९८ का शिल्प – ब्रह्माणि मातृका की प्रतिमा है जो वसन्तगढ़ से आई है और जो करीब ई० स० की ७-८ वीं सदी की कला का नमूना है।

---

१ वसन्तगढ के प्राचीन अवशेषों और वसन्तगढ़ के प्राचीन नाम 'वट' या 'वटाकर' आदि की चर्चा के लिए देखो, प्रोग्रेस रीपोर्ट ऑफ दी आरकयॉलॉजिकल सर्वे आफ इन्डिआ, वेस्टर्न सर्कल, जुलाई १९०५ से मार्च १९०६, पृ ४९ से आगे.

आकृति न १

आकृति न २

आकृति न ३ (श्री ऋषभदेव प्रतिमा)
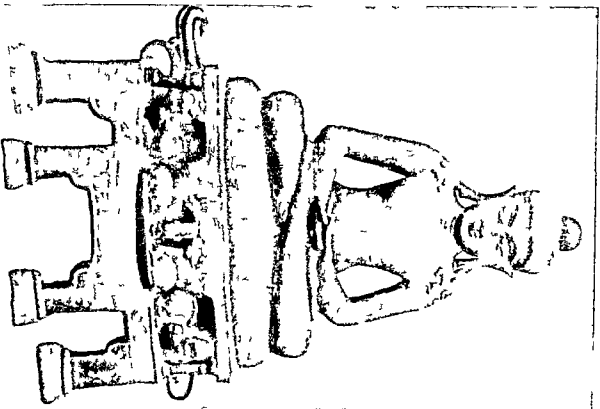
लेख आकृति न १ अ
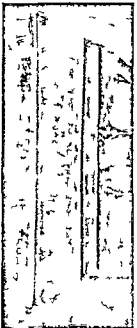
वि स ७४४ वसतगढ-पीडवाडा (राज)

ई स ७०० २५ वसतगढ-पींडवाडा (राज)

आकृति नं. ४ (२) वि. सं. ९२८ के पश्चात्

आकृति नं ४ ई सन ७०० लगभग, वसन्तगढ़ (राज)
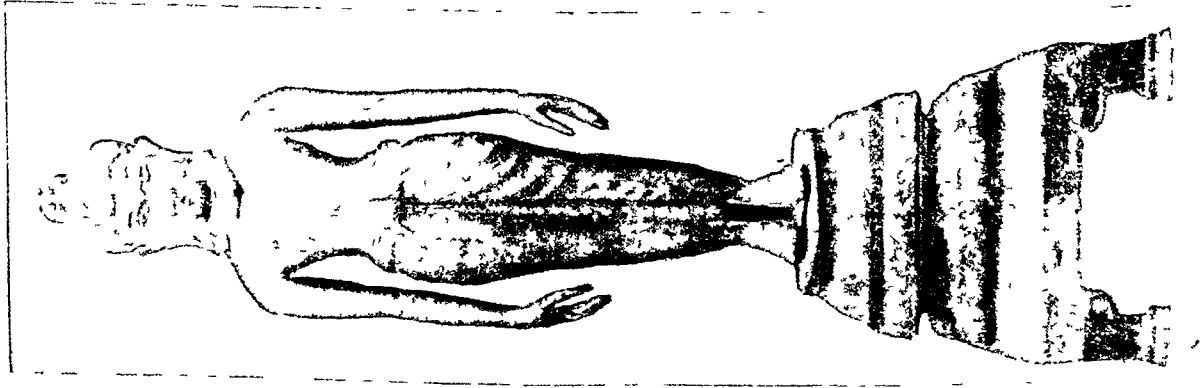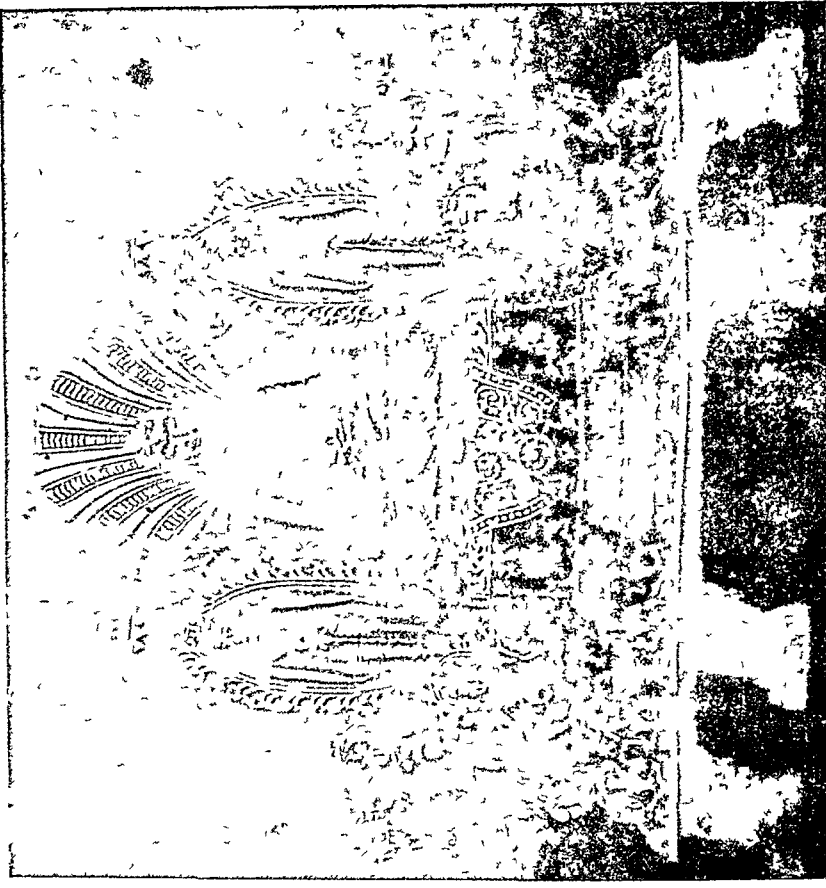
आकृति नं. ४ (३-अ) वसंतगढ़–पींडवाड़ा (राज.)

आज से करीब पचास या कुछ ज्यादा वर्ष पूर्व वसन्तगढ में श्री शान्तिनाथ जैन मन्दिर के भगर्भस्थरमें से प्राचीन जैन धातुप्रतिमाओं का सग्रह मिला था। उस मन्दिर का अभी तो जीर्णोद्वार हो चुका है। इसी मन्दिर में शान्तिनाथजी की एक प्रतिमा पर वि स १५०७ का लेख है। वसन्तगढ के पास एक दूसरा छोटा सा गाव है जहाँ एक शिलालेख में वि स १६०० में दो जन साधु वसन्तगढ के तीर्थकी यात्रा को गये थे ऐसा उल्लेख है। प्राचीन जैन कथाग्रन्थों में वसन्तगढ नामक नगर के उल्लेख आते हैं। यह ग्रन्थोक्त वसन्तगढ और यह वॅतपरागढ-वटाकर-वसन्तगढ एक है ऐसा निश्चितरूप से तो हम नहीं कह सकते, मगर हो सकता है कि श्री हरिभद्रसूरि की समराइच्च-कहा में वर्णित वसन्तगढ यही स्थान हो। श्री हरिभद्रसूरि का समय ई० स० ७ वीं शती का उत्तरार्द्ध है।

जब यह धातुप्रतिमासग्रह मिला तब इस स्थान में पूजा आदि की योग्य व्यवस्था शायद न होने के कारण यह सग्रह वसन्तगढ से बाहिर चला गया और इसका मुख्य हिस्सा पिंडवाडा के जैन मन्दिर में रक्खा गया है। कुछ प्रतिमायें नजदीक के दूसरे स्थानों में भी चली गई होंगी, मगर इसकी हकीकत हमें मालूम नहीं। कोइ जैन भाई अगर इनको खोज कर प्रकाशित कर सके तो अच्छा होगा।

सज्जनरोड स्टेशन से करीब दो मील दूर बस-सर्विस से पिंडवाडा जा सकते हैं। वहाँ के श्री महावीरस्वामी-मन्दिर में अभी इन प्रतिमाओं की पूजा हो रही है। ई० स० १९४० या १९४१ में मैं जब वहाँ गया था तब कुछ प्रतिमायें (आकृति न ४-५-६) दिवार के साथ जडी हुई, मगर पूजा में थीं और कुछ वैसी बिन जडी हुई पूजा में थीं। दो बडी कायोत्सर्ग-स्थित-जिन प्रतिमायें गर्भगृह के प्रवेशद्वार के पास दोनों बाजू पर एक एक पूजा में थीं। किन्तु एक और कमरे में अपूजित, कुछ खण्डित ऐसी थोडी प्रतिमायें भी थीं जिन में से वहाँ के पूजारी ने थोडी सी लाकर मेरे को दिखाइ थीं। इन के जो फोटो मैंने लिए थे उनमें से एक यहाँ आकृति न ३ रूपसे शामिल किया है।

इन धातुशिल्पों के विषय में इतिहास-प्रेमी मुनिश्री कल्याणविजयजी ने सब से प्रथम नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नया सस्करण, वर्ष जिल्द १८, अङ्क २ पृ० २२१-२३१ में एक लेख लिखा था। जिस में काउसग्गिया पर के लेख का अवतरण और कुछ प्रतिमाओं के विषय में थोडी चर्चा, वर्णन आदि दिये थे। श्री साराभाई नवाब ने अपने प्राचीन जैन तीर्थों वाले पुस्तक में इस काउसग्गिया का फोटो और इस लेख का पाठ दिये थे। उमाकात शाह कृत आइकॉनोग्राफी ऑफ दी जैन गॉडेस सरस्वती नामक लेख जो इ स १९४१ में जर्नल ऑफ दी बॉम्बे युनिवरसिटी में छपा था उस में इस सग्रह की एक मनोहर और कला तथा शिल्पशास्त्र की दृष्टि से महत्त्व की सरस्वती-प्रतिमा का फोटो दिया गया था। फिर उसी की कला की चर्चा वसन्तगढ की एक दूसरी प्रतिमा के चित्र के साथ और अकोटा की कुछ धातुप्रतिमाओं

के चित्र सहित बुलेटिन ऑफ दी प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युझिअम, बम्बई, वॉ. १, अङ्क १ में A female chaurie-bearer from Akota and the school of Ancient west लेख में मैंने दी थी। अभी ललितकला अकोडॉमी का वार्षिक, "ललितकला" नामक कलाविषयक सामयिक मे Bronze Hoard From Vasantgadh, पृ० ५४-६५ में वसन्तगढ़ की धातुप्रतिमाओं की चित्रों सहित चर्चा इस लेखक ने की है। यहां उसका सार-भाग दिया जाता है।

वसन्तगढ़ की इन धातुप्रतिमाओं में सबसे ज्यादा महत्त्व की दो प्रतिमायें हैं। दोनों वड़े आकर्षक काउसिग्गया है। धातु के वड़े पीठ पर विकसित द्विगुणित (double) विश्व-पद्म पर एक-एक जिनकायोत्सर्गमुद्रामें ध्यान में खडे हैं। दोनों शिल्प एक ही शिल्पी ने वनाये हैं।

इनमें से आकृति २ वाली प्रतिमा श्री आदिनाथ या ऋपभदेव की है जो स्कन्ध पर फैले हुए केशान्त — hair locks — से सूचित होती है। ऋपभदेवजी ने चतुर्मुष्टि-लोच किया था और शिर के पिछले भाग के केश जिनकी लटें खंधों को शोभा दे रही थीं उनका इन्द्र की विज्ञप्ति से ऋपभदेवजीने लोच करना छोड़ दिया था। यह प्रतिमा करीव ४२ इंच ऊँची है और पीठ (pedestal) १०×१४×१०.५ ईंच का है। दूसरी प्रतिमा [आकृति १] जो इसी शैली की वनी हुई, एक ही शिल्पी की वनाई हुई हैं, कौन से तीर्थंकर की है वह निश्चित नहीं हो सकता। यह मूर्त्ति करीव ४० इंच ऊँची है। पीठ पर न कोई लांछन अङ्कित किया गया और न कोई अन्य साधन है जिससे हम इस प्रतिमा की पहिचान कर सकें। इसी प्रतिमा के पीठ पर एक लेख है [आकृति० १ अ] जो स्व. महामहोपाध्याय श्री. गौरीशंकर ओझाजी ने पढ़ा था और मु. श्री कल्याविजयजीने अपने लेख में प्रसिद्ध किया था। यह इस तरह है—

नीरागत्वादिभावेन सर्वज्ञत्वविभावकं।
ज्ञात्वा भगवतां रूपं जिनानामेव पावनं॥
द्रो (णो ? णे) वक (? यक ?) यशोदेव......।
.....रिदं क्षेत्रं जैनं कारितमुत्तमं।
भवशतपरंपरार्ज्जितगुरुकर्मत ... अर्जो ......
...... वरदर्शनाथ शुद्धसद्ज्ञानलाभाय॥

संवत् ७४४

साक्षात्पितामहेनेव सर्वरूपविधायिना।
शिलिपना शिवनागेन कृतमेतज्जिनद्वयम्॥

इस लेख से स्पष्ट है कि दोनों काउसग्गियाप्रतिमाये ब्रह्मा जैसे सर्वरूपों के विधाता, शिल्पी शिवनाग ने सं० ७४४ (=ई० स० ६८७) में वनाई थीं।

इन दोनों शिल्प का बड़ा महत्व है। ईसा की सातवीं सदी के अन्त भाग में

स्पष्ट रूप से बने हुए ये दोनों शिल्प पश्चिम भारतीय कला के इतिहास के महत्व के सीमाचिह्न बन गये हैं। यह कला विशेषत राजस्थान और गुजरात-सौराष्ट्र में फैली है। उसकी उत्पत्ति भी पश्चिमी भारत में इसी प्रदेश में हुई। मरुदेश के शृङ्गधर (शारंगधर होना चाहिये) नामक कलाकार ने इस शैली का सर्जन किया। शील नामक राजा के दरबार में आश्रय पा कर इस कलाकार ने देवदेवियों के रूपों का निर्माण किया और चिरंजीवी चित्रकारी भी की। मतलब की उसने भित्तिचित्रों (Frescoes and Murals) और धातु या पाषाण के शिल्प बनाये। यह उल्लेख बौद्ध लामा तारानाथ के बयान से हमें मिलता है।

आज तक इस प्राचीन पश्चिमी भारतीय कलाशैली (School & Ancient West) का अस्तित्व स्वीकृत नहीं हुआ था। क्योंकि इस शैली की कलाकृतियाँ पहिचानी नहीं गई थीं। गुप्तकला और गुप्तोत्तर कालीन पाल-शैली से हमारे कला-मर्मज्ञ सुपरिचित थे। किन्तु स्पष्ट समय देते हुए लेखयुक्त पश्चिमी भारत के शिल्पों से अज्ञात थे।

हम देख सकते हैं कि ये दोनों तीर्थंकर की प्रतिमायें न तो गुप्तशैली की या गुप्तकालीन हैं और न वे गुप्तोत्तर-कालीन सारनाथ की या नालन्दा, कुर्किहार आदि स्थानोंकी पाल-शैली की हैं। यह स्पष्ट है कि दोनों शिल्प उस विशिष्ट शैली के हैं जिससे मिलते-जुलते इनसे पहिले या पीछे बने हुए कई शिल्प सारे राजस्थान, गुजरात और मध्यभारत के पश्चिमी हिस्सों में आज भी उपलब्ध हैं।

पाल शैली का जन्म ईसा की आठवीं सदी के अंतभाग में हुआ। ये दोनों शिल्प सातवीं सदी के अन्तभाग के हैं। मगर ये दोनों शिल्प पश्चिमी भारतीय कला के उद्भव के समय के नहीं हैं। किन्तु इनका समय निश्चित होने से हम कह सकते हैं कि इस कला का उद्गम ई स ६८७ से पूर्व किसी समय में हुआ।

यह समय कौन सा था? मरुदेश के इस कलाकार शारंगधर ने जिस के दरबार में आश्रय पाया वह शील राजा कौन था?

यह शिलादित्य हर्षवर्धन नहीं हो सकता। हर्षवर्द्धन की राजधानी थी कन्नौज। और यहाँ हर्ष के बाद हर्ष के साम्राज्य का अंत हुआ। कनौज से जो कुछ इस शैली के शिल्प मिले हैं उनसे ज्यादा राजस्थान और गुजरात में मिले हैं। फिर हर्ष का समय ईसा की सातवीं सदी का पूर्वार्ध है। इस समय के पूर्व के और इसी के समकालीन ईसा कला के उत्तम नमूने गुजरात में वडोदा के पास अकोटा से मिले हैं। अत हर्ष के पूर्व के किसी शील संज्ञक राजाने शारंगधर को आश्रय दिया-यह राजा हो सकता है वलभी का शिलादित्य प्रथम अपर नाम धर्मादित्य, जिसका समय है ई स की छठी सदी का अन्त भाग। हमारे विचार से इस समय में पश्चिम भारतीय प्राचीन कला का जन्म हुआ। इस अनुमान को कई और कई और कारण से पुष्टि मिलती है।

गुप्त-साम्राज्य को हूणों के आगमन से जो आघात लगा तो उस भारतीय विद्या और कलाविषयक प्रवृत्ति को भी थोड़ा सा आघात हुआ। उसके परिणामस्वरूप गुप्तों की राजधानी छोड़कर कुछ पण्डित और कलाकार गुप्तों के सामन्तों के पास या गुप्तों के दूरवर्त्ती-सीमावर्त्ती-प्रदेशों में चले गये। थोड़े ही समय मे भारतीय पुनरुत्थान हुआ। गुप्त सम्राट् की पहिली समृद्धि तो न रहीं, किन्तु उनके प्रादेशिक अधिकारी, सामन्त आदि जो ज्यादा शक्तिशाली होने लगे, निश्चित रूपसे राज्यशासन और विद्या-कलाके नये केंद्र बना सके। सौराष्ट्र में वलभी में ऐसा एक केन्द्र बना। मैत्रकों के शासन में वलभीपुर एक बड़ा विद्या और कला का केंद्र बना। मैत्रकों के ताम्रपत्रों से हम देख सकते हैं कि बौद्ध आचार्य स्थिरमति जैसे महापंडित वलभी में थे। जैन आचार्य मल्लवादी भी वलभी में थे। कई बौद्ध विहारों को दान दिये गये का उल्लेख ताम्रपत्रों में मिलता है। और मैत्रकों का साम्राज्य करीब २००-२५० वर्ष तक चला। ऐसे केन्द्र में मरुदेश के कलाकार शारंगधर को राज्याश्रय मिलना ज्यादा समुचित लगता है।

प्राचीन पश्चिम भारतीय कला (School of Ancient West) के प्राचीन नमूनें अब हमें मिले हैं। अकोटा की जीवन्तस्वामी की धातुप्रतिमा जो करीब ई. स. ६०० या इससे कुछ पूर्व की (ई. स. ५५० आसपास की) है - इसी शैली की ह। ऊँची दीवारवाली ईरानी अनशक टोपी (पाघ) जैसा, किन्तु पद्म से अलङ्कृत, मुकुट-युक्त इस प्रतिमा में महावीर स्वामी ने जो धोती पहनी है वह पश्चिमी भारत के शिल्पों में सबसे ज्यादा प्रचलित ढंग की है और इस में पाटली का एक हिस्सा बायें उरु (जंघा) प्रदेश पर जाता है। ऐसे ढंग से या तो धोती ही पहनी जाती है या एक अलग पर्यसत्क लगाया जाता है।

इसी कला का एक और मनोज्ञ धातुशिल्प है जो मीरपुर से मिली हुई ब्रह्मा की प्रतिमा है। अभी वह करांची के संग्रहालय में है (देखो, (Indian Metal Sculpture, by Chintamoni Car fig, 3)। यह शिल्प भी गुप्त कला की छायायुक्त होने पर भी इसी नयी शैली का है।

जयपुर प्रदेश में आबानेरी से मिले हुए सुन्दर शिल्प अभी lalit-Kala, no. 1 में प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें Plate, LxII, fig. 7 में एक स्त्रीपुरुष की युगलमूर्त्ति है जो करीब ई० स० ६००-६५० की है। यहाँ स्त्री-आकृति की वेशभूषा में वह पर्यसत्क स्पष्ट दिखाई देता है।

बाग की गुफाओंकी चित्रकारी, शिल्पकारी इसी शैली की है। इस कलाशैली में पांचवी सदी की गुप्तकला की प्राधान्यतः छाया होने से सामान्यतः ऐसे चित्र और शिल्प गुप्तकला के नमूने माने गये थे; किन्तु उत्तरकालीन और पश्चिम भारतीय कलाकी विशेषताओं को देखकर अब ऐसे चित्र और शिल्प का फिर सूक्ष्म निरीक्षण कर के निर्णय करना चाहिये।

इस शैली की एक और कायोत्सर्गस्थित–जिनप्रतिमा वसन्तगढ़ से मिली ह जो पीठ सहित करीब २२.७ इच ऊँची है। यह भी अदाज से इ स ७०० आसपास की ह (चित्र न ४)। यह शैली राजस्थान में विशेषत प्रचलित थी। इस बात का प्रमाण हमें भिन्नमाल के एक जेन मन्दिर में सुरक्षित तीन काउसग्गिय प्रतिमाओं से मिलता है (देखो, ललितकला, अङ्क १, प्लेट १०, आकृति ३) इन तीनों में धोता या अधोवस्त्र पहनने के तरीके और कमरबन्ध की (रेशमकी) रस्सी की गाठ और उसके दोनों छोरें (endr)] को अर्द्धचन्द्राकार कमान (arch) जेसे रखने का प्रचार और धोती के मध्यभाग को दोनों पाद के बीच में मे ले कर बायी जघा पर ले जाने का ढग (या तो मध्यभाग से अलग पर्यसत्क इस तरह ले जाने का ढग) आदि का निरीक्षण करने से प्रतीक होगा कि भिन्नमाल की तीनों प्रतिमायें वसन्तगढ के तीनों काउसग्गिया से कुछ पीछे के समय की हैं और शायद ई० स० की आठवीं सदी की हं।

वसन्तगढ से पद्मासनस्थ ऋषभदेव की एक और प्रतिमा मिली है [आकृति ३] उसके पीठ के ऊपर सिंहासन है जिसके मध्य में धमचक्र और हरिण–युगल हैं। यह प्रतिमा अनुमान से ई० स० ७००–७२५ आसपास की बनी होगी। इस के दोनों बाजू यक्ष, यक्षिणी होंगे जो अभी अलग हो गये हैं और उपलब्ध नहीं है, किन्तु सिंहासन की एक और विस्तारित धातुकी पट्टिका से यह अनुमान कर सकते हैं।

ई स ६४० के आसपास बनी हुई पार्श्वनाथ की तीनतीर्थी प्रतिमा अकोटा से मिली है। नागेंद्र कुल में सिद्धमहत्तर की शिष्या "खभिल्यार्जिका" की (प्रतिष्ठित) यह प्रतिमा है-ऐसा इस के पीछे उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है। सिंहासन की बाजूमें यक्ष और यक्षिणी बैठे हैं और नीचे पीठ है। पीठ के ऊपर के भाग में आठ ग्रहों के शिर हैं। पार्श्वनाथ भगवान के दोनों बाजू कायोत्सर्गध्यान में खडे एक एक तीर्थंकर है जिन की धोती पर "बांधणी" की शैली का अलकरण है। इस ढग की तीर्थिक प्रतिमाओं का प्रचार पश्चिम भारत में इस समय में खूब बढ़ा। वसन्तगढ से तीन ऐसी बडी प्रतिमायें मिली हैं। अकोटा की प्रतिमा (देखो, ललितकला अक ? प्लेट ११ चित्र ८) से इन तीनों प्रतिमाओं (आकृति ४, ५ ६) की तुलना से स्पष्ट होता है कि वसन्तगढवाली तीनों प्रतिमायें अकोटा की तीनतीर्थी से पीछे के समय में बनी ह। भृगुकच्छ में प्रतिष्ठित एक प्रतिमा जो शक सं ९१० में (इ स ९८८ में) नागेंद्रकुल पार्श्विलगणि ने बनवाइ थी, जिस का चित्र मैंने ललितकला, अङ्क १ में प्लेट १३, आकृति १०–११ में दिया है उससे पूर्वकालीन वसन्तगढ की तीनों प्रतिमायें हैं। मैंने ललितकला अङ्क १ में मेरे लेख में अनुमान किया था कि आकृति न ६ वाली प्रतिमायें आठवीं सदी ई स के मध्य की होंगी। किन्तु उस समय इन में आकृति ४ के पीछे का लेख (आकृति न–४ अ) और आकृति न ५ के पीछे का लेख (आकृति नं ५ अ) का पता नहीं था। अभी श्री दौलतसिंहजी लोढ़ा मेरी विज्ञप्ति से पिंडवाडा जा कर इन दोनों लेखों के फोटो ले आये हैं। मैं जब पिंडवाडा गया था तब ये प्रतिमायें दीवार के साथ सीमेन्ट से जडी हुई होन से इनके पीछे का लख

का पता लगाना अशक्य था। आकृति ४ करीब १८ ईंच ऊँची है और आकृति ५ करीब १६ ईंच ऊँची है। आकृति ४ के पीछे का लेख जो आकृति ४ अ में दिया गया है वह इस तरह है—

(१) ॐ देवधर्म्मोयं रुयकसंनिवेसित देवद्रोण्णां द्रोणश्रावके—

(२) न सं ९२६ श्रावण शुदि ५ जीयटपुत्रे ण।

अतः यह प्रतिमा वि. सं. ९२६ (ई. स. ८६९-७०) में प्रतिष्ठित हुई। जीयटपुत्र ने आकृति नं. ५ वाली दूसरी प्रतिमा भी बनवाई प्रतीत होती है (देखो लेख, आकृति न. ५ अ) ऐसा उसके लेख से प्रतीत होता है—

(१) ॐ द (दे) व धर्म्मोयं यक्षश्रावक जीयटपुत्रेण

(२) कारितोयंजिनत्रयः ॥ सं० ९२६ श्रावण वदि ५

ये दोनों प्रतिमायें गुर्जर-प्रतीहार राजा मिहिर भोज के राज्यकाल की होने से इस प्रतापी राजा के समय की पश्चिम भारतीय कला का हमें विश्वसनीय अच्छा खयाल आता है।

आकृति नं ६ वाली प्रतिमा भी करीब इसी समय की है। आकृति ७ वाली प्रतिमा छोटी है; मगर वह भी करीब सं० ८५० आसपास की हो सकती है।

एक छोटी सी धातुप्रतिमा जो श्री आदीश्वर की है (आकृति नं. ८) वह भी वसन्तगढ से मिली थी। उसकी पीठ (Pedestal) के मध्य में धर्मचक्र और दोनों बाजू पर एक-एक ऋषभ हैं। करीब ६-७ वीं सदी की प्रतिमाओं में धर्मचक्र के दोनों तरफ हरिणयुगल के बजाय तीर्थंकर के लांछन रकखे गये देखने में आये हैं। इस प्रतिमा में भामंडल की रचना का प्रकार स्मरण में रखने योग्य है। यह प्रकार पीछे के समय में पश्चिम भारत में ज्यादा प्रचलित न रहा; किन्तु गोलाकृति या ईषत्-लंब अन्य जो हमें अकोटा की प्रतिमाओं से मिलता है वह प्रचलित रहा। यह बात स्पष्ट है कि यह प्रतिमा ई. स. ८५० की बड़ी प्रतिमाओं (आकृति० ४, ५, ६) से प्राचीन है। मुखाकृति, शरीर का प्रमाण और रचना आदि से यह भी स्पष्ट है कि यह पश्चिम भारतीय कलाशैली की है। इसका निर्माणकाल अनुमान से ई. स. ७००-७२५ या कुछ पूर्व हो सकता है-पीछे नहीं।

वसन्तगढ़ से एक सुन्दर प्रतिमा पिंडवाडा में आयी है जो करीब १५.५ ईंच ऊँची है। यह छोटी सी मनोज्ञ प्रतिमा श्रुतदेवता या सरस्वती (आकृति ९) की है। एक हाथ में पद्म और दूसरे में पुस्तक है। विकसित पद्म पर खड़ी देवी के दोनों तरफ पूर्णकलश हैं जो मथुरा की कुषाणकालीन सरस्वती की प्रतिमा में परिचारक के हाथ में देखे जाते है। प्रतिमाविधान या मूर्तिशास्त्र (Iconography) की दृष्टि से यह प्रतिमा प्राचीन रूढि का अनुसरण करती है। सरस्वती के ऐसे प्राचीन स्वरूप

श्री पार्श्वनाथ तीन तीर्थी–आकृति न ७
वि स ८५० लगभग
वसतगढ–पींडवाडा (राज)

वसतगढ–(राज)
श्री आदीश्वर–प्रतिमा आकृति न ८
वि स ८००–८५ के लगभग
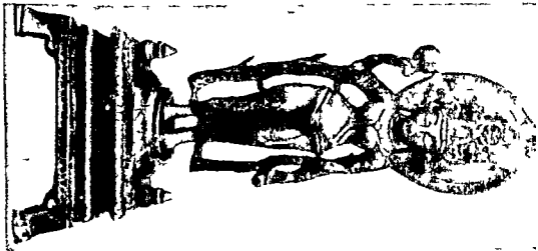
श्र ?वा प्रतिमा–आकृति न ९ ई स ७०० लगभग
वसतगढ–पींडवाडा (राज)

आकृति नं. ५

आकृति नं. ६

आकृति न १० इ स ९-१० वीं शती

आकृति न ११

लेख आकृति न १ (अ)

वसन्तगढ-पींडवाडा

आकृति नं. १२ सलेख
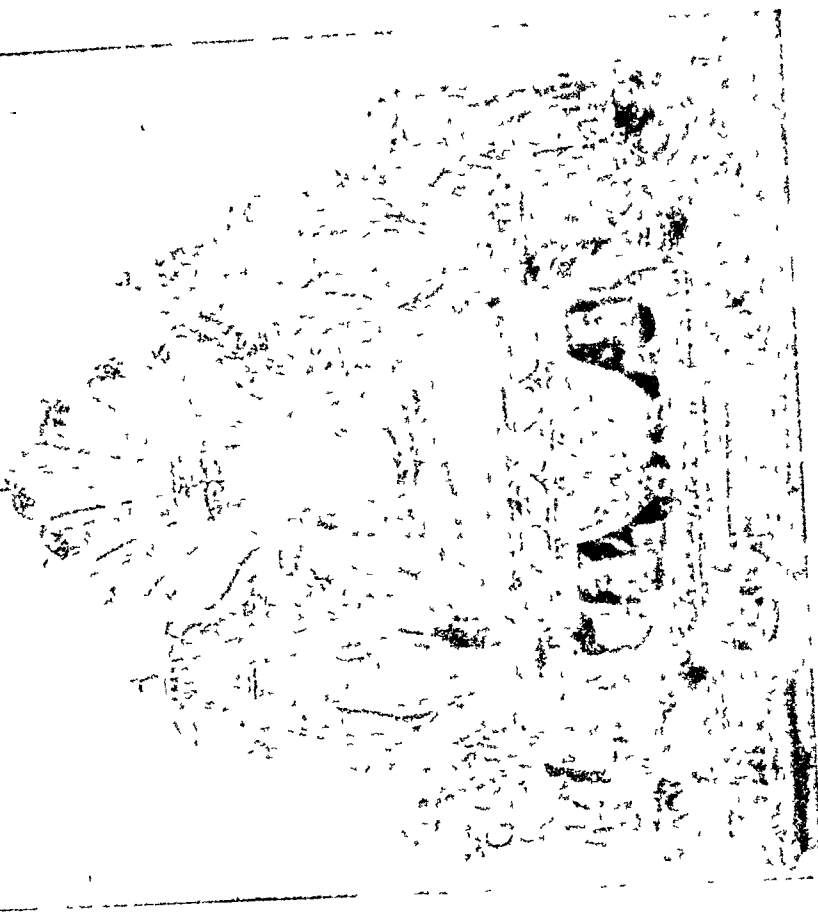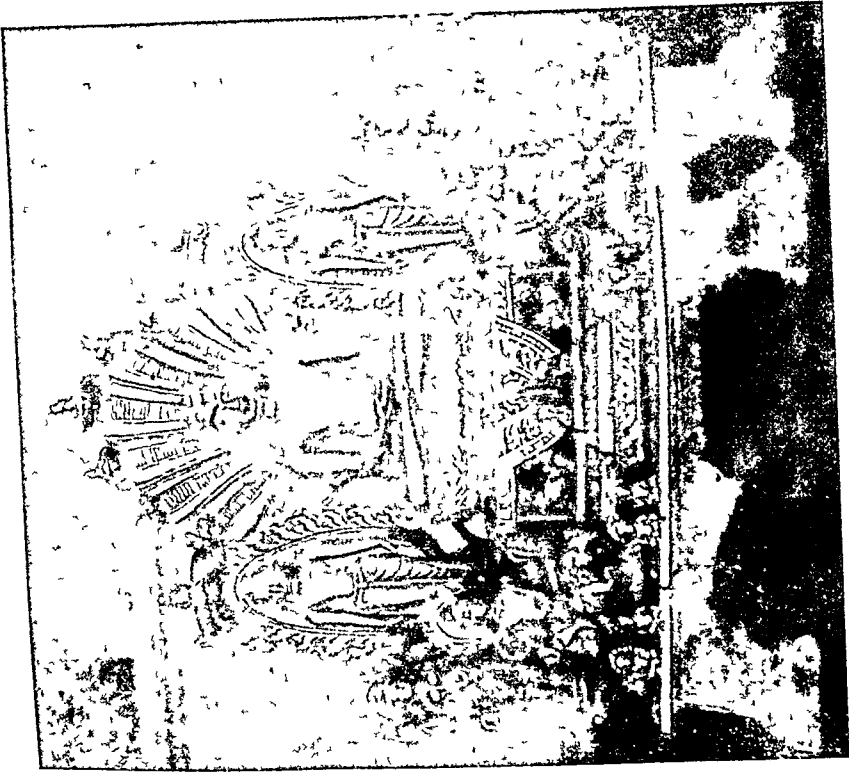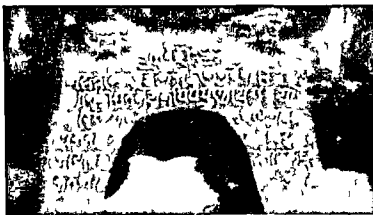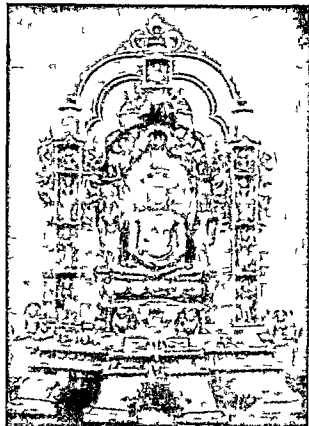
आकृति नं. १३ सलेख

वसंतगढ़-पींडवाड़ा (राजस्थान)

की चर्चा इस प्रतिमा के चित्र के साथ मैं ने Iconography of the Jaina Goddess Saraswati (Journal of the University of Bombay, September 1941) में की है। वसन्तगढ की इस प्रतिमा में मुकुट और देवी का वस्त्र का अलंकरण दर्शनीय हैं। प्राचीन पश्चिमी भारतीय कला का यह एक उत्कृष्ट नमूना है और ई स ७०० आसपास के समय में यह प्रतिमा बनी हो ऐसा अनुमान होता है।

आकृति नं १० में दर्शित पार्श्वनाथ-प्रतिमा करीब १३ इंच ऊँची है जो तोरणयुक्त है। दोनों स्तम्भ के ऊपर भाग में छोटी चैत्य-कमान (Chaitya window ornament) और प्रतिमा के सबसे ऊपर के भाग पर भी ऐसी गवाक्ष-आकृति थी। इससे प्रतीत होता है कि यह प्रतिमा ई० स० ९ वीं सदी के अंत या १० वीं सदी के आदि के भाग में बनी हो सकती है। भगवान् पार्श्वनाथ के दोनों बाजू में चामरधर खड़े है और पीठ से लगे हुए पक्षपर यक्ष-यक्षिणी है। सिंहासन और तोरणस्तम्भ के बीच में धरणेन्द्र और पद्मावती है। अभी उसमें पार्श्वनाथ की यक्षिणी अम्बिका रही है। इसकी आकृति व शैली से भी लगता है कि यह प्रतिमा ई स० ९००-९५ के पीछे की नहीं होगी। ई० स० १०३१-३२ की बनी] हुई तोरण-युक्त पार्श्वनाथ की पद्-तीर्थिक एक प्रतिमा वसन्तगढ से मिली है जिसको देखने से (आकृति ११) यह हमारा अनुमान युक्तियुक्त लगेगा। इस प्रतिमा के पीछे लेख है (आकृति ११ अ)—

संवत् १०८८

महत्तमेन चचेन सज्जनेन च कारितम्
श्यामनागतनयेन चिरं पुण्याय श्रद्धया
फोरिंटक बृहच्चैत्ये श्रावकेण सुवासजा
सूर्यचन्द्रमसौ यावद्यदता जनपूजितम् ॥

अब इस के बाद की ई स १०९४-९५ की एक और प्रतिमा आकृति नं १२ में देखिये। यह प्रतिमा करीब १९.२ इंच ऊची है, जब आकृति नं ११ वाली प्रतिमा करीब १७.२ इंच ऊची है। आकृति १२ के पीछे का लेख (देखो आकृति १२ अ) इस तरह है—

संवत् ११५१ वीहिल्लतनुजथाध (तनुज थाक) जसोनर्द्धन [सङ्ग] क [:] सोचीकर दिम रुचय चतुर्विसति (विंशति) पटक [पट्टक]

हमारे लिए यह धातुशिल्प महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन पश्चिमी भारतीय कला के अन्त का और नयी प्रादेशिक मध्यकालीन शैलियों के उद्भव का संक्रांतिकाल का यह समय है। सं १०८८ वाली प्रतिमा भी इसी संक्रान्तिकाल की है; किंतु उसमें गूर्जर-प्रतीहारों के समय के प्राचीन शिल्पों की छाया विशेषत है।

पाठकों की जानकारी के लिए इसी संक्रांतिकाल की सं ११०२=ई स १०४५-४६ की एक और प्रतिमा, उसके लेख सहित, आकृति १३ और १३ अ में दी गई है।

आबू-सिरोही के नजदीक के (पुरानी सिरोही रियासत के) कई गांवों में प्राचीन जैन धातुप्रतिमायें हैं। इनमें से एक अजारी से मिली हुई, सं. १०९२ [ई. स. १०३५-३६] की यहां आकृति १४ और १४ अ में प्रदर्शित की है।

ईसी अजारी के मंदिर में श्याम पाषाण की एक सरस्वती प्रतिमा है जो प्राभाविक मानी जाती है, सुप्रसिद्ध है। आकृति नं. १५ में प्रदर्शित यह प्रतिमा सं. १२६९ में श्री शान्तिसूरि के द्वारा प्रतिष्ठित की गई थी। मध्यकालीन कला और प्राचीन पश्चिमी भारतीय कला के बीच में जो अन्तर है वह पाठकों को इससे स्पष्ट प्रतीत होगा।

आकृति न. १४
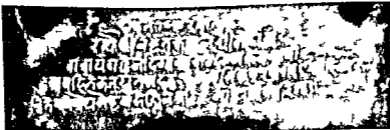
लेख-आकृति न. १४ (अ) अजारी (सिरोही राज)

आकृति नं. १५ वि. सं. १२६९. अजारी (सिरोही-राज.)

संस्कृत में जैनों का काव्यसाहित्य

लेखक डॉ गुलाबचन्द्र चौधरी, एम ए पी एच डी

सस्कृत–सस्कार की गई–परिष्कृत भाषा का नाम है। इसे अमरवाणी, देवभाषा आदि नाम से भी सम्मानित किया जाता है। इसमें युगों तक भारतीय सस्कृति और सभ्यता की अविच्छिन्न धारा बहती रही तथा इसने अपनी ज्ञान विज्ञान की धारा से भारतीय पाण्डित्य को अनुप्राणित किया है। इस भाषा ने भारत वसुन्धरा पर ऐसे प्रखर मेधावी पण्डितों को पैदा किया है, जिनकी विद्वत्ता पर आज भी ससार मुग्ध है। इसके विशाल साहित्य की प्रतिद्वन्द्विता ससार की कोई भी भाषा नहीं कर सकती। इस भाषा के साहित्य की सेवा भारत के तीन प्रधान धर्मों–जैन, बौद्ध एव ब्राह्मण–के विद्वानों ने समान रूप से की है। सस्कृत का प्रौढ ज्ञान उनकी विद्वत्ता की कसौटी समझा जाता था।

भारतीय मस्तिष्क सस्कृत वाङ्मय में विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ था, इस लिए यह सभी वर्ग के विद्वानों द्वारा समादृत था। भारतीय सस्कृति की दोनों धाराओं–श्रमण और ब्राह्मण–ने इसके साहित्य की समृद्धि में स्पर्द्धा से काम लिया। यद्यपि श्रमण–सस्कृति के उपासक विद्वानों की रुचि साधारणत जनसामान्य की भाषा 'प्राकृत एव अपभ्रश' के प्रति तथा पीछे देशीय बोलियों के प्रति थी क्योंकि उन्हें बहुजनहिताय अपने उपदेश जनता की भाषा में देने पडते थे। तो भी अपने उन सिद्धान्तों को दार्शनिक कसौटी में कसने के लिए; विद्वत्समाज - मान्यता प्राप्त करने के लिए एव साहित्य के विविध अगों की प्रतिस्पर्धा में अपने वर्ग के साहित्य का गौरव स्थापित करने के लिए, इन विद्वानों ने संस्कृत वाङ्मय के समृद्ध करने में बडा भारी योग दिया है। आज यही कारण है कि जैन विद्वानों की, सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, छन्द, अलकार, काव्य, नाटक, चम्पू, कोष, वैद्यक, ज्योतिष, गणित, राजनीति, सुभाषित, कथा, पुराण और चरित आदि के क्षेत्र में बहुमूल्य रचनाए उपलब्ध हैं।

जैन साहित्य की विशाल धारा ईसा की ५–६ वीं शती पूर्व से अब तक अनवरत बहती आ रही है। प्रारम्भिक शताब्दियों में भले ही वह अर्धमागधी और अन्य प्राकृतों में लिखा गया हो, पर ईसा की ३ री शताब्दी से अब तक जैन विद्वानों ने प्राकृत और अपभ्रश भाषाओं के साथ सस्कृत में भी बडी तत्परता के साथ साहित्य सृजन किया है। उपलब्ध सस्कृत साहित्य में तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्धपिच्छ उमास्वामी को सर्वप्रथम लेखक माना जाता है। इनके बाद समन्तभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपाद, अकलक, हरिभद्र आदि सहस्रों विद्वान् आचार्यों ने अपने पवित्र ज्ञान से इसे पुनीत किया है।

मध्यकालीन भारत में जिस लगन और प्रेरणा के साथ जैन विद्वानों ने संस्कृत साहित्य की सेवा की है वह इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों से सदा अङ्कित रहेगा। इस युग में भारतीय ज्ञान-विज्ञान का ऐसा कोई अंग शेष नहीं रहा जिसमें कि जैन विद्वानों ने अपनी मौलिक कृतियां संस्कृत में न लिखी हों। और पीछे देश-काल की परिस्थितियों के अनुरूप इन विद्वानों ने संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि में बराबर योगदान किया है।

नीचे लिखी पंक्तियों में हम जैनों के संस्कृत भाषा में लिखे गये विशाल काव्य-साहित्य का दिग्दर्शन करेंगे। इसके प्रधान अंगभूत हैं - चरित एवं पुराण, कथा-साहित्य, प्रबन्ध-साहित्य, ललित-साहित्य, दृश्य-श्रव्य काव्य, समस्यापूर्ति, स्तोत्र, सुभाषित एवं अभिलेख-साहित्य।

चरित एवं पुराण-साहित्य :-

जैनों के चरित और कथासाहित्य का मूल उद्गम आगम ग्रन्थ और उनके भाष्य, चूर्णि एवं टीकाएं ही हैं। इन्हीं के आधार पर तथा प्रचलित भारतीय साहित्य के आधार पर जैन कवियों ने संस्कृत में इस विशाल साहित्य की सृष्टि की है। चरित एवं पुराण शब्द से हमारा आशय उस विपुल साहित्य से है जिसमें प्रागैतिहासिक काल के पुरातन ६३ महापुरुषों (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण एवं ९ बलदेव) का वर्णन है। पुरातन पुरुषों के चरित के लिए दिग० सम्प्रदाय में पुराण एवं चरित ये दोनों शब्द बराबर प्रयुक्त हैं - जैसे हरिवंश-पुराण और हरिवंशचरित पद्मपुराण और पद्मचरित; परन्तु श्वेताम्बर साहित्य में केवल चरित शब्द का प्रयोग दिखता है - जैसे त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पाण्डवचरित, महावीरचरित आदि। चरित शब्द पुराण की अपेक्षा हमें एक विस्तृत साहित्य का बोध कराता है। इसमें महा-पुरुषों के व्यक्तिगत चरित तो हैं ही; पर इसके सिवाय अनेकों सन्तों और साधुओं के चरित भी अन्तर्भूत होते हैं। पुराण शब्द से अभिप्रेत है पुरातन पुरुषों का चरित' ही।

ब्राह्मण साहित्य की भांति दिग. जैन साहित्य में 'पुराण' शब्द का प्रयोग 'इतिहास शब्द' के साथ आता है तथा कभी-कभी पुराण और इतिहास समानार्थक माने गये हैं;[२] परन्तु आज जिस वैज्ञानिक पद्धति से इतिहास का निर्माण हो रहा है, उस कसौटी में ये पुराण इतिहास नहीं कहे जा सकते: भले ही इतिहास के निर्माण में इनका एकांश योग-दान हो। ब्राह्मण सम्प्रदाय के साहित्य में पुराणों का अपने ढंग का विकास है। वहाँ १८ पुराण एवं १८ उपपुराण माने जाते हैं तथा इनके अतिरिक्त भी और पुराण हैं; परन्तु जैनियों का यह साहित्य उनसे भी निराला है। यहां संख्या तो

१ 'पुरातन पुराणं स्याद्' भगवज्जिन सेन

२ दामनन्दि 'पुराणसारसंग्रह' आदिनाथचरित, श्लोक २

कोई नियत नहीं, पर २४ तीर्थंकरों के २४ चरितों या पुराणों को प्रधानता दी जाती है। किन्तु यहा भी रामायण के कथानक के समान पद्मपुराण एव पउमचरिउ, महा भारत के समान अपने ही ढग के हरिवशपुराण एव पाण्डवपुराण हैं। ब्राह्मण मान्यता के अनुसार पुराणों के वर्ण्य विषय हैं–सर्ग, प्रतिसर्ग, वश, मन्वन्तर तथा वशानुचरित। वसे ही जैन पुराणों के प्रतिपाद्य विषय हैं — १ क्षेत्र (तीनलोकों का वर्णन) २–काल (तीनों काल) ३ तीर्थ [सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चरित्र] ४– सत्पुरुष तथा ५– उनकी पाप से पुण्य की ओर प्रवृत्ति[1] आदि।

चरित एव पुराण–लेखक, कवि सत्पुरुष को अपने वर्णन का विषय बनाकर उसके जीवन से सम्बधित सभी नैतिक एव धार्मिक भावनाओं का निरूपण करता है ताकि जन-साधारण उनसे प्रभावित हो सके और उसे अपना आदर्श बना कर अपने सामान्य स्तर से ऊपर उठ सके। हमें पुराणों से मालूम होता है कि एक साधारण स्तर का व्यक्ति किन उच्चादर्शों को पालकर कैसे त्याग और तपस्या के बल से उन्नत हो सका है। इसी लिए चरितग्रन्थों का मनुष्यों के चरित्र-निर्माण में बहुत बड़ा हाथ है और उनकी श्रद्धा भी उनके प्रति अगाध देखी जाती है।

इन ग्रन्थों में जैन धर्म के गभीर से गभीर तत्त्वों की चर्चा को दृष्टान्त, प्रतिदृष्टान्त देकर अनेक रोचक कथा–कहानियों से ऐसा प्रिय बनाया गया है कि ये जनसाधारण को शुष्क न मालूम हो सकें। इतना ही नहीं, इन पुराणों का महत्त्व एक और बात से बताया जा सकता है, वह यह कि एक ओर तो ये अतिप्राचीन, ऐतिहासिक एवं अर्ध ऐतिहासिक अनुश्रुतियों के भण्डार हैं तो दूसरी ओर अनेक जनप्रिय कथानकों के आकर भी। जैन श्रमणों ने बौद्ध श्रमणों की भाति ही अपने उपदेशों को प्रचलित कथा कहानियों से सजाया तथा लौकिक महत्त्व की कहानियों को प्रामाणिक कहानियों के रूप में परिवर्तित किया। इस प्रकार भारतीय जनता के कथाओं और कहानियों के प्रति जन्मजात स्नेह का उपयोग जैन चरितकारों ने उन्हें अपने धर्म की ओर अधिक से अधिक आकर्षित करने में किया। एक ओर महत्त्व की बात यह है कि जैन पुराणों में भारतीय कथानक साहित्य के ऐसे बहुत से रत्न मिलते हैं कि जो दूसरी जगह अप्राप्य हैं। यहा अनेकों अनुश्रुतियों और कथाओं की प्राचीन रोचक परम्परायें भी सुरक्षित मिलती हैं; जैसे कि प्राचीन काल में प्रचलित कृष्ण मार्ग और राम मार्ग की एक धारा जैनों के 'हरिवश पुराण' तथा 'पउमचरिउ' से ज्ञात होती है।

जैन चरितों एव पुराणों में त्रेसठ महापुरुषों का जीवनचरित्र दिया गया है– यह बात ऊपर कह चुके हैं। परन्तु प्राय ऐसा माना जाता है कि तीर्थंकर के नाम– परक पुराणों के बीच शेष – चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण आदि शलाका पुरुषों का भी

१ जिनसेन आदिपुराण, सर्ग २ श्लोक ३५

२ दम विंटरनित्स, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ ४५४

वर्णन आ जाता है, अतः २४ तीर्थंकरों के २४ पुराणों को ही प्रधानता दी गई है। तीर्थंकरों के ये चरितग्रन्थ बहुत तो स्वतंत्र रूप में और बहुत संग्रहरूप में मिलते हैं। स्वतंत्ररूप से लिखे गये चरितों की संख्या अनेक हैं। इनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, सोलहवें शांतिनाथ, बावीसवें नेमिनाथ, तेवीसवें पार्श्वनाथ और चौवीसवें महावीर के चरितों पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, क्योंकि इनके जीवन–चरित जैनों में बहुत प्रिय माने गये हैं। इस प्रकार के चरितों में कवि असग (१० वीं श.) के 'शांतिनाथ पुराण' और 'महावीर चरित', सूराचार्य (११ वीं श.) का 'नेमिनाथ चरित', देवसूरि का 'शांतिनाथ चरित' (स. १२८२) भावदेव का 'पार्श्वनाथ चरित' (सन् १२५५) तथा भट्टारक सकलकीर्ति के अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। संग्रह रूप से रचित ग्रन्थों में कवि परमेष्ठी के वागर्थसंग्रह ग्रन्थ का नाम सुना जाता है जिसके आधार पर भगवज्जिनसेन और उनके सुयोग्य शिष्य गुणभद्र ने 'आदिपुराण' और 'उत्तरपुराण'[१] के रूप में 'महापुराण' नामक एक विशाल काव्य ग्रन्थ लिखा। इसमें ६३ महापुरुषोंका चरित दिया है। आचार्य मल्लिषेण (सं. ११०४) ने भी संग्रह रूप में एक 'महापुराण' लिखा। इस प्रकार के ग्रन्थों में आ० हेमचन्द्र (१२ वीं शती.) का 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' विशेषरूप से उल्लेखनीय है। पीछे अनकों जैनाचार्यों ने 'चतुर्विंशति पुराण' नाम से ग्रन्थों की रचना की तथा महत्त्वपूर्ण पुराणों के संक्षित संस्करण करके संग्रहरूप में 'पुराणसारसंग्रह' नाम से अनेक ग्रन्थ लिखे[१]।

इन चरितों और पुराणों में हिन्दुओं के चिरपरिचित तथा जैनोंद्वारा शलाकापुरुष रूपसे मान्य ऋषभ, भरत, सगर, राम, लक्ष्मण, रावण, कृष्ण, बलराम, जरासिन्ध आदि का यथायोग्य चरित्र-चित्रण मिलता है।

तीर्थंकरों के पुराणों के अतिरिक्त जैन विद्वानों ने भारतीय जनता की अतिशय प्रिय राम–कथा एवं महाभारत की कथाओं को महत्त्व देकर उन पर भी स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें रविषेण का 'पद्मपुराण[२]' या पद्मचरित सन् ६७९ ई में रचा गया था। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में इस कथा पर इससे पूर्व और समकालीन अन्य ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। पीछे संस्कृत में राम–कथा का वर्णन गुणभद्र अपने 'उत्तरपुराण' के ६५ वें पर्व में और आ० हेमचन्द्र ने 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित' के ७ वें पर्व में किया है जिसका नामान्तर 'जैन रामायण' भी है।

पीछे १६ वीं शताब्दी में देवविजयगणि ने 'रामचरित' तथा १६–१७ वीं शताब्दी में भट्टारक सोमसेन, भट्टारक धर्मकीर्ति और भट्टारक चन्द्रकीर्ति ने 'पद्मपुराण' नामक कई ग्रन्थों की रचना की। इसी तरह महाभारत की कथा पर पुन्नाटसंघीय जिनसेन ने

१ भारतीय ज्ञान पीठ, बनारस मे प्रकाशित

२ गुलाबचन्द्र चौधरी द्वारा सम्पादित - पुराणसारसंग्रहकी भूमिका [भा ज्ञानपीठ, बनारस],

३. माणिकचन्द्र दिग. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रकाशित

सन् ७८३ ई में 'हरिवंशपुराण' की ६६ सर्गों में रचना की। इसी तरह १५ वीं शताब्दी के लगभग भट्टारक सकलकीर्ति और उनके शिष्य जिनदास ने एक दूसरा 'हरिवंश' ३० सर्गों में रचा। इसी कथानक को 'पाण्डव-चरित' नाम से १३ वीं शताब्दी के लगभग मलधारी देवप्रभसूरि ने तथा १५५१ ई में भट्टारक शुभचन्द्र ने 'जैन महाभारत' नाम से ख्यात पाण्डवपुराणों की रचना की। अपभ्रंश भाषा में तो इस प्रकार की अनेकों रचनायें ८ वीं श० से १६ वीं श० तक की मिली है।

ये जैन चरित और पुराण ग्रन्थ न केवल सन्तों के जीवन, उनके सिद्धान्त और कथाओं की दृष्टि से महत्त्व के हैं, बल्कि इनसे समकालीन राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास एवं सभ्यता पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए हम पुन्नाट संघीय वर्धमानपुर (काठियावाड) के आचार्य जिनसेन के 'हरिवंशपुराण' को ही लें। इस पुराण में ग्रन्थकार ने न केवल अपने समय (सन ७८३ ई) के प्रमुख राज्य और राजाओं का उल्लेख किया है, बल्कि भग० महावीर से लेकर आगे चलने वाली जैन आचार्यों की एक अविच्छिन्न परम्परा, अवन्ती की गद्दी पर आसीन होनेवाले राजवंश तथा गर्दभवंश (जिसमें कि प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य हुआ है) और और भग० महावीर के समय से लेकर गुप्तवंश एव कल्की के समय तक मध्यदेश पर शासन करने वाले प्रमुख राजवंशों की परम्परा का उल्लेख किया है। इसी तरह जिनसेन का 'आदिपुराण' दि जैनों के लिए एक विश्वकोश है जिसमें उन लोगों के लिए ज्ञातव्य प्राय सभी बातों का वर्णन मिलता है। उसकी रचना एक महाकाव्य के रूप में की गई है। यह ब्राह्मण पुराणों के ढंग का ही एक महापुराण है। इस ग्रन्थ में उन १६ संस्कारों का जैन रूपांतर दिया गया है जो कि जन्म से मृत्यु तक एक व्यक्ति के जीवन के साथ लगे हैं। इसमें अनेक प्रकार की बुद्धिबल पहेलियां, स्वप्नों की व्याख्या, नगरनिर्माण के सिद्धांत, अनेक भौगोलिक शब्द, राज्यतन्त्र का उद्गम, राज्याभिषेक, शासक के आवश्यक कर्तव्य और शिक्षा आदि पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाले गये हैं। इसी तरह रविषेण का 'पद्मपुराण' उन पुराणों में से है जो रामकथा की प्राचीन अनेक परम्पराओं में से एक का प्रतिनिधित्व करता है। आज रामकथा पर कम्बोडिया, मलाया, स्याम और तिब्बत से जो ग्रन्थ मिले हैं उनसे भी उक्त कथा की अनेक धाराओं का पता लगता है। अनुसंधान के विद्यार्थी के लिए उन सबका अध्ययन एक बड़ा ही रोचक विषय होगा। 'पद्मपुराण' से रावण की लंका और कुछ प्राचीन जैन तीर्थों की स्थिति का भी परिज्ञान होता है। आचार्य हेमचन्द्र के 'त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित'[1] से तत्कालीन गुजरात सम्राट् जयसिंह सिद्धराज और उनके उत्तराधिकारी सम्राट् कुमारपाल के समय की सामाजिक स्थिति, नीति, आचार, धर्मरुचि, शासन-पद्धति, दण्ड, आर्थिकस्थिति, व्यापार और उसके मार्ग, शिल्प शिल्प, चित्रकला आदि का ज्ञान होता है। इस ग्रन्थ के परिशिष्ट स्वरूप 'परिशिष्टपर्व'[2] से नन्दों एवं मौर्यों के विषय में तथा चाणक्य एवं

१ जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर से प्रकाशित

२ बंगाल एशियाटिक सुसाइटी, कलकत्ता से प्रकाशित

शकटाल के सम्बन्ध में अनेकों महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य ज्ञात होते हैं।

इसी तरह यदि अन्य पुराणों के अध्ययन प्रस्तुत किये जांय तो वे बड़े रुचिकर सिद्ध होंगे।

कथासाहित्य :

पुराणों और चरितों के समान ही जैनों का कथासाहित्य अतिसमृद्ध है। जैन सन्त अच्छे कथाकार थे और उनका इन कहानियों से क्या अभिप्राय था इसके सम्बन्ध में कहा जा चुका है। विशेष बात यह है कि अन्य साहित्यिक अंगों की अपेक्षा इस साहित्य से हमें सामान्य जनजीवन की एक अच्छी झांकी मिलती है।

जैनाचार्यों ने कथाओं के सामान्यतः चार मौलिक विभाग किये हैं:—अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और संकीर्णकथा। इनमें धर्मकथा को उनने सर्वश्रेष्ठ और शेष को निकृष्ट माना है। धर्मकथा से उनका आशय उस कथा से है जिसमें क्षमा, मार्दव आदि १० आत्मधर्मों की साधना, अणुव्रत आदि १२ व्रतों का पालन तथा क्षुधा, तृषादि २२ परीषहों पर विजय आदि का वर्णन प्रधान हो। काव्यशास्त्र-विशारदों ने काव्यशास्त्र के नियमों के पालन पर तथा अर्थगांभीर्य एवं लौकिक सम्मत प्रसिद्धियों पर जोर देकर जिस कथानक रचना का विधान किया है उसे जैनाचार्यों ने संकीर्ण कथा कहा है तथा अभीष्ट नहीं माना।

धर्मकथा के अन्तर्गत हमें अनेक प्रकार की कहानियां, आख्यान और चरित्र मिलते हैं जिनमें जीवन्धर, यशोधर, श्रीपाल आदि धर्मवीरों की, व्रत-नियमों के पालन में अपने समस्त जीवन को लगा देने वाले स्त्री-पुरुष पात्रों की, पुराणों में वर्णित तपःसूर संतों की तथा भव-भवांतरों में पुण्य-पाप कर्मों को अर्जित कर उनका फल भोगने वाले व्यक्तियों की कथायें पाते हैं। इन कथाओं का उद्देश्य जैन मान्यताओं का दृष्टांत के साथ प्रचार करना है तथा पाठकों एवं श्रोताओ के मन पर उक्त धर्म की विशालता और शक्ति का प्रभाव बैठा देना है। इस तरह जैन धर्मसम्मत धार्मिक एवं नैतिक आदर्शों की समाज के बीच स्थापना करना इन कथाओं का उद्देश्य है। ये कहानियां शुष्क सिद्धान्तों और आचार-नियमों की चर्चावस्तु मात्र ही नहीं हैं; प्रत्युत अनेक शिक्षाप्रद उपदेशों के समय वे यथार्थ में जनमनोरंजन के लिए भी बनायी गई हैं।

जैन पुराणों और चरितों में उनके अंगभूत यद्यपि अनेक कथायें मिलती हैं; फिर भी पीछे कुछ का विकास कर उन पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे गये हैं। सुविधा की दृष्टिसे इन ग्रन्थों को दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम श्रेणी में आख्यायिकायें और काव्यात्मक ढंग से लिखे गये कथानक तथा दूसरी श्रेणी में कथाओंके संग्रहरूपमें रचे गये कथाकोष

आते हैं। प्रथम श्रेणी के उदाहरण स्वरूप जयनन्दि का 'वरागचरित', सिद्धर्षि की 'उपमितिभवप्रपञ्चा कथा' तथा धनपाल की 'तिलकमजरी' आदि कथाग्रन्थ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। 'वरागचरित'[१] की रचना आ० जयसिंहनन्दि ने (ई ७ वीं शताब्दी) काव्यात्मक शैली में ३१ सर्गों में की है। वराङ्ग एक पौराणिक व्यक्ति है और वह धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थों का विधिवत् पालन कर अन्त में मोक्ष जाता है। सिद्धर्षि की 'उपमितिभवप्रपञ्चाकथा'[२] (सन् ९०६ ई०) आठ प्रस्तावों में विभक्त एक साङ्गरूपक कथा है जो कि भारतीय साहित्य में अपने ढगका निराला है। इसमें ससारी जीव अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए निकृष्ट अवस्था से उठकर क्रमश क्रोध, मान, माया आदि पर विजय प्राप्तकर मोक्ष जाता है। कथा में मानसिक विकारों को रूपक देने के कारण इसमें तत्कालीन युग की अनेक मान्यतायें और विविध सामाजिक चित्रण मिलते हैं। 'तिलकमजरी'[३] का हमने गद्यकाव्यों में वर्णन किया है। अन्य कथानकों में 'उत्तम चरित कथानक' 'चम्पक श्रेष्ठि कथानक' (१५ वीं श०), 'मृगावती चरित' आदि आते हैं। इनमें कुछ कथानकों की सस्कृत देशीभाषाओं से प्रभावित है।

दूसरी श्रेणी के कथासाहित्य में कुछ ऐसे सग्रह मिले हैं जिनमें एक बड़ी कथा के अन्तर्गत अनेक छोटी कहानिया प्रसगानुसार दी गई हैं। इस तरह के ग्रन्थों में नागदेव (ई १४वीं) के दो ग्रन्थ 'सम्यक्त्व कौमुदी और मदनपराजय' तथा ज्ञानसूरि का 'रत्नचूडाकथा' (१५ वीं श०) मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी ग्रन्थ मिले हैं जिनमें स्वतन्त्र रूप से कथाओं का सकलन किया गया है जैसे हरिषेण का 'कथाकोष' (वि स ९८९) प्रभाचन्द्र का 'कथाकोष' (११ वीं श०) देवप्रभसूरि का 'कथारत्नकोष' (वि स ११५८) तथा अन्य ग्रन्थ पुण्याश्रव कथाकोष आदि[४]

कथासाहित्य में उपहासात्मक कहानिया तो जैन विद्वानों की अपनी देन हैं। प्राकृत में हरिभद्र का 'धूर्ताख्यान'[५] इस दिशा में पहला प्रयत्न है। सस्कृत में सघ तिलक का 'धूर्ताख्यान' हरिषेण की धर्मपरीक्षा (स १०४४) तथा अमितगति की 'धर्मपरीक्षा (स १०७९) उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

इसके अतिरिक्त जैन विद्वानों ने भारतीय कथासाहित्य की रक्षा में भी पर्याप्त परिश्रम किया है। सस्कृत साहित्य के अद्वितीय कथाग्रन्थ 'पञ्चतन्त्र' का एक पाठान्तर जैनाचार्य पूर्णभद्रकृत 'पञ्चाख्यायिका' (सन् ११९९) नाम से तथा दूसरा ग्रन्थ 'पञ्चाख्यानोद्धार' (सन् १६६०) मिला है। इसी तरह 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' की एक

१ माणिकचन्द्र दिग जैन ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रकाशित
२ बंगाल एशियाटिक सोसा० कलकत्ता से प्रकाशित
३ निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित
४ डा आ ने उपाध्ये द्वारा लिखित बृहत्कथाकोष की भूमिका देखें।
५ सिंघी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित।

अंक का वर्णनात्मक नाटक है जिसमें उक्त कथानक का जैन रूपान्तर प्रस्तुत किया गया है। कवि यशश्चन्द्र ने भी जैन पौराणिक कथावस्तु पर 'राजीमती प्रबोध नाटक' लिखा है।

मध्यवर्गीय चरित्र को चित्रण करनेवाले जैन नाट्य ग्रन्थों में रामचन्द्रसूरि के 'मल्लिकामकरन्द' रोहिणीमृगाङ्क' एवं 'कौमुदीमित्रानन्द' उल्लेखनीय हैं। प्रकाशित कौमुदीमित्रानन्द[1] मध्यवर्गीय कथा पर एक सुखान्त नाटक है। इसकी कथा वस्तु में अनेकों घटनाएं कहानियों जैसी जोड़दी गई हैं। मित्रानन्द अनेक चमत्कारिक घटनाओंके वाद अपनी प्रेयसी कौमुदी को पा लेता है। इस प्रकार के नाटकों में जिनप्रभसूरि के शिष्य रामभद्र (१३ वीं शता.) ने ६ अंकों में 'प्रवुध्द रौहिणेय[2] नाटक लिखा जिसमें रौहिणेय चोर की कथा दी गई है। इस श्रेणी के नाटको में शाकम्भरीश के मन्त्री धनदेव के पौत्र यशश्चन्द्रकृत 'मुद्रित-कुमुदचन्द्र[3] प्रकरण' भी आता है। इसमें गुजरात के प्रसिध्द सम्राट् जयसिंह सिद्धराज (सन् १०९४-११४२) के दरबार में दिग० कुमुदचन्द्र और श्वेतांबर मुनि देवसूरि के बीच वादविवाद को पांच अंकों में वर्णन किया गया है। यद्यपि इसमें नाटकीय वस्तु न के वरावर है; परन्तु तर्क शैली के संवाद मनोहर हैं।

ऐतिहासिक महत्त्व के नाटको में वीरसूरि के शिष्य जयसिंह सूरि द्वारा ५ अंकों का 'हम्मीरमद[4] मर्दन' (१३ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) मिलता है। इससे मुसलमानों के प्रारम्भिक आक्रमण के समय गुजरात और उसके पडौस के राज्यों की दुर्दशा तथा उस समय महामात्य वस्तुपाल की वुद्धिचातुरी एवं राजनीतिक चतुरता का अच्छा परिचय मिलता है। इसी प्रकार दूसरा ग्रन्थ, कृष्णर्षि गच्छ के आचार्य प्रसन्नचन्द्र सूरि के शिष्य नयचंद्र सूरि (१४ वीं शता०) की 'रम्भामंजरी[5]' नाटिका है। इससे गाहडवाल वंश के राजा गोविन्दचन्द्र, विजयचन्द्र और जयचन्द्र के सम्बन्ध की कुछ ऐतिहासिक बातें मालूम होती हैं। इस नाटिका का नायक जयचन्द्र (जैत्रचंद्र) है।

साङ्ग रूपक नाटकों में चौलुक्य नृपति अजयपाल (सन् १२२९-३२) के मन्त्री यशःपाल ने 'मोहपरा×जय' नामक महत्त्वपूर्ण नाटक लिखा। इसमें मोह, लोभ, दोष आदि दुर्गुणो और कृपा आदि सद्गुणों को पात्र वनाया गया है और कृपासुन्दरी द्वारा सम्राट् कुमारपाल के परिणय की कथा अर्थात् उसके जैन धर्म में दीक्षित होने की

१ जैन आत्मानन्द ग्रन्थमाला, भावनगर से प्रकाशित

२. जैन आत्मानन्द ग्रन्थमाल, भावनगर :।

३ यशोविजय ग्रन्थमाला, बनारस से प्रकाशित।

४. गायकवाड ओरियण्टल सिरीज, बडौदा से प्रकाशित

५. रामचन्द्र केवलराम शास्त्री बम्बई द्वारा प्रकाशित।

× गायकवाड ओरियण्टल सिरीज, न ९.

वस्तुवर्णित की गई है। यह कृष्णमिश्र के नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय' के समान ही बड़ा रोचक है। इस कोटि के अन्य नाटकों में देवचन्द्रगणिकृत 'मानमुद्राभजन' और जिनसमुद्रसुरिकृत 'तत्त्वप्रबोध नाटक' (स १७३०) भी उल्लेखनीय हैं।

दृश्य काव्य की अपेक्षा विशेष रूप से श्रव्य काव्यों की रचना में जैनाचार्य प्रवृत्त हुए हैं। इसके विविध अगों की महत्त्वपूर्ण कृतिया सस्कृत साहित्य में उपलब्ध हुई हैं। इन कृतियों को गद्य, पद्य, लघुकाव्य तथा चम्पू में विभक्त किया गया है।

गद्यकाव्य—सस्कृत साहित्य में गद्य काव्यों की सख्या बहुत कम है। ई० की ६ वीं शता० से ८ वीं शता० तक गद्य-साहित्य के कुछ नमूने सुबन्धु की 'वासवदत्ता,' बाण की 'कादम्बरी' एव 'हर्षचरित' तथा कवि दण्डी के 'दशकुमारचरित' के रूप में मिले हैं।

फिर दो शताब्दी के बाद धनपाल की 'तिलकमञ्जरी'[1] (१० वीं शता० और वादीभसिंह के 'गद्य चिन्तामणि' (१२ वीं शता०) के रूप में जैन गद्य काव्यों के दर्शन होते हैं। ये दोनों मान्य जैनाचार्य थे। 'तिलकमजरी' एक गद्य आख्यायिका है जिसमे तिलकमजरी और समरकेतु के प्रेम सम्बन्ध की कहानी है। नायिका के नाम से इस ग्रन्थ का नाम रखा गया है। गद्यों के बीच कहीं-कहीं पद्य भी आ गये हैं जो कि लम्बे गद्यों को पढने वाले पाठकों के लिए विश्राम का काम देते हैं। यद्यपि कवि ने शैली और भावों में कहीं कहीं बाण की कादबरी का अनुकरण किया है तथापि वह अपने वर्णन-वैविध्य एव वैचित्र्य के कारण बाण से आगे बढ गया है। ग्रन्थ के प्रारभ में धारा के परमार राजाओं की वैरिसिंह से लेकर भोज तक वशावलि दी गई है जो परमार वश के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में सास्कृतिक जीवन, राजाओं का वैभव, उनके विनोद के साधन, तत्कालीन गोष्ठिया, अनेक प्रकार के वस्त्रों के नाम, नाविक तत्र, युध्दास्त्र आदि का जीता-जागता वर्णन मिलता है। कवि धनपाल अपने समय के मान्यकवि थे। ये परमार राजा मुन्ज की सभा के सदस्य थे तथा राजा द्वारा सरस्वतीपद से विभूषित किये गये थे। ये कवि प्राकृत के भी अच्छे पण्डित थे। उनने 'पाइयलच्छी' नामक प्राकृत कोश की रचना की है। ये प्रसिध्द मुनि शोभन के भाई थे

द्वितीय गद्य ग्रन्थ गद्यचिन्तामणि है। इसके लेखक आ० वादीभसिंह सरल से सरल और गद्य रूप में कठिन से कठिन सस्कृत लिखने में पटु थे। उन्हें जीवन्धर की कथा अतिप्रिय थी। इस कथा को लेकर उन्होंने सरल सस्कृत में ११ लम्बों में अनेक नीतिवाक्यों से परिपूर्ण 'क्षत्रचूडामणि' नामक एक काव्य लिखा तथा इसी कथा पर प्रौढ संस्कृत में 'गद्यचिन्तामणि' लिखा जिसमें भी ११ लम्ब हैं। काव्य में पदलालित्य, श्रवणीय शब्दविन्यास, स्वच्छन्द वचन-विस्तार, मुगमरीति से कथाबोध, चित्त को विस्मय

---

१ काव्यमाला निर्णय सागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित।

२ वाणी विलास प्रेस, तंजोर द्वारा प्रकाशित।

कराने वाली कल्पनायें, अनेक धर्मोपदेश आदि विशेषतायें हैं। तत्कालीन सांस्कृतिक चित्रण-नाना प्रकार के वाद्य, वस्त्र, भोजनगृहवर्णन, आकाश में उड़ने के यंत्र, कन्दुक-क्रीडा आदि का वड़ा मनोहारी वर्णन मिलता है। आचार्य आर्यनन्दि का जीवन्धर को शिक्षान्त उपदेश कादम्वरी में शुकनास द्वारा चन्द्रापीड को दिये उपदेश की याद दिलाता है। वादीभसिंह का दूसरा नाम ओडयदेव तथा गुरु का नाम पुष्पसेन था। इसका समय ११ वीं शता. का उत्तरार्ध एवं १२ वीं का पूर्वार्ध माना जाता है।

सिद्धसेन गणि की 'वन्धुमती' नामक 'आख्यायिका का भी गद्य काव्य के रूप में नाम सुना जाता है; पर वह अभी तक' उपलव्ध नहीं हुई है।

पद्य काव्यों में लघुकाव्य के रूप में जैन विद्वानों ने अनेक काव्य लिखे हैं जिनमें वादिराज का 'पार्श्वनाथ चरित' (१०२५ ई.) वादीभसिंह का 'क्षत्रचूडामणि[१]' (१२ वीं शताव्दी), महासेन का 'प्रद्युम्नचरित[२]' (१२ वीं शता०), मुनिचन्द्र का 'शांतिनाथ[३] चरित' (१३ वीं शता०), अभयदेव का 'जयन्तविजय[४] काव्य' (सं. १२७८), अर्हद्दास का 'मुनिसुव्रत[५] काव्य' (१३ वीं शता०) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। महाकाव्यों में वीरनन्दि का 'चन्द्रप्रभ* महाकाव्य' (१० वीं शता०), हरिश्चन्द्र का 'धर्मशर्माभ्युदय*' (१२ वी शता०), वाग्भट का 'नेमिनिर्वाण+ महाकाव्य' और वस्तुपाल का 'नरनारायणानन्द महाकाव्य' १३ वीं श०) उत्तम माने गये हैं। इनमें हरिश्चन्द्र का 'धर्मशर्माभ्युयय' माघ के शिशुपाल के अनुकरण पर वहुत सुन्दर काव्य है। इसमें सरसपदों की योजना, विविध छन्दों और अलंकारों की छटा दृष्टव्य है। 'नेमिनिर्वाण' और 'नरनारायणनन्द' की शैली और कवि-कल्पना अपूर्व हैं। इन काव्यों को जैनाचार्यों ने काव्यशास्त्रियों द्वारा सम्मत महाकाव्यों के गुणों से सम्पन्न वनाया है। इनमें विस्तृत रूप से ऋतुओं का वर्णन, संध्या, प्रातः, चन्द्रोदय, रात्रि, सुरत एवं वनक्रीडा आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। इन काव्यों में नवों रसों का प्रदर्शन करते हुए अन्त में वैराग्य से शान्तरस द्वारा ग्रन्थसमाप्ति की गई है।

श्लेपमय चित्रकाव्यों में हमें दिग० जैन धनञ्जय (वि. ९ वीं श०) का अपूर्व काव्य 'द्विसंधान×' अपरनाम राघवपाण्डवीय मिलता है। १८ सर्गों के इस काव्य के प्रत्येक छन्द से रामकथा और पाण्डवों की कथा का अर्थ निकलता है। द्विसंधान का अर्थ है दो अर्थों का वोध करानेवाला। इसी कोटि की दूसरी रचना वृहद्गच्छ के आचार्य हेमचन्द्रसूरि की 'नाभेय नेमिकाव्य-' (१२ वीं शता०) है। इसके प्रत्येक छन्द से आदिनाथ और नेमिनाथ की कथा निकलती है।

---

१ वाणिविलास प्रेस, तंजोर। २ माणिकचन्द्र दिग जैन ग्रन्थमाला, वम्बई।

३ यशोविजय ग्रन्थमाला, वनारस। ४ निर्णय सागर प्रेस, वम्बई।

५. जैन सिध्दान्त भवन, आरा। *—* निर्णय सागर प्रेस, वम्बई।

+। गायकवाड ओरि सिरीज, वडोदा।

×. निर्णयसागर प्रेस, वम्बई। - जिनरत्नकोश, भाग १, पृ २१०।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि उपलब्ध संस्कृत साहित्य में श्लेषमय चित्रकाव्यों की रचना में जैन ही सर्वप्रथम थे और धनञ्जय की कृति इस कोटि के काव्यों में सर्वप्रथम रची गई है। पीछे १५ वीं शताब्दी से २० वीं शताब्दी तक जैन कवियों ने इस दिशा में अनेक रचनायें लिखीं। उनमें महोपाध्याय समयसुन्दर [सं १६४९] द्वारा विरचित 'अष्टलक्षी' काव्य भारतीय साहित्य का ही नहीं, विश्वसाहित्य का अद्वितीय रत्न है। इस ग्रन्थ में 'राजा नो ददते सौख्यम्' इन आठ अक्षरों वाले वाक्य के १०२२४०७ अर्थ किये गये थे तथा ग्रन्थ बादशाह अकबर को समर्पण किया था। पीछे ग्रन्थकार ने केवल आठ लाख अर्थ रख शेष की स्थानपूर्ति के लिए छोड़ दिया है। यह ग्रन्थ जैन विद्वानों के बुद्धिवैभव का जीता जागता नमूना है।[1] इस कोटि की अन्य रचनाओं में दिग० नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य प० जगन्नाथ (सं १६९९) की दो रचनायें 'सप्तसंधान'[2] और 'चतुर्विंशतिसंधान'[2] भी उल्लेखनीय हैं। पिछले ग्रन्थ में श्लेषमय एक ही श्लोक से २४ तीर्थंकरों का अर्थबोध होता है। इसी प्रकार उपाध्याय मेघविजय की रचना 'सप्तसंधान'[3] (स १७६०) भी अनुपम है। यह काव्य ९ सर्गों में लिखा गया है। प्रत्येक श्लोक से ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व, वीर इन पाच तीर्थंकरों एवं राम और कृष्ण इस तरह ७ महापुरुषों के चरित्र का श्लेषमय वर्णन है। प्रत्येक श्लोक से ७-७ अर्थ निकलते हैं। इस श्रेणी के और भी ग्रन्थ जैन ग्रन्थ सूचियों में मिलते हैं।

जैन साहित्य की विविध विशेषताओं में से पादपूर्ति काव्य भी एक हैं। ये काव्य बहुसंख्या में उपलब्ध हुए हैं। अजैन संस्कृत साहित्य में इस प्रकार का साहित्य नहीं के बराबर है। ऐसे काव्यों का निर्माण करना अति कठिन ही होता है। कवि लोक व्यापी प्रभाववाले काव्य से प्रभावित हो उस मूल काव्य के रहस्य को हृदयङ्गम करता है और उसकी पदावलियों को, उनके मूल भाव, अर्थ और पदलालित्य आदि गुणों की रक्षा करते हुए, अपनी पदावलियों के बीच डालना शुरू करता है और उन दोनों में तादात्म्य स्थापित कर देता है। जो कवि ऐसे कार्य में सहज प्राप्त होनेवाली क्लिष्टता और नीरसता आदि से अपने काव्य को बचा सके और जिसके काव्य पढ़ने में काव्य मर्मज्ञ भी मौलिक काव्य जैसा आनन्द लेने लगें, वही कवि यथार्थ में सफल एवं गौरवान्वित समझा जाता है।

इस प्रकार की रचनाओं में जिनसेन (९ वीं शता०) का 'पार्श्वाभ्युदय'[4] सर्व प्रथम काव्य है। यह ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तों का एक खण्डकाव्य है। इसके प्रत्येक छन्द में मेघदूत के पद्यों के चरणों को एक या दो करके समस्यापूर्ति के ढंग से अन्तर्गर्भित किया

१ जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ८ किरण १, पृष्ठ २५।

२ रावजी सखाराम दोशी, शोलापुर द्वारा प्रकाशित

३ जैन साहित्यवर्धक सभा, सूरत से प्रकाशित

४ निर्णय सागरप्रेस, बम्बई।

ये सभी ग्रन्थ गुजरात एवं उसके पड़ौसी राज्यों के सांस्कृतिक एवं राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से बड़े ही महत्त्वशाली हैं।

चम्पू :– मध्यकालीन जनरुचिने गद्यपद्यके मिश्रण रूप में चम्पूकाव्यों की देन दी। उपलब्ध चंपुओं में त्रिविक्रमभट्ट का नलचम्पू (सन् ९१५ ई.) सर्व प्रथम है। इसके बाद हमें चम्पू का विकसित और प्रौढ रूप सोमदेव के जैन चम्पू 'यशस्तिलक'[1] (सन् ९५९) में मिलता है। इसकी समानता का संस्कृत साहित्य में कोई दूसरा काव्य नहीं। यह चम्पू केवल गद्यपद्य का श्रेष्ठ उदाहरण ही नहीं है; बल्कि जन और अजैन धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का भण्डार, राजतंत्र का अनुपम ग्रन्थ, विविध पद्यों की निधि, प्राचीन अनेक कहानियों, दृष्टान्तों और उद्धरणों का सुन्दर खजाना और अनेक नवीन शब्दों का कोष है। सोमदेव की यह कृति उनके कवि हृदय में सम्पन्न विद्यालपाण्डित्य एवं साहित्यिक प्रतिभा का द्योतक है। इस चम्पू में यशोधर की पौराणिक कथा का वर्णन है जो घरेलू घटना पर आश्रित एक यथार्थ कहानी है। इस दुखान्त घटना के चारों ओर एक प्रकार से नैतिक एवं धार्मिक उपदेशों का जाल बुना गया है। सोमदेव के कवित्व की यह सबसे बड़ी कसौटी है कि वे व्यभिचार एवं हत्या पर आश्रित एक कथा पर सुबन्धु और बाण की शैली पर उपन्यास लिखने का साहस कर उसमें सफल हुए। वास्तव में समस्त संस्कृत साहित्य में यशस्तिलक ही अकेला एसा काव्य है जो दाम्पत्य जीवन की घटना को ले, उसके कृत्रिम प्रेमभाग को छोड़ भाग्यचक्र के खेल और जीवन के कठोर सत्यों का निरूपण करता है। ग्रन्थ आठ आश्वासों में विभक्त है जिसमें अन्तिम तीन आश्वासों में जैन श्रावकाचार का वर्णन है। कवि का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'नीतिवाक्यामृत' है। यशस्तिलक की रचना राष्ट्रकूट राजा कृष्ण के सामन्त चालुक्य अरिकेसरी तृतीय के राजकाल में हुई। इसमें तत्कालीन संस्कृति एवं सभ्यता की अनेक बातों का सुन्दर वर्णन है।

द्वितीय जैन चम्पू 'जीवन्धर[2] चम्पू' है जिसकी रचना महाकवि हरिचन्द्र ने की है। इसमें जीवन्धर का चरित्र ११ लम्भकों में वर्णित है। इस चम्पू में यशस्तिलक जैसी प्रकर्षता तो नहीं; पर रचना, सरलता और सरसता की दृष्टि से यह प्रशंसनीय है। पद्यों की अपेक्षा गद्य रचना चमत्कारपूर्ण है। ग्रन्थ में अलंकारों की योजना सुन्दर ढंग से की गई है।

इस कोटि का तृतीय ग्रन्थ 'पुरुदेवचम्पू' है। इसे कवि आशाधर के शिष्य अर्हद्दास कवि ने (१३ वीं शता०) लिखा है। चम्पू में आठ स्तवक हैं जिनमें भग.

१ निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

२ माणिकचन्द्र दिग. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

३ वाणीविलास प्रेस, तंजोर.

४ माणिकचन्द्र दिग. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

आदिनाथ का चरित वर्णित है। रचना में अर्थगांभीर्य की अपेक्षा शब्दों के चयन में विशेष ध्यान दिया गया है। सर्वत्र अर्थालंकार की अपेक्षा शब्दालंकार अधिक दिखता है। ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ की रचना जिनसेन के महापुराण को सामने रखकर की गई है, क्योंकि ग्रन्थ में यत्र तत्र उक्त पुराण के कहीं तो पूरे पद्य और कहीं एक या दो चरण दिखाई देते हैं।

अन्य जैन काव्यों में मण्डन कवि का 'काव्यमण्डन'[1] और हर्षमण्डनगणि की 'मध्याह्न व्याख्या' चम्पू शैली पर लिखे गये काव्य हैं।

सुभाषित —जैन विद्वानों ने सदाचार और लोकव्यवहार का उपदेश देने के लिए स्वतंत्र रूप से सुभाषित पदों का भी निर्माण किया है। इनमें प्राय जैन धर्मसम्मत सदाचारों एवं विचारों से रंजित उपदेश प्रस्तुत किये गये हैं। वैसे तो जैन पुराणों और अन्य साहित्यिक रचनाओं में सुभाषित पद भरे पड़े हैं; पर केवल उनका ही अध्ययन करनेवालों को तथा विविध प्रसंगों पर दूसरों को सुनाने आदि के लिए उनकी स्वतंत्र रूप से रचना की गई है।

इस प्रकार के ग्रंथों में सोमदेवसूरि का 'नीतिवाक्यामृत'[2] उल्लेखनीय है। यद्यपि यह ग्रन्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों पर व्यवस्थित शासन-तंत्र के निरूपण के लिए बनाया गया है; पर इसमें दैनिक व्यवहार में लाने योग्य अनेक सुभाषित पड़े हैं। इन वाक्यों की प्रधानता के कारण ग्रन्थ का नाम नीतिवाक्यामृत रखा गया है। दूसरा ग्रन्थ अमितगति आचार्य का 'सुभाषित रत्नसंदोह'[3] (सं १०५०) इस विषय का प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें सांसारिक विषय निराकरण, ममाहंकारत्याग, इन्द्रियनिग्रहोपदेश, स्त्रीगुणदोषविचार आदि बत्तीस प्रकरण हैं। तीसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आचार्य हेमचन्द्र का 'योगशास्त्र प्रकाश'[4] है। इसमें योग का अर्थ न तो ध्यान है और न ध्यान की पद्धति। ग्रन्थ में धर्मात्माओं के नित प्रति कर्तव्य के लिए धार्मिक उपदेश ही सुभाषित वाक्यों के रूप में दिये गये हैं।

इस कोटि में अन्य ग्रन्थों में विविध आचार्यकृत 'सूक्तमुक्तावली' नाम की अनेक रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं जिनमें सोमप्रभसूरि (१३ वीं श०) कृत १०० पद्योंवाला सुभाषितों का समूह महत्वपूर्ण है। यह भर्तृहरि के नीतिशतक की शैली पर रचा गया है जिसमें अहिंसा, शील, सौजन्य आदि विषयों का संक्षिप्त एवं मर्मस्पर्शी विवेचन किया गया है। इसका प्रथम पद्य सिंदूर प्रकर से शुरू होता है जिससे इसे 'सिन्दूर प्रकर काव्य' कहते हैं। इस प्रकार के अन्य ग्रंथों में मल्लिषेण का 'सज्जन चित्तवल्लभ (१२ वीं श०) हरिषेण का 'कर्पूरप्रकर' दर्शनविजयगणि का 'अन्योक्ति

१ —श्री हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली, नं १७, पाटण।
२ माणिकचन्द्र दि० जैनग्रन्थमाला, बम्बई। ३ निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।
४ जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर।

शतक', और हंसविजय गणि का 'अन्योक्ति मुक्तावलि (सं. १६७९). राजशेखरसूरिकृत 'उपदेशचिंतामणि', सोमप्रभाचार्यकृत 'शृंगारवैराग्यतरंगिणी' ग्रन्थ उल्लेखनीय है।

स्तोत्र :— संस्कृत में जैनों का भक्ति-काव्य बहुत ही विशाल है। इसे स्तुति, स्तोत्र या स्तव नाम से कहा जाता है। इन स्तोत्रों में कुछ तो विशिष्ट तीर्थंकर और मुनियों की स्तुति के रूप में तथा कुछ २४ तीर्थंकरों की तथा उनके शासनदेव-देवियो की स्तुति के रूप में है। इनमें कितने ही तो शब्दालंकारों से पूर्ण तथा श्लेषमय भाषा में रचे गये है। बहुत से तो पादपूर्ति के रूप में और कितने ही तार्किक शैली में लिखे गये हैं।

जैन समाज में सबसे प्रिय दो स्तोत्र माने गये ह :— पहला तो आचार्य मानतुंग का 'भक्तामर स्तोत्र' जो कि प्रथम तीर्थंकर की स्तुति के रूप में रचा गया है और दूसरा सिद्धसेन या कुमुदचन्द्र का 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' जिसमें पार्श्वनाथ की स्तुति की गई है। यह भक्तामर की अपेक्षा कुछ अलंकारमय काव्य है। इसी तरह कवि धनञ्जय (९ वीं शता.) का 'विषापहार स्तोत्र' और वादिराज सूरि (११ वीं शता.) का 'एकीभाव स्तोत्र' भी समाज में प्रिय है। २४ तीर्थंकरों में ऋषभदेव, शीतलनाथ शान्तिनाथ, नमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के नाम पर अनेक स्तुतियां लिखी गई है। चौवीस तीर्थंकरों के समुदित रूप में समन्तभद्र का 'स्वयम्भूस्तोत्र' अति महत्त्व का है। बप्पभट्टिसूरि की चतुर्विंशतिका एवं धनपाल के भ्राता शोभनमुनिकृत 'शोभनस्तुति' अपरनाम चतुर्विंशति जिनस्तुति, आदिस्तुतियां यमकालंकारप्रधान है।

श्लेषमय स्तोत्रों में विवेकसागर रचित 'वीतरागस्तव' (३० अर्थ) नयचन्द्रसूरि (सं. १२५८) कृत 'स्तंभपार्श्वस्तव' [१४ अर्थ] तथा सोमतिलकसूरि एवं रत्नशेखरसूरि रचित अनेकों स्तोत्र हैं। इसी तरह पादपूर्ति स्तोत्रों की संख्या भी बहुत बडी है। उसमें भक्तामर और कल्याणमन्दिर स्तोत्रों के छन्दों को लेकर समस्या-पुर्ति के रूप में 'ऋषभ भक्तामर' (समयसुन्दरगणि), शान्ति भक्तामर (लक्ष्मी तिलक कृत) नेमिभक्तामर अपरनाम प्राणप्रियकाव्य (रत्नसिंहसूरिकृत) 'वीर भक्तामर' (श्रीधर्मवर्धन गणिकृत) 'नेमि भक्तामर' एवं 'जैनधर्मवरस्तोत्र' अथवा अभिनव कल्याणमन्दिर स्तोत्र (भावप्रभसूरिकृत) आदि उल्लेखनीय है।

तार्किक शैली पर समन्तभद्र का 'आत्ममीमांसा स्तोत्र' सिद्धसेन की 'द्वात्रिंशिकाएं' और हेमचन्द्र के अयोग-व्यच्छेद एवं 'अन्ययोगव्यवच्छेद' स्तोत्र है जिनपर अनेक टीकाएं लिखी गई हैं।

---

१. जिनरत्न भास्कर

२. काव्यमाला, सप्तमगुच्छक, निर्णयसागर प्रेस बम्बई

३. —,,— —,,—

अभिलेख साहित्य —संस्कृत में जैनों का अभिलेख साहित्य भी बड़ा विशाल है। यह साहित्य हमारे देश के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से महत्व शाली होने के साथ-साथ उच्च कोटि के काव्यों का सुन्दर नमूना है। यह साहित्य हमें शिला-लेखों, ताम्र-पत्रों, और स्तम्भ-लेखों के रूप में जैन मन्दिरों तथा जैनेतर धार्मिक स्थानों से प्राप्त हुआ है। इन पर प्रकृति की परिवर्तनशील दृष्टि का बहुत कम असर हो सका है। जैन शिलालेख विशेषकर उत्तरपश्चिमी एवं दक्खिनी भारत में प्रचुरमात्रा में मिले हैं। इनमें सूराचार्य विरचित 'बीजापुर का शिलालेख' (सं १०५३), विजयकीर्ति रचित 'दुबकुण्ड शिलालेख' (सं ११४५), दिगम्बरार्क यशोदेव कृत 'सासबहू शिलालेख' (सं ११५०), माथुरसंघीय गुणभद्रकृत बिजोलिया का शिलालेख (सं १२२६) आदि उत्तर पश्चिमी भारत के लेख काव्यशास्त्र की दृष्टि से बड़े महत्व के हैं। दक्षिण भारत से श्रवणबेलगोला और अन्य अनेकों स्थानों से महत्त्वपूर्ण शिलालेख प्राप्त हुए हैं। विशेष कदम्बराजाओं से सम्बन्धित जैन लेख और ऐहोले की प्रशस्ति (सन् ६३४ ई०) संस्कृत काव्यशास्त्र की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। दक्षिण भारत के अभिलेख प्रायः कन्नडमिश्रित संस्कृत में हैं—जब कि उत्तर भारत के विशुद्ध संस्कृत एवं प्राकृत में प्राप्त हैं। जैनाचार्यों द्वारा विरचित जैन और अजैन स्थानों से प्राप्त शिलालेखों को देखकर यह निष्कर्ष निकलता है कि जैन विद्वान् अपने क्षेत्र और युग के बड़े मान्य विद्वान् थे, इतिहास में उनकी बड़ी रुचि थी। उनकी विद्वत्ता से आकर्षित हो अन्य लोग भी उनसे शिलालेख के लिए काव्य लिखाकर ले जाते थे और उनसे अपने स्थान को सुशोभित करते थे।[1]

जैनाचार्यों ने ऐतिहासिक महत्त्व के तिथिक्रम को द्योतित करनेवाली पट्टावलियाँ और गुर्वावलियाँ भी बनाई हैं जिनमें भग० महावीर के बाद से उनके धर्म को चलाने वाले अनेकों आचार्यों की परम्परा के साथ-साथ कतिपय राजवंशों और श्रेष्ठिवंशों की परम्परा मिलती है। ये पट्टावलियाँ भी काव्य साहित्य के बड़े सुन्दर नमूने हैं। इस प्रकार की पट्टावलियों में श्रीसेनगणपट्टावली, शुभचन्द्राचार्य पट्टावली, मूलसंघपट्टावली तथा काष्ठासंघगुर्वावली एवं तपागच्छगुर्वावली आदि प्रमुख हैं।

ऐतिहासिक साहित्य के रूप में जैन ग्रन्थों के आरम्भ की पुष्पिकाएँ और अन्त की प्रशस्तियाँ भी जैन संस्कृत साहित्य की बड़ी भारी निधि हैं। इनके महत्त्वपूर्ण संग्रह 'पुस्तक प्रशस्ति संग्रह' और 'प्रशस्ति संग्रह' नाम से प्रकाशित हुए हैं।[2]

इस प्रकार जैन विद्वानों ने अपनी चतुर्मुखी प्रतिभा से संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया और अनेकों साहित्यिक अंगों के आविष्कार करने में जो कि अजैन साहित्य में भी नहीं हैं, अपने बुद्धिवैभव का परिचय दिया है।
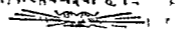
१. जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ८ किरण १,
२ डा० गुलाबचन्द चौधरी प्रस्तावना, जैन शिलालेख संग्रह तृतीय (मा दि जैन ग्रन्थमाला, बम्बई)

विश्व-मैत्री और विश्व-शान्तिके सच्चे विधायक विश्व-वत्सल

भगवान महावीर

ले.—पं. लालचन्द्र भगवान, बड़ौदा.

चैत्रशुक्ला त्रयोदशीका पवित्र दिन भगवान महावीर के जन्म-कल्याणकसे पावन होकर चिरस्मरणीय हुआ है। आजसे २५५५ वर्ष पहिले इस धन्य मंगल दिन इस महापुरुषने पूर्वदेशके क्षत्रियकुण्ड में जन्म लेकर अपने जन्म से भारतदेशको गौरवशाली बनाया था - अपूर्व जन्म-महोत्सव मनाया गया था। सूर्य जैसे महावीरका उदय हुआ था। सच्ची अहिंसा, प्राणि-मात्रको अभयदान, विश्व-मैत्री और विश्व-शांति के अमूल्य बोध-पाठ सीखानेवाले विश्व-बन्धु प्रभु महावीर के जन्म से सर्वत्र अपूर्व उद्योत-प्रकाश चमका था। जगत् में सुख-शांतिका वातावरण फैल गया था। प्राणिमात्र में सुख, शांति, आनंद का संचार हुआ था।

भगवान् महावीर के पवित्र जीवन-चरित्र कई प्राचीन विद्वानोंने, कवियोंने, पूर्वाचार्यों ने प्राकृत और संस्कृत भाषामें हजारों गाथाओं और श्लोकों में विस्तार से रचे हैं, कई प्रकाशित हुए हैं। तथा भगवान महावीर का तत्त्वज्ञान मय सर्व जीव-हितकर सदुपदेश भी कई ग्रन्थों में दर्शाया है। कल्याण चाहनेवाला कोई भी सज्जन उनके जीवन से और सदुपदेशों से बोध-पाठ सीख कर स्व-पर-कल्याण सिद्ध कर सकता है। यहाँ स्पष्ट संस्मरणरूप संक्षेप में सूचित किया जाता है।

मातृ-भक्ति

क्षत्रियाणी माता त्रिशलादेवी को आए हुए १४ महास्वप्नों से भगवान महावीर का जन्म सूचित हुआ था। माताकी कुक्षिमे रहते हुए भी भगवान ने मातृ-भक्ति दर्शाई थी। अपनी हलन-चलन से माताको कष्ट न हो, इस आशय से वे स्थिर—निश्चल बन गये थे। उधर माताको अमंगल शंका से उद्वेग—खिन्नता हुई थी। इसको लक्ष्य में लेकर महावीरने गर्भावस्था में सातवें महिने में ही ऐसा अभिग्रह ग्रहण किया था कि 'माता—पिताकी विद्यमानता में मैं प्रव्रज्या नहीं स्वीकारूंगा और उनकी जीवन्त अवस्था में मैं श्रमण नहीं होऊंगा।' माता—पिताको अपने विरहसे भविष्य में कोई अनिष्ट आपत्ति न हो - इस हेतु से मति, श्रुत, अवधिज्ञान नामक तीन ज्ञान धारण करनेवाले महावीर ने वैसी अभिग्रह—प्रतिज्ञा स्वीकारी थी। इस प्रसंग से मातृ-पितृ-भक्तिका अमूल्य बोध—पाठ निज जीवन के प्रारम्भ में ही महावीरने जगत् को सीखाया था।

भगवान महावीर की जन्म—महिमा दिक्कुमारिकाओं ने तथा देवेन्द्रोंने सहपरिवार डंबरसे अलौकिक स्वरूप मे की थी।

वधमान महावीर

महावीर जैसे सुपुत्रके गर्भ में आने से ही पिता ज्ञातक्षत्रिय महाराजा सिद्धार्थ का कुल, कुटुंब, राज सब प्रकार से उदयमान हुआ था। धन-धान्य से, ऋद्धि-समृध्दि से, जय-विजय से, मान-सन्मान आदि से वृध्दि पाया था। इस हेतु से बालक के जन्म होने के बाद माता-पिता ने दश दिन तक विशिष्ट उत्सव मना कर बारहवें दिन ज्ञातिजनादि को भोजनादि सन्मान-सत्कार कर सर्वजनसमक्ष इस बालक का गुण-निष्पन्न 'वर्धमान' नाम प्रकट किया था। लेकिन उनके असाधारण वीरत्व-पराक्रम, गुण सोच-समझ कर लोगों ने पीछे से उनको 'भगवान् महावीर' नाम से उद्घोषित किया था।

धीर–वीरता

बाल्यवय में भी वर्धमान कुमार ने निर्भयता का एवं धीर-वीरता का केवल परिचय ही नहीं, समान-वयस्कों को जीवन-प्रगति का अमूल्य मंत्र सीखाया था। स्वयं विशिष्ट ज्ञानी होने पर भी असाधारण गंभीरता का अनुभव कराया था।

विवाह

युवावस्था में भी उचित शिष्ट आचरण आचरने में वे कभी चूके न थे। माता-पिताके वचन को मान दे कर उन्हों ने यशोदा नामक राजकुमारी का पाणि-ग्रहण किया था। २८ वर्ष की वय होने तक महावीर ने आदर्श गृहस्थाश्रम को विभूषित किया था। प्रियदर्शना पुत्री की प्राप्ति भी हुई थी।

भावसाधु

माता-पिता के स्वर्गवास होने पर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण होने से अनासक्त वैराग्य-वासित महावीर ने प्रव्रज्या (दीक्षा) स्वीकारने की अपनी इच्छा ज्येष्ठ बन्धु नन्दीवर्धन आदि के समक्ष प्रकट कर उनकी अनुमति चाही थी, बन्धुजनों ने विज्ञप्ति की कि— 'माता-पिता के तात्कालिक विरह-दुःख से दुःखी हम लोगों को आपके वियोग से और अधिक दुःखी न बनावें, दो वर्ष हमारे सान्निध्य में रह कर शांति दो' भगवान् महावीर बन्धु-जनों के वचन को मान दे कर दो वर्ष और संसार में बसे, लेकिन शील-संपन्न (ब्रह्मचारी) भावसाधु बन कर रहे थे।

सांवत्सरिक–दान

महावीर ने तीसवें वर्ष में निज धन-संपत्ति का सदुपयोग, सद्व्यय, विनियोग किया था। प्रकट उद्घोषणा-पूर्वक प्रति प्रभात सांवत्सरिक (वर्षतक) दान दिया था। करोड़ों सोनैये के अनर्गल दान से दीन, दुःखी, दरिद्र याचकों को संतुष्ट कर जगत् के दारिद्र्य को दूर किया था। दान-धर्म का स्वयं आचरण करके विश्व को दान-धर्म कर्तव्य रूप से सीखाया था। इस तरह राज्य-वैभव, ऋद्धि-समृद्धि और कौटुम्बिक मोह का परित्याग किया था।

प्रव्रज्या

संसार से निःस्पृह विरक्त बन कर महावीरने तीस वर्षकी भरयुवावस्थामें संयम के कठिन सन्मार्ग पर संचरण किया था। स्वयं पंचमुष्टि केश-लुंचन कर के खड्ग की धार पर चलने जैसी दुष्कर प्रव्रज्या (दीक्षा) स्वीकारी थी। देवों, दानवों और मानवों के विशाल समूह के समक्ष जीवन-पर्यन्त समभावमय सामायिक में रहने की प्रतिज्ञा की थी। मन, वचन और काया से हिंसा आदि किसी प्रकार की पाप-प्रवृत्ति वे स्वयं नहीं करेंगे, इतना ही नहीं, दूसरों से पापप्रवृत्ति नहीं करावेंगे और ऐसी किसी भी पाप-प्रवृत्ति का अनुमोदन भी नहीं करेंगे - ऐसी अचल प्रतिज्ञा स्वीकारी थी। उसी समय महावीर को मनःपर्याय नामक चतुर्थ ज्ञान की प्राप्ति हुई थी।

उत्कृष्ट साधक

अहिंसा, संयम और तप के ऐसे उत्कृष्ट मार्ग में प्रयाण करने में महावीर ने कष्टों-विघ्नों की तनिक भी परवा न की थी। भयंकर उपद्रवों से, उपसर्गों से वे कभी न डरे-न डिगे, वे कभी हताश-निराश न हुए। अपने ध्येय से वे कभी चलित नहीं हुए। कई दुष्ट देव-दानवों ने उनको कष्ट पहुँचाने में लेश भी कमी नहीं रखी थी एवं अधम पामर मानवों ने और क्रूर हिंसक तिर्यंच जातिने भी उनको कष्ट पहुँचाने में किसी तरह की न्यूनता नहीं की थी; लेकिन मेरूपर्वत जैसे धीर महावीर ने समभावमें रह कर संपूर्ण सहिष्णुता का, अटल अडगवृत्तिका अनुपम उदाहरण दिखलाया था। भयंकर में भयंकर प्राणान्त कसौटी होने पर भी वे अद्भुत धैर्य से सच्चे वीर प्रतीत हुए, न कभी अनुकूल प्रलोभनों से भी ललचाए गए। भारत के निश्चयशाली सच्चे साधु, संत, क्षमाश्रमण, महात्मा कैसे होते थे ? और कैसे होने चाहीए ? आदर्श निःस्पृह योगीश्वर कैसे होते हैं ? - उनका असाधारण श्रेष्ठ दृष्टान्त भगवान् महावीर ने अपनी उत्तमोत्तम जीवन - चर्यासे दिखलाया है।

महान् तपस्वी

भगवान् महावीर जैसा उत्कृष्ट सहनशील - क्षमामूर्ति और महान् तपस्वी दूसरा कोई जगत में मिलता नहीं है। शायद ही मिल सके। महान् वीरने उच्च साधुताकी साधक-दशामें करीब साढ़े बारह वर्षों की उग्र तपस्या में केवल ३४५ ही पारणे किये थे। कभी छमासी, तो कभी चारमासी, कभी दोमासी तो कभी एक मासी जैसी निर्जल उपवास की तपस्या क्रमशः चालू रक्खी थी। ऐसे तपस्वी हो कर वे बहुधा एकान्त निर्जन वन आदि प्रदेश में खड़े पैर खड़े रहकर उत्तम ध्यानस्थ दशा में ही सदा लयलीन रहते थे, कभी प्रमाद नहीं करते थे। क्षुधा या तृषा, ठंडी, गरमी अथवा वारिस की परवा नहीं करते थे। दिन और रातमें भी अपने उच्च ध्यान में वे सदा मग्न रहते थे।

अद्भुत क्षमादि सद्गुण

चंड कौशिक जैसे भयंकर दृष्टिविष सर्पने दंश दिया था। भगवान् ने उसको भी

प्रतिबोध दे कर उपशान्त बनाया था। कई दुष्टों ने ध्यानस्थ महावीर के पैरों के बीच अग्नि प्रज्वलित कर खीर पकाई थी। अन्य गोवालोंने मारने की कोशीश की थी। कानों में सजड खीले भी भोंके थे। संगम नामक अधम असुर ने अत्यंत असह्य प्राणान्त उपसर्गों से बहुत परेशान किया था। ऐसे कई भयंकर में भयंकर उपसर्गों के समय भी महावीर समभाव में रहे थे, ध्यानसे चलायमान नहीं हुए थे। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' क्षमा वीरका भूषण होता है—इस कथन को महावीर ने अपने दृष्टान्तसे चरितार्थ किया था। इस कारण सच्चे क्षमाश्रमण वे कहे जाते हैं। एक कविने इस प्रसंग पर कहा है कि—

"बल जगद्—ध्वंसन—रक्षण—क्षमं, कृपा च सा संगम के कृतागसि।
इतीव संचिन्त्य विमुच्य मानसं, रुषेव रोषस्तव नाथ! निर्ययौ॥"

भावार्थ — हे नाथ! महावीर! जगत् का ध्वंस और रक्षण करने में समर्थ ऐसा बल आप में होने पर भी, ऐसे अपराधी संगम जैसे तुच्छ देव पर जो आप ने कृपा दर्शाई मानो ऐसा सोच कर, क्रोध से तुम्हारे मनको छोड़कर रोष नीकल गया मालूम होता है।

सर्वज्ञ महावीर

भगवान् महावीर ने अद्‌भुत क्षमा के साथ, मार्दव, आर्जव, निस्पृहता, इन्द्रिय दमन, मनो—निग्रह आदि (संयमके—चारित्र के) इन उच्च आदर्श सद्‌गुणों से जीवन को उत्तम प्रकार से ओतप्रोत कर लिया था। राग, द्वेष, मोह आदि दुर्जेय अहितकर आंतरिक अरियों पर विजय प्राप्त कर लिया था। ऐसी उच्च प्रकार की अद्‌भुत साधना के प्रभाव से महावीर ने ४२ वर्ष की वय में घातीकर्मों का विनाश कर केवल ज्ञान परिपूर्णज्ञान प्राप्त किया था। जिससे जगत् का कोई भी भाव—रहस्य छिपा नहीं था। वर्तमान, भूत और भविष्य काल का लोकालोकका सर्व स्वरूप—ज्ञान उनको ज्ञात हुआ था—इससे वे सर्वज्ञ, जिन, अर्हन् नामों से प्रसिद्ध हुए थे। देवेन्द्रों, दानवेन्द्रों और मानवेन्द्रों के पूज्य हुए थे। आठ महाप्रातिहार्यों से विभूषित बने थे। देवोंने दिव्य-शक्ति से उनके अद्‌भुत व्याख्यान-पीठ की समवसरण की श्रेष्ठ रचना की थी।

अर्धमागधी भाषामें धर्मोपदेश

भगवान् महावीर ने परिपूर्ण ज्ञान पाने के बाद लोक-कल्याण के लिए लोक भाषा प्राकृत—अर्धमागधी नाम से प्रसिद्ध भाषा द्वारा प्राणीमात्रको हितकर हो ऐसा धर्म-प्रवचन किया था। इस भाषा का संबंध प्राचीन अढार देशभाषाओं से है। भारत की मुख्य देशभाषाओं का निकट सम्बन्ध उसमें प्रतीत होता है। इसी कारण से ही प्राचीन नाटकरूपकों में भी स्त्री, विदूषक आदि कई पात्रोंकी भाषा अर्धमागधी-प्राकृत प्रकारकी रक्खी जाती है। यह भारत—नाट्यशास्त्र आदि से भी सूचित है।

वाणी – प्रभाव

चौतीस अतिशय–विशिष्ट सर्वज्ञ भगवान् महावीर पावापुरी में पधारे थे। उनकी वाणी अत्यन्त मधुर, आकर्षक, प्रभावक ३५ गुणों से उत्कृष्ट थी। एक योजन तक उनकी अवाज पहुँच सकती थी। इतनी मर्यादा में रहे हुए सब कोई उनकी वाणी सुन सकते थे। देव और दानव, आर्य और अनार्य, भिन्न–भिन्न देशवासी भी अपनी - अपनी भाषा में भगवान् महावीर की वाणी समझ सकते थे। यह उनका विशिष्ट प्रभाव था।

उस समय पावापुरी नाम से पहिचानी जाती अपापापुरी में यज्ञ–प्रसंग से कई ब्राह्मण विद्वद्वर्ग एकत्र हुआ था, जिस मे वेद–वेदांगविद् उच्च कोटि के ११ विद्वान् इन्द्रभूति गौतम आदि भी विशाल शिष्य–परिवार - सहित वहाँ आए हुए थे।

गणधर–तीर्थ–स्थापना

अपने को सर्वज्ञ मानने–मनानेवाले उन उच्च ११ विद्वानों में भी जीव, कर्म, पुण्य - पाप, बन्ध–मोक्ष आदि विषयों मे संशय था। भगवान् महावीर ने सुमधुर वाणी से सप्रमाण युक्ति–प्रयुक्ति से उनके संशयों को दूर किया। परिणाम में वे सब भगवान महावीर के शिष्य हो गए, प्रव्रज्या स्वीकार कर साधु बन गए। पांच सौ शिष्यों के गण परिवारवाले इन्द्रभूति गौतम आदि ११ प्रकाण्ड विद्वान महावीर के मुख्य गणधर– पट्टशिष्य हुए थे।

भगवान् महावीर के तत्वज्ञानमय सदुपदेश अर्थ–भाव को उन गणधरों ने बुद्धिमय पट से साक्षात् झेला और उसे असाधारण प्रतिभा से सूत्र–सिद्धान्त रूप में ग्रन्थन किया। अर्धमागधी भाषा में ग्रथित वह जिन–प्रवचन द्वादशांगी–स्वरूप में विभक्त किया गया था। काल–क्रम से न्यूनरूप में आज भी वह विद्यमान है। भगवान् महावीर के प्रवचन का सच्चा हार्द समझने के लिए अर्धमागधी भाषा का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। भारत के मुख्य देशों की मातृभाषा का मूल उसमें है, लेकिन संस्कृत के पक्षपाती कई विद्वानों ने उसका गम्भीर तुलनात्मक मर्मस्पर्शी अभ्यास आगे नहीं बढ़ने दिया। भाषाऽऽर्य तब कहे जा सकते हैं, जब भारत की इस प्राचीन अर्धमागधी भाषा का रहस्य पहिचानें और उसका प्रचार करें। परदेशी भाषाओं के अभ्यास का भी प्रबन्ध करनेवाली यहाँ की युनिवर्सीटियाँ निज देश–भारत की प्राचीन प्रधान भाषा–अर्धमागधी का अध्ययन–अध्यापन के लिए उचित आदर–प्रबन्ध नहीं कर सकी हैं–यह नितान्त सोचनीय है, लज्जास्पद बात है।

भगवान् महावीर ने गणधरकी और साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध संघकी स्थापना की। इस तरह तीर्थकी स्थापना करने से वे २४ वें तीर्थंकर कहे जाते हैं। उनसे पूर्व में ऋषभदेव से पार्श्वनाथ तक २३ तीर्थंकर इस अवसर्पिणी काल में हो गए हैं।

अहिंसा को प्राधान्य

भगवान् महावीर के धर्म-प्रवचन में अहिंसा को प्रधान पद दिया गया है।

उसको लक्ष्य में रख कर सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतोंकी योजना है। सर्वथा पालन कर सके ऐसे साधु-साध्विओं के लिए महाव्रतों की और अंश से पालन कर सके ऐसे श्रावक श्राविकाओं के लिए अणुव्रतों की व्यवस्थित योजना है। कई राजा-महाराजा, रानी-महारानी, राजकुमारों और राजकुमारिकायें, तथा अनेक मन्त्री श्रेष्ठी, सार्थवाह और अधिकारीगण एवं इतर जन-समूह भगवान् महावीर से प्रतिबुद्ध हो कर उसका अनुयायी बना था और निज शक्ति के अनुसार सदाचारमय व्रत-परिपालन करता था।

अहिंसा से सुख, शान्ति

जहाँ हिंसा है-वहा भय है, क्लेश है, अप्रीति है, अविश्वास है, उद्वेग है, दुःख है, अशान्ति है और अहिंसा है-वहाँ निर्भयता है, क्लेश-शमन है, वहाँ प्रीति है, विश्वास है, वहा सुख और शान्ति है। विश्वमैत्री से विश्व-शान्ति सुलभ हो सकती है। विश्व शान्ति स्थापन करने में अहिंसा ही अमोघफल-सबल उपाय है। भगवान् महावीर के उदार प्रवचन में अहिंसा को सिर्फ मानवों की रक्षा में ही मर्यादित, संकुचित नहीं मानी है, सचराचर-विश्व के समस्त प्राणी-गण निर्भय बनें, किसी को किसीसे भी भय-त्रास-क्लेश-कदर्थना न हों, सब कोई को शान्ति मिले, सब कोई का हित हो। सब जीव जीना चाहता है, सुख सबको प्रिय है-इष्ट है, दुःख सबको अप्रिय है-अनिष्ट है-ऐसा सोच समझ कर, मन, वचन और काया से ऐसी प्रवृत्ति करें, करावे और अनुमति दें-जिससे किसी को भी क्लेश, दुःख न हो, सबको सुख शान्ति प्राप्त हो। 'आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्' अर्थात अपने को जो प्रतिकूल-अनिष्ट-दुःखकर प्रतीत होते हैं, वैसे आचरण दूसरों के प्रति नहीं आचरने चाहिए-यही उपदेश का सारांश-तात्पर्य है। हिंसा सर्वदा सर्वथा त्याग करने योग्य और अहिंसा सदा आचरने योग्य समझाई है। विश्व-मैत्री का चाहक और विश्व-शान्ति का विधायक, विश्व-वत्सल, विश्व-बन्धु, जगद्-बन्धु नामसे विख्यात महापुरुष विश्व के किसी भी प्राणी का विनाश-विद्रोह कैसे कर सके? वैर-विरोध बढानेवाली विनाशक विघातक प्रवृत्ति को वे कैसे अच्छी समझे? भगवान् महावीर के प्रवचन में ठौर-ठौर हिंसा को त्याग करने योग्य और अहिंसा को आचरने योग्य सविस्तार समझाई है। हिंसा को कटु विपाक और अहिंसा को शुभ विपाक दर्शाया है। दूसरोंको भय, त्रास, क्लेश, सन्ताप, दुःख देनेवाला खुद ही दुःख, कष्ट, सन्ताप पाता है और दूसरों को सुख, शान्ति देनेवाला सुख-शान्ति पाता है।

अन्तिम क्षण तक उपदेशामृत-धारा

भगवान् महावीर ने सर्वज्ञ होने के बाद तीस वर्षों तक भारत के भिन्न भिन्न देशों में विहार कर जगत् को सुमधुर उपदेशामृत पीलाया था, जीवनकी अन्तिम क्षण तक वैसी सदुपदेशामृत धारा चालू रक्खी थी, लाखों भव्य-लोगोंमें उसका पान कराया था और तदनुसार आचरण कर वे अजरामर बने थे। गत अढाई

हजार वर्षों में भगवान् महावीर के करोड़ों अनुयायी हुए और आज भी लाखों अनुयायी हैं।

भारत के महान् उपकारक, सच्चे महान् उपदेशक, सन्मार्ग—दर्शक भगवान् महावीर निज कर्तव्य बजाकर, ७२ वर्ष की आयुष्य पूर्ण कर पावापुरी में ही कार्तिक वदि (गुजराती आसोवदि) अमावास्या के दिन सब कर्मों से मुक्त हो गए—अजरामर हुए—जन्म-जरा-मरणादि दुःखों से मुक्त हो गए, सिद्ध, बुद्ध. निर्वृत बने। इस घटना को २४८३ वर्ष व्यतीत हो गए, २४८४ वां वर्ष चलता है। उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना प्रत्येक भारतवासीका उचित कर्तव्य है।

विश्व—मैत्री और विश्व—शांति के सच्चे विधायक, भारत की विरल विभूति, विश्व—वत्सल, विश्व—बन्धु भगवान् महावीर को सदा वन्दन हो। जय महावीर!

ॐ नमो सिद्धेभ्यः
कर्म और आत्मा का संयोग

लेखक—उपाध्याय प रत्न मुनि श्री आनद ऋषिजी महाराज,

कर्म के कानून कुछ मानवकृत आज्ञाएं नहीं हैं। ये तो निश्चित कारणों से होने वाले परिणाम स्वयं दिखलाने वाला एक निश्चित नियम है। कर्मसत्ता पर साम्राज्य करनेवाले योगी महात्मा लोग ही निर्लेप जीवन वाले हो सकते हैं। राजा के समान कर्म प्राणियों को आज्ञा नहीं करता है तथा प्राणीवर्ग कुछ उसका गुलाम नहीं है। मानव निश्चय करे तो उसी क्षण से उस का क्षय कर सकता है। आत्मा का स्वभाव परिणमन - वही मोक्ष है और स्वभाव - परभाव - परिणमन - वही बध है। जितने अश में परभाव से मुक्त हो सके उतने अश में मोक्ष; सर्वांश से अर्थात् सर्वथा प्रकार परभाव से मुक्त होना-वही पूण मोक्ष है। बध और मोक्ष ये दोनों आत्मा की विशेष अवस्था हैं।

कर्म और आत्मा

द्रव्यकर्म और भावकम परस्पर कारणभूत हैं अर्थात् रागादि कषाय की उत्पत्ति में पूर्वोपार्जित द्रव्यकर्म निमित्तभूत हैं, और द्रव्यकर्म जिस समय फल देने के लिये उदय होते हैं, उस समय आत्मा में रागादि प्रवृत्त होते हैं और उस प्रवर्तन में द्रव्यकर्म निमित्त हैं और रागादि परिणमन यह पुन भावकर्म हैं। और उस के द्वारा नवीन कर्मों से आत्मा आकर्षित करता है। इस तरह द्रव्यकर्म का उदयकाल भाव-कर्म में परिणमन और उस परिणमन से नवीन द्रव्यकर्म का उपार्जन, पुन उस द्रव्य कम का उदय और उस निमित्त से विभाव में परिणमन - इस प्रकार कारण - कार्य की शृखलायें बढती ही जाती हैं। रागादि की उत्पत्ति यह पूर्वोपार्जित द्रव्यकर्म के निमित्त से ही होती है। यदि बगैर निमित्त ही यह उत्पन्न होवे तो उस रागादि को आत्मा का स्वभाव मानना पडेगा और उस से मुक्त आत्माओं में भी रागादिक का होना सभव होगा। जो कुछ बगैर निमित्त से होता है उसका नाम स्वभाव है।

सुवर्ण तथा चादी को गला कर एक ही पात्र में ढालने में आवे तो भी सुवण अपने स्वभाव से चादी से पृथक् ही देखा जाता है और तेजाब की क्रिया से भिन्न हो सकता है। उसी प्रकार आत्मा और कर्म वर्तमान में एक रूप में ढला हुआ पडा है तथापि स्वभावत उदयद्रव्य अपने २ स्वरूप में हैं।

आठ प्रकार के कर्म

अनंत वैचित्र्यपूर्ण इस ससार में एक भी आत्मस्थिति ऐसी नहीं कि जिस का समावेश इन आठ कर्मों में से किसी न किसी कर्म में न हुआ हो। मानवबुद्धि नवीन कम शोधने के लिये चाहे जितना प्रयत्न करे तो भी उसे निष्फलता मिलनेवाली है।

कर्म में निमित्त का बल

आत्मा के उपर कर्म बलात्कार नहीं करता, वह सिर्फ विभाव का निमित्त पूर्ण करता है और निर्वल आत्मा निमित्त की सत्ता से पराभव पाकर परभाव में परिणमन करता है। मोहनीय कर्म के उदयकाल में वह कर्म कषाय का निमित्त सामने लाता है, परंतु उस में आत्मा को बलात्कार से किसी भी कषाय में जोड़ने की शक्ति नहीं है। सिर्फ बलहीन आत्माएं ही निमित्त के उदयकाल में तत्प्रायोग-विभाव में परिणमन करती हैं। नाट्यगृह, होटल, मिठाई की दुकान वगैरह जिस तरह रस्ते से चलने वालों के लिये नाटक देखने का, मिठाई खाने का निमित्त ही पूर्ण करती है; परंतु बलात्कार से उस निमित्त तत्प्रायोग कार्य में उन की योजना नहीं करती।

जो वीर्यवान् आत्मायें निमित्त की सत्ता के वश नहीं हैं, वे अल्प काल में परम पुरुषार्थ की सिद्धि कर सकती हैं। उदयमान कर्म बाल तथा पंडित उभय को समान भूगतने पड़ते हैं, परंतु उन दोनों की क्रिया में अंतर है।

मोहनीय कर्म अन्य कर्मों का जनक एवं पोषक है। उस के द्वारा ही अन्य कर्मों को पोषण मिलता है। बलवान् आत्मायें ऐसा मानती हैं कि उदयमान कर्म मेरे से ही प्रकट हुए हैं। पूर्व काल में मैंने ही अज्ञान दशा में इन की योजना की है।

कर्म का कर्त्ता

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय कर्मों के निमित्त से उपस्थित होनेवाले भावों के द्वारा जीव द्रव्यकर्मों को आकर्षित करता है। आत्मा के राग-द्वेष-संबंधी परिणाम भावकर्म कहलाते हैं।

पुद्गल का विकार-द्रव्यकर्म और वह राग-द्वेष रूपी भावों के द्वारा आकर्षित होकर आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह होता है। उपर्युक्त उभय कर्मों की आधार भूमि नौ-कर्म है। द्रव्य तथा भाव कर्मों के परिणमन में शरीर उपकारक है और नौ-कर्म शरीर-इन्द्रियों के प्रवर्तन में मन उपकारक है। उस कारण से वह नौ-इन्द्रिय एवं नौ-कर्म शरीर समझा जाता हैं।

जिस कर्म की वर्गणा में जो विशिष्ट स्वभाव हो, उस रूप में विशेष अंश में परिणमन होता है और बाकी की सात कर्मों की प्रकृतियों में न्यून अंशों में। जैसे बादाम में मस्तिष्क को पोषण देने का धर्म है, उस का खून तथा मांस अल्प बनता है।

कषाय-आत्मा का स्वरूप ज्ञानरूप सम्यक्त्व और स्वरूपाचरणरूप चारित्र है। जो सकल एवं यथाख्यात चारित्र का अवरोध करे, वह कषाय है। प्रकृतिबंध का कार्य कर्मवर्गणा को आत्मीय प्रदेश के साथ योजना करने का है। अनुभागबंध का कार्य कार्मणस्कंधों में रही हुई फलदानशक्ति विस्तार करने का है। तदनुसार

आत्मा का गुभाशुभ रसास्वाद करवाने का है । कपाय के अभाव में केवल योग प्रवृत्ति के समय प्रकृति और प्रदेशबंध फक्त शातावेदनीय कर्म ग्रहण करता है । वहा पर स्थिति और अनुभाग को अल्प अवकाश मिलता है ।

जिस समय योग कपाय के साथ अनुरंजित होता है, उस समय स्थिति और अनुभाग बधता है । अबाधा काल के समय अनुदय काल पर कर्म की प्रकृति में आत्मा न्यूनाधिक संक्रमण कर सकता है । एक समय के लिये भी यदि आत्मा कपाय रहित हो जाय तो उसे केवलज्ञान प्राप्त हो जाय ।

सपूर्ण जीवन में सेवन किये हुए शुभाशुभ भावों के तारतम्य अनुसार आयुष्य कर्म बधता है । कषायों की बहुलता द्वारा पाप प्रकृति की स्थिति का विशेष बधन होता है और कपायों की अल्पता से देव मनुष्य सम्बन्धी दीर्घ आयुष्य की स्थिति बधती है ।

योग का चांचल्य और कपाय का अल्पत्व जहा पर हो वहा स्थिति और अनुभाग अल्प होता है, परन्तु योग के द्वारा उपार्जित कर्मप्रकृति के प्रदेश बहुत विस्तार वाले होते हैं, क्यों कि प्रदेशों का नियामक योग है । जिस तरह टूटकर गिरने वाले सरीखे बादल में बिजली कड़कती है वह सिर्फ कडककर रह जाती है । जिस तरह शीतल का रोग तमाम शरीर में व्याप्त होकर अनुभूत होता है, परन्तु उस की स्थिति क्षणिक और वेदना की अति मदता होती है । उस से विपरीत कपाय की बहुलता और योगों की अल्पता ऐसे सयोगों में फलप्रदानशक्ति तथा स्थिति विशेष होती है । वह छोटा सी भी तमाम शरीर को सबाकर तीव्र वेदना उत्पन्न करती है, वर्षों तक आराम होने नहीं देती । प्रसन्नचन्द्र राजर्षि जेसी स्थिति ध्यान में आने सरीखी है ।

आत्मा ध्यानारूढ होवे या दौडता होवे — आसन की कीमत नहीं है, सिर्फ उस के कपायवृत्ति की कीमत है। कपाय के स्वरूप का भान अपनी समाज को बहुत ही थोडा है । कपाय का ज्ञान न होने से समान तद्भूत पाप से बच नहीं सकती है । योगों का सकोच करने में उसका लक्ष्य है, परन्तु कषायों का सकोच करने में सर्वथा प्रकार दुलक्ष है । कपायों से अनुभाग और स्थिति प्रबलता से बधती है । योग के स्थान में कपाय के लिये लक्ष देने में आवे तो मोक्ष नगर जितना दूर है उतनी नजदीक आता है ।

शास्त्रों में स्थूल हिंसा से हृदयगत सूक्ष्म हिंसा (आत्म हिंसा) यह महान् पाप के हेतुरूप कही गई है । कपाय आत्मा के ऊपर का मल है । वह जितने प्रमाण में न्यून होता है उतनेही प्रमाण में आत्मा पवित्र बनता है । कर्म में कुछ बल नहीं है, परंतु आत्मा के द्वारा आरोपित राग—द्वेष में बल है । मत्रवादी कंकर डाल कर सर्प का विष उतार देता है । वहा कंकर में कोई शक्ति नहीं है, परन्तु फैंकने वाले की शक्ति असर करती है ।

कर्मों का परिणमन कराने वाली भी अन्य कोई शक्ति नहीं होती परन्तु जिस समय वह कर्म आत्मा के साथ जुडता है उस समय ही कब - किस तरह कैसा फल— ये सब नियामों का निश्चय हो जाता है ।

सोमल खाने के पश्चात् जिस तरह प्रत्येक रंग में वह विष परिणमन होता है, उसी तरह कर्म भी स्वयं उस की प्रकृति के अनुसार परिणमन करता है। भिन्न २ औषधों में भिन्न २ गुण हैं, उसी तरह भिन्न २ कर्म भी पृथक २ भाव धारण करते हैं। कर्मो की शक्ति जबतक फलाभिमुख नहीं होती-वहां तक वह सत्ता में है। फलाभिमुख होने के पश्चात् वह अपना भाव प्रकट करती है।

सत्ताधीन कर्म कुंभकार के कच्चे पिंड के समान हैं। उन का चाहे जैसा आकार बन सकता है। परन्तु उदयाधीन कर्म तो परिपक्व पात्र के समान हैं। उन में परिवर्तन नहीं हो सकता। सत्ताधीन कर्म पर मेख मार सकते हैं, उदयाधीन पर कुछ नहीं हो सकता। विद्यार्थी परीक्षा के पेपर नहीं देवें वहां तक त्रुटि को सुधार सकता है। पेपर देने के पश्चात् वह भूल को सुधार नहीं सकता। इसी तरह उदय में आये हुए कर्म भुगतने पडते हैं।

उदयमान कर्म स्वयं कुछ नहीं कर सकते; परंतु अपनी प्रकृति के अनुसार सिर्फ कार्य होने का वे निमित्त बनाते हैं। कर्म का कार्य सिर्फ निमित्त बनाकर देने का है। अवशेष कार्य आत्मा के स्वाधीन हैं।

अपने स्वभाव के अनुरूप और अनुभाग की तीव्रता या मंदता के प्रमाण में बलवान या निर्बल कर्म सामना करने के पश्चात् सत्वहीन हो जाता है। यदि कर्म में निमित्त पूर्ण करने से अधिक सत्ता होती तो बलात्कार से आत्मा को तत्प्रायोग कर्तव्य में जोड़ने का उसमें सामर्थ्य होता और तब आत्मा को तीनों काल में मोक्ष प्राप्त होना असंभव ही रहता। निमित्त का लाभ लेना या नहीं, यह आत्मा के स्वाधीनता की बात है। यदि आत्मा अपनी सत्ता से कायम रहे तो कर्म की उद-मान सत्ता उस को स्पर्श नहीं कर सकती।

निश्चय और व्यवहार

लेखक —प जुहारमल न्याय-साहित्यतीर्थ,
प मिश्रीलाल बोहरा न्याय-साहित्यतीर्थ

> व्यवहार विना केचिन्नष्टा केवल निश्चयात् ।
> निश्चयेन विना केचित केवल व्यवहारत ॥
> द्वाभ्या दृग्भ्या विना न स्यात् सम्यग् द्रव्यावलोकनम् ।
> यथातथा नयाभ्या चेत्युक्त, स्याद्वादवादिभि ॥

उभय नेत्रों के विना वस्तु का यथार्थ अवलोकन संभव नहीं है ठीक वैसे ही युगल नयों के विना द्रव्यों का अवलोकन भी यथार्थ नहीं हो सकता । व्यवहारनय के विना केवल निश्चयनय से कतिपय जीव सन्मार्ग से पतित हो गये हैं तथा एकान्त व्यवहार नय से भी अनेक जीव पथभ्रष्ट हो चुके हैं—ऐसा श्री जिनेश्वर देव ने फरमाया है । व्यवहारनय और निश्चयनय को गौण प्रधान रखकर प्रवृत्ति करते हुए वस्तुतत्त्व का यथार्थ बोध होता है । अर्थात् जब व्यवहार की प्रधानता हो तब निश्चय की गौणता होनी चाहिये और जिस समय निश्चय की प्रधानता हो तब व्यवहार की गौणता होनी चाहिये । इस भांति उभय दृष्टियों में जब जिसकी आवश्यक्ता हो तब उसका उपयोग होना चाहिये; लेकिन अन्य दृष्टि का तिरस्कार किंवा अपमान नहीं होना चाहिए। तभी वस्तुतत्त्व का यथार्थ बोध होता है । जिसका अनुभव करना होता है उधर व्यवहारनय प्रवृत्ति कराता है और निश्चयनय ठेठ वस्तु तक पहुँचाकर स्पर्शना द्वारा अनुभव कराता है । मतलब यह है कि शुद्ध व्यवहारनय यह कारणरूप है और शुद्ध निश्चयनय—यह कार्य की सिद्धिस्वरूप है ।

जो व्यवहार निश्चयदृष्टि की तरफ नहीं ले जाता और निश्चय के अनुभव में सहायक नहीं है वह व्यवहार शुद्ध व्यवहार नहीं है । यदि व्यवहार को सूत्र (सूत) रूप कारण मानेंगे तो निश्चय को उससे बना हुआ कार्यरूप वस्त्र मानना होगा । तात्पर्य यह कि व्यवहार कारण और निश्चय कार्य है । एकान्तवाद व्यवहार तथा निश्चय कार्य के साधक नहीं बन सकते । कई प्राणी केवल व्यवहार में ही प्रवृत्ति कर रहे हैं और निश्चय क्या है ? उसका उन्हें बोध ही नहीं है और उस तरफ उनका लक्ष भी कभी जाता ही नहीं है तो ऐसा लक्ष बिना का निशाना स्वरूप व्यवहार कभी भी कार्यसाधक या फलदायक नहीं बन सकता । कई ऐसे भी प्राणी हैं जो सिर्फ निश्चय को ही पकड़ कर बैठे हैं और व्यवहार का तिरस्कार करते हैं—उनके हाथ में निश्चय आने का नहीं है । हाँ, केवल निश्चयदृष्टि का ज्ञान उनकी समझ में आ सकता है । परन्तु व्यवहार वतन या व्यवहार दृष्टि क

अभाव में उसकी वही दशा होगी जैसे जल में प्रवेशकर कितना भी कुशल तैराक हाथ पर नहीं हिलावे तो तिरने की कला का ज्ञान रखते हुए भी वह डूबकर प्राण खोदेगा। वैसे ही यदि तत्त्व का ज्ञान रखता हुआ व्यक्ति यदि उस तरफ प्रवृत्ति न करे तो वास्तविक निश्चय का अनुभव उसे कभी होने का ही नहीं। अतःव्यवहार की प्रवृत्ति के विना निश्चयदृष्टि व्यर्थ है। श्री आनंदघनजीमहाराज संभव - जिनेश्वर की स्तुति में फरमाते हैं कि:—" कारण जोगे हो कारजनीपजेरे ॥ एमां कोइ न वाद ॥ पण कारण विण कारज साधीयेरे ॥ ए निजमत उनमाद ॥ " कारण से ही कार्य बनता है। इसमें किसी को विवाद नहीं हो सकता; क्योंकि कारण—कार्य की व्याप्ति है। परन्तु हे संभवनाथ स्वामी! जो व्यक्ति कारण के विना ही कार्य की निष्पत्ति चाहते हैं यानी परिश्रम के विना या शुद्ध क्रिया किये विना ही जो फल प्राप्त करना चाहते हैं यह उनकी मति का विभ्रम ही समझना चाहिए। मल की संगति से वस्त्र जैसे मलीन होता है वैसे ही कर्म के सम्बन्ध से आत्मा व्यावहारिक दृष्टि से अशुद्ध है। वही आत्मा निश्चयनय की अपेक्षा एवं आश्रय से शुद्ध है। अन्य द्रव्यों के संमिश्रण से व्यावहारिकतया सुवर्ण जैसे अशुद्ध समझा जाता है, परन्तु निश्चय दृष्टि से वही सुवर्ण शुद्ध है।

बाहर से आकर जो वस्तु रहती है उस तरफ लक्ष रखकर व्यवहारनय बोलता है; परन्तु निश्चयनय तो स्वकीय वस्तु की तरफ लक्ष देकर ही बात करता है। वस्त्र का रंग या मल और सुवर्ण मिश्रित मृत्तिका के तरफ दृष्टि रखकर व्यवहारनय उसे अशुद्ध कहता है तो निश्चयनय कहता है कि अपनी वस्तु (वस्त्र और सुवर्ण) तो बराबर है। वस्त्र व सोना कहीं जानेवाले नहीं हैं। आभ्यन्तर वस्तु ही शुद्ध व सत्य है, बाह्य जो मल—मृत्तिका है वे उस वस्त्र व सुवर्ण के नहीं हैं, परकीय हैं। विशेष प्रयत्न से मल दूर किये जा सकते हैं। वैसे ही आत्मा अपना है, कर्म बाहर से आये हैं—अतएव परकीय हैं, हेय हैं,। ऐतदर्थ परकीय स्वभाव अर्थात् परभाव को दूर करने का सतत प्रयत्न करने का लक्ष होना ही निश्चय दृष्टि है।

श्रीमान यशोविजयजी महाराज फरमाते हैं कि:—

अलिप्तो निश्चयेनात्मा, लिप्तश्च व्यवहारतः।

शुद्धयत्यलिप्तया ज्ञानी, क्रियावान् लिप्तया दृशा ॥

निश्चय से आत्मा निर्लिप्त है, शुद्ध है, परन्तु व्यवहारदृष्टि से यह आत्मा लेपायमान है। ज्ञानी पुरुष सदैव निश्चय दृष्टि से यह समझता है कि मैं सिद्ध भगवान् के समान कर्मों से निर्लिप्त हूँ। केवल व्यवहारिक दृष्टि से वह अपने को लेपायमान मानकर तदनुसार क्रिया में प्रवृत्ति कर शुध्द और निर्लिप्त बन जाता है।

शुद्ध चिद्रूप के सद्ध्यान रूप पर्वत पर आरोहण करने के हेतु व्यवहारनय का अवलंबन लेना चाहिये। और उस ध्यानरूप भूमिका में जहां तक स्थिर रहा जाय वहां तक व्यवहार के आलंबन का त्याग करके निश्चय स्वरूप में प्रवेश करना

चाहिये और जब भी आत्मस्थिरतावश अवरोहण का समय आवे तब तुरतही व्यवहार या आलंबन करना चाहिये ।

जैसे राजप्रासाद पर चढने के लिये लिफ्ट या सीढी की आवश्यकता रहती है-यह व्यवहार रूप है। ऊपर जाकर लिफ्ट या सीढी छोड देनी पड़ती है और वहा जो कार्य करने का है वह किया जाता है-वह निश्चय है । ठीक वैसे ही यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में पहुँचने के लिए आलंबन की सहायता से (मन) जब आत्मा में तल्लीन हो जाता है यानी आत्मोपयोग जब अन्य आलंबन को छोडकर स्वस्वरूप में लय हो जाता है-वही निश्चय है, साध्य है, कार्य है । यहा व्यवहार रूप साधन की आवश्यकता नहीं है ।

जो मोक्ष को प्राप्त हो गये है, होते हैं और होंगे-वे सभी प्रथम व्यवहार नय का आश्रय लेकर पश्चात् निश्चय का आश्रय लेकर ही सिद्धि को प्राप्त कर सके हैं करते है और करेंगे। जो शुद्ध आत्म-स्वरूप प्रगट करने में सहायक हो वही सच्चा व्यवहार है अन्यथा अशुद्ध व्यवहार है। अशुध्द व्यवहार त्याज्य है ।

जब आत्मस्थिरता प्राप्त हो वह दशा शुध्दनिश्चय की है और जब स्थिरता नहीं रह सकती हो तब व्यवहार का आलंबन लेना योग्य है ।

यह स्मरण रहे कि जितनी भी धार्मिक क्रियाएँ व या विधिनियोजित कार्य हैं वे सब व्यवहारदृष्टि की अपेक्षा से हैं। जहा तक आत्मानुभव न हो या आत्मतल्लीनता प्राप्त न हो वहा तक शुध्द व्यवहार की अपेक्षा से धार्मिक क्रियाएँ रुचि पूर्वक करनी चाहिए और व्यवहार नयका आदर करना चाहिए । साराश यह कि - हमारे राग द्वेष रूपी आत्ममल को दूर करना है। हम न तो निश्चय पर ही अनुराग करें, न व्यवहार से द्वेष ही करें, मध्यस्थ भाव से साध्य की प्राप्ति के लिये जुट जाय ताकि आगे कर्मबन्ध न हों और पूर्वकृत कर्मों का क्षय हो। इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया के विवाद के उपसंहार में दर्शनशास्त्र के सूक्ष्म विवेचक उपाध्याय यशोविजय जी अपने अध्यात्ममत परीक्षामें कहते हैं कि—

'तदुभयक्षयादेव मोक्षोत्पत्ति इति सर्वेषा वादिनामभिमत, तथा च तद्विजयो पाय एव प्रवर्तितव्यम्-ज्ञाननिष्ठतया, क्रियानिष्ठतया तपोनिष्ठतया, एकाकितया, अनेकाकितयाक्येन येनोपायेन माध्यस्थ्य भावनया समुज्जीवति स स उपाय सेवनीय नात्र विशेषा ग्रहो विधेय इति अर्थात राग और द्वेष के सर्वथा विलय होने पर मोक्ष प्राप्त होना है- यह सब ही दर्शनों का सिध्दात है। इस लिये राग, द्वेष को जीतने के उपायों का ही हमें आदर करना चाहिय। फिर वह भले ही ज्ञान हो, क्रिया हो, तप हो। अकेले होकर करें या कोइ के साथ में रहकर करें-इन में विशेष आग्रह करने की कोई आवश्यकता नहीं—
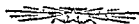
उपाध्याय मेघ विजय जी एवं उनका देवानन्द महाकाव्य

ले.—श्री दिवाकर शर्मा, M. A.

संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा में माघ का शिशुपालवध काव्य ह्रासोन्मुख काल के काव्यों का पथ-प्रदर्शक था। सर्वप्रथम माघ में ही कालीदास एवं अश्वघोष की काव्य-परम्परा से विच्छेद दिखाई पड़ता है और माघोत्तर काल के महाकाव्यों मे यह व्यवच्छेद अधिक से अधिक बढता गया। माघ की कृत्रिम और आलंकारिक शैली की ओर ही बाद के कवि अधिक आकृष्ट हुए। महाकाव्य शाब्दिक चमत्कार, विविध छन्दः प्रयोग, आलंकारिक ज्ञान के प्रदर्शन और पाण्डित्य-प्रकाशन के क्षेत्र समझे जाने लगे। अतः माघ के पश्चात् उपलब्ध काव्यों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—। १. चित्रकाव्य २. चरितकाव्य।

चित्रकाव्य में विविध छन्दःप्रयोग एवं अलंकारों की भरमार रहती थी। अलंकारों में भी श्लेष एवं यमक पर अधिक ध्यान दिया जाता था। काव्यशास्त्री इस प्रकार के काव्यों को अच्छा नहीं समझते थे। इस प्रकार के चित्रकाव्यों में कविराज के "राघवपाण्डवीय" ने विशेष ख्याति प्राप्त की। चरितकाव्यों में किसी पौराणिक महापुरुष का, किसी राजा का अथवा अपने गुरु का चरित्र-चित्रण किया जाता था। किन्तु इस समय आश्रयदाताओं के चरित को लेकर चरितकाव्य लिखने की ओर कवियों ने अधिक ध्यान दिया। प्रत्येक राजा के दरबार में कवि रहा करते थे। वे धन के लोभ मे अपने आश्रयदाता के अच्छे कार्यों को बढ़ाचढ़ाकर लिखना ही अपना कर्तव्य समझते थे। इस प्रकार के महाकाव्यों मे जयानक का लिखा "पृथ्वीराज विजय" विशेष उल्लेखनीय है। कुछ काव्य पौराणिक महापुरुषों एवं गुरुवों के चरित को लेकर लिखे गये। इनमें कुमारसम्भव, नैषध एवं शान्तिनाथचरित आदि प्रसिद्ध हैं। ये काव्य स्वान्तः सुखाय लिखे जाते थे। इसी प्रकार के महाकाव्यों की परम्परा में हमारे कवि द्वारा विरचित देवानन्दमहाकाव्य आता है। जैनमुनि राजाओं के आश्रय में नहीं रहते थे। उनका जीवन तो अत्यन्त सादा होता था तथा वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर धर्मोपदेश देते हुए भ्रमण किया करते थे।

श्री मेघ विजय जी १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए हैं। उनके समय की प्रमुख प्रवृत्ति शृंगारमूलक थी। हिन्दी साहित्य में भी उस समय कृष्ण एवं राधा को लेकर शृंगाररसपूर्ण काव्य लिखे जा रहे थे। कवि लोग राधा के प्रत्येक अंग के वर्णन करने में ही अपने को कृतकृत्य समझते थे। राजदरबारों में पायलों की

झकार सुनाई पड़ा करती थी। चारों ओर विलास का बोलबोला था। किन्तु ऐसे समय में होने वाले जैन कवि पर विलासिता का प्रभाव न पडा। इससे दूर रहने का एकमात्र कारण जन धर्म का आचार-विचार है। क्योंकि जैन दर्शन स्वय शृगारमूलक नहीं है। वह पारलौकिक है और इस लोक के जीवन को महत्त्व नहीं देता है। यही कारण है कि जैन कवियों पर उस समय की राजनीतिक एव सामाजिक परिस्थितियों का उतना प्रभाव नहीं पडा। विलासता का प्रभाव न पडने के कारण ही इनके इस महाकाव्य में सादगी का वातावरण है। सयमी गुरु का चरित्र होनेसे भी शृगाररस की गुजाइस फिर कहा?

श्री मेघ विजयजीने इस महाकाव्य को स १७२७ में मारवाड के सादडी नगर में लिखा था[1]। जो प्रति मिलती है वह तो मूलप्रति की प्रतिलिपि है। यह प्रतिलिपि स १७५५ में उन्हीं के शिष्य मेरुविजयजी के शिष्य श्री सुन्दरविजयजी ने करवाइ थी। यह देवानन्द महाकाव्य की अन्तिम प्रशस्ति में लिखा है[2]। आधुनिक समय में तो इसका दो स्थानों से प्रकाशन हो चुका है।

महाकवि की जीवनी

मेघविजयजी के जीवन के विषय में उनके स्वय के काव्य मौन हैं। अत उनके जन्मस्थान, मातापिता का नाम, उनका जन्म का गाम एव कहा-कहा भ्रमण किया—यह कुछ भी ज्ञात नहीं। इस विषय में उनके ग्रन्थ एव उनके समकालीन कवियों के ग्रन्थ भी मौन हैं। उनकी गुरुपरम्परा के विषय में उनके स्वय के काव्यों में लिखा है।

मेघविजयजी श्री हीरविजयसूरिजी की शिष्य-परम्परा में थे। श्री हीरविजयजी की शिष्य-परम्परा इस प्रकार है —
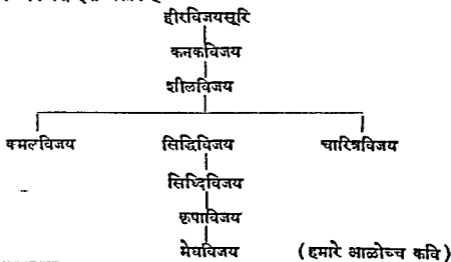
१ "मुनि नयनाश्वेन्दुमिते (१७२७) वर्षे हर्षेण सादडी नगरे। ग्रन्थ पूर्ण समजनि विजयदशम्यामितिश्रेय" देवानन्द महाकाव्य, अंतिम प्रशस्ति।

२ देवानन्द महाकाव्य अंतिम प्रशस्ति।

ये श्वेताम्बर जैन सम्प्रदायानुसार तपागच्छ के यति थे। इनके दीक्षागुरु पण्डित कृपाविजयजी थे और श्री विजयदेवसूरि के पट्टधर श्री विजयप्रभसूरिजी ने उनको वाचक-पद दिया मानो 'उपाध्याय' बनाया था। यह प्रत्येक ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में लिखा है।[१]

जयतु विजयलक्ष्म्या पार्श्वविश्वैकभास्वान अभिमत सुखशाली सैव शङ्केश्वराचार्यः जयतु विजयदेव श्री गुरोः पट्टलक्ष्मीप्रभुरिह विजयादिः श्रीप्रभः सूरिशक्रः

विजयप्रभसूरि, जिन्होंने इनको उपाध्याय बनाया था, उनके प्रति भी इन्होंने अपनी कृतज्ञता प्रकट की है।[२] ये प्रतिभाशाली कवि ही नहीं, अपितु दार्शनिक, वैय्याकरण, समयज्ञ, ज्योतिषी, आध्यात्मिक एवं आत्मज्ञानी भी थे। इन्होंने २४ ग्रन्थ लिखे ह।

शिशुपालवध महाकाव्य की समस्यापूर्त्ति—

मेघविजयजी ने अपने इस महाकाव्य को माघ के शिशुपालवध के पद्यों की समस्यापूर्त्ति के रूप में लिखा है। समस्यापूर्त्ति या पादपूर्त्ति का स्वरूप इस प्रकार है। "अन्य कविरचित पद्यों का १—३ चरण लेकर बाकी के चरण अपनी प्रतिभा से पूर्ण करने को समस्यापूर्त्ति कहते हैं[३]"। "जिसका अभिप्राय भिन्नभिन्न है। ऐसे श्लोकादिक का अपनी या परकी कृति से सन्धान करना याने भिन्न-भिन्न अभिप्रायवाले अपूर्ण श्लोकों को अपने अभिप्राय से संगतरीति से पूरा करने का नाम समस्यापूर्त्ति या पादपूर्त्ति है[४]"। "मूलपदों के भावों के साथ अपने भावों का जितना अधिक सुन्दर समिश्रण कर सकता है और ऐसे कार्य में सहज प्राप्त होने वाली क्लिष्टता और नीरसता से अपने काव्य को बचा सकता है वह कवि (समस्यापूर्त्तिकार) उतनी ही अधिक मात्रा में सफल कहलाने का गौरव प्राप्त कर सकता है[५]"। देवानन्द महाकाव्य उक्त कसौटी पर पूर्णतया खरा उतरता है। मेघविजयजी ने माघ काव्य के सात सर्गों की समस्यापूर्त्ति की है। इस समस्यापूर्ति में उनके नवीन विचारों को स्थान मिला है। श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा प्रतिपादित एवं मतानुसार देवानन्द महाकाव्य में उतनी अधिक क्लिष्टता नहीं जितनी की माघकाव्य में है। मेघविजय जी की भाषा अत्यन्त सरल एवं स्वाभाविक है जबकी माघ में यह बात नहीं। माघ के काव्य में कहीं २ नीरसता भी आगई है। वे तो वर्णन करने में मस्त हो जाते हैं। फिर वे यह नहीं सोचते कि यहां पर किस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। किन्तु मेघविजय जी के काव्य में शब्दों का उचित प्रयोग किया

१ उदाहरणार्थ देखिए, देवानन्द महाकाव्य की अंतिम प्रशस्ति.

२ देवानन्द, दिग्विजय महाकाव्य की अन्तिम प्रशस्ति.

३ देखिए, अमरकोश टीका प्रथम काण्ड, शब्दादि वर्ग श्लोक ७

४ माधवी शब्द कल्पद्रुम कोश

५ जैन पादपूर्ति काव्य साहित्य—अगरचन्द नाहटा, जैन सिद्धान्त भास्कर पृष्ट ६९ भाग ३, किरण २

गया है। अर्थात् जिस प्रकार का वर्णन करना होता है उसी प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया गया है। शब्दों के चयन करने में महाकवि सिद्धहस्त हैं। इससे ज्ञात होता है कि महाकवि अत्यन्त प्रतिभाशाली थे। माघकाव्य एव देवानन्दमहाकाव्य में अनेक समानताएं हैं। माघकाव्य के नायक वासुदेव श्री कृष्ण हैं तो देवानन्द महा काव्य के नायक वासुदेवकुमार हैं जो कि पीछे से विजयदेवसूरि बन जाते हैं। वासुदेव श्री कृष्ण को कस के दरबार में जाना पड़ा तो हमारे काव्य के नायक को भी जहांगीर के बुलावे पर राजदरबार में जाना पड़ा। वासुदेव कृष्ण रैवतक पर्वत पर गये थे एव वासुदेवकुमार भी रैवतक पर्वत पर तीर्थयात्रा के लिये गये थे। इस प्रकार दोनों के नायकों में थोड़ा बहुत साम्य है। प्रस्तुत समस्यापूर्ति में माघ-काव्य के सात सर्गों का प्रयोग किया गया है। अधिकतर माघकाव्य के प्रत्येक श्लोक के चतुर्थ चरण पर समस्यापूर्त्ति की है। कहीं-कहीं प्रथम, द्वितीय एव तृतीय चरण पर भी समस्यापूर्त्ति की है। समस्यापूर्त्ति भी पद्मबन्धादि की तरह एक प्रकार का चित्र-आश्चर्यकर काव्य है। इसीलिये समस्यापूर्त्ति करते हुए यदि कहीं पर अनुस्वार, विसर्ग आदि न लगाया जाय तो समस्यापूर्त्ति में किसी प्रकार की हानि नहीं होती। यदि कहीं माघ ने "ललना" या "दिवम्" लिखा हो और काव्यकारने उसे "ललना" "दिव" कर दिया हो तो उसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं। समस्यापूर्त्ति में पूरक चरण के शब्दों को न बदल कर अर्थ की पूर्त्ति करनी पड़ती है। यदि अर्थ की पूर्त्ति में विघ्न उपस्थित होजाय तो समस्यापूर्त्ति में आपत्ति हो जाती है; किन्तु ऐसा इस काव्य में कहीं नहीं हुआ। इतना सब कुछ होने पर भी कहीं २ शब्दों में हेरफेर दिखाई पड़ता है। जैसे द्युति के स्थान पर च्युति, हव्यवह के स्थान पर हव्यभुज आदि। किन्तु यह बात अधिकारपूर्वक नहीं कही जा सकती कि यह हेरफेर कवि द्वारा किया गया है या माघ के पाठान्तर ही हैं और यदि सात सर्ग की पादपूर्त्ति में कहीं कवि द्वारा ही ऐसा होजाय तो वह भी क्षम्य है। समस्यापूर्त्ति की महत्वपूर्ण बात यह है कि कवि ने माघ के चरणों का नया ही अर्थ निकाल कर समस्यापूर्त्ति की है। जहाँ २ माघकाव्य में यमक का प्रयोग है वहाँ वहाँ कवि ने भी यमक का प्रयोग पूर्ण सफलता से किया है। वही चमत्कार इस काव्य में भी है जो माघकाव्य में दिखाई पड़ता है। कवि का एक मात्र ध्येय अपने गुरु के प्रति भक्तिभाव प्रकट करना था। अत उन्होंने गुरु के जीवन के मुख्य-मुख्य स्थलों पर ही सुन्दरता से प्रकाश डाला है जिससे उनकी प्रतिभा पर चार चाँद लग गये हैं। मेघविजयजी ने माघ की समस्यापूर्त्ति के अतिरिक्त अनेक अन्य काव्यों की भी समस्यापूर्त्ति की है जिनमें नैषध एव मेघदूत की समस्यापूर्त्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है। नैषध की समस्यापूर्त्ति के आधार पर "शान्तिनाथचरित्र" की रचना की है और मेघदूत की समस्यापूर्त्ति के आधार पर "मेघदूत समस्या लेख" की रचना की है। यह रचना एक पत्र के रूप में है। कवि ने भाद्रपद सुदि पचमी के बाद यह पत्र अपने आचार्य श्री विजयप्रभसूरि को, जो उस समय देवपाटण में स्थित थे, लिखा था।

से विभूषित करके उनका नाम विजयप्रभसूरि प्रकट किया। इसके बाद वे सूरत को गये। सूरत से अहमदाबाद को गये।

धनजी शाह एवं उनकी पत्नी धनश्रीने बहुत बड़ा उत्सव किया। यहां से सूरिजी गुजरात की ओर चले और अहमदाबाद पहुंचे। वहां सूरिजी ने बीबीपुर नाम के अहमदाबाद के उपपुर में रहकर पर्युषण महापर्व की आराधना की। यहां से सूरिजी ने श्री शंखेश्वर–पार्श्वनाथ के दर्शन के लिए प्रस्थान किया।

देवानन्द महाकाव्य का कलापक्ष

मेघ विजयजी की शैली बहुत ही अलंकृत है। उसमें अलंकारों के प्रयोग में नवीनता, प्रसाद और निर्दोषिता है। श्लेष में बड़ा परिश्रम किया गया है। यमक सोद्देश्य और प्रभावशाली हैं। मेघ विजयजी की उपमायें निःसन्देह सुन्दर और मनोहर हैं। एक दो उदाहरण देखिये।:—

१. कपिकुल्येव सिद्धानाम् शुद्धवर्णा सरस्वती,

२. धर्मः पद्म इवोद्बुद्धः शुद्ध हंसाभिनन्दन :

इत्यादि उपमायें बड़ी सुन्दर और उपयुक्त बनी हैं। परन्तु सर्वत्र यह बात नहीं हैं। इनकी अनेक उपमायें माघ के समान ही कठिन और गूढ हैं। उपमाओं में कहीं कालीदास जैसी सरलता, रमणीयता, आकर्षकता और स्वाभाविकता भी मिलती हैं। जैसे– 'कपिकुल्येव सिद्धानाम् शुद्धवर्णा सरस्वती'

इनकी सभी उपमायें रस की पोषक हैं। श्लेष का प्रयोग उत्तम, किंतु क्लिष्ट ह। मुग्धकारिणी उत्प्रेक्षा, रूपक, अर्थांतरन्यास का भी प्रचुर प्रयोग है।

रूपक :— रहः स्थले ज्वलत्येवमसौ नरशिखिप्रयो।

उत्प्रेक्षा :— सुखमन्या वने जन्य पौरुषेय वृता इव

अर्थांतरन्यास :— किं पुनर्वार्तिकैर्भाष्यैः सूत्रवत् सर्वतो मुखम्,
तत्त्वमेव वदंत्यार्या प्रकृत्या मितभाषिण :

मेघविजयजी छंदों के प्रयोग में भी सिद्धहस्त हैं। देवानंद महाकाव्य में काव्यशास्त्र के नियमों का पालन किया गया है। एक सर्ग में एक ही छंद का प्रयोग किया गया है। सर्ग के अंत में विभिन्न छंदों का प्रयोग मिलता है। चतुर्थ सर्ग के मध्य में भी एक-दो स्थानों पर छन्द बदला गया है; किन्तु एक-दो श्लोकों में छन्द-परिवर्तन से महाकाव्य में कोई दोष नहीं आता। १७ वीं शताब्दी के काव्यों में छन्दों की बहुलता आगई थी। महाकाव्य के सातों सर्गो में क्रमशः निम्नलिखित छन्द हैं - वंशस्थ, अनुष्टुप, उपजाति, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित, पुष्पिताग्रा छन्दों का प्रयोग मिलता है। इनके अतिरिक्त प्रत्येक सर्ग के अन्तिम भाग में मिलने वाले छन्द निम्नलिखित ये हैं - द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, औपछन्दसिकम्, उपजाति, तोटकम, स्वागता, पुष्पिताग्रा

छन्दों के भी प्रयोग मिलते हैं। चतुर्थ सर्ग के २६ वें श्लोक में पुष्पिताग्रा छन्द है तथा २८ वें श्लोक में द्रुतविलम्बित छन्द है। छन्दों के प्रयोग में अत्यधिक सावधानी की दृष्टि रखी गई है।

मेघविजयजी का भाषा पर पूर्ण आधिपत्य है। भाषा सरल एव रोचक है। यथास्थान समासों की बहुलता है। गाढबन्धों की ओजस्विनी मनोहरता की छटा है। शब्द और अर्थ की समता के उत्पादन में ये माघ से टक्कर लेते हैं। इनकी पद्यावलि पर माघ का प्रभाव स्पष्ट है। माघ के समान ही इन्होंने भी व्याकरण के नियमों क अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। गणादि' से शब्दों का निर्माण किया गया है जैसे — कौबेरदिग्भागमपास्यमा गंमागस्त्यमुष्णांशुरिवाचतीण

इस पक्ति के बेरदिग्भागम् को देखिये। 'वेरदिग्भागम्' उश्च आ च वा, ताभ्या युक्ता इश्च लश्च, दश्च, इ–ल–दा ते सन्ति अस्मिन् इति (वा+इलद+इन्–वेल्दी) वेल्दी स चासौ 'ग' गकार, तेन भाति इदृश अ अकार तम् गच्छति प्राप्नोति तत् वेलदिग्भागम्–इलादुगम—इत्यर्थ । पुन किम्भूतम् (इलादुगमउ) गंम् 'रम्' रकार गच्छति गंम्–इलादुगनाम्न प्रतीतम्

इस प्रकार के उणादि शब्दों के प्रयोग अनेक मिलते हैं। इनकी सस्कृत भाषा पर उर्दू, फारसी का प्रभाव भी लक्षित होता है। भूभृत के लिये पातिशाह, धनिक के लिये शाह का प्रयोग मिलता है। पातिशाह शब्द में फारसी एवं सस्कृत का समिश्रण है। पाति शब्द सस्कृत है - जिसका अर्थ है प्रजापालन और शाह शब्द फारसी है जिसका अर्थ राजा। इस प्रकार के शब्दों की बहुलता नहीं। बन्दरगाह के लिये बन्दिरे शब्द का प्रयोग मिलता है। किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी काव्य की भाषा अत्यन्त सरल एव रोचक है। वर्णनानुसार भाषा में क्लिष्टता एव सरलता आती जाती है।

भाषा का प्रवाह अत्यन्त सुन्दर है। कालिदास की भाषा यदि मालवा की समतल भूमि के समान सीधीसाधी है तो हमारे आलोच्यकवि की भाषा अरावली पर्वत की तरह उबड़खाबड़, ऊँची–नीची है। इतना सब कुछ होते हुये भी कवि की क्षमता अपूर्व है। कवि के लिए अन्य कविरचित पद्यों की पादपूर्त्ति का प्रतिबध था। अत यदि काव्यसृजन में कुछ शिथिलता नजर आती है तो वह नगण्य है। यों जहा तक प्रतिभा और काव्यगत प्रौढता का प्रश्न है हम यह कहने का लोभ सवरण नहीं कर सकते कि मेघविजयजी विदग्ध विद्वान और प्रतिभाशाली कवि और आचार्य थे। मध्यकालीन जैन सस्कृत साहित्य में उनका स्थान चिरस्थाई और अत्यन्त महत्वपूर्ण रहेगा। इस प्रकार मध्यकालीन सस्कृत जन साहित्य का यह कवि एक अनूठा रत्न है।

" देवानन्द महाकाव्य का भावपक्ष "

मेघविजयजी मूलत एक कवि हैं। भावपक्ष की दृष्टि से भवभूति के बाद मेघविजयजी का नाम बिना किसी सदेह के लिये जा सकता है। मेघविजयजी गभीर भावों

अथ प्रभातप्रभया विभिन्नं निशास्तमिस्रं ग्रहकान्तिमित्थम् ।
प्राण्याश्रितं दुर्गमिवोग्ररत्नम् असौ गिरिं रैवतकं ददर्श ॥

शृङ्गैरभङ्गैः सुभगं निजाङ्क–व्यालीनयीनद्रुत (धर्म) लतावलीनाम् ।
मा धर्मबाधास्त्विति सूर्यरश्मीन् पुनः पुना रोध्दुमिवोन्नमद्भिः ॥

शैले शिवाभृर्वि तीर्णकामो वितीर्णकामो भगवान् सदा यम ।
कृतालये कोमलताभिरामं लताभिरामन्वितषट्पदाभिः ॥

श्री नेमिनाथं जिनमानिनंसुर् न मानिनं सुस्थरुचिः स शैलम् ।
तमुच्चयौ सङ्कुलताभिरामं लताभिरामन्श्रितषट्पदाभिः ॥

दूसरे दिन प्रातः काल ही दुर्ग के समान इस रैवतक पर्वत को देखा । जिसके चारों ओर पेड लतायें हैं - जिनपर भंवरे गुंजार कर रहे हैं । ऐसे उस पर्वत पर श्री नेमिनाथ का मन्दिर सुशोभित होरहा था ।

अन्त में हम देखते हैं कि क्या रसप्रवणता, क्या आलंकरिक अप्रस्तुत विधान. क्या प्रकृतिवर्णन की सुन्दरता, क्या शैली की व्यंजनाप्रणाली, तथा शब्दों की प्रसादमयता - सभी कलावादी दृष्टिकोण से मेघविजयजी की बराबरी कोई भी अन्य संस्कृत कवि नहीं कर पाता । संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में कालिदास के बाद दूसरा सशक्त व्यक्तित्व मेघविजयजी का है । कालिदास का काव्य शेक्सपीयर की भांति भावप्रधान है, मेघविजयजी काव्य मिल्टन की भाँति अत्यधिक अलंकृत है । शैली के शब्दों मे, जो मिल्टन के लिये प्रयुक्त किये हैं, मेघविजयजी को हम अलंकृतशब्दों का उद्भावक (Creator of ornate members) कह सकते हैं । मेघविजयजी का पदविन्यास और शैली संस्कृत कवियों में अपना सानी नहीं रखती । कालिदास की शैली सरल, स्वाभाविक और कोमल है तो मेघविजयजी की शैली धीर और गम्भीर है । मेघविजयजी की समासान्त पदावलि उनकी शैली को गम्भीरता और उदात्तता प्रदान करती है । छन्दों के प्रयोग में मेघविजयजी भारवी कालिदास से भी अधिक कलावादी हैं ।

देवानन्द महाकाव्य एक ऐतिहासिक काव्य है। किसी भी काव्य की ऐतिहासिकता प्रमाणित करने के लिये निम्नलिखित बातों में से कोई एक अवश्य होनी चाहिए।

१. किसी ऐतिहासिक महापुरुष, राजा, मंत्री एवं राजपुत्रों का चरित्र-चित्रण हो
२. किसी ऐतिहासिक युद्ध का वर्णन
३. किसी ऐतिहासिक मन्दिर का वर्णन
४. ऐतिहासिक गुरु अथवा आचार्य का वर्णन

यदि हम ऊपर लिखित कसौटी पर देवानन्द महाकाव्य को कसे तो वह खरा उतरेगा। इस काव्य के चरितनायक श्री विजयदेव सूरिजी एक ऐतिहासिक महापुरुष हैं जिन्होंने जहांगीर के दरबार में जाकर धर्म का उपदेश किया। आपको जहांगीर

ने स्वयं बुलाया था। दरबार के अतिरिक्त अनेक राज्यों में भ्रमण किया और रानाओं को धर्मोपदेश देकर हिंसा को रुकवाया। इस काव्य में चरित काव्य की अपेक्षा यात्रा का वर्णन अधिक है। इतना सब कुछ होते हुये भी यह एक ऐतिहासिक कृति है और ऐतिहासिकता को कवि ने पद्य रूप में बहुत ही सुन्दर तरह से व्यक्त किया है।

अन्त में आदरणीय प बेचारदास जीवराज दोशी एव श्री अगरचन्दजी नाहटा के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। इनकी सामग्री का यथास्थान उपयोग किया है।

सम्राट अकबर का अहिंसा प्रेम

लेः—प्रतापमल सेठिया मत्री—श्री. जिनदत्तसूरि सेवासंघ, बंबई

विक्रम संवत् १६४७ का समय था। एक दिन सम्राट् अकबर ने मन्त्री करमचन्द को कहा कि इस समय जैन में जो महान् विद्वान् प्रभावशाली साधु हो उनका मैं दर्शन करना चहाता हूँ, तुम उन्हें बुलाचो। करमचन्द की दृष्टी शीघ्र आचर्य महाराज श्री जिन-चन्द्रसूरि जी की ओर गई। इनका जन्म सं. १५९५ में हुवा था और मात्र ९ वर्ष की अल्प आयु में ही आप ने वैराग्य प्राप्त कर दिक्षा ग्रहण करली थी। १७ वर्श की आयु में तो संघ ने आपको आचार्यपद से विभूपित कर सर्व संघ के महान् उत्तरदायित्व का भार आप के सुपर्द कर दिया था। इस पर से ही आप इनकी विद्वत्ता का अनुमान कर सकते है।

इस समय आप पाटण में विराजते थे। मन्त्रीश्वर ने सम्राट् की इच्छा का कथन करते हुये आप को लाहौर पधारने का आग्रह किया। सूरिजी महाराज ने भी लाभ का कारण जानकर शीघ्र विहार कर १६४८ के फाल्गुण शुक्ल २ को ३१ साधुओं के साथ लाहौर में प्रवेश किया। सम्राट् आप से प्रतिदिन उपदेश सुनता था।

एक दिन किसी नवरंग खा नामक व्यक्ति ने द्वारका के जैन मन्दिरों को नष्ट कर दिया। यह खवर जव सूरिजी महाराज को हुई तो सूरिजी महाराज ने सम्राट् को मन्दिर और तीर्थ के महात्म्य को इस प्रकार समझाया कि शीघ्रही सम्राट्ने शाही सिक्के से एक फरमान प्रकाशित कर दिया। जिसमें लिखा था कि आज से समस्त जैन तीर्थ मन्त्रीश्वर के आधीन कर दिये गये हैं।

एक समय जब सम्राट् काश्मीर विजय करने को प्रस्थान कर रहा था सूरिजी ने जीवदया पर प्रभावशाली उपदेश दिया। उससे सम्राट् का हृदय दया से ओत-प्रोत हो गया और प्रति वर्ष आशाढ़ शुक्ल ८ से पूर्णीमा तक अपने १२ सूबों में समस्त जीवो को अभयदान देने का फरमान प्रकाशित करवाता था। उन फरमानों में से मुलतान के सूबा के नाम का फरमान खो जाने से दूसरा फरमान उस की पुनरावृत्तिमें संवत १६६० मे लिखकर दिया जो आज भी लखनऊ में खरतर गच्छ के भन्डार में विद्यामान है। फरमान पारसी में है। उसकी नकल इस प्रकार है।

"शुबे मुलतान के वडे-वडे हाकिम जागिरदार करोडी और सब मुत्सर्प कर्मचारी जानले कि हमारी यही मानसिक इच्छा है कि सारे मनुज्यो और जीवजन्तुओ को शुखमिले जिससे सब लोक अमन चेन मे रहकर परमातमा कि आराधना में लगे रहे

इससे पहले शुभ चिन्तक तपस्वी जिनचन्द्रसूरि खरतर गच्छ हमारी सेवा मेरहा था। जब उसकी भगवद् भक्ति प्रकट हुइ तब हमने उसको अपनी बडी बादशाही की महेरबानीयों में मिला लिया उसने प्रार्थना की कि इससे पहले ही हीरविजग सूरि ने सेवा में उपस्थित होने का गौरव प्रापत किया है और हरसाल बारह दिन मागे थे। जिनमें बादशाही मुल्को में कोई जीव मारा न जावे ओरकोइ आदमी किसी पक्षी मछली ओर उन जेसे जीवोको नस्ट न करे उसकी प्रार्थना स्वीकार हो गई थी अब मैं भी आशा करता हूँ कि एकस्पताहा का वेसाही हुक्म इस शुभचिन्तक के लिये हो जाय इस लिये हमने अपनी आम दया से हुकम परमादिया कि आशाढ शुक्ल पक्ष कि नवमा से पूणमाशि तक शाल मे कोइ जीव मारा न जाय और न कोई आदमी किसी जीव को सतावे असल बात तो यह है कि जब खुदा ने आदमी के वासते भाति भाति के पदार्थ उपजाये है तब वह कभी किसी जानवर को दुःख न दे और अपने पेट को पशुओं कि कबर न बनावे परन्तु कुछ हेतुओं से अगले बुद्धिमानों ने वेसी तजवीज की हे इनदिनों आचार्य जिन सिंह सूरि उर्फ मानसिंह ने अर्ज कराइ के पहले जो उपर लिखे नुसार हुकम हुवा था। वह खो गया है इस लिये हमने उस परमान के अनुसार नया परमान इनायत किया है। चाहिये कि जैसा लेख दिया गया है वैसाही इस आज्ञा का पालन किया जाय इस विषय में बहुत बडी कोसिस और ताकीद समज कर इसके नियमों में उल्ट पेर न होने दे ता ३१ खुरदाद इलाही सन ४६"

उपरोक्त फरमान बतलाता है कि सम्राट् के हृदय में सुरिजी महाराज के उपदेश से कितना अहिंसा के प्रति प्रेम हो गया था। फरमान में जो शब्द पेटको कबर बनाने बायत हैं वे मासाहारियों के लिये कितने शिक्षाप्रद व कितने उच्च विचारों को प्रगट करते हैं। इसके अतिरिक्त सुरिजी महाराज के शिष्यों के उपदेश से काश्मीर चढाई में रास्ते में जहा-जहा तलाव, नदी आई उसमें जलचर जीव न मारे जावें ऐसे हुक्म करवाये गये हैं।

फरमान की असली नकल हमारे सामने नहीं है। ऐसा लगता है कि सेठिया जी के लेख में फरमान के शब्दों की नकल बराबर नहीं है —सम्पादक

पुनरुद्धारक श्रीमद् राजेन्द्रसूरि

लेखक—शाह इन्द्रमल भगवानजी, वागरा (मारवाड़-राज०)

उन्नीसवीं सदी का आरंभिक काल भारतीय जन-जीवन का तमः काल था। राष्ट्रीय एवं सामाजिक उत्थान के प्रमुख अंग-शिक्षा, संस्कृति, धार्मिक स्वातंत्र्य, अर्थव्यवस्था, निरापद आवागमन, जनसुरक्षा, न्याय आदि सभी क्षेत्रों में अंधेर ही अंधेर व्याप्त था। लोक-कल्याण का शाश्वत पंथ-धर्म भी इन तात्कालिक विकृतियों से वच न सका। आसक्त व विपयानुरक्त देवप्रतीक युक्त अन्य पंथ-धर्मों की बात तो दूर प्रशस्त राजमार्ग सा जिनधर्म भी कर्म-काण्ड व मंत्र-तंत्रों के भ्रामक आडंवर से अपने प्रकृतस्वरूप को खो वैठा। पीड़ित मानवता व दलित प्राणियों के आश्वासन का चिरंतन हिमायती जैन मार्ग अपना आदर्श भूल गया। वह सम्यक्त्व मणि-मुक्ताओं से विमुख हो कर कंकड़ ठीकरों की ओर वढ़ चला। धर्म-तरी अधर्म-तूफानों से डोलने लगी। देशव्यापी इन विकारों का जैनसमाज पर भी अत्यन्त घातक प्रभाव हुआ। समाज एवं धर्म के जाग्रत प्रहरी मुनिगण जिनका अद्यावधि इतिहास सर्वथा लोक-कल्याण और आंतरचारित्र्य के विकास से दैदिप्यमान रहा है वे अव तन्द्राग्रस्त और वह धूमिल प्रायः हो चुका था।

यों तो चौथी शताव्दी के आरंभ में चैत्यवास के कारण मुनियों में शिथिलाचार वढ़ने लगा था जो कालांतर में इतना वढ गया था कि सुविहिताचारी मुनियों को उनसे संवंध विच्छेद करना पड़ा था। सुविहिताचारियों से विलग हो जाने के कारण अंततोगत्वा चैत्यवासियों में शिथिलाचार प्रवलतर रूप धारण कर गया। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उस समय शुद्धाचारी और सम्यक्त्वशील मुनियों का सर्वथा अभाव ही हो गया होगा। अथवा सारा जनसमुदाय उन्हीं का अनुयायी वन गया होगा। शुद्धाचरण का परिपालन करने वाले भी रहे होंगे। फिर भी वे विरल ही होंगे। जैसा पं. आशाधरजी ने कहा है—'खद्योतवत् सूपदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित् क्वचित्।'

मारवाड, मालवा में चैत्यवास के कुफल के प्रमाण ग्रन्थों में उपलव्ध हैं। श्री हरिभद्रसूरिजी के ग्रन्थ संवोधप्रकरण में चैत्यवास के उल्लेख पाये जाते हैं। श्री जिनवल्लभ-सूरिजीकृत संघपट्टक की भूमिका में बताया है कि मारवाड़ में भी चैत्यवासियों का वहुत प्रावल्य था। उनके विरुद्ध सर्वाधिक प्रयत्न श्री जिनेश्वरसूरि के शिष्य जिनवल्लभ सूरि ने किया है। अपने संघपट्टक ग्रन्थ में श्री जिनवल्लभसूरि ने चैत्यवासियों के शिथिलाचार और उनकी सूत्रविरुद्ध प्रवृत्तियों का अच्छा निर्देशन किया है। श्री जिन-दत्तसूरि और जिनपतिसूरिजी आदि अनेक युगपुंगवों ने शिथिलाचार को दूर करने के हेतु

समय-समय पर पुनरुद्धार किये; किन्तु कालान्तर में पुन पुन आचारशैथिल्य का प्रादुर्भाव होता गया।

श्री विजयक्षमासूरिजी के जीवनकाल में पुन चैत्यवास उमड पड़ा। अत्यन्त आचार शैथिल्य का वर्त्तन बढने लगा। आचार्य श्रीपूज्य कहलाने लगे। समाज के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होकर उल्टे वे समाज पर हावी हो गए। वे नि सकोच पालखी में बैठ कर बड़े रसाले के साथ विचरते और अपनी लागें उगाहते। यतिगण जिन्होंने अब तक जैन शासन की बड़ी सेवाएँ की थीं और जिनका कट्टर आचार-पालन जन-विश्रुत था वे सयम और आचार को तिलाजलि देकर ज्योतिष, वैद्यक और तत्र की दूकानें खोल बैठे। परिग्रहों की वृद्धि स्वाभाविक थी। वे जागीरें भी रखने लगे थे। जन साधारण को मन्त्र-जन्त्र के बल इस कदर आतकित कर दिया था कि उनकी जिनाज्ञा प्रतिकूल प्रवृत्तियों की ओर अगुली निर्देश करने का किसी में साहस ही न रहा था। अठारहवीं शताब्दी के अत तक चत्यवास ने उग्र रूप धारण कर लिया था। समाज का वातावरण दूषित हो चुका था।

समाज की पतनावस्था में उद्धारक अवश्य उत्पन्न होते हैं ऐसा आप्त वचन है। भगवान् महावीर के पश्चात् जैन समाज में अनेक युगप्रभावक और पुनरुद्धारक युग युग में अवतीर्ण हुए। उन्होंने पतनोन्मुख समाज को सत्य का मार्ग दिखाया और उसमें मानवोचित गुणों का सचार किया। जिसके लिए भारत जैन समाज का ऋणी है।

उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी का समय समस्त भारत के हेतु आशीवाद स्वरूप हुआ। इस युग में अनेक पुनरुद्धारक उत्पन्न हुए और देश में अनेक सुधार हुए। रामकृष्ण परमहस राजाराम मोहनराय, स्वामी दयानन्द, श्रीमद् विजयानन्दसूरि, श्रीमद् राजेन्द्र सूरि आदि ख्यातनामा पुरुषों ने इसी समय में जन्म लिया। उन्हीं दिनों सती प्रथा-निषेध कानून बना। देश में अग्रेजी भाषा के पठन का आरभ हुआ। उर्दू फारसी भाषा के शिक्षण का प्रचार प्रचुर था, वह शनै-शनै बद होने लगा। अग्रेजी भाषा और उसके साहित्य का पठन आरम्भ हो जाने से हमें लाभ अवश्य हुआ। इन्हीं दिनों हमारे साहित्य व इतिहास के उद्धार का श्रीगणेश हुआ।

जैन समाज के लिए श्री राजेन्द्र सूरिजी का अवतरण कई दृष्टिकोणों से बड़ा महत्त्वपूर्ण हुआ। आचार्य श्री प्रमोद सूरिजी ने आपको दीक्षित कराया और रत्नविजय नाम रखा। यति सागरचन्द्रजी अपने समय में अगाध पाण्डित्य के कारण बनारस तक विख्यात थे। उनके सानिध्य में आपने शिक्षा ली तथा श्री देवेंद्रसूरिजी से आपने जैन शास्त्रों का अध्ययन किया। यतिधर्म का पालन आप कई वर्षों तक करते रहे। देवेन्द्रसूरिजी के स्वर्गवास के पश्चात् श्री धरणेन्द्र सूरि श्रीपूज्य हुए। धरणेन्द्रसूरि ने आपको 'दफ्तरी पद' देकर आपका बहुमान किया। राज्य-शासन में जो पद अमात्य का हुआ करता है वही पद दफ्तरी का

अपने यतिसमुदाय में हुआ करता था। श्रीपूज्य एवं उनके दफ्तरीजी की आज्ञा की अवगणना करने का दुस्साहस उन दिनों कौन कर सकता था? श्री रत्नविजयजी की कार्य-कुशलता से धरणेन्द्रसूरि का अति प्रभाव बढ़ा था और उनकी हार्दिक इच्छा रहती थी कि रत्नविजयजी मेरे दफ्तरी का दायित्त्वपूर्ण पद बराबर सम्हाले रखें। धरणेन्द्रसूरि कई नृप एवं अमात्यों द्वारा मान्य थे। अतः शेठ, शाहूकार, राजकर्मचारी सभी इनके हुक्म को मानने में सम्मान समझते थे। स्वयं श्री पूज्यजी भी आपका यथोचित आदर करते थे।

श्री रत्नविजयजी दफ्तरी का कार्य तो करते थे; लेकिन उन्हें यह सब दम्भाचरण प्रतीत होता था। वे केवल साध्वाचार के सूत्र रटकर ही इति नहीं मानते थे। उन्होंने संस्कृत—प्राकृत के व्याकरण, कोश, काव्य, कथा और आगम-सूत्र, अंग-उपांग आदि श्रुत वाङ्मय की प्रत्येक शाखा का उत्कट अध्ययन किया। उनमें ये भाव अंकुरित हुए कि क्या मिथ्यांडम्बर केवल इसलिए वहन किया जाय कि जिससे भद्रजनसमुदाय अंधेरे में रहे और हम राजभोग, ऐशो-आराम में पगे रहें, स्वयं त्याग मार्ग पर न चलें और जन-साधारण को त्यागमार्ग पर चलने का उपदेश दें - यह वंचना नहीं तो क्या? इसकी क्या सार्थकता? जब श्रोताओं को घंटों तर्क-वितर्क युक्त व्याख्यान सुनाने पर भी उपदेशक के भावों में परिवर्त्तन न हो, फिर ये चातुर्मास या स्थिरवास क्या होते है? श्रावकों को खड़े पैर तैनात रहना पड़े कि कब श्री पूज्यजी का हुक्म हो और उसके परिपालन में विलंब होने पर कहीं संघ को गुरु-क्रोध के अमंगल का भाजन तो नहीं होना पड़े? "देवैरुष्टाः गुरुस्त्राता, गुरौ रुष्टे न कश्चन" धर्मभीरू श्रावकों की इस विवशता पर उनका करुणार्द्र हृदय तड़प उठता था।

वे विचार करते कि व्याख्यान होते हैं, प्रभावनाएँ बंटती हैं, महा जयघोष होते हैं; धौंसे बजाये-गाए जाते हैं; पर सब व्यर्थ। कई बार वे अंतर्मुख हो कर हृदय टटोलते और उन्हें अपनी दिनचर्या और यति-समाज के आचार-विचार पर बड़ा क्षोभ होता कि अनासक्त यति जीवन-लालसाओं में कितना लुब्ध हो गया है। उसके इस उन्माद का अन्त कहां होगा? यह भी उन्हें समस्यामूलक प्रतीत होता। व्याख्यान के अंतर्गत अपरिग्रह और आत्मनिग्रह, चरित और संयम, त्याग और तप, कायक्लेप और कषायहीनता आदि विषयों पर विभिन्न पहलुओं से सुन्दर निरूपण करने वाले यतिओं की पतित जीवन-चर्या पर उन्हें मनस्ताप होता। वे उन गुरुओं मे नहीं थे जो स्वयं बैंगन आरोग कर औरों को उपदेश दिया करें। उन्हें यह इतिहास अज्ञात नहीं था कि बौद्ध धर्म, जिसके विशाल साहित्य ने अधिकांश दुनिया को अप्रत्यक्ष भाव से प्रभावित किया था, धारिणी मंत्रों और यंत्रों का शिकार होकर जहां से उद्‌भूत हुआ था वहीं विलय भी हो गया!! जैन धर्म में अव्रती कषाय युक्त देव-देवियां की उपासना ने अवांछनीय स्थान प्राप्त कर लिया था। उस घुन से अज्ञान एवं अंधश्रद्धा बढ़कर बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म के सर्वनाश का भी सृजन ही करेगी।

इस भांति इन दिनों में उनकी आत्मा को मानसिक विश्लेषणों ने झकझोर दिया। एक बड़े झंझावात ने युगों के धूमिल धूसरपन को जैसे धो डाला हो ऐसा उनके विचारों में उत्क्रांति का विद्युत कौंध उठा। पाखण्ड का पर्दाफाश करने के हेतु एव धर्मद्रोह के प्रति विद्रोह करने को वे उद्यत हुए।

दशवैकालिक की आवृत्ति अब नए दृष्टिकोण से होने लगी। आचारांग सूत्र, आवश्यक सूत्र और चूर्णि—भाष्य आदि शास्त्रों का खूब मनन किया गया। साध्वाचार और श्रावकाचार पर प्रस्तुत भिन्न २ युगों के टिप्पण–संहिताओं का अनुशीलन किया गया। इनकी तलस्पर्शी गहराइयों में पैठ-पैठकर डुबकियां लगाई गई। ज्यों-ज्यों वे इस दिशा में अधिक अन्वेषण करते गए, उन्हें श्रीपूज्यजी का सारा वैभव एक ढकोसला एव बंधन प्रतीत होने लगा। उन्हें प्रतीति हो गई कि नवकार, पचिन्दिय, वन्दित्तु और अतिचार सूत्रों के सदर्थों को भुलाया गया है। समकित और श्रद्धा की व्याख्याएँ ही बदल दी गई हैं। सांसारिक लालसाओं के वशवर्ती होकर जिनदेव के बजाय अन्य देव देवियों की आराधना-अर्चना को प्रधानता दी गई है। खेतला—मामा, गोगा—भैरू की घर-घर स्थापना हुई है। पीर-औलिए और शीतला, भोपे तथा दसोंतरी और अगोरी तक पूजे जाने लगे हैं। देव-गुरु-धर्म की सुध ही न रही। शुद्ध दर्शन-भाव विलुप्त हुए। समकितवन्त आत्माओं को वंदन करके ही देवेंद्र तक सभा में सिंहासनारूढ हुआ करते हैं। 'सम्यक्त्व' की कितनी गरिमा? प्राप्त चिंतामणि से कौआ उड़ाने की कथा कौन नहीं जानता? बेचारा श्रावक समकितचिंतामणि को खो कर आज रीते हाथ बैठा था। मिथ्यात्व की भीत्ति पर धर्म की जो छिछालेदर हो रही थी उसने रत्न विजयजी की आत्मा को विकल कर दिया।

नीतिवचन है कि सांसारिक तृष्णाओं की इप्सा जितनी बलवती होगी उतनी ही फलप्राप्ति दूर भागती है। रोगी को सदैव अपथ्य ही रुचिकर प्रतीत होता है। भयंकर पाण्डु से उत्पीडित रुग्ण को सबकुछ पिंगल ही पिंगल दृष्टिगोचर हुआ करता है। पर यह मर्म समझावे कौन? मृग मरीचिका के वशीभूत होकर जैन मनिषी अज्ञात की अटवी में भटक रही थी। कुँए में भांग जो पड़ी थी। अविवेक का प्राबल्य पंडित और मूर्ख सभी को एक ताल पर नचा रहा था। गडरिया-प्रवाह था। मिथ्याचरण का सर्वत्र बोलबाला था। समाज के अज्ञान और एवं तज्जन्य - सम्भवित उसकी दुर्दशा पर आप अत्यन्त व्यथित थे। रात्रि की नीरव घड़ियों में इसी चिंतन को लेकर वे कई बार इतने खो जाते कि उन्हें नींद ही नहीं आती। समाज के अंधकारमय भविष्य से उन्हें बड़ी वेदना होती। अंधश्रद्धालु श्रावकों के अज्ञान और आचारभ्रष्ट यतिगणों के पाखण्ड ने उनके मस्तिष्क में प्रबल शूल उत्पन्न कर दिया था। निदान उनके स्मृतिपट पर 'सबोधप्रकरण' के गुर्वधिकार का वह प्रसंग उभर आया जिसमें आज से बराबर एक सहस्र वर्ष पूर्व भ्रष्ट-चरित्र चैत्यवासियों को लक्ष्य कर के सुप्रसिद्ध आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने अपनी आत्मवेदना व्यक्त की थी—

"वाला वयंति एवं वेसो, तित्थंकराण एसो वि ।
णमणि ऽ जोधिद्धी अहो, सिरसूलंकस्स पुक्करिमो" ॥ ७६ ॥

दशदश शताब्दियों के अनन्तर जैन समाज पुनः उन्हीं परिस्थितियों से गुजर रहा था । श्री रत्नविजयजी अपने सिर-शूल की पुकार किसके आगे करते ? समाजोत्थान के लिए सातत्य पर्यालोचन से उनकी सुप्त क्रांति जाग उठी । दफ्तरी-पन में अब उनका दम घुटने लगा । पथभ्रष्ट यतिगण और श्रावक समुदाय को पुनः शास्त्रोचित प्रकृत मार्गपर आरूढ करने को वे लालायित हो उठे । अबतक आत्मवंचना का भाग उन्होंने जो अपना रखा था उसका उन्हें बहुत परिताप हुआ । इसके प्रायश्चित का उन्होंने संकल्प किया । अमात्योचित दफ्तरीपद के वैभव-विलास को तिलांजलि देकर पुनरुद्धार हेतु वे कटिबद्ध हो उठे । उन्होंने प्रण किया कि बढती हुई मिथ्यात्त्व की प्ररूपणा का खण्डन करना चाहिए । जिस के लिए जैसा श्री अभयदेव सूरिजीने साहमीवच्छल कुलक में फरमाया है :—

रूसउवा परो मा वा, विसं वा परियट्टउ ।
भासियव्वा हियाभासा, सपक्ख गुण कारिया ॥

लोक प्रसन्न हों या अप्रसन्न, भाषण ऐसा किया जाय जो आत्महितकर हो। पर्यूषण की उस पवित्र रात में उन्होंने पुनरुद्धार के परिष्कार की रूपरेखा को निश्चित किया । उन्हें एक नई, किंतु सही दिशा के दर्शन हुए । लंबी अनिद्रा से अलसाई आखों में एक दिव्य प्रकाश की झलक चमक उठी । सहसा उपाश्रय के पड़ोस में मन्दिर के घंट बजने का घोष हुआ । श्री रत्नविजयजीने खिड़की का पर्दा उठा कर देखा तो पूर्व दिशा में पौ फट रही थी और अंधकार का काला पट चीरकर प्रकाश प्राची को ज्योतिर्मय बना रहा था ।

घाणेराव (गोडवाड़-मारवाड़) के वर्षावास की यह बात है । पर्यूषण के दिन थे । सदैव की अपेक्षा पर्यूषणों में तपस्या की बड़ी धूम रहती है । साल भर में कभी भी 'पच्चक्खाण' न करने वालों में भी मन-कुमन से इन दिनों में प्रत्याख्यान करने की भावना जाग्रत हो उठती है । प्रच्छन्न वैभव-भोग और बन्धजन्य नाना प्रवृत्तियों में लिप्त रहने वाले लोग भी पर्यूषण अन्तर्गत कुछ न कुछ तप अवश्य करते पाए जाते हैं । श्री पूज्यजी का चातुर्मास ! तपस्या-सर छलाछल छलक रहा था । लोग ज्ञान-ध्यान, पूजा-व्रत में उल्लास से व्यस्त थे । व्याख्यानों की धूम थी । कल्प-सूत्र श्रवन का सुयोग भला कौन चूकता । भगवान् महावीर के दीक्षा-कल्याणक का व्याख्यान श्रीपूज्यजी के जय-घोष के साथ पूर्ण हुआ । व्याख्यान-रस से संतृप्त लोकसमूह स्वस्त होकर गुरु-चरण स्पर्श करने के लिये उमड़ा । परन्तु सहसा श्रीरत्नविजयजी व्याख्यान-पीठिका से उतर कर श्रीपूज्यजी के निकट चल पड़े ।

श्री पूज्यजी का बैठक-कक्ष विविध रंग के चन्द्रवें और पर्दे-तोरण तथा वन्दन-वारों से सुसज्जित था । श्रावकों के घरों में से उत्कृष्ट शोभा-सामग्री उस

आयतन को सजाने के हेतु लाई गई थी। स्वच्छ मसनद पर नक्काशीदार बढिया गलीचा बिछा था। मसनद के निकट ही एक ओघा व मुहपत्ती कुछ-इस भाति रख छोडे थे जसे कोई शोभा की वस्तु हों। एक ओर ऊँची टेबल पर रजत-स्वर्णिम डडिकाओं की झमरदार स्थापनिका पर सलमे-सितारे के काम-युक्त पोषाक (रुमाल) के तले श्री स्थापनाचार्यजी धरे थे। गहरे नीले रग के किमती किनखाब के पृष्टिका-पट पर रजत-ततुओं से बनी मगल—कलशाकृति चमचमा रही थी। उस कलशाकृति के गर्भ गोलक में श्री नवपदमडल का आलेखन किया गया था। जिसमें ॐ ह्रीं नमो अरिहताण, सिद्धाण आयरियाण, उवज्झायाण, सव्वसाहूणं और ज्ञान-दर्शन-चारित्र तप मत्राक्षरों के साथ भावाकृतिया भी अकित की गई थीं।

इस कमरे में प्रविष्ट होते ही आगतुक की दृष्टि प्रथम उस पीठिका-पट पर पड़ती और उसमें आलेखित मगलकलश के दोनों विशाल चक्षुओं से चार आँख हो जाती। खचाखच वैभव की इस चकाचौंध में ढाकाई मलमल की उत्तम झीनी चद्दर पर मूल्यवान कश्मिरी दुशाला धारण किए श्रीपूज्य धरणेन्द्रसूरि एक साधारण ऊँचे सुखासन पर किंचित तिरछे लेटे थे। मुद्रिका-ककण-वेष्ठित दाहिने हाथ में एक छोटी-सुघड़ी शीशी थी जिसे वे सूघने का उपक्रम कर रहे थे। भलीभाति कघी किए श्री पूज्यजी के मोहक-अधश्वेत केश की महक में शीशी के इत्र की सुगध घुली जा रही थी। श्री रत्नविजयजी के प्रविष्ट होते ही श्रीपूज्यजी के निकट बैठे यतिगण और श्रावक उठ खडे हुए। श्रीपूज्यजी ने रत्नविजयजी की ओर शीशी बढाते हुए कुछ लोलुप-भाव से फरमाया, "लो यह श्रावकजी नामी इत्र भेंट करते हैं।" राज्यऋद्धि और उसके सुखोपभोग को तृणवत् त्याग कर भगवान् महावीर ने प्रव्रज्या ली—इस विषय पर अभी व्याख्यान हुआ था। रत्नविजयजी ने सोचा कि जैन मार्ग की अहिंसापरपरा यथावत् प्रचलित रहने पर भी त्याग-परपरा का इतना विनिपात क्यों? अपरिग्रहव्रत की इस उपहासजनक परिस्थिति से उन्हें बड़ा परिताप हुआ। उन्हें प्रतीत हुआ कि यह सब हमारे ही प्रमाद का परिणाम तो है? अन्यमनस्क भाव से उन्हों ने श्रीपूज्यजी को उत्तर दिया, "यह भेंट आपको ही मुबारक हो। आप यह क्यों भूल रहे हैं, 'विभूसा वत्तिअमिक्खू, कम्म बन्धइ चिक्कण।[1]

"सुगध-दुर्गन्ध हमारे लिए क्या? गधे के मूत्र से अधिक मैं इस इत्र को नहीं लेखता।" भक्तमण्डली के समक्ष अपनी बात का व्यगयुक्त ऐसा कटाव श्रीपूज्यजी ने कभी नहीं सुना था। श्री पूज्य धरणेन्द्रसूरि के आत्मसम्मान को इससे बडी ठेस लगी। वे ओठ काट कर रह गये। गुरुता के स्थान ने उनके क्रोध के पारे को चढा दिया। अधिकारपूर्ण भाव से उन्होंने रत्नविजयजी को कटु शब्द सुनाए, "हमारे गुरु श्री देवेन्द्रसूरिजी के शब्दों का मान रखते हुए आपको दफ्तरीपद सौंपा गया है। और सदव मेरे समान ही मैंने आपको माना है। व्यवहार में वदना-सुखशाता-पृच्छा

१ दशवैकालिक सूत्र अध्याय ६ गा ६७,

जनसाधारण को अंध श्रद्धा के फंद से उबारने के लिए उन्होंने इस विषय पर खूब बल दिया। आत्मा का कर्मों से छुटकारा पाने और जागतिक-इच्छाओं की संतृति के व्यवधान में किन्हीं देवी-देवताओं का दखल वे निस्सार कहा करते थे। मामा-खेतला, बाई-माता, भोपा-भरडा आदि के अवांछनीय अर्चन का उन्होंने आजीवन प्रतिरोध किया। प्रतिक्रमण दरम्यान 'चार लाख देवता, चार लाख नारकी आदि उच्चारण कर भूल से किसी देव या नारकी के जीव की हत्या हुई होतो उसके निमित्त क्षमा चाहने वाले मानव को भला देवों से भयभीत होने की क्या जरूरत? प्रतिक्रमण जैसे आत्मकल्याणार्थ विधानों में उन देवों से पुनः पुनः श्रेयस की प्रार्थना क्यों? व्यक्ति की गरिमा और मानव की महत्ता पर देवों को हावी करने का क्या प्रयोजन? कर्मों के झमेले में हम उलझे पडे हैं तो देवोंने कर्मों से कहां किनारा किया है? हम मानव कम से कम सम्यक्त्व-आराधन द्वारा जीवन-मुक्ति के मार्ग का अवलंबन तो ले सकते हैं। देवगण स्वर्ग से सीधे भव-मुक्त नहीं हो सकते। मर्त्यलोक में अवतरित हुए विना उन्हें मोक्ष संभव नहीं। अतः आप्त जनों का निर्देश है कि जीवन सिद्धि प्राप्त करने के हेतु हमें देवी-देवताओं का मोहताज बनने की तनिक भी आवश्यकता नहीं। श्रमण भगवान् महावीर आदि तीर्थंकरगण, अनेक बहुश्रुत मुनिजन, युग-प्रधान आचार्य एवं श्री सुदर्शन, श्रीपाल आदि श्रावकों की सेवा में अमरावती से देवराज को मर्त्यलोक में पधारना पड़ा - मात्र अकिंचन सेवक बन कर। बलिहारी है ऐसे तपाराधन की।

अज्ञान में डूबी भद्रजनता को देव-देवियों के नाम पर लुटती देखना उन्हें अनुचित लगा। उन्होंने डंके की चोट जाहिर किया, "धर्मक्रियाएँ करते हुवे कषाय युक्त देवदेवियां की आराधना अनावश्यक है।" आत्मबल के प्रति मानव को विश्वस्त बनाने हेतु उस चिरंतन विचार को उन्होंने पुनः दोहराया कि प्रत्येक जीव अपनी सृष्टि का आप ही कर्त्ता है। तदनुसार तात्विक दृष्टि से प्रत्येक जीव में ईश्वर भाव है जो कर्म-मल से रहित हो जाने की दशा में प्रकट होता है। वे कहा करते, सद्ज्ञान आत्मोत्कर्ष के हेतु जितना वरदान है उतनाही अज्ञान अभिशाप है!! अज्ञान जीवनगत वैषम्यों का मूल कारण है जिस को दूर करने से ही आत्मा की सम्यक् प्रतीति होती है। यह कार्य चारित्र्य का है-जो संवर कहलाता है। मानव सद्बोध प्राप्त कर संवरभाव में सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप का परमाराधन करते हुए ही अपनी जन्मांतरों की संचित कर्मराशि को सहज भस्मीभूत कर लेता है। क्यों कि प्रयत्नपूर्वक शुद्धि को प्राप्त आत्मतत्त्व में राग-द्वेष प्रविष्ट होने में सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार मानव की स्वात्मात्मक जीत उसे जितेन्द्रीय बना देती है। तब मनुष्य स्वयंको जीत कर यह दुनिया ही नहीं, संपूर्ण दृष्य, अदृष्य जगत को जय कर लेता है या वह स्वयं अपना न रहकर समस्त जगत का हो जाता है। आत्मनिधि जो कर्मों के आवरण में छिपी है वह शाश्वत विद्यमान है। उसे चर्मचक्षुओं द्वारा देखा नहीं जा सकता। लेकिन वह प्रयत्न-साध्य होने के कारण हर एक योग्य साधक पुरुषार्थ कर के यदि उन आवरणों को हटा सके तो जीवन-सत्व निखर आता है। और उसे परमतत्त्व प्राप्त

होता है। फिर किन्हीं निधियों के लिए कहीं भटकने की उसे जरूरत नहीं रहती। प्रस्फुटित आत्म-तेज की चकाचौंध से चकित होकर तब ठेठ स्वर्ग लोक से देवराज भी उस परम मानव की शरण] आते हैं। ऐसा मूल्यवान है मानव भव और उसकी जीवन-सिद्धि।" गुरुदेव ने खूब जोर देकर इस बात को लोकमानस में उतारने का प्रयास किया कि कोई जरूरत नहीं कि पार्थिव सुख-सपदा जो वास्तव में मिथ्या है और बिना योग उसकी प्राप्ति सभव नहीं, उसके लिए किसी के सम्मुख हाथ पसारते फिरो। किसी देवदेवी की मनौती मानो ! अपने स्वत्व का मूल्य समझो। मात्र लालसाओं की इप्सा करने से परिणाम दूर भागते हैं। आकाक्षाओं की मृगमरीचिका में छलने से स्वयको बचाओ और कार्यरत रहो तो सफलता चरण चूमेगी। कहा भी है 'पर की आशा सदा निराशा।" तप-साधनारत भगवान् महावीरने इन्द्रदेव के सेवा में रहने के पुन पुन आग्रह को भी अस्वीकार किया था। महात्मा बुद्ध को भी जगत की चक्र गति से त्राण पाने के लिए देवों से सहायता लेना निस्सार प्रतीत हुआ था।

— कैसे परित्राण हम पावें, किन देवों को रोवें गावें ?
पहले अपना कुशल मनावें, वे सारे सुर-शक्र ॥
— घूम रहा है कैसा चक्र !

भगवान महावीर के छन्द में पन्यास विवेक विजयजी ने गाया है

जेह देवला आपणी आशा राखे,
तेह पिंडने मनसु लेय चाखे।
दीन हीन नी भीड ते केम भाँजे ?

त्रिस्तुतिक (तीन थुई) की मान्यता भी कुछ इसी आशय पर आश्रित है।

स्वमत व्यामोही या दृष्टिरागी भले कहें कि अनेक पथों द्वारा विभक्त जैन सम्प्रदाय में त्रिस्तुतिक वाद को जन्म देकर श्री राजेन्द्र सूरिजी ने एक और नवीन मत की वृद्धि की है। पर वस्तुत यह बात नहीं। किसी तत्त्वचिंतक के लोक-हितकारी यथार्थ विचारों की अवगणना या उपेक्षा न हो। प्रत्युत उनके ज्ञान-विचारों का सतुलन स्वीकार हो इसी में समाज-कल्याण का बीज निहित है। जो लोग चतुर्थ स्तुति एव असमकिती देवों के आराधन में परम्परा से प्रभावित थे वे आरम्भ में त्रिस्तुतिक व्यवस्था से अधिक आकृष्ट न हो पाए, क्यों कि गतानुगतिकता के प्रवाह में न बह कर युक्ति और प्रमाणों से असिद्ध चतुर्थ स्तुति को मानने से इकार कर देना कोई साधरण बात नहीं थी। फिर भी गुरुदेव की प्रतिपादन प्रणाली और उनके इस ओर अनवरत अध्ययनमूलक प्रयासों से उनके जीवन काल में ही लगभग डेढ-दो लाख लोगों ने इस परम्परा का शरण लेकर सत्पथ का अनुसरण किया। कदाचित ही कोई विचारशील व्यक्ति इसकी सुदृढ एव अस्खलित परम्परा तथा सम्यक्त्व हित इसकी सर्वोपरि उपादेयता से दो मत होगा!

कहावत है 'जैसे गुरु वैसे चेले।' इनका पदानुसरण कर अनेक शिष्य त्याग-तप द्वारा सिद्धि-सोपान पर चढ़ चले। गति हुई के त्याग-प्रधान और समर्पित-वंत समुदाय होने का प्रतिपक्षियों ने भी लोहा माना। इसप्रकार इन्होंने अप्रतिहत विहार, शुद्ध वैराग्य और तपश्चर्या का यह आदर्श प्रस्तुत किया कि शिथिलाचारियों के पैर उखड़ने लगे। समाज भी आगे बढ़ी। प्रकाश में उसने पहिचाना कि आवश्यकता क्या है? झुकनेवालों की कमी नहीं, जगत को जगाने वाला चाहिए। श्री राजेन्द्रसूरिजीने उग्र विहार आरंभ किए। एक चातुर्मास मारवाड़में तो दूसरा मालवामें; तीसरा गुजरातमें तो चौथा नेमाड़में। इसप्रकार उन्होंने मालवा मेवाड़, गुजरात-काठियावाड़, गोड़वाड़, सिरोही आदि प्रदेशों को अपने अनवरत विहार से पावन किया। इस दरम्यान अनेक गांवोंके पारस्परिक वैमनस्य, तड़-झगड़ों और सामाजिक कुप्रथाओं का निरसन कर कई जगह अस्तव्यस्त जिन मंदिरों और देवद्रव्य की सुव्यवस्था करवाई। उपाश्रय एवं जिन मंदिरों को यतियों के अनुचित प्रभावसे मुक्त करवाया। सुव्यवस्था के अभाव में यतियोंने जिन मंदिरोंको कब्जा करके उन्हें कचरागार कर रखा था उन्हें पुनः स्वच्छ सुंदर बनवा कर उनके उद्धार करवाए। समाज जो यतियों के आतंक से भयाक्रान्त था उसके मुक्तश्वास लेनेके मार्ग को प्रशस्त किया। बहुतेरे यति यानो साधुसंस्थाओं में सम्मिलित हो गए या फिर मिटे, वे ही बच गये जिन्होंने अपना सुधार-संस्कार कर लिया। सर्वत्र एक क्रांति की लहर उभर पड़ी। शिथिलाचारी यतियोंके जमाने में जो अनेक विघातक तत्त्व-प्रेमी आदि पैर पनप उठे थे उनके शुद्धि-करण हुए। जालोर, भीनमाल, निम्बाहेड़ा, रतलाम आदि ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जहां श्री राजेंद्र सूरिजी के पदार्पण से अनेक घर पुनः मंदिरमार्गी बने। जालोर सुवर्णगिरिके किले में स्थित प्राचीन जिन मंदिरों के आपने उद्धार करवाए। कोरंटक, भांडवाजी आदि तीर्थक्षेत्रों की भी सुव्यवस्था करवाई। जगह - जगह ग्राम, शहर के मंदिरों की दशा सुधरी।

मारवाड़-मालवा के गांवों में जैन मार्गी बिखरे बसे थे और उन्हें जिन-दर्शन-पूजन का योग न था। ऐसे मंदिर-उपाश्रय विहीन गांवों में धार्मिक क्रियाएं सामुदायिक रूप से कैसे हो पाती? फलतः छोटे - छोटे गांवों की जनता प्रतिमा-पूजन के महत्त्व को भूली जा रही थी। लोग मंदिरमार्ग से विमुख हो रहे थे। अज्ञान गर्तमें धंसते जनप्रवाह को रोकने के हेतु गुरुदेवने गांवगांव में विहार कर के उपदेश-चर्चा एवं धर्मव्याख्यानोंसे लोगों को खूब समझाया। जिन गांवों में जिन प्रतिमाओं की अपेक्षा महसूस की गई उनकी व्यवस्थाहेतु आपने संवत् १९५५ वर्ष में आहोर मारवाड़ में एक महान् प्रतिष्ठा - महोत्सव आयोजित करवाया। उसमें नौसौ एकावन जिन बिम्बों की अंजना की गई थी। ये प्रतिमाएं स्थानकप्रभावित क्षेत्रों के जिनालयों में स्थापित की गई जिससे सहस्त्रों श्रावक, परिवार मन्दिर - विरोधी होनेसे बचे। उक्त प्रतिष्ठा - महोत्सव के सम्बन्ध में कहा

जाता है कि विगत दो तीन शताब्दियों में ऐसा वृहद् प्रतिष्ठामहोत्सव हुवा सुना नहीं गया। इतर क्षेत्रों में भी गुरुदेवके कर-कमलों से अनेकों प्रतिष्ठा अंजन शलाकाएं हुईं और वे निर्विघ्न हुईं। मरुधरोद्धारक या मारवाड़-सुधारकके विरुदसे भले आज किसी को नवाजा जा रहा हो, पर यदि वस्तुतः मारवाड़ में गत अंधकार युगसे जैन शासन को प्रकाश की ओर अग्रसर करनेका किसीने सर्वप्रथम प्रयत्न किया है तो उसका सारा श्रेय श्री राजेंद्रसूरिजी महाराज को है आपने ढकोसलों और अंध विश्वासों के विरुद्ध ऐसी आवाज उठाई कि सुप्त आत्माओं को उससे बड़ा बल मिला। नवसृजनका पुनः एक नया अध्याय खुला और अज्ञान से दबी आत्माओंको जिनके दम युगोंसे घुटते जा रहे थे नव चिंतन सुरभित प्राणवायु मिला। आपके अथक परिश्रमसे अनेक लोगोंने शुद्ध समकित भावसे त्रिस्तुतिक परम्परा का शरण लिया। सुधार-आन्दोलन में आपको यति श्री बालचन्दजी, ढूंढक नंदरामजी उपाध्याय, संवेगी झवेर सागरजी, श्री विजयानन्द सूरिजी आदि कई समकालीन व्यक्तियों से चर्चायें करनी पड़ी थीं।

गुरुदेव का स्वभाव अत्यन्त सरल था। शास्त्रश्रवण-पठन और शंका-समाधान के लिए जिज्ञासु इन्हें अहर्निश घेरे रहते थे। इनके मधुर स्वभावसे आकर्षित हो छोटे बड़े, साक्षर-अनपढ़ इनसे धर्म-श्रवण करने निर्भय आया करते थे। व्याख्यान देने की इनकी शैली अत्यन्त सादी और सुग्राह्य थी। कठिन और क्लिष्ट विषयों को भी वे सुगमतापूर्वक श्रोताओं को समझा दिया करते थे।—अप्रमत्त भाव से, बिना उद्विग्न हुए वे हर जिज्ञासु की शंकाओं का समाधान अवश्य कर दिया करते थे और ऐसी धर्म चर्चाओं के करने में कभी-कभी वे रातमें घंटों जागते रहते थे।

गुरुदेव जैनदर्शन के प्रतिभाशाली प्रगल्भ प्रवक्ता थे। जैन आचार-विचार के आप एक जागरुक एवं दक्ष पुरस्कर्ता हुए। स्याद्वाद की नींव पर अधिष्ठित जैन आचार अंधविश्वास की लीक में उलझकर कहीं संकीर्ण न बन जाय या कर्मकांड में ही परिसीमित न हो जाय इस विषय में एक सचेत प्रहरी की भांति वे निरंतर सावधानी पूर्वक प्रयत्नशील रहे। एक बार जावरा में वहा के तत्कालीन नवाब मुहम्मद इस्माइल और वजीर आदि इनके व्याख्यान में पधारे। समभाव पर व्याख्यान हो रहा था। गुरुदेव की वक्तृत्वशैली की श्रेष्ठतम विशेषताओं से वे अत्यन्त मुग्ध हुए। उन्होंने गुरुदेव से साश्चर्य निवेदन किया, "जब आप समभाव को इस कदर मानते हैं तो फिर हमारे यहा से आप आहार ले सकते हैं ?" गुरुदेव नवाब की चतुरता को जान गए। उन्होंने बतलाया, "मनुष्य तो क्या ? जीवमात्र में आत्मभाव समान रूप से व्याप्त है। इस दृष्टि से सभी जीवधारी समान हैं। आहार-व्यवहार मात्र लोकाचार है। ये लौकिक क्रियायें हैं। आहार की अपेक्षा विचारसे आत्म भाव का अधिक सम्बन्ध है। यदि अन्त्यज शुद्धक्रिया - कलाप में रहे तो वह उस सवर्ण से श्रेष्ठ है जो आचारविचार से पतित है। उस अन्त्यज के घर पर

आहार निषिद्ध नहीं माना जा सकता। आचार्य श्री सोमदेवसूरि ने अपने यशस्तिलक में लिखा है—वे सभी लौकिक क्रियाएँ जैनों के लिए मान्य हैं जिनमें सम्यक्त्व की हानि नहीं होती हो और व्रतों में कोई दोष नहीं लगता हो। *" व्याख्यान पूर्ण होते ही जब श्रोतागण चले गए तब वार्तालाप में वजीर ने अर्ज किया कि—' गरीबपरवर! अच्छे वस्त्राभूषण पहिनीं सुन्दरियां के समक्ष विराजने और उनके सम्पर्क में आने पर क्या आपके मन में विकार नहीं होता ?" गुरुदेव ने उत्तर दिया, " वजीर साहब! चंचल मन का दमन इसमें अनिवार्य है। फिर भी सूअर के मांस से बनी स्वादिष्ट रसोई किसी सच्चे मुसलमान के सामने लाने पर जिस प्रकार उसका रस—लोलुप मन भी उसे स्वीकृत करने में पुरस्सर नहीं हो सकता; ठीक वही स्थिति सुन्दरी के प्रति साधु की हुआ करती है। रमणी मात्र के प्रति मुनि के मनोभाव पुत्री या बहन के रूप में ही होते हैं।" इन स्वल्प शब्दोंने सब को संतुष्ट कर दिया।

श्री राजेन्द्रसूरिजी महाराज कसौटी का जीवन जी रहे थे। वे खरे थे। अपने निकट के हर शिष्य को खरा देखना उन्हें पसन्द था। एक बार किसी सामान्य प्रमाद या स्खलना के कारण उन्होंने अपने घनिष्ट आत्मीय श्री धनचन्द्र सूरिजी तक को अपने समुदाय से अलग कर दिया था। परन्तु आलोयणा लेने के पश्चात् ही उन्हें अपने समुदाय में पुनः अपना लिया गया। नियम और मर्यादाओं का चुस्त पालन श्री राजेंद्र सूरिजी में जैसा पाया गया वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है!! मात्र शिष्यगण बटोर कर एक खासा हजूम या जमघट निर्माण करने की उनकी कभी लालसा न रही। इनके वरद हस्त से कुल ढाइसौ जन दीक्षित हुए थे। उनमें से कुछेक ही शुद्धाचरण का परिपालन करते हुए अपना दीक्षित जीवन धन्य कर सके। सामाजिक कुसंप और जाति—विच्छेद प्रथा एवं तज्जन्य भयंकर दुष्परिणामों को आप समाज के लिए घातक समझते थे। अपने विहार के अन्तर्गत अनेक गांवों से आपने कुसंप को सर्वतर निर्मूल कर दिया था। वर्षों के जाति—विच्छेद कलंक से मालवा के चिरोला गांव को उबारने का श्रेय आप ही को है।

आध्यात्मिक जीवन की उत्क्रान्ति आंतर चारित्र्य के विकासक्रम पर अवलंबित है। उसे जैन परम्परा में गुणस्थानक कहा जाता है। ध्यान-व्रत, नियम-तप आदि जो-जो उपाय आन्तर चारित्र के पोषक हैं वे ही बाह्य चारित्र्य रूप से साधक के लिए उपादेय माने गये है। श्री राजेंद्र सूरिजी ने अपने आध्यात्मिक स्तर को प्रशस्त बनाने के हेतु विशुद्ध स्वल्प आहार और तपश्चरण को बहुत महत्त्व दिया। संयमनिर्वाह के लिए यह परमावश्यक भी है। जीवन के अंतिम दिनों में श्री धनचन्द्र सूरिजी के साथ मारवाड़ के एकांत निर्जन—जंगलों में आपने कई दिन तक तप-ध्यान आदि किए थे।

* यत्र सम्यक्त्व हानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम्।
सर्वमेव हि जैनाना, प्रमाण लौकिको विधिः॥ — यशस्तिलक— आचार्य सोमदेव।

नासिक, सातारा के निकटवर्ती मांगीतुंगी पर्वत के वनों में आपके ऐसे ही तप किए जाने के उल्लेख मिलते हैं। आपका समाधियोग निर्मल एवं स्वरोदय ज्ञान प्रशस्त था। समाधियोग में आपको अप्रत्यक्ष कई बातों का साक्षात्कार होता था ऐसा पाया गया है। मालवा के सुप्रसिद्ध नगर कूकसी के प्रलयकारी अग्निप्रकोप, छप्पन के दुष्काल एवं अपने देहावसान संबन्धी आपने जो-जो पूर्व वचन कह दिए थे वे अक्षरक्ष सत्य उतरे थे। दोषरहित आहार ही उन्हें ग्राह्य था। गोचरी लानेवाले उनके शिष्यगण इस विषय में अत्यन्त सावधान रहते थे। भले उन्हें खाली हाथ लौटना पड़ता। दिन में नींद लेना उन्हें बड़ा अप्रिय था। दिवा-निद्रा को वे एक प्रकार का पेशा मानते थे। और साधुत्व का पेशा से भला क्या संबंध? कर्म-रत मानव दिन में सो जाय तो फिर काम कब हो सके? सामने कार्यों का अपरिमित तांता लगा रहता था। एक योगी की भांति रातमें भी वे स्वल्प नींद लिया करते थे। अंधेरी रात में भी वे रोशनी में नहीं बैठते थे। दीपक के प्रकाश में बैठना वे साध्वाचार के प्रतिकूल मानते थे। इन्हीं सब आदर्शों का पालन गुरुदेव के शिष्यगण अविछिन्न रूप से किए जा रहे हैं। जो सत्य ही अनुकरणीय एवं वन्दनीय है।

गुरुदेव को प्रमाद तनिक भी पसन्द न था। वर्षावास संपूर्ण होते ही वे विहार आरंभ कर देते थे। और अकारण किसी स्थान में नहीं पड़े रहते थे। स्वावलंबन उन्हें प्रिय था। स्वल्प परिग्रही ही सुखपूर्वक स्वावलंबन मार्ग पर चल सकता है। और लोभ की तो थाह नहीं! इसी लिए उन्होंने परिग्रह का प्रबल विरोध किया था विहार में अपनी उपधियों को वे स्वयं उठालिया करते थे। उनके समय में वर्तमान की भांति साधुओं की अपनी उपधि-असबाब उठाए फिरने के लिए मजदूर तथ गाड़ियों की जरूरत न हुई थी। आज के हर साधु प्राय: चाकू-कैंची, सूई-दौरा, काड, कवर, पैंसिल, निर्झरलेखनी, घड़ी, चश्मे आदि अपने पास रखना परिग्रहमूलक नहीं समझते हैं। किन्तु श्री राजेन्द्रसूरि और उनकी परंपरा के संबन्ध में कहा जाता है कि सूई-चाकू तो क्या? वे दावात, पैंसिल या फाउन्टेनपेन जैसे ज्ञानोपकरण भी परिग्रहमूलक समझते थे। श्री राजेन्द्रसूरि का विवेक स्याही में पड़े रहनेवाले जल के संबन्ध में भी इतना जाग्रत था कि वे दवात के बदले एक छोटी टोपारी (नारियल से गिरि निकाल लेने के पश्चात् अवशिष्ट कड़े छिलके की कटोरी नुमा टोपली) में गाढे रंग की स्याही से सराबोर कपड़ा रखते थे। जिसे आवश्यकतानुसार तनिक पानी डाल कर बतौर स्याही के प्रयुक्त किया जाता था और सूर्यास्त पूर्व ही उसे सुखा दिया जाता था। गूँददानी भी सुखा दी जाती थी। गूँददानी और स्याही रात भर बिना सुखाए रखने पर उनमें जीवाणु पैदा हो जाते हैं। सचित्त-अचित्त का वे कहां तक विवेक रखा करते थे- यह इससे भली भांति प्रकट है।

धातु-पदार्थ का वे स्पर्श नहीं करते थे। निब का प्रचलन तो उन दिनों में था ही नहीं। कलम भी वे स्वयं न बना कर किसी श्रावक से बनवा लिया करते थे। आत्म

शमन और मनोगुप्ति के गुण तो उनमें कूटकूट कर भरे थे ही। अपने हाथ पर भी उनका नियंत्रण आश्चर्य-जनक था। आज जब निर्द्वंदलेखनी का व्यवहार खुले रूप से हो रहा है। सभी स्वच्छन्द मनमानी लिखावट घसीटे जा रहे हैं। अपना लेखन सुघड़ कैसे हो इसकी किसे पडी है? किंतु श्री राजेंद्र सूरिजी के अक्षर बहुत सुघड़ हुआ करते थे। उनके हस्तलिखित ग्रन्थ अवलोकनीय हैं। उनका हस्तलाघव देख कर विस्मय होता है कि नाना प्रवृत्ति और विविध आचार-विधियों में निरंतर प्रवृत्त रहते हुए भी साधारण कलम, स्याही से इन वर्णमुक्तावलियों को गुरुदेव ने कब और कैसे संजो दिया होगा। इन हस्तलिखित प्रतियों में लेखन-सुघड़ता ही नहीं: अपितु सजावट हेतु उन्हीं के बनाए बेलबूटेदार परिक्रमण और शोभनचित्र आदि ऐसे दृष्टव्य हैं कि दर्शन से बरबस प्रशंसा के शब्द निकल पड़ते हैं।

धार्मिक-सामाजिक जीवन में क्रांतिकारी सुधारों के उपरान्त आपने जैन साहित्य का भी बड़ा संवर्धन किया। आपने कोष-व्याकरण, कथा-काव्य, चौपाई-पूजा, चैत्य-वन्दन-स्तुति, स्तवन-सज्झाय और आगम-सिद्धान्त तथा आचार-सूत्र एवं क्रिया-विधि आदि पर गद्य-पद्य में लगभग ६१ पुस्तकों का निर्माण किया है। जिनका अवलोकन करने से साहित्य-दर्शन, व्याकरण-ज्योतिष, गणित-नीति और धर्म तथा आगम आदि विषयों पर और संस्कृत-प्राकृत भाषाओं पर आपका कितना अधिकार था यह भली भांति व्यक्त हो सकता है। व्याकरण के विद्यार्थियों को सहज कण्ठस्थ रहे इस हेतु आपने कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के सुप्रसिद्ध सिद्धहेम-प्राकृत-व्याकरण पर छन्दों में विवृत्ति १८०१ श्लोकप्रमाण लिखी है। लेकिन आपकी महती साहित्य-सेवा का सुफल है 'अभिधान राजेन्द्र' महाकोश। श्री अभिधान राजेन्द्र कोश नामक विराट ग्रन्थराज का निर्माण साहित्य-जगत को श्री राजेन्द्र सूरीश्वरजी महाराज की अपूर्व देन है। जैन धर्म सम्बन्धी कदाचित यह सर्व प्रथम तैयार हुआ विश्व-कोश है। इसमें जैन-धर्म-साहित्य से सम्बन्धित प्राकृत शब्दों के संस्कृत भाषा मे प्रसंगादि सहित अतिविस्तार पूर्वक अर्थ दिए गए हैं। 'अहिंसा' आदि कुछ शब्दों के अर्थ इतने विशद् रूप से दिए गए हैं कि वे अलग से प्रकाशित करने पर मजे से सौ-डेढ़ सौ पृष्ठ की स्वतंत्र पुस्तिका बन जाय। जैनागमों का कोई भी विषय इसमें व्यवहृत होने से बच नहीं पाया! जैनों की प्रचलित सभी परंपराओं के ज्ञान-विचारों का इसमें विनियोग तो किया ही है: प्रत्युत जैनेतर बहुतेरे शब्दों एवं विषयों का भी इसमें व्यापक विवेचन किया गया है जिनकी प्रसंगादि में उपादेयता रही है। यह कोश सात भागों के बड़े आकार के सात वॉल्युमों में संपूर्ण हो सका है। यद्यपि इसका निर्माण आधुनिकतम शैली और परंपराओं के अनुसार ही हुआ है; तथापि यह हमारा दुर्भाग्य रहा कि उस समय हिन्दी भाषा का विकसित रूप स्थिर नहीं हो पाया था। वरन् यह ग्रन्थराज भारतीय दर्शन के हर विद्यार्थी के लिए आज एक अनिवार्य ग्रंथ होता। तोभी भी क्या भारतीय और क्या विदेशी? सभी प्रसिद्ध विद्वान् गुरुदेव के इस साहित्यिक महाकार्य का श्रद्धापूर्वक अभि-

नन्दन करते हैं। 'श्री अभिधान राजेन्द्र' को सक्षिप्त कर एक 'शब्दाबुधि' नामक कोश की भी रचना गुरुदेव ने की है। इस लघुकोश में शब्दों पर विस्तृत व्याख्या नहीं है।

गुरुदेव की जन्म और देहविलय तिथि पौष शुक्ला सप्तमी है। आपका जन्म भरतपुर में सवत् १८८३ में और शरीरत्याग सवत् १९६३ में मालवदेशस्थ राजगढ में हुआ। इस प्रकार आप आठ दशक तक जीवित रहे। दो-दो दशक के चार पादों में आपके जीवनक्रम को विभक्त करने पर उनका सवत् क्रम निम्नवत् होगा जो असाधारण वस्तु है—

सवत् १८८३, आपका जन्म भरतपुर में हुआ।

सवत् १९०३, श्री हेमविजयजी के पास दीक्षा लेकर शास्त्रपठन किया।

सवत् १९२३, घाणेराव (मारवाड) के चातुर्मास में शैथिल्याचार को चुनौती देकर आहोर (मारवाड़) में आचार्यपद लिया।

सवत् १९४३, धानेरा (गुजरात) के चातुर्मास में "अभिधान राजेन्द्र' महाकोष के निर्माण की रूपरेखा तैयार की। जिसका अतिमरूप सियाणा चातुर्मास में स्थिर किया गया। याने सियाणा के चातुर्मास में इसकी रचना प्रारभ की जो १९६० में सूरत में समाप्त हुई।

सवत् १९६३, राजगढ (मालवा) में आपका स्वर्गवास हुआ।

गुरुदेव की परंपरा में उन्हीं से दीक्षित आचार्य श्री यतीन्द्रसूरिजी महाराज विद्यमान हैं, जो इनके उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर शोभित हैं।

खरवाटक भिणाय और श्री चवलेश्वर पार्श्वनाथ

ले:—दौलतसिंह लोढा, 'अरविंद' धामणिया (खरवाटक-खेराड़)

मेवाड़ विभाग के जहांजपुर, माण्डलगढ़, काछोला और कोटडी तहसीलों के लगभग पांच सौ ग्रामवाला एवं लगभग ६०० मील के क्षेत्रफल वाला यह भाग जो माण्डलगढ़ से श्री चवलेश्वर पार्श्वनाथ तीर्थ एवं जहांजपुर से कोटडी पर्यंत फैला हुआ है कभी इससे अधिक भी विस्तृत था-ऐसे प्रमाण अनेक स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। जहांजपुर से लगभग ४-५ मील के अन्तर पर ध्वंशितरूप में धौड़ (नाथूण) नामक खण्डहरग्रस्त अत्यल्प रूप में एक अभी ग्राम है। यह लगभग आज से ६००-७०० वर्ष पूर्व अवश्य एक समृद्ध नगर था। कुमारपाल गूर्जरसम्राद् के समय का एक लेख वहां अवशेष रूप में बचे हुए एक शिवमन्दिर के स्तम्भ पर विद्यमान है। उसका अक्षरान्तर मैं ने भी किया है और मेवाड राज्य के समय में भी उसको लिया गया था। लेख से स्पष्ट है कि धौड़ का सामन्त अजमेर के राजा के आधीन था और लेख में गूर्जरसम्राद् कुमारपाल का उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि अजमेर का राजा गूर्जरसम्राद् का माण्डलिक राजा था। इसी लेख में 'खरवाटक' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रचलित भाषा में जहां खैर वृक्ष अधिक हों उस स्थल का नाम 'खैरवाड' अर्थात् खरवाटक। आज भी इस भाग में खैर के वृक्ष बहुतायत रूप में हैं। इस लेख पर विचार कर के कहा जा सकता है कि 'खरवाटक' प्रदेश 'खर वाटक' के नाम से कुमारपाल से अर्थात् वि. १२-१३ शताब्दी पूर्व से प्रसिद्ध रहा है।

मेवाड़-राज्य में आनेसे बहुत पूर्व इस भाग पर किसी स्वतंत्र राजा का राज्य था और उसकी राज्यधानी भिणाय थी। भिणाय में स्वतंत्र राज्य लगभग एक सहस्र वर्षपूर्व रहा होगा-यह अनुमान किया जा सकता है। इसके कई आधार हैं। रियासतीयुग में भिणाय का भाग काछोला-प्रगणा में, था। काछोला शाहपुरा-राज्य का तहसील-स्थान था। शाहपुराधीश को यह काछोला तहसील उदयपुर के राणाओं से भेंट में प्राप्त हुई थी। शाहपुरा-राज्य सम्राट् शाहजहाँ के शासनकाल में स्थापित हुआ था। शाहपुरा को जब काछोला-तहसील भेंट हुई थी, उस समय भिणाय वैसी ही खण्डित अवस्था में था जैसा आज तीन सौ वर्ष पश्चात् वह है। मेवाड़ के इतिहास में भी इस 'भिणाय' का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु जब भिणाय के खण्डहर और उसके समीप भागों को देखते हैं तो सहज समझ में आता है कि यह भाग कभी अवश्य समृद्ध और अत्यन्त फला-फूला रहा है। मेवाड़ राज्य लगभग एक सहस्र वर्षों से भी प्राचीन राज्य रहा है। एक सहस्र प्राचीन मेवाड़-राज्य के इतिहास में जब

भिणाय का उल्लेख नहीं मिलता है तो 'भिणाय' इससे भी प्राचीनता रखता है इसमें कोई वाद खडा नहीं हो सकता।

वैसे तो सम्पूर्ण खेराड़ (खरखाटक) पर्वतमयी एव छोटे - वडे जगलोंवाला प्रदेश है। जिसमें 'भिणाय' का भाग तो समूचा पर्वतमयी है। इस पर्वत भाग को आज कल 'कालीघाटी' नाम से वोल्ते हैं। 'भिणाय' की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिये इस समय पर्वत पर अवशिष्ट दुर्ग-खण्डहर, कावड़िया नाथूशाह वाव और श्री चवलेश्वर पार्श्वनाथतीर्थ एव एक सरोवर जिसे 'भिणाय तालाब' कहते हैं, शेप वचरहे हैं।

लेखकने इस भागका कई वार निरीक्षण किया है। जिस स्थान पर 'भिणाय' नगर अवस्थित था या विद्यमान खण्डहरोंपर अवस्थित होना सभवित माना जा सक्ता है वह स्थल आज पदमपुरा, उम्मेदपुरा, चैनपुरा आदि ५-७ अति छोटे २ अर्थात् ५-१०-२५ घरोंवाले गावों में विभक्त है। इन गावोंके सम्मिलित क्षेत्रपर एव खण्डहरों की विस्तृत भूमिका पर विचार करके कह सक्ते हैं कि 'भिणाय' कभी ५ या ७ सहस्र अथवा अधिक घरोंवाला समृद्ध राजधानी नगर रहा है।

दुर्ग-भिणाय नामक वावसे लगता पर्वत है उस पर्वत पर खण्डित रुपमें दुर्ग की चार दिवारी अभी भी देखी जाती है। चार दिवारी के भीतर 'हाथीठाण' अर्थात् हस्तिस्थल एवं प्रासादोंके खण्डित भीत्ति भाग अच्छी प्रकार देख पडते हैं। दुर्ग भिणायवाव से लगभग ७००-८०० फुट ऊँचा है। दुर्गपर जाने के लिए एक राजमार्ग का स्थान भी देखने में आता है। इस दुर्गका निर्माण सहस्र वर्ष से भी प्राचीन होना सभवित है जो मेवाड़ राज्य की स्थापना से पूर्व का कहा जा सकता है।

भिणायवाव-इतनी सुन्दर, सुदृढ एव गहरी है कि तीनों दृष्टियोंसे ऐसी वाव उदयपुर, कोटा, बूदी, झालावाड, शाहपुरा, रामपुरा जैसे इतिहासप्रसिद्ध राजधानियों में भी नहीं। वाव की रचना यवनशैलीसे प्रभावित है और वाव पर उर्दू अथवा फारसी भाषा में एक शिलापर सुन्दराक्षरों में लेख भी उत्कीर्णित है। उस लेख में क्या लिखित है, लेखक उर्दू, फारसी से अनभिज्ञ होने के कारण उससे कुछ लाभ प्राप्त न कर सका। परन्तु वावकी विद्यमान स्थिति पर विचार कर के कहा जा सकता है कि वाव लगभग ५०० से ७०० वर्ष पूर्व की बनी होनी चाहिए। वाव स्वरूप से सकेत देती है कि 'भिणाय' कुछ न-कुछ रूपमें आजसे ५००-७०० वर्ष पूर्व विद्यमान रहा है। इस वाव के निर्माण की कथा भी बड़ी रोचक है। वह यों है—

भिणाय में नाथू कावड़िया नाम के एक निर्धन श्रेष्ठी रहते थे। कठिन श्रम कर के वे अपना निवाह चलाते थे। निर्धन होने पर भी वे आमाढ्य थे और

जैन धर्म के अतिश्रद्धालु थे। एक जैन यति की उनपर कृपा हो गई। जैनयति ने उनको एक कपड़े की बनी हुई थैली दी और कहा कि इस थैली में से जितना द्रव्य तुम निकालना चाहोगे, ले सकोगे। थैली औंधी कर देने पर द्रव्य देने की शक्ति लुप्त हो जायगी—यह ध्यान में रखना। नाथू श्रेष्ठी कुछ ही दिनों में अच्छे धनी हो गये और उनका सम्मान भी बढ़ चला। वर्त्तमान श्री चवलेश्वर पार्श्वनाथ तीर्थ उन्हींका बनवाया हुआ माना जाता है। एतद् संबंधी अभी तक कोई लेखतो प्राप्त नहीं हुआ ह, परन्तु जैन–जैनतर में नाथू कावड़िया द्वारा तीर्थ का निर्माण होने की दंतकथा चली आ रही है। दंतकथाओं के विस्तार में मिश्रण माना जा सकता है, परन्तु उनके मूल में कथाबीज ज्योंका त्यों सन्निहित रहता है। इसके प्रमाण में कोई एक स्तवन–पुस्तक में लेखक ने यही पढ़ा था कि इस तीर्थ का निर्माण नाथू कावड़िगा श्रेष्ठी ने करवाया। यह तीर्थ श्वेताम्बर तीर्थों के साथ में उस स्तवन-पुस्तिकामें गाया गया है। वाव का निर्माण जब चल रहा था अथवा वह पूर्ण होने को था 'भिणाय' के सामन्त से किसी चुगलखोर ने जा कहा कि नाथू कावड़िया को गड़ा हुआ अतुल धन प्राप्त हुआ है। तभी वह निर्धन से तुरंत श्रीमंत हो गया और लक्षों रुपया व्यय करके तीर्थ का निर्माण करवाया और अब अत्यन्त विशाल, दृढ और अति गहरी वाव बनवा रहा है। इस पर नाथू श्रेष्ठी एवं सामंत दोनों में तनाव उत्पन्न होगया। सामन्त से श्रेष्ठी की शक्ति एवं प्रभाव बढा हुआ होने से वह उसका तुरंत एवं सीधी हानि तो न कर सका, परन्तु भूमिपति की शक्ति सदा प्रबल ही होती है। अंत मे श्रेष्ठी नाथू ने सामन्त से इसका रहस्य प्रजा के समक्ष उद्घटित कर देने का निश्चय प्रकट किया। रहस्योद्घाटन का स्थान बाव ही रखा गया। सामन्त एवं प्रजाजन के समक्ष श्रेष्ठी नाथू ने यति की दी हुई उस थैली को वाव में औंधी करते हुये उद्घोषित किया कि यह सर्व चमत्कार इस थैली में था और औंधी कर देने पर अब वह निर्गत होगया। इसमें कितना सत्य-मिथ्या है? इस विवेचन पर जाना व्यर्थ है। श्रेष्ठी नाथू कावड़िया ने वाव और तीर्थ बनवाये—यही दंतकथा से सार ग्रहण करना उचित है।

श्री चवलेश्वर पार्श्वनाथ तीर्थ–इसकी प्राचीनता एवं इसके निर्माण तथा स्थल–विषय में उपर संकेत हो चुका है। यह तीर्थ लगभग १२००–१५०० फीट ऊँचा इस पर्वत भाग की सबसे ऊंची पहाडी पर बना है। मूल मंदिर बहुत छोटा है। उसमें केवल एक पूजक अथवा पूजारी के अन्य सुविधा से खड़ा नहीं रह सकता है। मूलमंदिर दक्षिणाभिमुख है। मंदिर में गंभारा, गूढ़ मंडप और शृंगार चौकी ये तीन अंग हैं। मंदिर चारों ओर से चार दिवारी से परिवेष्टित है। इस ही परिकोष्ठ में ठीक मंदिर के समक्ष श्वेतांबर यति की चरण-पादुका छत्री है। उस पर चरणपादुका लेख विद्यमान है। यति के रहने का कक्ष एवं बैठने अथवा प्रवचन तथा भक्तों को दर्शनादि देने के लिये द्विमजली एक छोटी वरशाला भी बनी हुई है। इस वरशाला में भी लेखसंयुक्त पादुका संस्थापित है। इस मंदिर

की देखरेख पहिले कोटडी, पारोली श्वेतावर जैन सघ करता रहा-इसके कतिपय प्रमाण वहा के सघों के आधीन विद्यमान हैं। आज कल इसकी व्यवस्थाका भार वागूदार दि० जैन सघके आधीन है। इस सघका मत्री अपने को श्वेतावर और दिगवर के मध्य प्रारम हुए एक अभियोगमें दोनों पक्षोंका मत्री होना स्वीकार कर चुका है। तीर्थ को लेकर गत कई वर्षों से दोनों पक्षों में बराबर द्वद चल रहा है। कई राजकीय निर्णय निकल चुके हैं और वे सब प्राय श्वेताम्बर पक्षका अधिकार सिद्ध करते हैं। तीर्थ भले श्वेतावर हो, पर उसको दोनों सम्प्रदाय बराबर मानते आ रहे हैं और दर्शन–पूजन का अधिकार दोनों का सर्व निर्णयों में अपनी २ आम्नाय अनुसार करनेका राज्यने स्वीकार किया है। पूर्व से चली आती प्रथा के अनुसार दोनों जहातक चलते हैं वहा तक कोई विग्रह उत्पन्न नहीं होता परन्तु ज्योंहि एक पक्ष कुछ अपना लगाने लगता है कि वहा द्वद बढ जाता है और यह द्वन्द्व लगभग गत २५ वर्षों से तीव्रतर रहा है। अब तक कई निर्णय निकल चुके हैं और उनके आधारपर कइ विवाद समाप्त भी हो चुके हैं। अधिकतर विवादों का प्रारम्भ दिगबर भाइयों की ओरसे ही होता रहा है और उनके निर्णय श्वेतावर पक्ष में प्राय निकलते रहे हैं। इन निर्णयों की एक सूची-पुस्तक भी श्वेतावर श्री चवलेश्वर पार्श्वनाथ तीर्थ कमेटी की ओर से कोई ३-४ वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुकी है।

तीर्थ की वर्तमान स्थिति एव व्यवस्था पर भी इस लेख में कुछ लिख देना लाभ कर ही होगा।

(१) दोनों सम्प्रदायों का तीर्थ-भण्डार सम्मिलित रूप में है और यह श्री चवलेश्वर पार्श्वनाथ जैन तीर्थ भण्डार के नाम स विश्रुत । श्वे० अथवा दि जैसा कोई सम्प्रदायवाची शब्द उसमें प्रयुक्त नहीं है।

(२) अब तक दोनों सम्प्रदाय इसको समिलित तीर्थ के रूप में मानते रहे हैं और व्यय चाहे भण्डार से हो अथवा कोई अलग व्यक्ति द्वारा किया गया हो–यह पक्षीय नहीं माना जाता।

(३) प्रति वर्ष पौष कृष्णा ९ मीं को श्री पार्श्वनाथ जन्मोत्सव मनाया जाता है। रात्रि को ठीक जन्म के समय मूर्त्ति का प्रक्षालन पूजारी करता है और दोनों सम्प्रदायों का मदिर के भीतर, बाहर सामूहिक कीर्तन, स्तवन, भजन होते हैं। कभी अलग २ बैठकर भी करते हैं।

(४) आरती आदि संध्याकालीन स्तवनक्रियायें सम्मिलित होती हैं।

(५) दिन के ९ बजे दिगवरभाई सेवापूजन से निवृत्त हो जाने चाहिए और तत्पश्चात् श्वेताम्बर भाई पूजन करते हैं। दर्शन, चैत्यवदन तो एक-दूसरे के निश्चित समयावधियों में भी चालू रहते हैं।

(६) जन्मरात्रि को शृंगारचौकी में तीर्थ के मन्त्री को केसर बेचने के लिये राजकीय निर्णय के अनुसार बैठना पड़ता है।

(७) दोनों पक्षों के व्यक्ति एवं कुल अपनी भावनानुसार भण्डार में रकम देते हैं और वह जमा होती है।

(८) श्वेताम्बर पक्ष की ओर से भगवान् के जन्मोत्सव के उपलक्ष में कई व्यक्ति थैलियां बांटते हैं और यह दान आगन्तुक सेवक लोगों को व्यक्तिवार दिया जाता है।

(९) मन्दिर का पूजारी एक सेवक-कुल है जो कई पीढ़ियों से सेवा करता आ रहा है। मेले के दिन की नैवेद्य रूप में आई हुई आय का यह पूजारी और चैनपुरा के भोमिया दोनों अधिकारी हैं। भोमिया तीर्थ का पीढ़ियों से रक्षक रहा है। इन दोनों का तीर्थ से सम्बन्ध निर्णयों में भी स्पष्ट होता रहा है।

(१०) मेलों के दिन राजकीय प्रबन्ध रहता है। मेला मात्र एक रात्रि और दिन का होता है। समय समाप्त होते ही राजकीय नियमानुसार मेला बन्द हो जाता है।

(११) मन्दिर में प्रतिमा के ऊपर भण्डार का चन्द्रवा और पीछे श्वेताम्बर पक्ष की पछवाई लगती है।

(१२) श्वेताम्बर पक्ष की ओर से जन्म-कल्याणक के समय प्रतिमा को मुकुट और कुण्डल धारण करवाये जाते हैं। कोई भी पक्ष पूजन-दर्शन करें ये अलंकरण उतारे नहीं जाते।

धीरे २ ज्यों श्वेताम्बर पक्ष ने तीर्थ पर जाना कम किया, उधर सत्त्वस्थापना जाग्रत हुई और अन्त में वे झगड़ों के रूप में प्रकाशित हुए। पहिले ऐसा होता था कि मेलों के दिन शृंगारचौकी की दोनों भुजाओं पर शाहपुरा श्वे० संघ और माण्डलगढ श्वे० संघ के प्रतिनिधि बैठा करते थे और उनकी समक्षता में सर्व-कार्य एक पद्धतिरूप होता था। जब से इन संघों ने अपने प्रतिनिधि भेजने में आलस्य अपनाया अनियन्त्रण बढ चला और जिसका बल चला उसने अपना कुछ लगाना चाहा। अब तो प्रायः अधिकांश झगड़े कानूननिर्णीत हो चुके हैं।

मन्दिर पर, संक्षेप में यह कहा जा सकता है, दोनों सम्प्रदायों का अधिकार है और रहेगा। संगठन के युग में उन्हें संमिलितरूप जो कुछ सुधार, उद्धार, नवीन निर्माण करना हो, करना चाहिए। इसी में जैन शासन की उन्नति, शोभा और चिरंजीवन है।

तीर्थ पर रात्रिवास करने के लिये दोनों पक्षों के सम्मिलित द्रव्य से धर्मशालायें बनी हुई हैं। तीर्थ बहुत ऊँचा है; परन्तु कादीसाणा के श्री लालजी गोखरूने

पर्वत पर शाहपुरा की ओर के चढाव पर जब से सुदृढ सीढियां बनवादी हैं—चढाव में होनेवाला श्रम कम हो गया है। तीर्थ अत्यन्त रमणीय स्थान में आया है। चातुर्मास में तो इसकी शोभा दर्शनीय एवं रमणीय हो जाती है।

* पार्श्वनाथ प्रतिमा वैसे तो इतनी खण्डित है कि यह अपूज्य कही जा सकती है, परन्तु दो सम्प्रदायों का विवाद नहीं तो उस पर लेप करने देता और नहीं नवीन मूर्ति की स्थापना के सुझाव में सहाय करता है।

* पार्श्वनाथ प्रतिमा के लगालग नहीं, परन्तु दायीं दिवार के सहारे एक दिगंबर प्रतिमापट्ट है जो कुछ ही वर्षों पहिले स्वसत्त्व स्थापना की भावना से पीछे से बैठा दिया गया है।

भिणाय तलाव—यह तालाब भिणायगाव और तीर्थ के ठीक मध्य में मैदान में आया है। इस समय तालाब में उसके शुष्क हो जाने पर गेहूँ आदि की कृषि होती है। तालाब पर पाल बनी है। इस पाल में लगे पत्थर मंदिर और घरों के खण्डहरों से लाये गये और लगाये गये प्रतीत होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि तालाब

---

*पार्श्वनाथ-प्रतिमा—इस प्रतिमा के संबंध में इधर एक यह दंतकथा प्रचलित है कि बनास नदी में एक गौ किसी स्थल पर दूध झार कर नित्य अपने गोपाल के घर आती थी। गौ से गोपाल को जब कुछ दिन बराबर दूध नहीं मिला तो उसने इस रहस्य को जान लेने का एक दिन प्रयत्न किया। उस दिन गोपाल की दृष्टि बस गौ पर समस्त दिन भर रही। वह देखता क्या है कि गौ गौसमूह में से अलग होकर एक ओर नदी में जा रही है। वह भी उसके पीछे हो चला। निदान गौ एक स्थान पर पहुँच कर स्तन से दूध झारने लगी। गोपाल बड़ा समझदार था। वह यह सब कौतुक देखकर चकित भी हुआ और हर्षित भी हुआ। गौ का यों दूध झारने का क्रम बराबर कई मास चालू रहा। कहते हैं श्री नाथू श्रेष्ठी को एक रात्रि को स्वप्न हुआ। उसमें भगवान की अधिष्ठायिका देवी ने उसको कहा कि बनास नदी में अमुक स्थल पर भगवान् पार्श्वनाथ की बालुनिर्मित प्रतिमा तैयार हो गई है। तू उसको वहां से निकाल कर महोत्सव कर और उसको इस चवलेश्वर पर्वत की शृंग पर मंदिर बनाकर स्थापित कर। मेरे मतानुसार यह कथा ही भ्रामक है। प्रतिमा को बालु-विनिर्मित देखकर ऐसी कथा किसीने चालू कर दी और वह अब तक चल रही है। ऐसी कथायें बालुनिर्मित प्रतिमाओं के संबंध में अन्यत्र भी सुनने में आई हैं।

नाथू कावड़िया श्रेष्ठी के संबंध में इधर एक दंतकथा यह भी प्रचलित है कि एक समय किसी दिल्लीसम्राट ने नौ-नौ हाथ लम्बे नौ स्वर्ण पाटों की 'शाह' पद धरानेवाले व्यापारीवणिक वर्ग से मांग की। न देने पर 'शाह' पद छीन लेने की धमकी दी। इस पर दिल्ली के सब शाह एकत्रित हो कर भारत के कोने २ में उक्त प्रकार के पाटों की प्राप्तिहित बिखरे। कहते हैं कि उनकी उक्त आवश्यकता की पूर्ति इस नाथू शाह ने नौ स्वर्ण पाट नौ नौ हाथ लम्बे द कर की थी। परन्तु यह कथा सर्वथा मिथ्या है। यवनकाल में भिणाय ऐसा प्रसिद्ध रहा होता तो यवनकालभर प्रसिद्ध एवं गौरवान्वित रहा मेवाड़—राज्य के राणाओं का ध्यान उसकी ओर अवश्य जाता और भिणाय का कुछ इतिहास भी मिलता। मेरे मतानुसार तो भिणाय यवनकाल में एक छोटा कस्बा रहा होगा। और उसकी प्रसिद्धि उसका तक भर रही होगी। यवनकाल में इस प्रान्त के दुर्ग मण्डलगढ और बदनोर अधिक प्रसिद्ध रहे हैं।

भिणाय नगर समूल नष्ट हो जाने पर अथवा अन्यत्र होजाने पर वना है अथवा छोटे २ उद्भूत हुये गामों के निवासियों ने वर्षा के पानी को रोक देने के लिए उन पत्थरों की एक पाल वना दी है। क्योंकि तालाब का निर्माण व्यवस्थित ढंग से हुआ हो ऐसा वहां कोई संकेत उपलब्ध नहीं हैं।

ये सर्व भिणाय-खण्डहर बनास नदी के दक्षिणतट पर आगये हैं। नदी कुछ ही फर्लांग के अन्तर पर है। नदी का सामीप्य, पर्वतों का परस्पर गुंथन एवं तीर्थ की उन्नत शृंग पर अवस्थिति एक अत्यन्त ही रमणीय दृश्य उत्पन्न करती है। तीर्थ के कारण यह भाग आज भी आवागमन का स्थान बना हुआ। वाव देखने के लिये भी वर्षों में कोई पुरातत्त्वप्रेमी चला जाता होगा। गोपालग्वाल तो इस वाव पर प्रतिदिन बैठने, विश्राम लेते हैं

पुरातत्त्व विभाग इस ओर अगर ध्यान दें तो खोद-कार्य प्रारंभ करने पर मेवाड़-राज्य से भी प्राचीन इतिहास और पुरातत्व विषयक बातों का पता लग सकता है।

नगटी काकी का मन्दिर—कादीसाणा के लालजी गोखरू द्वारा विनिर्मित पर्वत की सीढियों के ठीक सामने से कुछ बायी ओर हट कर एक लघु पहाड़ी है। उस पर यह मन्दिर खण्डित अवस्था में विद्यमान है। उसमें एक जिनेश्वर प्रतिमा भी है और वह भी खण्डित ही है। प्रतिमा श्याम पाषाण की एवं कोई लगभग दो फुट से ऊंची है। उस पर लेख देखने में नहीं आया।

सिंहद्वार—वाव से ऊपर और पर्वत की जड़ में लेखक ने कोई ७ वर्ष पूर्व एक विशाल एवं उन्नत द्वार देखा था जैसा परिकोष्ठों में प्रायः हुआ करते हैं। वह मेहराव में खण्डित था। एक ओर का स्तंभ गिर चुका था और दूसरी भूजा अर्धगिरी हुई थी। यह द्वार या तो दुर्ग से आनेवाले राजमार्ग का नगर में खुलता द्वार था या नगर का प्रवेशद्वार था। जो कुछ हो: परन्तु द्वार की विशालता में एवं उसकी दीर्घकाय भित्तियों में और स्थानस्थिति में नगर की लुप्त समृद्धता का एक जीवन्त संकेत था।

नगर क्यों उजड़ हुआ? इस पर निश्चित रूप से प्रमाणों के अभाव में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह इतना भी जो कुछ लिखा गया है वह लेखक का जन्मप्रान्त होने से, वहां पुनः २ गमनागमन रहने से, बचे हुए खण्डहरों पर, वाव, द्वार, चवलेश्वर तीर्थ की जैसी-तैसी विद्यमान स्थिति पर एवं स्थल की प्रकृति पर अनुमान लगा कर लिखा गया है। प्रमाणों के मिलने पर जो निश्चित और सिद्ध होगा वह प्रामाणिक होगा। पुरातत्त्व एवं इतिहासप्रेमियों की यह दृष्टि में आवे-मात्र यही उद्देश्य रख कर यह लेख दिया गया है। फिर भी इतना अनुमान लगाकर कहा जा सकता है कि कभी बनास नदी का भयंकर प्रकोप उठा हो और नगर उजड़ गया हो। नदी वहां से थोडे अन्तर पर ही बहती है।

खरवाटक और जैन धर्म

"दादा, बाधा डूंगरा, भाईजण घनराय ।
बू-बेद्यारी खेजड्या, नधा जामणमाय ॥
'तू' कारै माटीमरे, 'जी' कारैने साप ।
कणविध कण सैं बोलणूं, जण-जण कालोसाप ॥
मक्की माणक, जो रतन, कादा रोकड दाम ।
सोनी भारो धापिया, ऊरासी आराम ॥

'खरवाटक भिणाय एवं चवलेश्वर' लेख के प्रसंग में खरवाटक और जैनधर्म संबंधी कुछ परिचय दे देना भी अप्रासांगिक नहीं कहा जा सकता। वर्तमान में खरवाटक के प्रमुख ग्रामों में माण्डलगढ, जहाजपुर, नंदराय, कोटडी, धामणिया, अमरगढ, आमल्दा, बागूदार, पारोली, काछोला, मुआ, मानपुरा, खटवाड़ा, बीगोद हैं। दोनों सम्प्रदायों के घर इनमें और अन्य ग्रामों में लगभग ८०० और ९०० के मध्य है। उपरोक्त एक या दो ग्रामों को छोडकर प्राय सभी ग्रामों में जैन मंदिर भी हैं। यह प्रदेश आज से ५० वर्ष पूर्व चौर्यकर्म के लिये ही विख्यात रहा है। जैनेतर ज्ञातियों का जिनमें भील, मीणे आदि प्रमुख हैं उनका चोरी करके उदर भरना ही मुख्य था। ऐसे विकट प्रदेश में भी जैनधर्म आज से ८००-९०० वर्ष पूर्व से चला आ रहा है और इस प्रांत के जैन मंदिर इस बात की साक्षी देते हैं कि जैनकुलों का यहां प्रभाव रहा। इधर के श्वेताम्बरकुल प्रांय राजक्षेत्र में कार्य करते रहे हैं। व्यापार में भी वे आगे रहे हैं। माण्डलगढ के महताकुल का इतिहास मेवाड के राणाकुल के साथ कई गत शताब्दियों से जुडा हुआ रहा है। नन्दराय के चौधरियों का कुल भी मुसद्दी रहा है। धामणिया के लोढा, बीगोद के पगारिया और माण्डलगढ के लोढा अग्र और नाणा के लेनदेन में अग्रणी रहे हैं। जहाजपुर, नन्दराय, बीगोद, माण्डलगढ, पारोली, अमरगढ, कोटडी में जो श्वेताम्बर मंदिर हैं उनमें प्रतिमायें अधिकांशत' पाषाण की हैं और वे प्राय १४ वीं १५ वीं शताब्दी के आसपास और पीछे की हैं। लेखक ने इन सब प्रतिमाओं के लेखों का संग्रह करने का कुछ वर्ष पूर्व प्रयास प्रारम्भ किया था, लेकिन प्राग्वाट इतिहास और फिर राजेन्द्र-स्मारक ग्रन्थ और भयंकर रुग्णता का क्रमश क्रम बंधा रहने से यह कार्य अपूर्ण ही रहा। उपरोक्त तीन दोहों से प्रांत की विकटता, उसके निवासियों की बर्बर रुचि का स्पष्ट परिचय मिल जाता है। ऐसे प्रान्त में भी जैनधर्म और उसके अनुयायी अपना प्रभुत्व स्थापित रख सके हैं। खरवाटक के इतिहास में जैन इतिहास ही प्रमुख अध्याय और अधिक भाग है। मेरी भावना है कि मैं 'ओसवाल इतिहास' भी लिखू अगर यह गुरुकृपा हो गया तो खरवाटक का इतिहास 'ओसवाल इतिहास' का एक पठनीय अध्याय होगा।

'श्री चवलेश्वर तीर्थ' इस प्रान्त का प्रमुख तीर्थ है और सर्व सम्प्रदायों को यह मान्य है। अस्तु।

जैन गीतां री रसधारा

(लेः— श्री रावत सारस्वत)

जैन धरम की भांत-भांत की अणगणित जैन पोथ्यां को महत्त्व अबार कोई छिपी बात रही कोनी। संस्कृत, मागधी, अपभ्रंस अर आजरी प्रादेशिक बोलियां म्हैं जैन साहित्य का ग्रन्थ हजारां की गिणती में मिलै हैं। वखत के धक्कै सूं जैन भंडारां का बरसां सूं जडयोड़ा किंवाड़ खुलता ही ग्यान की दुनियां म्हैं एकै सागै सैं'स दीया जुपगा, सैंचन्नण होगी। आज दुनियां का इतिहासग्य अर भासावैग्यानिक या बात मानण लाग गया कि जैन ग्रंथ हजारां बरस पहलां रै इतिहासका नै भासा की जाणकारी का घणा अच्छा साधन हैं। इण वडाई को कई कारण है? भगवान महावीर कै वखत सूं ही जैन धरम के आचारजांरी या रीत रहती आयी है कि वे लोक-भासा म्हैं ही उपदेश देवै नै उणी म्हैं रचना पण करे। लोक-गीतां की धुना पर बणायोडा हजारां भगती-गीत इण बात का प्रमाण हैं कि धरम-प्रचार म्हैं लोक-भासा को महत्त्व उणा की द्रस्टि में कितरो बढ़्यो-चढ़्यो थो। पचासूं साधू अर सत्यां आचारजां रै आदेस सूं एक ठोड़ सूं दूजी ठोड़ जावतां, सैकड़ा कोस धरती पगां सूं नापता, गांव-गांव म्हैं ठैर नै सरावकां नै उणां री बोली म्हैं उपदेश देव नै समझावतां। इण खातर उणां नै लोक-भासा में लिख-पढ़णा रो घणो महावरो होतो। हजारां कोसा लग फैली भारत-भोम रै कूणै-कूणै सूं भगत लोग आचारजां रै चौमासै रै नै बिहार री ठोड आ जुडता। भांत-भांत रा उपदेसां सूं लोगां नै पढ़ण-लिखण री घणी परेरणा मिलती। आप-आप री रचनानै दिखायनै चेला पण आचारज रै आसीरवाद री कामना करता। अस्या सांस्कृतिक मेळाम्हैं घणी पोथ्यां रो परिचय मलतो। लोगां नै पढण रो चाव वढतो। पोथ्यां री नकल करण री नै करावारी घणी चाह रेती। इणी खातर नित कई पानां री नकल करणो भी धरम रो ही एक काम बणगो। अनेक कवियां, लेखकां, इतिहासकारानै अनेक भांत रा साहित्य री रचनां करी जिणांरी अनेक नकलां सूं आज रा भंडार ठसाठस भरयोड़ा हैं।

भासा अर इतिहास री द्रस्टि सूं जैन ग्रंथा रो महत्व घणा विद्वान जाणै। काव्य-ग्रंथारी जाणकारी भी लोगां नैं कम कोनी। पण भगती-गीतां रै बारै म्हैं भोत थोडा मिनखां नै ठा'हैला। सूर, तुलसी, कबीर, मीरां, दादू, रैदास वगेरै संत कवियांनै जिसा पद अर गीत बणाया हैं उणां सूं किणी दरजै न घटता, घणा फूटरा गीत जैन कवियां भी रच्या हैं। धरमावतारां री प्रसंसा म्हैं उणां री लीलां रो घणो सरस वरणण इण गीतां म्हैं मिलैहै। जिणेसर पारसनाथ, विमळनाथ, नेमीनाथ, रिखभनाथ,

पदमपरभु, स्यूलभदर वगैरै घणा आराध्य देवां रा अणगिणत गीत जैन कवियानै साचै भगता रै भावा सू मारमिक सुरा म्हैं गाया हैं। गीतकारा म्हैं लावण्यसमय, समयसुन्दर, कनकसोम, जसराज, मैंहिमराज, पदमराज, चिदानंद, भुवन कीरती, ग्यान-कीरती, उदयरतन, धरमसी नै बीजा अनेक कवियानै इण धारा नै घणी वार लहरायी है। या कीती अचरज री वात कि हाल ताई कोई काव्य रो, सगीत रो रसियों, कोई भगती रो पारखी इण रस धारा रो मिठास चाख्यो नहीं। मिनखा रै राग सू दूर, अणछेडी वणराय रै आचल म्हें जाणै कोई एकलो रस रो झरणो झर-झर करतो बहै तिण भात ही जैन गीता री या रसधार है। इण वात री घणी जरूरत है कि साहित्य रा आलोचक आज रा काव्यरसिया नै भी उण गीता रा मिठास री बानगी चखावै।

भगती काव्य रै गीता री तरिया इण गीता रो भी अनेक भात हैं। विविध रागा म्हें, विविध छन्दा म्हें, आराध्य देवा रा जनम, वालपणै री करिडा, देवा रा सा चरित्तर, उणा रो परेम, विरह आदि नै ग्यान, उपदेस अर भगती-भाव रो चितरण घणो सरस नै सरल भासा म्हें इण गीता म्हें मिलै है। गीतकारां म्हें समयसुन्दर जिसा महारथी नै चौफेरी परतिभा हाला कवि इण धाराया रा घणी हैं। जिणा री विदवता री धाक आखै जमानै म्हें हुती। इण खातर जैन गीतो रै मायला भाव, कल्पना, उपमा, भासा नै बिजा काव्य रा आभूसण उण पिटी-पिटाई परिपाटी रा नहीं। इण सारी चीजा में कविया रै जुग री नै उणा री रसमरम री छाप है, जिण सू वै भेडा भेली भेल नहीं हुवै।

भारतीय परेमकाव्य रै विछड्या परेमिया रा जाणीता सदेसवाहक 'चाद' रै हाथ भेजो जिको भगत रो सनेसो।

सुणो—चादलिया! सदेसडो जी कहिजे सीमधर साम।

राय नैं घाल्हा घोबलाजी, वेपारी नैं वाल्हा दाम।
अम्हनैं वाल्हा सीमधर सामी, जिम सीता नैं राम॥

सनेसै रै सब्दा रै मिठास नै छोड बिचलै जुगारी ओपमावा री मौलिकता नै देखण री जरूरत है। भारतीय दामपत्य जीवन रै आदर्श नैं गीतकार विसार्या नहीं। राम अर सीता रो सनातन नै चिरनवो परेम भगता रै परेम रो पण आदर्स है।

आराध्य देव नैं ओपमा देता-देता अघाई जो ग्या जणा महाकवि समयसुंदर सगलै रद कर'र छोड दिया। सूर एकर स्याम नैं ओपमा देता थकत घणा उपमाना नैं बेकाम किया, पण आखर या नै भेक ओपमा जची; पण समयसुन्दर रै एक भी ओपमा गलै न उतरी। भावा रै वेग म्हें उणा गायो—

अहो मेरै जिण कूं कुण ओपमा कहुं
कास्ट कल्प, चिन्तामणि पाथर, काम गयी पसुदोस मह।

चन्द्र कलंकी, समंदजल खारउ, सूरज ताप न सहूं ।
जलदाता पण स्याम वदन घण, तउ हूं किम सहऊं ।
कोमल कंवल पण नाल कंटक नित, संख कुटिलता वहूं ।
—समय सुन्दर कहई अणंत तीर्थंकर, तुम मई दोस न लहूं ।

वैसणव गीतां सूं न्यारी एक खास बात अणां भगतां रै विरह री तीवरता है। इण तीवरता नैं जैन कवियां घणै मीठै नै हिरदै छूतां सवदां म्हे दरसायी है। राजुल री विरह इणा गीतां री मोटी धरोधर है। नेमिनाथजी रै विरह म्हें राजुल री हटपरेम इण बोलां म्हें देखों :—

उण तजी मोकूं मैं न तजूंगी करूंगी इकतार ।
ताकी चरणचेरी होय रहूंगी जाऊंगी गिरनार ॥

पुरुस पर अविसवास री लांछन लगाणारो नारी रै हिरदै री वो कटु सत्य राजुल रै मुख सूं भी निकलयो है जिकै री जिकर अंगरेजी कवि सेक्सपियर आप रै अंक नाटक में करयो—

"राजल नारी इम कहई पुरुष नउ नहीय विसास" राजुल रै विरह रा छन्द काव्य री मस्ती म्हें अणमणी विरहणी कह्यो—

फागण आयो फूटरो फूली सब वणराय ।
पिउड़ो नेह मुझ मंदिरे खेलै मोरी वलाय
वा तो परियतम री वाट घणै चाव सूं देखती होती—
वलीवली जोऊं वाटड़ी लिख ऊं निसदिन लेख ।
सूती बैठी सोचऊं अेऊं लेख अलेख ॥

पीवमिलण री आस म्हें जैन गीतां री विरहणी नैं आखी परकरती उण री तरियां ही नजर आवै—

"कोयलड़ी टहुका करै तुम्ह मिलवा अभिलाख" आखर परियतम सूं मिलनै विरहणी संजोगणी हुई—

आज भलै दिन ऊगियो वधीय मनोरथ वेल ।
निजरे सयण निहालिया करिस्यां मनरथ केळ ॥
वीछड़िया वाल्हा तणै मिलवा रो मन कोडि ।
विकसै गात वलावली हुलसै होडां होड ॥

इस विध संजोग सुख सूं घणी रलियाइत हो परियतमा गायो—

प्री थे मधुकर, म्हे मालती; थे मोती, म्हे लाल ।
प्री थे देवल, म्हे देवता; थे तरवर, म्हे छाल ।
प्री म्हे कंचन की मूंदड़ी, थे लाखीणा नग्ग ।
प्री थे चंदा, म्हे चांदणी; थे सायर, म्हे गंग ॥
प्री थे हंसा, म्हे हंसणी; प्री थे मंदिर, म्हे नींव ।
प्री म्हे पंकज, थे रवि जिसा; प्री म्हे काया, थे जीव ॥

इण भावा रै जोड रा भाव अगरेजी महाकवि सैली नै हिंदी रा महाकवि निरालाजी रे गीता म्हैं मिलै। फरक इतरोहीज है कि ये गीत आज सू तीन सो वरस पहला लिख्या गया है। अण खातर तो फेर इणा रे भावा रो मान घणो चाहीजै।

अेकलो राजुल रो विरह जेन गीत काव्य में इतणो विसाल रूप धर नै छा गयो है कि उण विरह री मीठो मीठो दरद सारै गीता म्हें समायो है। इसै मिठास रा पद जैन काव्य में मोकळा मिलै। स्त्री सुलभ सुभाव सू राजुल रा मीठा बोल कितणा आछा लागै— वहिण सामलियउ सुहानइ रे, बीजउ कोई दाय न आवइ रे

आली री मिल रे ल्याजो नेमिकुमार

नेमि राजुल री भात ही स्थुलभदर–कोशा रा गीता म्हैं भी या ही रसधार है। समयसुंदर रै सबदा म्हैं स्थूलभदर-कोशा रो एक गीत देखो—

रातिं न तो नावे व्हाला नींदडी रे, दिवस न लागै भूख।
अन्न नै पाणी मुझ नैं नावि रुचै रे, दिन दिन दुरबळ दूख॥
मन ना मनोरथ साणि मन मा रह्यारे, कहियै केहनैरे साथ।
कागळिया लिखता तो भींजै आसुआ रे, चढियो हो दुरजन नाथ॥
नदिया तणा व्हाला रेळा चालह्यारे, ओछा तणा सनेह।
वहता वहै वाल्हा उतावळा रे, झटकि दिखावै छेह॥
सारसड़ी मोती चुगै रे, चुगै तो निगसै काइ।
साचा सदगुरु जो आणि मिले रे, मिले तो विछडै काइ॥

परेम नै विरह र गीता रै अलावा शातरस रा, वराग रा, भगती रा, ग्यान रा नै बीजे घणै उपदेस रा गीत भी इण गीता भेला हैं। काया जीव सझाय, कामणी विसवास निवारण सझाय, खट सास्त्र सवाद, वैषम्य नै घृणा प्रसग, स्थूलभद्र सझाय वगे रै पोथ्या म्हैं इण गीता री भरमार है। ससार रै जलम मरण रै खेल रो अरथ समझण री कवि री जिग्यासा 'करतार सझाय' म्हैं देखो—

"मन मान्या माणस जे मेलै, तो कि विछोडा पाडै रे"
"पुरुस रत्न घडि घडि किम भा जै"

नै आतमा री परमातमा सू मिलण री अभिलाखा री झलक इण कडिया म्हैं देखो—

रूडा पखीडा, पखीडा मुन्दै मैल्ही नेम जाय।
धुर थी प्रीत करी मैं तोसू, तुझ विण खिण न रहाय॥

इण प्रकार इण गीता म्हैं जैन भगती रो आद सू अंत ताइ सगळो आ गयो है। उण रो विस्तार सू वरणण करण खातर घणो समै नै घणी जगा चाहीजै। साहित्य पारखिया नैं काव्यरसिका नैं जैन भगती गीता रो अध्ययन वेगा सू वेगो करणो चाहीजै नै उणा री रसधारा सू काव्य परेमिया नैं छका देणा चाहीजै।

mark the boundaries, principalities and places of pilgrimage of the Kingdom. The 14 rock edicts, in 7 recensions, are simple, concise and forceful; and the appeal full of personal feeling, is as though the mighty monarch Asoka is himself earnestly speaking to his subjects. Not only do they give a fine picture of the state, but they also reveal the personality of the ruler in touching colours The 13th rock-edict is a remarkable document. Asoka had won a decisive victory in the Kalinga war, but the miseries of the people brought such remorse that he expressed his anguish frankly and vividly

The Hāthigumpha inscription (1st or 2nd c. b c.) of the Cheti dynasty gives a record of the first 13 years of the reign of Kharavela. It is badly preserved; it shows greater fluency of expression than Asoka's records; and it gives us a good glimpse into the early life and training of Indian princes in the 2nd c. b. c. Among the manifold inscriptions of western India, the Nasik cave inscription of Vasishiputta Pulumavi of the 2nd c. a. d. expresses the spirit of a royal panegyrist steeped in epico-Puranic mythology and religion, and anticipates the later embellished style, so common in Kayyas and Çampus.

In the early Indian drama it is difficult to evaluate the Prākrit passages as a continuous stretch of literary composition. The play-wrights have used Prākrits according to the conventions of dramatic theory; but the composition of most of them has very little popular life. The Prākrit passages in the drama have, on the whole, become a specimen of artificial and prosaic composition, mechanically converting into Prākrit a sence first conceived in Sanskrit. The convention of their use had such a grip on the orthodax mind that it is only very lately that Prākrit lost its hold on the drama; and the author of Hanumānnātaka (aftet 1200 a. d.) plainly says that it is not prākrit, but Sanskrit alone that is worthy of an audience of the devotees of Visnu. For lyrical song in the drama, however, Prākrit is quite popular with Sudraka, Kalidas, VisaKhadaṭṭa and others; and some of their gathas are genuine pieces of poetry delineating softer sentiments. With Suḍraka and others, Prākrit has wonderfully served as the medium of homely conversation Innocent intriguing, light jokes and toothless humour are seen in the Saurasēnī speech of Viḍūśaka who figures in

various dramas Sudraka is a unique character, quite unsurpassed His songs and speeches in Māgadhi are well known for their puns and jokes Rākṣasa and his wife in the Vēnisamhāra give us a description of the battle field in Māgadhi But the stylistic basis of dramatic Prākrits is essentially Sanskritic, and the Desi elements are not freely admitted

One type of drama, the Sattaka, is composed entirely in Prākrit, it resembles the Sanskrit Nātika The Karpurmanjari of Rājasekhara (ca 900 a d) is a love intrigue, closing happily in the marriage of Candpala and Karpuramanjari who is brought to the palace miraculously by the magician, Bhairavananda Though accepted as one of the best comedies in the Indian literaure it is more remarkable for its style and language than for its plot and characters, which are of the time-honoured mould Rājasekhara is master of literary expression and matrical forms His verses have a rhythmic ring anb liquid flow His descriptions of nature are inlaid with vivid colour and grace His proverbs, varnaculatisms, allusions to customs etc, have a special interest Rudradāsa, who was patronized by the zamorin of Cālicut (17 C) wrote the Çandralēkhā Saṭṭaka which celebrates the marriage of Manavēda and candralēkhā His style is forceful but often with unwieldly compounds Ghanaśyāma, a court poet of King Tulājaji of Tanjora mid 18th c i, wrote the Anandasundari Sattaka In the Rambhāmanjari of Nayacandra (ca 15th C) which deals-with the story of King Jaitra Simha of Benāras and Rambha the daughter of Madanavarman of Gujarāt, is also a Sattaka which uses not only Prakrit but also Sanskrit The Karpuramanjari has been a source of inspiration and a model for all subsequent Sattakas

The Jain canonical works constitute an important section of Prākrit literature Jainism *admits, in this era, 24 tirthankarās,* who are responsible for the promulgation of the religion or dharma The 22nd was Naminātha, the cousin of Krsna, the 23rd was Parśvanātha whose historicity is accepted, the last was Mahāvira (599–527 B C) whom Buddhist texts mention as Nigantha Nāṭaputṭa He was a senior contemporary of Buddha (563–483 B C), he came from a ruling clan, and he was related to the royal families of Magadha The preachings

of Mahāvīra and his disciples have come down to us in the Jaina Āgama or the canon in Arddhamāgadhī. Exigencies of time, and especially a famine, required its first systemetisation by the Pātalīputra Council, some time in the 4th c. b. c. The canon, as it is available today, was systematised, rearranged, red, acted and committed to writing by the Valabhī Council under Dēvarddhi in the middle of the 5th c. a. d. Its contents are quite varied; the books cover almost every branch of human knowledge as it was conceived of in those days. The texts, like Ācārānga, Dōsāvaikālika, give detailed account of monachism as then practised in Eatern India; Jivābhigama and other works fully discuss the Jina ideas about living beings; Upāśakadasāh, Praśna-vyākaranāni, set forth the ideals and regulations of a householder's life; Jnātadharmakathāh, Vipākasruta and Nirayavaliyao give many holy legends, didactic in purpose; Suryaprajnapti discusses Jaina cosmology; Sutrakrtānga, Uttarādhyayana, contāin brilliant moral exhortations, Philosophical discourses and amusing legends; and some of their sections are fine specimens of ancient Indian ascetic poetry; Nandi gives details of Jain espistemology; texts like the Bhagavati are encyclopaedic.

The canon comprises works of different origin and age; naturally, it is difficult to estimate its literary character. The red action has brought together distinctly disparate parts of works, some prose, some verse. The prose of the Ācārnga contains metrical pieces. The old prose works are diffuse in style with endless, mechanical repetitions; some works contain pithy remarks pregnant with meaning; the didactions, present vigorous exposition in a fluent style; the standardized descriptions, obviously aiming at literary effect, are heavy in construction, with irregular compound expression; the rules of monastic life are full of details; and the dogmatic lessons show a good deal of systematic exposition. There are narratives containg parables and similes of symbolic significance; there are exemplary stories of ascetic heroes; there are debates on dogmatic topics.

Mahāvira is said to have preached in Ardhamāgadhi which, therefore, is the name of the canonical language. The older portions preserve archaic forms of language and style. These gradually disappear in latter

works, and there is seen the influence of linguistic tendencies well-known in Mahārāstri which was evolving as a literary language in the early centuries of the Christian era Such a modernization was inevitable in course of oral transmission, especially because the Svētambara monks were already using the Prākrit not only as a language of religous scripture but also as a vehicle of literary expression In the verses common to both, the Digamber texts soften In the verses common to both, the Digambara texts soften the intervocalic consonants, while those of the Svētāmbaras lose them, leaving the vowel

Prior to the Patalipura Council, at the time of Candragupta Maurya, a body of Jain monks, on the advent of a famine migrated to the South under Bhadrabahu To satisfy the religious needs of the community they began jotting down the memory notes, which have survived to us in the forms of many Prākrit texts that deserve to be called the Pro-Cannon of the Jainas The earliest of these are the Satkarma and Kasaya – prabhrta, which are the remnants of the Drativāda The commentaries of Virasēna-Jinasēna (816 a d) incorporate earlier commentaries in Prākrit, and they indicate what an amount of traditional details was associated with the original sutras They deal with the highly technical and elaborate dectorine of karman which is a unique feature of Jainism Among the works of pro-cannon, the Mulācāra of Vattakara and the Ārādhanā of Sivarāya give elaborate details about the monastic life its rules and regulations The Prākrit Bhaktis are a sort of devotional composition of daily recitation

A large number of work is attributed to Kundakunda, but only a few of them have come down to us His pancastikāya and pravacanasāra are systematic expositions of Jain entology and epistemology, and his Samayasāra is full of spiritual fervour Yativrsabha's Tiloyapannatti covers wide range of topics The compilation of all these works might be assigned to the early centuries of the Christian era

A good deal of Prākrit literature has grown round the canon itself by way of explanation, detailed exposition, illustrations through tales and topical systematisation On some canonical texts there are the Niryuktis, a sort of metrical commentaries which explain the topics by instituting various enquiries They

are attributed to Bhadrabāhu, and are undoubtedly prior to Dēvarddhī's council. Some of them in turn, on account of their systematic exposition, accuracy of details, and solidity of arguments became the object of learned labours of great scholars. For instance, Jinabhadra Kṣamāśramana (609 A. D.) wrote a highly elaborate Bhāsya in prākrit on the Āvaśyaka Niryukti, around which has grown a little world of literature. Bhāsya and Curni commentaries are found on some works. Bhāsya is an elaborate exposition, at times incorporating and supplinobting the Niryukti verses, of the text in Prākrit; while Curni is a prose gloss written in a bewildering admixture of Prākrit and Sanskrit. Jinadāsa Mahattara wrote his Nandi Curni in 676 A. D.

The popular gāthā had already found its, way not only into the Pāli canon but also into that unconventional drama, the Mrcchakatikam of Sudraka; and with its melodious ring & sentimental setting it is successfully handled by Kalidas, especially in the mouths of his heroines. A large body of popular lyric songs in Prākrit, especially in Mahārāstri, appears to have grown a couple of centuries or earlier than Kalidas. A collection of some 700 gāthās, the Sattasai, attributed to Hāla, has come down to us. He is in reality its editor, a literary artist of some eminence; he has collected these verses, along with a few of his own composition, from a large mass of popular songs, and presented them in a literary style with special attention to the choice of setting, themes and sentiment. Hala's collection is important not only for its artistic grace and poetic flourish but also as an evidence of the existance of a large mass of early secular Prākrit literature, in the formation of which women, too, took active part.

Its themes are primarily drawn from the rural life, but the presentation is rarely repugnant to the cultured test. The seasonal settings, the countryside, the village folk, the flora and fauna—all these have remarkably contributed to the realistic sketches which these poets draw in one or two stanzas. The chief sentiment is erotic, at times openly put; and the turn of love, with their peculiar Indian ceremonies and conventions, are depicted in a vivid

and touching manner Pāssionate longings, pangs of separation, devotion of attachment, sly humour, cupid's mischiefs and the like, are often described with a frankness rare in conventional poetry Some of the scenes are full of pathos or flavour A lovely maiden pours water for a thirsty traveller who lets it trinpckle through his fingures, in her turn she lessens the stream of water from the pitcher, thus both extend the period of feasting their eyes on the other There is very little of religious setting, though Iśvara and Parvati, Visnu, Laksmi are casually mentioned The name of Hāla stands for Satavāhana, one of the Āndhrabhrtya kings whose partiality for Prākrits is well knon In all probability the compilation is of the 2nd or 3rd C A D It has been intimated in Sanskrit and Hindi, but the original stands unrivalled

Another Prākrit anothology, close in spirit to Hāla's work, but planned topically, is the Vajjalaggain of Jayavallabha, of uncertain date There are different recensions, the number of gāthās wavers about 700 Perhaps the major portion is composed by Jayavallabha, who of course included verses from Hāla & others The verses are grouped according to subjects, which embrace three human ends, righteousness (dharma), wealth (artha), and love (kāma) almost half of them being devoted to the last The range of topics is quite wide, poetry, friendship, fate poverty, service, hunter, elephant, Swan, bee The good man is likened to a mirror and the wicked man, liked seda, only adds a polish to his virtues The author reports the camel for yearning for the desert when it can not be had The erotic sentiment has often a touch of righteousness and heroism about it The author is a Jaina, but here is nothing of sectarianism in his collection His gāthās in Mahārāstri contain many Apabharamśa elements, and the spirit of some of the stanzas is similar to that in Hemchandra's quotations in his Prākrit grammer The Sanskrit writers on poetic and rhetoric quote many Prakrit verses; of some the sources are not traced; they presuppose a good many compositions or compilations like the above

Allied to the anthologies in form, but having more religious leaning and bearing individual authorship, are some of the Jaina

didactic poems in Prākrit. The Niryuktis, besides their explanatory and expository remarks, contain many didactic instructions and illustrations, as well as the gnomic poetry common in anthologies. Wealth and Love are mentioned with indifference, if not disparagement; and the religious tone rules supreme.

The Ucaesamālā is a didactic poem containing instructions on the duties of monks and laymen, in 540 stanzas; it is by Dharmadās who, according to tradition, was not only a contemporary of Mahāvīra but also, before his renunciation, a king; he addressed the work to his son, prince Ranasimha It was of considerable popularity, with commentaries as early as the 9th C. In addition to moral instructions, it contains in dogmatical details and references to illustrative stories of great men of yore, Equally religious and didactic in outlook but more conventional in the treatment of topics, mnemonic and mechanical in presentation; unintelligible without an exhaustive commentry, full of significant details which can be grasped only by the well read, is the Upadēśapāda, in more than 1000, gāthās, of Haribhadra, an out standing author of the 8th C. A. D. It is more a learned source book than a literary composition. The Upadēśamālā of Hēmachandra of Maladhāri-gaccha contains more than 500 gāthās and gives instructions on some 20 religious topics, such as compassion to living beings. The author is not only a preacher but also a poet, commanding an ornate style with poetic embellishments. He was a contemporary of Jayasimha Siddharaja of Gujarat (1094-1143), whom he persuaded to extend greater patronage to Jainism. The Vivēkamanjarı (A. D. 1191) of Asāda in 140 stanzas, is a discourse on religious awakening. Its major portion is moulded in a mechanical manner, quoting the examples of holy persons. Many other authors have followed earlier models and produced religio-didatic works in Prākrit from the 13th to the 17th C. More than their literary qualities, what strikes one is the earnestness with which they have reflected on their themes.

A number of hymns in Prākrit are addressed as prayers to the Divinity. Some of them are composed by eminent authors; Bhadrabāhu,

Manatunga, Dhanapāla (972 A D) Abhayadēva The Rsimandala-stotra is a chronical of monks, and the Dvādaśangapramana is a description of the Aradhamāgadhi canon Somasundara (15th C) wrote a few prayers almost as exercises in different Prakrit dialects

Narrative literature in Prākrit, especially in Jain Mahārāstri and Apabhramsa, is extensive and varied It includes, besides the Brahatkathā, *thē lives of Slakā purusas, i e the celebrities of Jainism*, of ascetic heroes and holy men of eminence, legendary tales of didactic motives, illustrative fables, semi historical narrations, popular romances The Brahatkathā was composed by Gunādhya in Paisāci It is lost beyond recovery We posses, however, three Sanskrit epitomes of it belonging to the middle ages They indicate that the original work was of great dignity and magnitude worthy of being ranked with Mahābhārat and Rāmāyana It has supplied themes and motifs to many authors, and it is respectfully referred to by Dandin, Subandhu, Bana, and others Gunādhya's personality is shrouded in myths Perhaps he is earlier than Bhāsa, and may be assigned to the early centuries of Christian era

Vimala, he himself declares, composed his Purānic epic, the Paumacariya, in 4 A D It gives the Jain version of Rama legend It is acquainted with Valmiki's Rāmāyan, but contains special details that have nothing to do with the Jain outlook and consequently are of great value in studying the basic Rama legend, which has been worked out by different authors in different ways Rāvana is not a monster, nor Maruti a monkey, but they are Vidyādharas, a class of semi-divine persons Vimala s religious sermons have a lofty didactic tone, and he tells many an episode of remantic and legendary interest His gathās and elegant metres testify to his poetic ability and his style is almost uniformly fluent and forceful The dialect also is interesting because of the age of the work and Apabhramśa traces seen in it

literary qualities. The Vasudēvahindi of Samghadāsa and Dharmadāsa (before 66 A. D.) is a voluminous prose tale, elaborately recording the wanderings of Vasudeva of Harivamśa and including a good deal of extraneous matter in the form of sub-stories, legends and fables.

Silacārya wrote his Mahāpurusacarita, dealing with the lives of Salākāpurusas, in 868 A. D. of about the 10th C. the Kālakācārya-kathānaka narrates the story of how the saint Kālaka went to the Saka Satrapas called Sahis and with their help overthrew Gardabhilla, a king of Ujjaina, who had kidnapped his sister Sarasvati. The author shows poetic skill and observation. Dhanēsvara's Surasund-aricariya (1038 A. D.) is a lengthy romance in 16 cantos, which narrates the love story of Vidyādhara chief who passes through hope and despair. The story within a story technique is handled successfully; the narration of events is quite smooth; the descriptions are worthy of a poet. The Pancamikahā of Mahēsvarasuri (before the mid 11th C.) celebrates, through illustrative stories, the importance of the observance of Sruta-pancami. In simple and narrative style, the life of Vijayacandra Kēvalni, in 1063 gāthās, was composed (1070 A. D.) to illustrate the merits resulting from eight-fold worship. Vardhamāna, pupil of Abhayadēva, wrote two works; the Manōramācarita (1083 A. D.), a romance of religious learning, and the Ādināthacarita (1103 A. D.) a Puranic epic dealing with the life of the first Tirthakara. The Supāsanāha-cariya (1143 A. D.) is a bulky work giving the life of the 7th Tirthakara from his earlier births to liberation. It is full of religious preachings, all of them conveyed with suitable stories of the type common in Jain works. The author has a remarkable command over the language. Just 11 years after the death of king Kumārapāla-pratibōdha (1195), a lengthy tale of the conversion of the King to Jainism, with many stories to illustrate its principles. Some sections are written in Sanskrit. In addition to their literary interest, such narratives are rich in pictures oi the life of their times.

With the narrative work in Apabhramśa, we feel we are

entering a new world The language shows remarkable traits, the metres are different, and the presentation has a melodious music about it Apabhramśa forms were gradually admitted into Prākrit compositions from the early centuries of the Christian era, Kālidās introduced Apabhramśa songs in his Vikramōrvaśiyam Every language has its favourite metres Sanskrit has the śloka, Prākrit has the gāthā, and Apabhramśa the dohā Many dohās are quoted by Hēmacandra in his grammer The Apabhramśa metres, with their rhymes and ghatta, have such a fascinating ring about them, that many authors used these metres in Prākrit and Sanskrit also

Caturmukha is one of the early Apabhramśa poets, but none of his works has come down to us He has been praised for his choice of words, and perhaps he was responsible for popularising the paddhadiya metre Of Svayambhu (8th C A D) we know a good deal through his son Tribhuvana Svayambhu, who brought to completion his father's Paumacariu and Harivaṁśapurāna, huge epics covering the subject matter of the Rama legend and the Bharata episode As a rule, Apabhramśa poet gives us a good picture of themselves Svayambhu tells us that he was very slender and had scattered teeth His son speaks about him thus 'The mad elephant of Apabhramśa wanders about at will only so long as the restraining hook of the grammer of Svayambhu does not fall Victorious be the lion Svayambhu with his long tusks of good words, terrible to look at on account of his claws, his metres and figures of speech and with ample mane, his grammer

The most important Apabhramśa poet, whose three works–Mahāpurāṇu, Jasaharacariu and Nayakumāracariu–have been well edited and about whom we know a great deal is Puspadanta, of the mid 10C He wandered, forlorn, to Manyakheta, where ruled Krsnarāja III of the Rāstrakuta dynasty these under the patronage of minister Bharata, his poetic genius fruitfully flowered He wrote an Apabhramśa, his language is brisk and fluid, metres are varied,, descriptions are elegant, the flow of sentiment is well regulated, and the poetic embellishments are profusely used

Kanakāmara describes himself, but his place and date are still unsettled. His Karakandacariu, in 10 cantos, gives the life of Karakandu, one of the Pratyēka Budhhas. in a comperatively lucid style. His Reference to Tera caves is of great interest. Dhanapāla of the Dhakkada family (ca 10th C.) wrote the Bhavisattakahā, wherein the here is depicted as triumphing, despite great misfortune, through his outstanding virtues. The Nemināhacariu (ca. 1159) of Haribhadra contains beautiful descriptions; it is composed in Radda metre. The Kirtilatā of Vidyāpati (14th c.) is a specimen of post-Apabhramśa language of eastern India; the subject matter is historical; it is in both prose and verse; and it is presented in conversation.

A large body of Apabhramśa literature is still lying in mss; and every year there are new finds. Dhavala's Harivamśa (ca. 9th c.) a lengthy text, gives considerable information about earlier authors. Harisēna's Dharmapariksa (999 A.D.) is not earlier than Amitagati's Sanskrit works, but records also a still earlier works of Jayarama in gāthās. The Kathākośa of Sricandra (late 11th c.) gives the stories referred to the gāthās of the Ārāhdanā of Sivarāya.

The ornate and stylistic kavyās (poetic tales) and prose romances in Sanskrit have a corresponding range in Prākrit. The Sētubandha or Dahamuhāvaha of Pravarasēna deals with the building of the sētu or bridge accross the ocean by monkeys, an incident from the Ramayana, The author is well equipped in metrics and poetics; his poem possesses all the traits of a Mahākāvya. Despite its pompous style, the work has poetic flavour flowing through fine expressions, charming imagery, attractive thoughts, melodious alliteration It is but natural that Bāna and Dandin refer with compliments to such an outstanding work.

The Gaudavaho of Vākpatirāja, a court poet of king Yaśōvarman (ca. 733 A.D.) celebrates the slaying of the Gauda king. The story element in the poem, however, is scanty & its structure rather loose. The major portion of the work, as it stands today, is covered by highly ornate descriptions full of imagination and

learned allusion, those of the countryside are remarkably realistic Whatever topic he touches, Vākpati invests with fresh life and beauty

Haribhadra is an eminent logician and a famous author of the 8th C He calls himself Yakini mahattara sunu His Samaraiccakahā is a Prākrit campu which delineats the inimical behaviour of two souls through nine births He is a close student of human life and behaviour of men under varying conditions He is a master of artistic style, especially in his description of towns, lakes, jungles and temples, interwoven with dogmatical teachings and didactic episodes of religious flavour At times his style is simple and conversational Another Prākrit work of his is the Dhurtākhyāna, a unique satire in Indian literature Here five rogues four men and one woman, narrate their personal experiences Their fantastic and absurd tales are confirmed by the others, with parallel legends from the epics and Purānas, the Puranic legends are satirised As a literary product, the work is for ahead of its times

The Kuvalayamālō (779 A D) of Uddyōtana, a pupil of Haribhadra, though resembling the Samaraiccakahā in its aim, uses Paiśaci and Apabhramsa for popular passage, besides the usual Jain Mahārāstri The religiodidactic tone is apparent throughout the work, the background of Jain ideology is not concealed, but on the whole it is a literary performance The author s glowing references to earlier authors and works, and to the yavana king Tōramāṇa, supply such fresh material to the literary and political historian

The Lilāvati of Kuṭukala, earlier than Bhoja, is a stylistic, romantic Kāvya, with considerable racy narration It tells the love story of king Satavāhan and Lilāvati, a princess from Simhaladvipa The threads of the story are a bit complicated but the scenes are attractively sketched, and the sentiments are served with freshness and flávour In all probability Hōmacandra knew this poem, and used it for his grammer

In ornamental Jain Mahārāstri prose and verse (with a few passages in Apabhramśa) Gunacandra composed his Mahāviracariya

(1082 A. D.) giving a traditional account of Mahāvīra's life, half of the work being devoted to his earlier births. The language shows remarkable regularity of grammer, and is quite chaste, almost like classical Sanskrit by the models of which Guṇacandra's expressions & ideas are influenced. It is a studied performance, a scholar's achievement, full of long compounds and poetic devices. It is a charming Kāvya, a dish for the learned.

Hēmacandra (1089–1172 A. D.) is a dominent literary figure of medival India. Not only did he make Jainism great in Gujarat by winning her kings into its fold, but he also opened almost a new era in literature through his manifold contributions to different branches of learning. Tradition says that he brought the Goddess of Learning from Kashmir to Gujarat. He laid a sound foundation of Prākrit philosophy by his grammer and lexicon; his Kumārapāla is purely grammatical in purpose. As a concluding portion of his Dvyāśrayakāvya, it illustrates, like the Bhaṭṭikāvya, the rules of his Prākrit grammer. The work reveals, notheless, some poetic flashes and capable handling of language.

The stylistic Prākrit was cultivated in the extreme south, through the study of grammer of Vararuci and other tongues, as late as the 18th C. Krsnalilasuka (ca 13th C.) wrote the Siricimdhakavvain in 12 cantos, dealing with the life of Krsna, to illustrate the rules of Prākrit grammer, of Vararuci and Trivikrama. The Sericariṭṭa of Srikantha (15th or 17th C.) is a Yamaka Kāvya, the eight mantras in two metrical feet having identical sound but different sence. Before the mid 18th C. Rama Panivada wrote two short poems, Kaṁsavaho and Usāniruddhain, charming in conception and scholarly in execution; the first deals with the slaying of Kamsa by the boy Krśna; the second is concerned with the story of love and marriage of Usā and Aniruddha.

Jainism possesses a highly elaborate and technical Karma doctrine, for rhe elucidation of which many works have been written in Prākrit. This subject matter, it is said, was originally included in the lost Purvās, the remnants of which lie at the basis of the

Sutras of Dhavala, Jayadhavala, and Mahādhavala commentaries There are other works, more or less compiling the traditional matter, like the Kammapayadi of Sivasarmān, Pancasamgraha of Candrarsi, Gommataśara of Nēmicandra On these works huge and learned commentaries have been written in Sanskrit The Savayapannatti of Umāsvāti, in some 400 gāthās, is a succinct compendium of the Jaincode of morals, with its metaphysical background

Many legends are current about Siddhasena Divākara (6th or 7th C A D), in whom we have a first rate poet and outstanding logician His hymns in Sanskrit testify to his poetic fire His Sanmatitarka in Prākrit is a brilliant treatise, elucidating the Jain epistemology and doctrines of Nayas and Anēkāntavāda The Dharmasaimgrahani of Haribhadra is an exhaustive treatise on different aspects of Jain dogmatics The Kattigeyanuppekkha of Kumar mainly deals with twelve-fold reflection, but incidentlly forms a good expositon of fundamental Jain dogmas Dōvasena deals with different dogmatic topics of Jainism in his Bhavasamgraha, Ardhanasāra and Tattvasāra, his Dars'nasāra (933 A D) which records the traditional account of different Sanghas, is of historical importance There are certain Apabhramśa texts dealing with mysticism on a background of Jain and Buddhistic dogmatics, the Paramappapayasu and Yogasāra of Joindu (ca 6th C A D), the Dohākōśa of Kanha and Saraha

Though certain quotations indicate the existance of Prākrit grammers written in Prākrit, all these that are available today are written in Sanskrit In lexicography, Dhanapāla wrote his Paiyalacchināmamāla (972–973 A D) presenting a list of Prākrit synonyms for his younger sister, Sundari The Deśinamamāla of Hōmachandra has the specialized aim of giving Desi words, i e words that can not be traced to Sanskrit, with qnotations to illustrate their usage He refers by name to more than a dozen of his predecessors in the field, but their works have not come down to us A work of poetics attributed to Hari is lost, we have Alainkāradappaṇa of an unknown author Prākrit has its special metres in the gāthā, but most of the classical writers have used the

longer syllabic metres current in Sanskrit. The Apabhramśa works, however, disclose altogether new paths in metrics. Nanditadhya fully discusses the varieties of gāthā in his Gāthālakṣana. The Svyambhu-cchanda of Svayambhu not only discusses various metres but also gives many quotations mentioning the names of their authors, The Vrttajatisamuccaya is also an exhaustive treatise. The Kavidarpana, Chandahkōśa of Ratnasēkhara and the Prākrta Paingala, also give us abundent details about Prākrit metres. Sanskrit texts like the Vrttaratnākara include Prākrit metres as well; but the Chandōnuśā-sana of Hēmacandra is of special value for Prākrit metres, Prof. Velankar has given us a systematic exposition of Apabhramśa metres.

Of cosmological and astronomical contents, we have the Jambuddiva-pahhatti-saingaha of Paumanandi. The Jonipahuda is a lost medicotantric text; its contents appear to have been included in the Jagatsundari-yōgamālā, with which are associated two authors, Herisena and Yasahkirti (co. 12 C. A. D.). The Haramekhaia (ca. 830 A. D.) of Mahuka is a medical treatise covering a wide range of topics, a talisman for all living beings. The Ritthasamuccaya of Durgadēva (11th C. A. D.) with omens and the like.

Prākrit literature has a many sided achievement to its credit. it records the noble thoughts of one of the greatest kings of the world; and it embodies the ideology of a religion most realistic in philosophy, ascetic in morals, humanitarian in outlook. It presents a valuable, though complicated, picture of linguistic and metrical evolution in the last two thousand years; and the society depicted therein is more popular than aristocratic, Prākrit literature helps us to add important and significant details in the picture of Indian culture and civilization.

This being the first survey of Prākrit literature as a unit, its material is scattered in many works & tongues. Only a suggestion, of the most valuable works, can be given. R. Pischel, Grammatik der Prākrit-Sprachen (Steassburg), 199; M. Winternitz A Hist. of Indian Lit. (Calcutta), 1933; W. Schubring, Die Lehre der Jainas

(Berlin and Leipzig) 1935, A N Upādhye, Pravacanasāra, Introduction (Bombay), 1935, A M Ghatage, Narrative Literature in Jaina, Māhārastrī, in Annals of the Bhandarkar O R Institute (Poona), 1935, A Brief Sketch of Prakrit Studies, in Progress of Indic Studies (Poona), 1942, Nitti-Dolci Les grammairiens Prakrits (Paris), 1938, H L Jaina, Apabhramśa Literature in Allahabad University Journal I, S K Chatterji, Indo-Arayan and Hindi (Ahmedabad), 1942.

Prakrit Literature Encyclopedia of Literature I PP 481 90. ed J T Shipley New York 1946.

બહુશ્રુત પૂજા

(લેખક—પં. લાલચંદ ભગવાન ગાંધી)

જૈન આગમ-સાહિત્યમાં બહુશ્રુત તેને કહેવામાં આવે છે, જે આગમ-વૃદ્ધ યુગ-પ્રધાન હોય, જેમનામાં આભ્યન્તર શ્રુત એટલે અંગપ્રવિષ્ટ શ્રુત અને બાહ્યશ્રુત (અંગ-બાહ્ય શ્રુત) બહુ હોય. એટલું જ નહિ, એ સાથે વિશુદ્ધિ કરનાર ચારિત્ર પણ બહુ શ્રેષ્ઠ હોય, જે શાસ્ત્રાર્થના પારગામી હોય, સૂત્રથી અને અર્થથી શ્રુત જેને બહુ પ્રાપ્ત થયેલ હોય. બહુશ્રુત ત્રણ પ્રકારના મનાય છે, (૧) ઉત્કૃષ્ટ બહુશ્રુત–દશ પૂર્વધર અથવા નવ પૂર્વધર, (૨) મધ્યમ બહુશ્રુત–કલ્પ-વ્યવહારધર અને (૩) જઘન્ય બહુશ્રુત–આચાર પ્રકલ્પ (નિશીથ)ને ધારણ કરનાર મનાય છે. નીચે જણાવેલી પ્રાચીન પ્રાકૃત ગાથાઓમાં એનું પ્રતિપાદન છેઃ–

"वहुस्सुए जुगप्पहाणे, ब्भिंतर-बाहिरं सुयं बहुहा
होति चसद्दग्गहणा, चारित्तं पि सुबहुयं पि ॥,,

"तिविहो बहुस्सुओ खलु, जहन्नओ मज्झिमो य उक्कोसो।
आयारपकप्पे कप्पे, णवम-दसमे य उक्कोसो ॥,,

૨ એવા બહુશ્રુતોની પૂજાને ઉચિત પ્રતિપત્તિને–સન્માન–સત્કાર–ગૌરવને જૈન શાસનમાં આવશ્યક સમજાવવામાં આવેલ છે. જૈન આગમમાં ઉત્તરાધ્યયનસૂત્ર ચરણ-કરણ ઉપદેશોથી ભરપૂર છે, જેના ઉપર નિર્યુક્તિ અને પ્રાકૃત સંસ્કૃત ગદ્ય–પદ્ય કથામય અનેક વ્યાખ્યાઓ પ્રસિદ્ધ છે, તેનુ ૧૧ મું અધ્યયન બહુશ્રુતનું સ્વરૂપ અને તેનું ગંભીર મહત્ત્વ સૂચિત કરે છે, તે ખાસ સમજવા જેવું છે. તેની બત્રીશ ગાથાઓમાં ઘણુ રહસ્ય સમજાવ્યું છે.

તેની પ્રથમ ગાથામાં સૂચન કર્યું છે કે–"સંયોગથી વિપ્રમુક્ત અનગાર ભિક્ષુના આચારને (ઉચિત ક્રિયા–વિનય–બહુશ્રુત–પૂજનને) હું પ્રગટ કરીશ, તેને તમે અનુક્રમે સાંભળો. ૧

બહુશ્રુતનું સ્વરૂપ સમજાવવું સુગમ થાય-એ માટે તેનાથી વિપરીત અબહુશ્રુતનું સ્વરૂપ બીજી ગાથાદ્વારા દર્શાવ્યું છે કેઃ–

"જે કોઇ નિર્વિદ્ય હોય અર્થાત્ સમ્યક્ શાસ્ત્ર–જ્ઞાનરૂપ વિદ્યાથી રહિત હોય તે, અથવા વિદ્યાવાન્ પણ, જે સ્તબ્ધ-(અહંકારી) હોય, લુબ્ધ હોય (રસ વિગેરેમાં આસક્તિવાળો હોય), ઈન્દ્રિય–નિગ્રહ વગેરે નિગ્રહ વિનાનો હોય, તથા અસંબદ્ધ ભાષણ

વગેરે ૭ । બહુ ઉલ્લત્ય-પ્રલાપ કરનારો અને અવિનીત (વિનય- હિત) હોય, તે અબહુશ્રુત કહેવાય (વિદ્યાવાન્ હોવા છતા, બહુશ્રુતપણાના ફલનો અભાવ હોવાથી, તે પણ અબહુશ્રુત લેખાય) " ૨

બહુશ્રુતપણુ ન પ્રાપ્ત થાય, તેના ૫ કારણો

એના પાચ સ્થાનો (કારણો) છે, જેના વડે [ગ્રહણ- આસેવન રૂપ] શિક્ષા પ્રાપ્ત ન કરી શકાય-(૧) સ્તભથી (માન-અહ કારથી) (૨) ક્રોધથી (કોપથી), (૩) પ્રમાદથી (મદ, વિષય આદિથી), (૪) રોગથી અને (૫) આલસ્યથી (અનુત્સાહથી) એ પાચ હેતુઓથી શિક્ષા પ્રાપ્ત થઈ શકે નહિ ૩

બહુશ્રુતપણુ પ્રાપ્ત કરી શકાય, તે ૮ હેતુઓ

આગળ દર્શાવવામા આવે છે, તે આઠ સ્થાનો (હેતુઓ) વડે શિક્ષાશીલ (શિક્ષામા જેને શીલ-સ્વભાવ હોય તે, અથવા શિક્ષાનુ શીલન-અભ્યાસ કરનાર) એમ કહેવાય છે [તીર્થ કર, ગણધરો વિગેરે દ્વારા]

[૧] જે અહસનશીલ હોય-હેતુ-પૂર્વક કે વિના હેતુ જે સદા હસતો રહેતો ન હોય

[૨] જે દાન્ત હોય-ઇન્દ્રિયો અને મનને દમન કરનાર હોય

[૩] જે મર્મ વચન બોલતો ન હોય બીજાની અપભ્રાજના કરે તેવુ કુત્સિત જાતિ વગેરે ન ઉચ્ચારે-ન ઉઘાડે તેવો હોય

[૪] જે અશીલ (શીલ- હિત) ન હોય-સર્વથા વિનષ્ટ ચારિત્ર ધર્મવાળો ન હોય

[૫] જે વિશીલ (વિરૂપશીલ અર્થાત્ અતિચારોથી વ્રતોને કલુષિત કરનાર) નહોય

[૬] જે અતિલોલુપ (અત્યત રસ-લપટ) ન હોય

[૭] જે અક્રોધન હોય અપરાધી અથવા નિરપરાધી પ્રત્યે ક્રોધ ન કરતો હોય

[૮] જે સત્યમા રત હોય-અવિતથ ભાષણમા આસક્ત હોય

એવો ગુણવાન્ ' શિક્ષાશીલ ' (બહુશ્રુત) કહેવાય છે ૪ ૫

અબહુશ્રુત પણામા અવિનય મૂલકારણ અને બહુશ્રુતપણામા મૂલકારણ વિનય હોવાથી તેના ૧૫ સ્થાનો કહેવામા આવ્યા છે આગળ દર્શાવવામા આવે છે, તે ૫ દર સ્થાનો વડે ' સુવિનીત, (વિનયથી સારી રીતે શોભતો) કહેવાય

[૧] નીચવૃત્તિ (નમ્રવૃત્તિ) નમ્રતાથી અનુદ્ધતપણે વર્તનાર, નીચા સ્થાનો, નીચી શય્યા, નીચુ આસન વગેરેમા વર્તનાર, ગુરુજનો પ્રત્યે નમ્રતાથી વર્તનારો વિનીત શિષ્યના

લક્ષણો અન્યત્ર દર્શાવ્યા છે કે "નીચી શય્યા, નીચી ગતિ, નીચું સ્થાન, નીચાં આસનો, તથા નીચા નમી પાદોને વંદન કરે, અને નીચે નમી અંજલિ કરે.

[૨] અચપલ-જે આરંભ કરેલા કાર્ય પ્રત્યે અસ્થિર ન હોય, અથવા ગતિ, સ્થાન, ભાષા અને ભાવ એ ચાર પ્રકારથી ચપલ ન હોય.

(૧) ગતિ ચપલ-જલ્દી જલ્દી ચાલનાર.

(૨) સ્થાન--ચપલ એક સ્થાને રહેવા છતાં હાથ વગેરે દ્વારા જે ચાલતો જ રહે.

(૩) ભાષા-ચપલ ચાર પ્રકારનો કહેવાય.

[૧] અસત્-પ્રલાપી-વિદ્યમાન ન હોય, તેનો પ્રલાપ કરનાર.

[૨] અસભ્ય-પ્રલાપી-ખર, પુરૂષ (કઠોર) આદિ અનુચિત પ્રલાપ કરનારા સ્વભાવવાળો.

[૩] અસમીક્ષ્ય-પ્રલાપી-વિચાર્યા વિના પ્રલાપ કરવાના સ્વભાવવાળો.

[૪] અદેશ-કાલ-પ્રલાપી-જે કાર્ય થઈ ગયા પછી એમ બોલે કે, તે દેશ અથવા કાલમાં કાર્ય કર્યું હોત તો સુંદર થયું હોત.

(૪) ભાવ-ચપલ-એક સૂત્ર અથવા અર્થ સમાપ્ત થયા વિના જ જે બીજું ગ્રહણ કરે તે.

[૩] અમાયી-માયા વિનાનો. (મનોજ્ઞ આહાર વગેરે મેળવીને ગુરુ વગેરેની વંચના ન કરનાર).

[૪] અકુતુહલ-કુહુક (જાદુગરી), ઈંદ્રજાળ વગેરેને ન જોના .

[૫] અલ્પ અધિક્ષેપ કરનાર-કહેવાનો આશય એ છે કે મુખ્ય વૃત્યા કોઈનો પણ અધિક્ષેપ તિરસ્કાર નજ કરે; અથવા કોરડુ જેવા કોઇકને ધર્મ પ્રત્યે પ્રેરતાં થોડોકજ અધિક્ષેપ કરે. અથવા અહિં અલ્પશબ્દ અભાવવાચી છે. વૃદ્ધોએ અલ્પશબ્દને થોડા અને અભાવ એ બન્ને અર્થમાં જણાવેલ છે. એ રીતે કોઈનો પણ અધિક્ષેપ (તિરસ્કાર) ન કરનાર.

[૬] પ્રબન્ધ ન કરનાર-ઉપરના કારણે જે પ્રબન્ધ (પ્રકૃષ્ટ કર્મ-બન્ધ) કરતો નથી.

[૭] મિત્રતા પાળનાર-મિત્ર તરીકે ઇચ્છાતો જે બીજાપર ઉપકાર કરે છે, પરંતુ પ્રત્યુપકાર કરવામાં અસમર્થ કે કૃતઘ્ન બનતો નથી.

[૮] શ્રુતને પ્રાપ્ત કરી જે મદમત્ત બનતો નથી, પરંતુ મદના દોષના પરિજ્ઞાનથી જે અત્યન્ત નમ્ર થાય છે.

[૯] પાપનો પરિક્ષેપ કરનાર-પાપને ધિક્કારનાર.

[૧૦] મિત્રો પ્રત્યે કોપ ન કરનાર કોઇ પ્રકારે મિત્રનો અપરાધ થયો હોય છતા પણ કૃતજ્ઞતાથી મિત્ર પર કોપ ન કરે તેવો

[૧૧] અપ્રિય મિત્રનુ એકાતમા પણ કલ્યાણ બોલનાર કહેવાનો આશય એ છે કે જેને મિત્ર તરીકે સ્વીકાર્યો, તે કદાચ સેકડો અપકારોને કરે, તો પણ તેના એક પણ સુકૃતને સભરતો જે એકાન્તમા પણ તેના દોષને પ્રગટ કરતો નથી કહ્યુ છે કે–

"એક સુકૃત વડે જેઓ સેકડો દુષ્કૃતોને નષ્ટ કરે છે, તેઓ ધન્ય છે, કે જેમને એક દોષથી ઉત્પન્ન થયેલો કોપ હોતો નથી, કોપ કરનાર કૃતઘ્ન છે"

[૧૨] કલહ–ડમર-વર્જક વાચિક વિગ્રહ-કલહ અને પ્રાણીઘાત વગેરે દ્વારા થતો ડમર તે બનેને વર્જનાર

[૧૩] બુદ્ધ અભીજાતિગ બુદ્ધિમાન્ (જાણકાર) ઉપાડેલા ભારનો નીર્વાહ કરવો એ વગેરે દ્વારા અભિજાતિ-કુલીનતા તરફ જનાર

(૧૪) હ્રીમાન્ (લજ્જાવાન્)-કોઇ પણ રીતે કલુષિત અધ્યવસાય થઈ જાય, તે પણ જે અકાર્ય (ન કરવા યોગ્ય) આચરતા શરમાય તેવો

(૧૫) પ્રતિસલીન–ગુરૂ પાસે, અથવા બીજે પણ જે, જેતે પ્રકારથી ચેષ્ટા ન કરે તવો

—ઉપર જણાવ્યા પ્રમાણે ૧૫ ગુણોવાળો ગુણવાન્ હોય તે 'સુવિનીત' કહેવાય 'સુવિનીત' શબ્દ દ્વારા કથન કરવા યોગ્ય તે કહી શકાય ૧૦-૧૩

એવો વિનીત શિક્ષા પામવા યોગ્ય (શિક્ષણ માટે લાયક) ગણાય એવો સુવિનીત (શિષ્ય) યોગવાન્ અને ઉપધાનવાન્ થઇ, પ્રિયકર અને પ્રિયવાદી થઈ નિત્ય ગુરુકુલમા વસે, તે શિક્ષા પ્રાપ્ત કરવા યોગ્ય થાય છે

ગુરુકુલ–શબ્દ દ્વારા અહિ ગુરુઓનુ (આચાર્ય વગેરેનુ) કુલ (અન્વય ગચ્છ સમજવુ જોઇએ ઉપલક્ષણથી તેણે સદા–યાવજ્જીવ ગુરુની આજ્ઞામા રહેવુ જોઈએ એ રીતે વર્તનાર જ્ઞાનનો ભાગી બને છે

યોગવાન્–ધર્મગત યોગ (વ્યાપાર)વાળો, અથવા યોગ સમાધિવાળો,

ઉપધાનવાન્–અગ અને અગબાહ્ય અધ્યયનની આદિમા યથાયોગ કરાતા આય બિલ વગેરે તપને ઉપધાન કહે છે, તે ઉપધાનવાળો, જેનુ જે ઉપધાન કહ્યુ છે, તેને કષ્ટ-ભીરૂતાથી તજીને અથવા બીજી રીતે અધ્યયન શ્રવણાદિ ન કરનાર

પ્રિયકર–પ્રિય (અનુકૂલ) કરનાર–કોઈના વડે, કોઇપણ પ્રકારે અપકાર કાર્ય

હોય, તો પણ તેનું પ્રતિકૂલ આચરણ ન આચરનાર, 'મારા જ કર્મોનો આ દોષ છે' એવો નિશ્ચય કરતો છતો અપ્રિય કરનાર તરફ પણ પ્રિય ચેષ્ટા કરનાર અથવા આચાર્ય વગેરેને ઈષ્ટ આહારાદિદ્વારા અનુકૂલ કરનાર.

પ્રિયવાદી–કોઈ વડે અપ્રિય કહેવાયો હોય, તે પણ પ્રિયજ બોલવાના સ્વભાવવાળો અથવા આચાર્યના અભિપ્રાયને અનુસરીને બોલનાર.

—એવો ગુણવાન્ શાસ્ત્રના અર્થ ગ્રહણ કરવા રૂપ શિક્ષા પ્રાપ્ત કરવા યોગ્ય થાય છે. અર્થાત્ એનાથી વિપરીત ગુણવાળો અવિનીત, શિક્ષા પ્રાપ્ત કરવા યોગ્ય થતો નથી. જે શિક્ષાને પ્રાપ્ત કરે છે, તે બહુશ્રુત થાય છે. (૧૪)

બહુશ્રુતની પ્રશંસા

શંખની ઉપમા

જેમ શંખમાં સ્થાપન કરેલું દૂધ, બંને પ્રકારે શોભે છે; તેમ બહુશ્રુત ભિક્ષુમાં સ્થાપન થયેલ ધર્મ, કીર્તિ (પ્રશંસા) પામે છે, તેમ શ્રુત પણ શોભે છે.

શંખમાં સ્થાપન કરેલ દૂધ, માત્ર શુદ્ધતા વગેરે પોતાના ગુણ વડે જ નહિ, પરંતુ પોતાના અને આશ્રયના બંને પ્રકારના ગુણો વડે શોભે છે અર્થાત્ તેમા તે કલુષ થતું નથી (બગડી જતુ નથી કે ખાટું થઇ જતું નથી) કે ઝરી જતુ નથી (નીકળી જતું નથી), તેમ ભિક્ષુ (તપસ્વી)માં ધર્મ (યતિધર્મ), કીર્તિ (શ્લાઘા) અને શ્રુત (આગમ) શોભે છે. કહેવાનો આશય એ છે કે–ધર્મ, કીર્તિ અને શ્રુત નિરૂપલેપતા વગેરે ગુણવડે પોતે જાતેજ શોભે છે, તો પણ મિથ્યાત્વ વગેરે કલુષતા જવાથી, નિર્મલતા વગેરે ગુણવડે, બહુશ્રુતમાં રહેલા તે, આશ્રયના ગુણવડે વિશેષ પ્રકારે શોભે છે. તે (ધર્મ, કીર્તિ અને શ્રુત) બહુશ્રુતમા કદાપિ માલિન્ય (અન્યાથાભાવ કે હાનિ) પામતા નથી. (બીજે તો જૂદા પાત્રમાં રહેલ દૂધની જેમ અન્ય પ્રકારને પણ પામે),

વૃદ્ધોની વ્યાખ્યા 'યથા ઔપમ્યમાં' છે–જેમ શંખમા સ્થાપેલું દૂધ, તે શંખ અને દૂધ અથવા સ્થાપનાર અને દૂધ, શંખમાથી ઝરી જતું નથી કે ખાટુ થઇ જતું નથી, શોભે છે. એવી રીતે બહુશ્રુત (સૂત્રાર્થ–વિશારદ–જાણકાર) શોભે છે.

એવી રીતે ભિક્ષુરૂપ ભાજન (પાત્ર)માં આપનારને ધર્મ થાય છે, કીર્તિ (યશ) થાય છે, તથા શ્રુત આરાધિત થાય છે. (અપાત્રમા આપનારનું અશ્રુત જ થાય છે.)

અથવા પાત્રમા આપનાર આ લોક અને પરલોકમાં શોભે છે. અથવા એવો ગુણ જાતિમાન ભિક્ષુ બહુશ્રુત થાય છે. ધર્મ કીર્તિ અને યશ થાય છે. તેનું શ્રુત આરાધિત થાય. અથવા આ લોકમા અને પરલોકમાં તે શોભે છે, અથવા તે શીલવડે અનેશ્રુત વડે શોભે છે. ૧૫

(શ્રેષ્ઠ અશ્વની ઉપમા)

જેમ બધી જાતિના કાબોજ (કંબોજ દેશના ઘોડાઓ)માં કંથક અશ્વ એ શીલ

વગેરે ગુણો વડે આકીર્ણ (ભરપૂર) હોઈ વેગવડે પ્રવર હોય છે એવી રીતે બીજા વ્રતધરો-શ્રુતધરોમા બહુશ્રુત પ્રવર-શ્રેષ્ઠ હોય છે

કથક અશ્વ પત્થરોના ખડોથી ભરેલ પત્ર પડરની ધ્વનિથી ત્રાસ પામતો નથી (ભયભીત થતો નથી)

જિનધર્મ સ્વીકારનાર વતીઓ કાબોજ અશ્વ જેવ કહેવાય તેઓના જાતિ, જવ (વેગ) વગેરે ગુણોવડે કથક પ્રવર હોય છે તેમ ધાર્મિકોના અપેક્ષાએ શ્રુત, શીલ વગેરે ગુણોવડે બહુશ્રુત શ્રેષ્ઠ ગણાય ૧૬

જેમ આકીર્ણ (જાતિ વગેરે ગુણોથી યુક્ત ઘોડા) પર સારી રીતે ચઢેલ, દઢ પરાક્રમી શૂર પુરૂષ બને બાજૂથી (જમણી અને ડાબી અથવા આગળથી અને પાછળથી) નદિ-ઘોષ (બાર પ્રકારના વાજિત્રોના નાદ અને બન્દી-કોલાહલ આશીર્વાદ)થી યુક્ત થાય છે, બહુશ્રુત પણ એવો થાય છે

જેમ એવો શૂર કોઈના વડે પરાભવ પામતો નથી તેમ જ એનો આશ્રિત પણ તેમ જિન-પ્રવચન રૂપી અશ્વનો આશ્રિત બહુશ્રુત પણ ગવિષ્ઠ પરવાદીઓને જોવા છતા પણ કોઈ રીતે ત્રાસ (ભય) ન પામતા તેના વિજયમા સમર્થ થાય છે બને તરફના દિવસ અને રાત્રિના અથવા સ્વપક્ષના અને પરપક્ષના સ્વાધ્યાયના ઘોષવડે, અથવા 'આ બહુશ્રુત ચિરકાળ જીવો, જેમણે પ્રવચનને ઉત્કૃષ્ટ પ્રકારે દીપાવ્યુ' એવા આશીર્વાદરૂપ નાદીઘોષથી યુક્ત થાય છે મદમત્ત પરમત-વાદીઓવડે પણ તે (બહુશ્રુત) પરાભવ પમાડી શકાતો નથી, એટલુ જ નહિ, એવા પ્રતાપી બહુશ્રુત તપતા (વિદ્યમાન્) છતા, તેનો આશ્રિત અન્ય પણ કોઈ પ્રકારે જિતી શકાતો નથી ૧૭

(કુજરની ઉપમા)

જેમ હાથણીઓથી પરવરેલો, સાઠ વર્ષ સુધીનો કુજર બલવાન્ (શરીર-સામર્થ્યવાન) હોઈ અપ્રતિહત હોય છે-બીજા મદમત્ત હાથીઓ વડે પણ તે પરાભવ પમાડી શકાતો નથી, તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે કારણ કે તે બીજાઓના પ્રસરને અટકાવનારી હાથણીઓ જેવી ઓત્પત્તિકી વગેરે બુદ્ધિઓ વડે અને વિવિધ વિદ્યાઓ વડે યુક્ત હોય છે અને તે સાઠ વર્ષના હોઈ અત્યત સ્થિરમતિ હોય છે, તથા તે બલવાન હોઈ અપ્રતિહત (પરાભવ ન પમાડી શકાય તેવા) હોય છે દર્શનનો ઉપઘાત કરનારા બહુજનો વડે પણ તે પ્રતિહત કરી શકાયા નથી ૧૮

[વૃષભની ઉપમા]

જેમ તીક્ષ્ણ શૃગવાળો, અત્યત પુષ્ટ સ્કધવાળો (ઉપલક્ષણથી સમસ્ત પુષ્ટ અગોપાગ) યૂથાધિપતિ (ગાય-બલદોના જૂથનો સ્વામી) વૃષભ શોભે છે, તેમ બહુશ્રુત પણ એવો હોય છે

જેમ વૃષભ, તીક્ષ્ણ શૃંગો વડે પર-પક્ષનો ભેદક હોય છે, તેમ બહુશ્રુત, સ્વ-શાસ્ત્ર, પર-શાસ્ત્રરૂપી શૃંગો વડે યુક્ત હોઈ પર-પક્ષના ભેદક હોય છે. ગચ્છ-ગુરૂના કાર્યની ધુરા ધારણ કરવામાં તે વૃષભ જેવા સમર્થ હોઈ તેમને જાતસ્કન્ધ વિશેષણ ઘટે છે તેવા યૂથાધિપતિ, સાધુ વિગેરે સમૂહના અધિપતિ હોઇ આચાર્ય-પદવીને પામ્યા છતાં વિશેષ પ્રકારે શોભે છે. ૧૯

[સિંહની ઉપમા]

જેમ તીક્ષ્ણ દાઢવાળો, ઉદગ્ર (ઉત્કટ) સિંહ, (અરણ્યવાશી પ્રાણીઓમાં) બીજાઓથી દુષ્પ્રધર્ષ (પરાભવ ન પમાડી શકાય તેવો) મૃગોમાં પ્રવર હોય છે; તેમ બહુશ્રુત પણ એવો હોય છે.

બહુશ્રુત પણ પર-પક્ષ-ભેદક હોય છે, તે તીક્ષ્ણ દાઢ જેવા નૈગમ વગેરે નયો અને પ્રતિભા વગેરે ગુણોથી ઉદગ્ર (ઉત્કટ-પ્રચંડ) હોઇ અન્ય મતાન્તરીય વાદીઓથી પરાભવ ન પમાડી શકાય તેવા, અન્ય તીર્થીમાં પ્રવર શ્રેષ્ઠ હોય છે. ૨૦

[વાસુદેવની ઉપમા]

જેમ વાસુદેવ (વિષ્ણુ) શંખ (પાંચજન્ય), ચક્ર (સુદર્શન) અને ગદા (કૌમોદકી) ધરનાર હોઈને અપ્રતિહત બલવાળો (બીજાઓથી અસ્ખલિત સામર્થ્યવાળો) હોય છે, તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે. જેમ વાસુદેવ સહજ-સામર્થ્યવાળો અને બીજા યોધાઓથી યુક્ત યોધો (સુભટ) હોય છે, તેમ બહુશ્રુત પણ સ્વાભાવિક પ્રતિભા-પ્રાગલ્ભ્યવાળા અને શંખ, ચક્ર, ગદા જેવાં સમ્યગ્ દર્શન, જ્ઞાન અને ચારિત્રવડે યુક્ત હોય છે અને કર્મરૂપી વૈરીઓનો પરાભવ કરવામાં યોધા (સુભટ) જેવા હોઈ અપ્રતિહત બલવાળા (અસ્ખલિત સામર્થ્યવાળા) હોય છે. ૨૧

[ચક્રવર્તીની ઉપમા]

જેમ મહર્ધિક, ચૌદ રત્નોનો અધિપતિ ચતુરન્ત ચક્રવર્તી હોય છે, તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે.

ચારે દિશાના અંત (એક દિશામાં હિમાલય અને ત્રણ દિશામાં સમુદ્રો) જેને હોય છે, અથવા ઘોડા, હાથી, રથ, નરોરૂપી ચતુરંગી સેના વડે જેણે શત્રુઓનો અંત કર્યો છે, એથી જે ચતુરન્ત, તથા છ ખંડ ભરતના અધિપતિ હોઇ જે ચક્રવર્તી કહેવાય છે. મોટી ઋદ્ધિ દિવ્ય લક્ષ્મી મળવાથી જે મહર્ધિક કહેવાય છે. ૧ સેનાપતિ, ૨ ગૃહપતિ, ૩ પુરોહિત, ૪ ગજ, ૫ તુરંગ (અશ્વ), ૬ વર્ધકી ૭ સ્ત્રી, ૮ ચક્ર, ૯ છત્ર, ૧૦ ચર્મ, ૧૧ મણી, ૧૨ કાકણિ, ૧૩ ખડ્ગ અને ૧૪ દંડ એ ચૌદ રત્નોના અધિપતિ હોય છે, તેવી રીતે બહુશ્રુત પણ હોય છે.

—તે સમુદ્ર-પર્યન્ત મહી-મંડલમાં પ્રખ્યાત કીર્તિવાળા હોય છે-ત્રણે દિશા-

ઓમા અને અન્યત્ર વિદ્યાધરો મ ગલ પાઠક બનેલા હોવ થી ચારે દિશામા તેમની કીર્તિ ફેલાયેલી હોવાથી ચતુરન્ત કહેવાય, અથવા દાન, શીલ, તપ ભાવ એ ચાર પ્રકારના ધર્મોવડે જેના કર્મરૂપી વેરીઓને વિનાશ થયેલ હોવાથી તે ચતુરન્ત કહેવાય આમર્શ ઔષધિ વગેરે ઋદ્ધિઓ અને 'ચક્રવર્તી સાથે મહાયુદ્ધ કરી શકે' એવી પુનાક લબ્ધિ વગેરે મોટી ઋદ્ધિઓ પ્રાપ્ત થવાથી તે મહર્દ્ધિક કહેવાય તેમજ બહુશ્રુતને ચૌદ રત્નો જેવા, સકળ અતિશયોના નિધાન ચૌદપૂર્વો પ્રાપ્ત થયા હોય છે-એથી એમને ચક્રવર્તી તુલ્ય કેમ ન કહી શકાય ? ૨૨

શક્રની ઉપમા

જેમ સહસ્રાક્ષ વજ્રપાણિ પુરદર શક્ર દેવોનો અધિપ ત હોય છે, તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે

ઇ દ્રને સહસ્રાક્ષ (હજાર આંખોવાળો) એથી કહેવામા આવે છે કે તેને પાચસો મ ત્રીઓ હોય છે, તેમની હજાર આંખોવડે તે વિક્રમ કરે છે અથવા હજાર આંખોવડે જે જોઈ શકાય, તે, તે (ઇ દ્ર) બે આંખોવડે જ વિશિષ્ટ પ્રકારે જુએ છે વજ્ર હથિયાર હાથમા હોવાથી તે વજ્રપાણિ કહેવાય છે લોકોક્તિ પ્રમાણે પુરને દારણ કરવાથી તે પુરદર કહેવાય છે તે શક્ર દેવોનો અધિપતિ (સ્વામી) હોય છે, તેવો બહુશ્રુત હોય છે હજાર આંખો જેના સમસ્ત અતિશયવાળા રત્ન નિધાન જેવા શ્રુતજ્ઞાનવડે તે જાણે છે એવા મહાપુરુષના હાથમા વજ્ર (લક્ષણ) હોવા સ ભવ છે, એથી તે વજ્રપાણિ કહી શકાય પુર શબ્દવડે શરીર કહેવાય, તેને તે વિકૃષ્ટ તપોઽનુષ્ઠાનથી જાણે દારણ કરતા હોય તેવા હોવાથી તે પણ પુરદર કહી શકાય ધર્મમા અત્ય ત નિશ્ચલ હોવાથી શક્રની જેમ દેવોવડે પણ તે પૂજાય છે, એથી દેવોના અધિપતિ પણ કહેવાય કહ્યુ છે કે

"देवा वि त नमसन्ति, जस्स धम्मे सया मणो।"

અર્થાત્ દેવો પણ તેને નમે છે, જેનુ મન સદા ધર્મમા હોય છે ૨૩

સૂર્યની ઉપમા

જેમ તેજથી ઝળહળતો સૂર્ય અ ધકારનો વિધ્વ સ કરનાર હોય છે, તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે

અ ધકારનો વિધ્વ સ કરનાર ઊગતો સૂર્ય આકાશમા ચડતા અત્ય ત તેજસ્વિતા ધારણ કરે છે અથવા ઊગતી વખતે (ઉદય પામતા) એ તીવ્ર હોતો નથી, પછી તેજ વડે જ્વાલાને મૂક્તો હોય તેવો જણાય છે બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે- તે અજ્ઞાનરૂપ અ ધકારને દૂર કરનાર અને સ યમના સ્થાનોમા વિશુદ્ધ વિશુદ્ધતર અધ્યવસાયથી ઉચે ચડતા અને તપ તેજવડે જળહળતા હોય છે ૨૪

ચ દ્રની ઉપમા

જેમ ઉડુપતિ (નક્ષત્રોનો સ્વામી) ચ દ્ર, નક્ષત્ર (અને ગ્રહો, તારાઓ) વડે પરિવારવાળો

અને પૂર્ણિમાએ પ્રતિપૂર્ણ (સમસ્ત કલાઓથી યુક્ત) હોય છે: તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે, તે નક્ષત્રો જેવા અનેક સાધુઓના અધિપતિ, તથા તેવા પરિવારથી યુક્ત હોય છે અને સકળ કળાઓથી યુક્ત હોઇને પ્રતિપૂર્ણ હોય છે. ૨૫

કોઠારની ઉપમા

જેમ સામાજિક લોકોનો કોઠાર, વિવિધ ધાન્યોથી પરિપૂર્ણ અને સુરક્ષિત હોય છે. તેમ બહુશ્રુત એવા હોય છે.

શ્યામા (અતસી) વગેરે ધાન્યોના કોઠાનું અગાર, ઘણાં ધાન્યોનું સ્થાન હોય છે. અગ્નિ વગેરેના ભયથી જ્યાં ધાન્યોના કોઠા કરાય છે, તે કોઠાર કહેવાય છે. તે પહેરેગીર વગેરે દ્વારા રક્ષિત હોય છે. ચોરો, ઉંદરો વગેરેથી પણ સુરક્ષિત હોય છે. શાલિ (ચોખા), મગ વગેરે વિવિધ ધાન્યોથી પ્રતિપુર્ણ હોય છે. એવી રીતે બહુશ્રૂત સામાજીક લોકોની જેમ ગચ્છવાસીઓને ઉપયોગી વિવિધ ધાન્યો જેવા અંગો, ઉપાંગો, પ્રકીર્ણકો વગેરે પ્રકારના શ્રુતજ્ઞાન વિશેષોવડે પ્રતિપૂર્ણ હોય છે. પ્રવચનના આધારભૂત હોવાથી સુરક્ષિત હોવા ઘટે છે. જેથી કહ્યું છે કે જેને આધીન કુલ છે, તે પુરૂષની તમે આદરથી રક્ષા કરો. ૨૬

જંબૂવૃક્ષની ઉપમા

જેમ બધા વૃક્ષોમાં જબૂ નામનું વૃક્ષ પ્રવર (પ્રધાન શ્રેષ્ઠ), સુદર્શન (દર્શન કરવા યોગ્ય) હોય છે. કારણકે એ અમૃત જેવાં ફળવાળું અને દેવો વગેરેના આશ્રય વાળું હોય છે. તેવું બીજું વૃક્ષ નથી. જંબૂનું વૃક્ષપણું અને ફલ-વ્યવહાર તેનું પ્રતિ-રૂપ હોવાથી કરાય છે. વાસ્તવિકરીતે પ્રાર્થિવ કહેલ છે. તેના મૂળ વગેરેને વજ્રમય, વૈડુર્યમય વગેરે પ્રકારનાં ત્યાં ત્યા કહ્યાં છે. એ જંબૂ અનાદૃત નામના દેવનું (જંબૂદ્વીપના અધિપતિ વ્યંતર સુરના આશ્રયવડે એના સંબંધવાળું) સમજવું. તેમ બહુશ્રુત એવા હોય છે. તે અમૃતની ઉપમાં આપી શકાય તેવા ફળ જેવાં શ્રુતથી યુક્ત હોય છે અને દેવો વગેરેના પણ પૂજ્ય હોવાથી અભિગમન કરવા યોગ્ય હોય છે. તથા બીજાં વૃક્ષો જેવા સાધુઓમાં પ્રધાન હોય છે. ૨૭

શીતા નદીની ઉપમા

જેમ, નદીઓમાં પ્રવર (પ્રધાન) શીતા નદી શ્રેષ્ઠ, વિમલ સલિલવાળી હોય છે. તે સાગર તરફ ગમન કરનારી તથા તે નીલવાન (મેરૂની ઉત્તર દિશામાં રહેલા વર્ષધર પર્વત) થી ઉત્પત્તિવાળી અથવા પ્રવાહવાળી હોય છે. બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે. તે બહુશ્રુતિ નદીઓ જેવાં અન્ય સાધુઓમાં અથવા સમસ્ત શ્રુતજ્ઞાનિઓમાં પ્રધાન હોય છે અને વિમલ જલ શમાન શ્રુત જ્ઞાનથી યુકત હોય છે, તથા તે સાગર જેવા મુકિત સ્થાનમાંજ જાય છે. કારણકે મુકિતને ઉચિત અનુષ્ઠાનમાંજ તેમની પ્રવૃત્તિ હોય છે. બીજા દર્શની (મતાંતરીય) જનોની જેમ દેવ વિગેરેના ભવમાંજ એ

વિવેકીને વાછા હોતી નથી, તેથી તેઓની જેમ તેમનુ જન્મ વચ્ચે અવસ્થામા કેમ થાય? નીલવાનની જેવા ઉચામા ઉચા મહાકુલથી જ એમની ઉત્પત્તિ ઘટે છે એમ ન હોય તો તેમા એવા પ્રકારની યોગ્યતાનો સભવ કેવી રીતે હો શકે ૨૮

મદરગિરિની ઉપમા

જેમ પર્વતોમા પ્રવર (અતિપ્રધાન) અત્યત મહાન્ (અતિશય ગુરૂ અત્યુચ્ચ) મદરનામનો ગિરિ છે તે વિવિધ ઔષધિઓ (અનેક પ્રકારના વિશિષ્ટ મહાત્મ્યવાળી વનસ્પતિઓ) વડે પ્રજ્વલિત (પ્રદીપ્ત) હોય છે, એવી રીતે બહુશ્રુત પણ તેવા હોય છે શ્રુતના મહાત્મ્યવડે તે અત્યન્ત સ્થિર હોય છે બીજા પર્વત સમાન બીજા સ્થિર સાધુઓની અપેક્ષાએ પ્રવરજ હોય છે તથા અધકારમા પ્રકાશન શક્તિથી યુક્ત આમર્શ ઔષધિ વગેરે તે બહુશ્રુતમા અત્યત પ્રતીતજ છે ૨૯

સ્વયભૂરમણ સમુદ્રની ઉપમા

બહુ કહેવાથી શુ? જેમ સ્વયભૂરમણ નામનો સમુદ્ર અક્ષય (અખૂટ) પાણી વાળો હોય છે, તથા વિવિધ પ્રકારના રત્નો (મરકત વગેરે) વડે તે પ્રતિપૂર્ણ હોય છે તેમ બહુશ્રુત પણ એવા હોય છે તે અક્ષય સમ્યગ્જ્ઞાનરૂપ પાણીવાળા, તથા વિવિધ અતિશયરૂપી રત્નોવાળા હોય છે, અથવા અક્ષત ઉદય (પ્રાદુર્ભાવ) વાળા હોય છે ૩૦

બહુશ્રુતોની ઉત્તમગતિ (મુક્તિ)

ગાભીર્ય ગુણવડે સમુદ્ર સમાન, અભિભવની બુદ્ધિવડે દુખે પ્રાપ્ત કરી શકાય, દુખે આશ્રય કરી શકાય તેવા, કોઈ પરિષહ વગેરેથી ત્રાસ ન પમાડી શકાય તેવા, પર પ્રવાદીવડે પ્રધર્ષ–પરાભવ ન પમાડી શકાય તેવા, વિપુલ (અગ અનગ વગેરે ભેદથી વિસ્તાર વાળા) શ્રુતવડે (આગમ વડે) પૂર્ણ એવા રક્ષણ કરનારા પૂજ્ય બહુશ્રુતો (જ્ઞાનાવરણાદિ) કર્મ (ભૂતકાળમા) ખપાવીને (વિનષ્ટ કરીને) ઉત્તમ ગતિ (મુક્તિ) ને પામ્યા છે, વર્તમાનમા પામે છે અને અને ભવિષ્યમા પામશે ૩૧

એવી રીતે બહુશ્રુતની ગુણ વર્ણનવાળી પૂજાનુ કથન કરી અતમા શિષ્યને ઉપદેશ આપતા ત્યા સૂત્રકારે કહ્યુ છે કે

એવી રીતે બહુશ્રુતના ગુણ મુક્તિ–ગમન–ફળ પરિણામવાળા છે તેથી ઉત્તમ અર્થના (મોક્ષના) ગવેષકે શ્રુત (આગમ) નો અધ્યયન, શ્રવણ, ચિન્તન વગેરે દ્વારા આશ્રય કરવો જોઈએ જેથી (શ્રુતના આશ્રયવડે) તે પોતાને અને પરને (બીજા તપસ્વી વગેરેને) સિદ્ધિએ અવશ્ય પહોચાડે પદે એમા સદેહ નથી ૩૨

જૈન શાસનમા એવા બહુશ્રુતો બહુ પ્રકારે બહુશ્રુતોને સદા વદન હો તેમનુ સન્માન–પૂજન યોગ્ય ગણાય

જૈન ધર્મની અતિ વિશાલતા

લેખક : શતાવધાની પંડિત ધીરજલાલ ટોકરશી શાહ

જૈન ધર્મ અતિ વિશાળ છે, એમ કહેવામાં જરા પણ અત્યુક્તિ નથી; કારણ, ભક્તિયોગની ભવ્યતા જોવી હોય તો એમાં જોઈ શકાય છે, જ્ઞાનયોગનું ગૌરવ દેખવું હોય તો એમાં દેખી શકાય છે, કર્મયોગની કઠિનતા નિહાળવી હોય તો એમાં નિહાળી શકાય છે અને અધ્યાત્મનો અનેરો પ્રકાશ અવલોકવો હોય તો એમાં અવલોકી શકાય છે વળી તત્વજ્ઞાનની તલસ્પર્શિતા કે દર્શન શાસ્ત્રની દિવ્યતા, કલાની કમનીયતા કે સાહિત્યની સૌંદર્યધારા દષ્ટિ ગોચર કરવી હોય તો પણ એમાં ઘણીજ સરલતાથી દષ્ટિ-ગોચર કરી શકાય છે. આ વિષયમાં એક નાનકડો પ્રસંગ અહીં રજુ કરવા માગું છું.

આજથી ત્રણ વર્ષ પહેલાં શ્રીનમસ્કાર મહામંત્રના સાહિત્ય-સંશોધન અંગે કલકત્તા જવાનું થયું, ત્યારે એક સુપ્રસિદ્ધ વિદ્વાને મને પૂછ્યું કે ' જૈન ધર્મમાં બધું છે, પણ તંત્રનો સંગ્રહ છે ખરો ?

મેં તેજ વખતે તેમને મારી પાસેની નાનાં-મોટાં ૫૦૦ તંત્રની યાદી બતાવી. એટલે તેમના આશ્ચર્યનો પાર રહ્યો નહિ. તેઓ તરત જ બોલી ઉઠયા : શું અધ્યાત્મ વાદી જૈનોએ તંત્રશાસ્ત્રમાં પણ આટલી બધી પ્રગતિ કરીછે? હું બે વર્ષ પહેલાં સૌરાષ્ટ્રના પ્રવાસે આવ્યો. ત્યારે તમારા બે ત્રણ આગેવાનો સાથે મુલાકાત થઈ હતી. તેમને મેં આ વિષયમાં પૂછ્યું, ત્યારે એવો ઉત્તર મળ્યો હતો કે અમારામાં એવું કંઈ છે નહિ. તંત્ર-યંત્ર જોડે અમારે શું લેવા-દેવા ? અમે તો અધ્યાત્મના ઉપાસક. એટલે અમારી પાસે ઘણાભાગે અધ્યાત્મના જ ગ્રંથો હોય.'

મેં કહ્યું : ઉત્તર ઉપરથી લાગે છે કે એ આગેવાનો શ્રીમંત વેપારીઓ હશે કે જેમને સાહિત્ય સાથે મોટા ભાગે બારમો ચંદ્રમા ચાલે છે. કોઈ વાર વિદ્વાનો કે પંડિતોને નોતરી તેમની સાથે સાહિત્ય-સર્જન, સાહિત્ય-પ્રચાર કે સંશોધન અંગે વાત-ચીત કે ચર્ચા કરે તો ખબર પડે ને કે તેમાં શું ખજાનો ભરેલો છે? આ વિષયમાં મારે એટલું જ કહેવાનું છે કે જૈન ધર્મનું દૃષ્ટિબિંદુ અતિ વિશાળ છે. તે દરેક શાસ્ત્રને જ્ઞાનનું એક અંગ માની તેનો પોતાની અંદર સમાવેશ કરે છે. જૈન શાસ્ત્રના મૂળ પ્રણેતા ગણધર ભગવંતોએ બારમા દૃષ્ટિવાદ અંગની રચના કરતાં ચૌદ પૂર્વોની રચના કરી અને તેમાં વિદ્યાપ્રવાદ નામનું દશમું પૂર્વ નિર્માણ કર્યું કે જેમાં જગતની તમામ ગૂઢ વિદ્યાઓનો સમાવેશ થાય છે. તેમાંથી જૈનોએ તાંત્રિક વિકાસ સાધ્યો છે.

તેમને મારી આ વાતમાં ખૂબ જ રસ પડ્યો, એટલે એક વિશેષ પ્રશ્ન રજૂ કર્યો ' શું જૈનતંત્રમાં આકાશગામિની વિદ્યા સંબંધી કંઇ લખેલું છે ?

મેં કહ્યું , અમારા સાહિત્યમાં શ્રીપાદલિપ્તસૂરિની જીવનકથા પ્રસિદ્ધ છે, તેમાં સ્પષ્ટ જણાવ્યું છે કે તેઓ અમુક પ્રકારની ઔષધિઓનો પગ ઉપર લેપ કરી તેના

બળથી આકાશમાર્ગે ગમન કરતા હતા અને અષ્ટાપદાદિ અતિ દૂર રહેલા તીર્થોની યાત્રા ક્ષણમાત્રમા કરીને પાછા આવી જતા હતા નાગાર્જુન નામના પ્રસિદ્ધ રસશાસ્ત્રીએ તેમની પાનથી એ વિદ્યા ગ્રહણ કરવા માટે કેવા-કેવા પ્રયત્નો કર્યા અને આખરે તેને ગુરુકૃપાથી એ વિદ્યા કેવી રીતે સિદ્ધ થઈ, તેનુ વિશદ વર્ણન આ વિષયમા, જૈન તાન્ત્રિકોએ કેવી અદ્ભુત પ્રગતિ કરી હતી, તેનુ પુષ્ટ પ્રમાણ પૂરુ પાડે છે

આવી ખપુટાચાર્ય અને તેમના સુશિષ્ય મહેન્દ્રમુનિએ પણ આ વિષયમા સારી પ્રગતિ કરી હતી, એમ પ્રબન્ધકારો જણાવે છે અને તેના સમર્થનમા કેટલાક દાખલાઓ પણ ટાકે છે વળી 'વિવિધ તીર્થ-કલ્પના'ના રચયિતા શ્રી જિનપ્રભસૂરિએ શ્રી બપ્પભટ્ટસૂરિજીની આ ચમત્કારિક મહાન્ શક્તિનો ઉલ્લેખ કરતા મથુરા કલ્પમા જણાવ્યુ છે કે 'सित्तुंजे रिसह, गिरिनारे नेमिं, भरुअच्छ मुणिसुव्वय, मोढेरए वीरं, महुराए सुपास पास घडिआ दुग भतरे नमित्ता, सोरट्ठे ढुढण विहरित्ता, गोवालगिरिंमि जो भुजेइ तेण आमराय-सेविअ कमकमेण सिरिबप्पहट्टि सूरिणा अट्ठसयछव्वीसे (८२६) विक्कम सवच्छरे सिरिवीरबिंब महुराए ठविअ ॥ અર્થાત્ શત્રુજય પર શ્રી ઋષભદેવને, ગિરનારમા શ્રીનેમનાથને, ભરૂચમા શ્રીમુનિસુવ્રતસ્વામીને, મોઢેરામા શ્રીવીરભગવાન્ને અને મથુરામા શ્રીસુપાર્શ્વનાથ તથા શ્રીપાર્શ્વનાથને બે ઘડીમા નમસ્કાર કરીને (એવીરીતે) સોરઠમા ઢુઢણ તરફ વિચરીને જે ગોપલગિરિ (આધુનિક ગ્વાલિયર)મા જઈને ભોજન કરતા હતા, આમ રાજાએ જેમના ચરણ કમલોની સેવા કરી હતી, એ બપ્પભટ્ટસૂરિએ વિક્રમ સવત ૮૨૬ મા મથુરામા શ્રી વીર જિનેશ્વરનુ બિબ સ્થાપિત કર્યુ હતુ એટલે જૈન તન્ત્રવિશારદોમા આ વિદ્યા પરપરાગત ઉતરી આવી હતી અને ઘણા લાબા કાળ સુધી ચાલી હતી, એ નિર્વિવાદ છે

શ્રીપાદલિપ્તસૂરિએ શ્રીશત્રુજયગિરિ ઉપર નીચેની બે ગાથાઓ વડે શ્રી વીર પ્રભુની સ્તુતિ કરી હતી, તેમા આકાશગામિની વિદ્યા તથા સુવર્ણસિદ્ધિ છુપાવેલી છે, એવો પ્રવાદ છે —

> सुकुमालधीरसोमा रत्तलसिणपडुरा सिरिनिकेया ।
> सीयकुसगहभीरू जलथलनहमडणा तिन्नि ॥ १ ॥
> न चयति वीरलील हाउ जे सुरहिमत्तपडिपुन्ना ।
> पक्य गइदचन्दा लोयणवकमियमुहाण ॥ २ ॥

ગુરુગમ વિના આવી ગૂઢ ગાથાઓનો અર્થ ઉકેલવો એ ઘણુ કપરુ કામ છે, આમ છતા તન્ત્ર-મન્ત્રવિશારદ શ્રીજિનપ્રભસૂરિજીએ વિ સ ૧૩૮૦ મા તેના પર એક અવચૂરિ રચીને અર્થ પર પ્રકાશ પાડવા પ્રયત્ન કર્યો છે, તે આ વિષયમા રસ ધરાવનારાઓએ જરૂર જોવા જેવો છે પ્રસ્તુત અવચૂરિ મુબઈની ફાર્બસ સભા તરફથી પ્રકાશિત થયેલા શ્રી ચતુર્વિશતિ પ્રબધના ગુજરાતી અનુવાદમા પ્રકટ થયેલી છે

જઘાચારણ અને વિદ્યાચરણ મુનિઓ આકાશમા વિચરવાનો ઉલ્લેખ જૈન

શાસ્ત્રોમાં અનેક સ્થળે થયેલો છે, પરંતુ એ વિષય તપોબલથી ઉત્પન્ન થતી લબ્ધિનો હોવાથી અહીં પ્રસ્તુત નથી. તેજ રીતે યંત્ર બળે આકાશ ગમન થતું કે જેની હકીકત કલાધર કોકાશ વગેરેનાં કથાનકોમાંથી પ્રાપ્ત થાય છે, પરંતુ તે વિષય શુદ્ધ યંત્રકલાનો હોવાથી અહીં ચર્ચવાની આવશ્યકતા નથી

મારા આ લંબાણ ખુલાસાથી ખુબ ખુશી થયેલા એ વિદ્વાન મિત્રે થોડા વધુ પ્રશ્નો પૂછવાની જિજ્ઞાસા પ્રકટ કરી અને તેના યથાશકિત ઉત્તર આપવાનો મેં સહર્ષ સ્વીકાર કર્યો, એટલે તેમણે પુછયું : ઉપરની બે ગાથાઓમાં સુવર્ણ સિધ્ધિ છુપાયેલી હોવાનો પ્રવાદ તમે રજૂ કર્યો, પણ તે અંગે કોઈ સ્વતંત્ર કલ્પની રચના થયેલી જોઈ છે ?

મે કહ્યુંઃ 'શ્રી સિદ્ધસેન દિવાકર, શ્રી દેવચંદ્રસૂરિ આદિ અનેક જૈનાચાર્યો સુવર્ણસિધ્ધિના જાણકાર હતા, એટલે તે સંબંધી સ્વતંત્ર કલ્પોની રચના અવશ્ય થઇ હશે, પણ હજી સુધી મારા જોવામાં આવ્યાં નથી. મ્હૈસૂરના પ્રવાસ દરમિયાન શાસ્ત્રી ભીમરાજજીએ મને જણાવ્યું હતું કે આ પ્રદેશમાં આવી સામગ્રી પુષ્કળ પડેલી છે અને મે નાગાર્જુન વિરચિત સુવર્ણકલ્પ જોયેલો છે, કે જે હાલ એક બ્રાહ્મણ જૈન બંધુના કબજામાં છે. તેમણે મને એ સુવર્ણકલ્પનું મંગલાચરણ પણ સંભળાવ્યું હતું. બેંગલોરના એક જૈન તંત્રવિશારદની પાસે પણ આવો કલ્પ હોવાની માહિતી મને મળેલી છે, એટલું જ નહિ પણ તેઓ આ વિષયમા પુષ્કળ ધનવ્યય કરીને પ્રયોગો કરી રહ્યા છે, એમ પણ મેં જાણ્યું છે.'

આ ઉત્તર સાંભળીને તે વિદ્વાન મિત્રે કહ્યું કે તમારી કોઈ પણ સંસ્થાએ, આ બધાં સાહિત્યનો સંગ્રહ કરવો જોઇએ, તેનું વ્યવસ્થિત સંશોધન કરાવવું જોઇએ અને તેને એક ગ્રંથમાળાનાં રૂપમાં પ્રગટ કરવું જોઈએ, જેથી તે વિષયમાં રસ ધરાવનારાઓને પૂરતી સામગ્રી મળી રહે અને અમારા જેવાઓને અભ્યાસમાં અનુકૂળતા થાય

મેં કહ્યું: 'મહાશય! અમારું કલેવર ઉજળું લાગે છે, પણ આંતરિક સ્થિતિ ઘણી જ કથળી ગયેલી છે. સંપ, સહકાર અને દીર્ઘદષ્ટિના અભાવે અમે આજ સુધી એવી કોઈ મોટી સંસ્થા ઉભી કરી શકયા નથી કે જે આ જાતનું કામ ઉપાડી શકે. અલબત્ત, અમારામાં સાહિત્ય પ્રકાશનનું કામ કરતી કેટલીક સંસ્થાઓ અસ્તિત્વ ધરાવે છે. કેટલીક તો માત્ર મરવાના વાંકે જ જીવે છે. જયાં સમાજના અગ્રણીઓને આંતરિક રસ જ ન હોય ત્યાં બીજું બને પણ શું ?

તેમણે કહ્યું: 'હું તો આજ સુધી એમ જ સમજતો હતો કે આ વિષયમાં તમારા સમાજની સ્થિતિ ઘણી સંગીન છે, પણ તમારા મુખેથી આ શબ્દો સાંભળ્યા પછી મને લાગે છે કે વાત બહુ વિચારવા જેવી છે. જે સમાજના પુર્વગામીઓએ વિદ્યાભ્યાસંગ માટે ક્રોડો રૂપિયાનો ખર્ચ કર્યો અને પુરુષાર્થ અજમાવવામાં કોઈ જાતની કચાશ રાખી નહિ, તેની આજે આ હાલત ? વારુ, આપણે મૂળ વિષય ઉપર આવીએ તમારામાં આજે કોઇ એવો ગ્રંથ વિદ્યમાન છે કે જેમાં જૈન તંત્રની તમામ આરાધનાઓ કે આમ્નાઓનો સંગ્રહ થએલો હોય ?'

મે કહ્યુ 'એવા ત્રણ ગ્રથો વિદ્યમાન છે, પરંતુ તેમાના એકનુ અવલોકન કરવાનો પુણ્ય પ્રસંગ પ્રાપ્ત થયેલો છે આ ગ્રથનુ નામ છે વિદ્યાનુવાદ, ચૌદમી સદી સુધીની પ્રચલિત આરાધનાઓ અને આમ્નાઓ તેમા સગ્રહિત થયેલી છે અને વિશેષ આનદની વાત તો એ છે કે તેમા આ વિષયને લગતા અખ્યાબધ ચિત્રો સફાઈથી દોરેલા છે, એટલે વિષય સમજવામા ઘણી સરલતા પડે છે'

તેમણે કહ્યુ 'અમે તો અમાનુ કઈજ જણાતા નથી પણ એ તો કહો કે વર્ણમાલા અગે જૈન તાન્ત્રિકોઓ કોઇ મહત્વપૂર્ણ રચના કરી છે કે કેમ ?'

મે કહ્યુ 'જ્યા સરોવર શીતળ જળથી છલોછલ ભરેલુ હોય ત્યા ખોબો પાણીની ખામી રહે ખરી ? શ્રી સમતભદ્રાચાર્યે મત્રવ્યાકરણ બનાવ્યુ છે, તેમા ૧૬ સ્વરો અને ૩૩ વ્યજનોની અગાધ શકિતનુ વર્ણન કરેલુ છે અને તેના વાહન વગેરેની પણ પ્રચુર માહિતી આપેલી છે'

તેમણે કહ્યુ 'જ્યા આવી સુદર રચનાઓ થયેલી હોય ત્યા મત્રના બીજકોષ કે નિઘટુ રચાયા વિના કેમ રહે ? જો કે મે હજી સુધી એવી કોઇ કૃતિનુ નામ સાભળ્યુ નથી'

મે કહ્યુ 'આપની કલ્પના સાચી છે, પરતુ આપને હજી સુધી એવી કોઇ કૃતિનું નામ મળી શકયુ નહિ, એ અમારી સાહિત્ય પ્રકાશન અગેની ઉપેક્ષાનુ પરિણામ છે તે માટે અમને માફ કરો આપ જે કૃતિનુ નામ જણવા ચાહો છો તે છે બ્રહ્મવિદ્યા વિધિ ઉર્ફે મત્રસાર સમુચ્ચય તેમા આપ જૈન તત્રોમા વપરાતા તમામ બીજની ઉત્પત્તિ અને તેના પર્યાય વાચક શબ્દો જોઇ શકશો'

અમારો આ વાર્તાલાપ પૂરો થયો, ત્યારે તેમના મનમા જૈન ધર્મની અતિ વિશાળતા ઉતરી ચૂકી હતી અને હુ તેમના અભ્યાસ માટે જોઇતી સામગ્રી પૂરી પાડવાનુ વચન આપી ચૂકયો હતો

નવપદો અને તેનું સ્વરૂપ

લેખક : ફતેચંદ ઝવેરભાઈ, મુંબઈ. ૨.

જૈન દર્શન કથિત નવપદો-અરિહંત, સિદ્ધ, આચાર્ય, ઉપાધ્યાય, સાધુ, દર્શન, જ્ઞાન ચારિત્ર અને તપનું આરાધન મુક્તિરૂપ સાધ્ય (પ્રાપ્ત) કરવા માટે પુષ્ટાલંબન રૂપ છે. શ્રીમદ્ યશોવિજયજી ઉપાધ્યાય કહે છે કે :—

" યોગ અસંખ્ય છે જિન કહ્યાં; નવ પદ મુખ્ય તે જાણો રે "

આ વાક્યનો ફલિતાર્થ એ છે કે આત્માને કર્મથી મુક્ત થવામાં અસંખ્ય નિમિત્તો છે. પણ તેમાં બલવાન્ નિમિત્ત કોઈ પણ હોય તો એ છે નવપદનું આરાધન.

આ આરાધન દ્રવ્ય અને ભાવથી બે રીતે થઈ શકે છે; છ ઓળીઓમાં ચૈત્ર અને આસો માસની બે ઓળી શાશ્વતી છે; તે વખતે શ્રી નંદીશ્વર દ્વીપમાં દેવો અવશ્ય ઉત્સવ માટે જાય છે; ઉત્સવ ઉજવે છે. દરેક વરસમા બે વખત નવ નવ દિવસનાં આયંબિલો રૂપ ઓળી, પ્રતિક્રમણ, દેવપૂજન, નવકારવાલી ગુણુ વિગેરે ક્રિયાઓથી દ્રવ્ય રૂપે આરાધન થઈ શકે છે. અને નવપદોનું રહસ્ય સમજી તેના ધ્યાનમાં તલ્લીન થવા રૂપ તેમજ આત્મા સાથે તેનું ઐક્ય કરવા રૂપ જે કાર્ય કરાય તેને ભાવ આરાધન કહેવામાં આવે છે.

પિંડસ્થ, પદસ્થ, રૂપસ્થ અને રૂપાતીત એ ધ્યાનના ચાર પ્રકાર છે. નવપદોનું ધ્યાન એ પદસ્થ ધ્યાન છે શ્રીમદ્ હેમચંદ્રાચાર્યે યોગશાસ્ત્રમાં ફરમાવેલું છે એ રીતે મન, વચન, કાયાના યોગો સ્થિર કરીને પ્રત્યેક પદની આત્માના ગુણ ગુણી રૂપે વિચારણા (ચિંતવન) કરતાં પદોના ધ્યાનથી સફળતા થાય છે. ધ્યાતા, ધ્યેય અને ધ્યાનની એકતા થતાં આત્મા અંતરાત્મ સ્વરૂપ મારફતે ક્રમે ક્રમે પરમાત્મ સ્વરૂપ બની જાય છે. અને કરે છે સાધ્યની સિદ્ધિ.

આ નવપદના ધ્યાનના અધિકારી છેલ્લા પુદ્ગલ પરાવર્તમાં આત્મા પ્રવેશ કરે ત્યાર પછી ચરમ કરણી (નિવૃત્તિ કરણ) વાળા આત્માઓ થઈ શકે છે. પૂર્વ કર્મની કોટાકોટીઓ ક્ષય થયા પછી જ આટલા વિકાશ ક્રમ પર આત્મા પહોંચે છે. નવપદનાં પ્રથમ પાંચ પદો ગુણીનાં છે અને પછીનાં ચાર પદો ગુણ છે. પ્રથમનાં બે પદો દેવતત્વ છે. પછીનાં ત્રણ પદો ગુરુતત્વ છે. અને છેલ્લાં ચાર પદો ધર્મતત્વ છે. આ રીતે નવપદોમાં દેવ, ગુરુ અને ધર્મ એ ત્રણેય તત્વોનો સમાવેશ થાય છે.

નવ એ અખંડ આંક છે. નવપદજીનો આકાર પણ દાતની ચૂડી જેવો ગોળાકાર અને અખંડ છે. તેની શરૂઆત પણ નથી અને અંત પણ નથી. અર્થાત્ અનાદિ-અનંત છે, સત્ય અને નિર્મળ ધર્મ સ્વાભાવિક રીતે જ આદિઅંતવાળો હોતો નથી. શાશ્વત હોય છે; આ અખંડ તત્વને આરાધનાર અખંડ સુખનો ભોક્તા ક્રમે ક્રમે થાય છે.

અરિહંત પદ ધ્યાતો થકો, દવ્વહ ગુણ પજ્જાયરે,
ભેદ છેદ કરી આતમા, અરિહંત રૂપી થાય રે

શ્રીમદ્ ઉ શ્રીયશોવિજયજી, રચિત પૂજાની છેલ્લી ઢાળો છે અને તે નિશ્ચય નયની છે, વ્યવહાર નયથી નવપદજીની આરાધના ક્રિયા રૂપ છે અને નિશ્ચય નયથી આત્મા પોતે જ 'અરિહંત' કેમ થઇ શકે? આત્મા પોતે જ પોતાના પુરુષાર્થથી સિદ્ધ કેમ થઈ શકે? આચાર્ય, ઉપાધ્યાય અને સાધુ અવસ્થા વાળો આત્મા ક્યારે કહેવાય? સમ્યગ્ દર્શન, સમ્યગ્ જ્ઞાન, સમ્યગ્ ચારિત્ર અને સમ્યગ્ તપ ગુણો વાળો આત્મા પોતે જ તે તે ગુણોમા કેવી રીતે ભળી જાય? પોતાનો વિકાશ કેમ સાધી શકે? એ નિશ્ચય દ્રષ્ટિએ જાણવુ અતિ અગત્યનુ છે, સર્વ ક્રિયાઓ સાધ્ય મેળવવા માટે જ છે અશુભ ક્રિયાઓમાથી હટી જઇ શુભ ક્રિયાઓ કરતા કરતા, શુદ્ધ ક્રિયા નિર્જરા રૂપ થવા માટે છે અરિહંત ભગવાન પણ પહેલા આપણા જેવા બહિરાત્મા હતા પરંતુ તેમણે આત્મ જાગૃતિ કરી સમ્યગ્ દર્શનની પ્રાપ્તિ સાથે શુભ સસ્કારો એકઠા કરી આત્માના અનેક ગુણોને વીકસાવી પુરુષાર્થ પૂર્વક વીશ સ્થાનક કે એમાના કોઈપણ એક સ્થાનકનુ આરાધન કરી તીર્થંકર નામકર્મ બાધ્યુ અને ચાર ઘાતી કર્મોને પ્રચડ પુરુષાથ પૂર્વક અલગ કરી ભાવતીથકરપણુ પ્રાપ્ત કર્યું અને પોતાના આત્મ રૂપ દ્રવ્યમા કેવળજ્ઞાન-દર્શનાદિ ગુણો સપૂર્ણપણે પ્રગટાવ્યા તે અનુસારે વર્તન કરતા આપણી અને તેમની વચ્ચે ભેદનો છેદ થતા આપણે પણ અરિહંત રૂપ થઇ શકીએ છીએ આ રીતે તમામ પદોમા દ્રવ્ય ગુણ અને પર્યાય સ્વરૂપ વિચારી નવપદના આરાધનમા ભાવ પૂર્વક પ્રગતિ કરવા માટે આપણને મળ્યો છે આ અમૂલ્ય માનવ જન્મ, આત્મા પોતે દ્રવ્ય છે દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્ર અને તપ એ છે આત્માના ગુણો, અને આત્મામા થતી જુદી, જુદી અવસ્થાઓ છે પર્યાય

શ્રદ્ધાબળ, જ્ઞાનબળ, વિશુદ્ધાચરણબળ, ઇદ્રિય સયમબળ, અને વિલાશોપરના અકુશનુબળ—આ બળો આત્મા ઉપર જબરજસ્ત અસર કરે છે અને તેને આત્મા ફેરવે છે દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્ર અને તપના અનેક પ્રકારો—પર્યાયો રૂપે જે જે સાધનો વડે આત્મા પોતાના કાર્યની સફળતા મેળવી શકે તે તે પર્યાયો પોતાના પ્રયોગમા વાપરી શકે છે

આ રીતે આત્મા દ્રવ્યગુણ પર્યાયના ચિંતનદ્વારા અને નવપદજી તરફની ભકિત રૂપ શુભ પ્રવૃત્તિ દ્વારા પોતાના અનેક ગુણોનો વિકાશ કરે છે "જ્ઞાનસ્ય ફલ વિરતિ" એટલે વિશુદ્ધ ચારિત્રબળ સપાદન કરે છે પુરુષાર્થથી સફળતા મેળવતા 'જિન સ્વરૂપ થઇ જિન આરાધે, તે સહી જિનવર હોવે રે' એ શ્રીમદ્ આનદઘનજીના વચનાનુસાર સાધક આત્મા નવપદો સાથે શ્રીપાળ મહારાજાની જેમ તન્મયતા સાધી ભવિષ્યમા નવપદો સાથે આત્માનો અભેદ સબધ પ્રગટાવે છે

નવપદોમાના ચાર ગુણપદોમા સમ્યગ્ દર્શનની મૂખ્યતા છે, જ્યા સુધી તે ગુણનો વિકાશ થયો નથી ત્યા સુધી આત્મા બહિરાત્મા કહેવાય છે સમ્યગ્ દર્શનનો ગુણ આત્મા જ્યારે શુદ્ધ દેવ, ગુરુ, ધર્મની શ્રદ્ધા પૂર્વક પુરુષાર્થથી અનતાનુબધી

ચાર કષાયો મિથ્યાત્વ મિશ્ર અને સમ્યગ્ મોહનીય રૂપ સાત પ્રકૃતિનો ક્ષય-ઉપશમ કે ક્ષયોપશમ કરે છે. ત્યારે જ પ્રગટે છે. અને ત્યારે જ આત્મા અંતરાત્મા કહેવાય છે. હવે તે પરમાત્મ-પદ તરફ પગલાં માંડે છે. આત્માની આ સ્થિતિને ચતુર્થ ગુણ સ્થાનક કહેવાય છે. આ ગુણ સ્થાનકે શમ, સંવેગ, નિર્વેદ, અનુકંપા અને આસ્તિક્ય ગુણો આત્મામાં દાખલ થાય છે અને પછીથી તે નવપદ આરાધનાનો અધિકારી બને છે.

સમ્યગ્ દર્શની મનુષ્ય પછીથી કર્મયોગી બને છે. સંસારમાં જે જે કાર્યો કરતો હોય ત્યાં તેની દૃષ્ટિ આત્માભિમુખ હોય છે. તે અહિંસાનુવ્રત ધારણ કરતાં ઓછામાં ઓછી સવા વસો દયા પાળી શકે છે. તે અનીતિ સામે યુધ્ધ કરે છે. તે આધ્યાત્મિક દૃષ્ટિએ નફો વધારે હોય અને નુકસાન ઓછું એવા કાર્યો સંસારના કરે છે. મન વચન અને કર્મથી વીરતા ધારણ કરે છે. શુભ કાર્યો કરવા તરફ તેની પ્રગતિ ચાલુ હોય છે. તે માત-પિતાની-દેવગુરુની અને વડીલોની ભક્તિ કરે છે. સામાયિક-પ્રતિક્રમણ પૂજા તપ-પરોપકાર વિગેરે કરે છે. આત્માભિમુખ દૃષ્ટિથી સંસારિક કાર્યો ગૃહસ્થ તરીકે કરે છે. પરંતુ આમ હોવા છતાં પણ એ સાધ્ય બિંદુ ચૂકતો નથી. આ માટે પૂ. ઉપાધ્યાય યશોવિજયજી મહારાજે કહ્યું છે કેઃ—

નિશ્ચય દૃષ્ટિ હૃદય ધરીજે. પાળે જે વ્યવહાર;
પૂણ્યવંત તે પામશેજી—ભવ—સમુદ્રનો પાર.

આ વચનને અમલમાં મૂકી માનવ જન્મ-સાર્થક કરે છે. આ માનવ-જન્મ જે પૂર્વ પુણ્યના સંસ્કારોથી પ્રાપ્ત થયેલો છે. તેની સફળતા તેને યોગ્ય સાધનોની પસંદગીમાં છે. પ્રત્યેક સિદ્ધિમાં નિમિત્ત અને ઉપાદાન બંને કારણો છે. જ્ઞાન મેળવ્યું, ભકિત, વૈરાગ્ય, પરોપદેશ વિગેરે નિમિત્ત કારણો છે આત્માના ગુણોનો વિકાશ એ ઉપાદાન કારણ છે. નિમિત્ત-ઉપાદાનની મૂખ્યતા-ગૌણતા હોઇ શકે છે.

આ નવપદનુ મહાત્મ્ય શ્રી મહાવીર પ્રભુના પટ્ટ શિષ્ય શ્રી ગૌતમસ્વામીજીએ મગધાધિપ શ્રેણિક મહારાજા પાસે નિવેદન કર્યું, વિદ્યાપ્રવાદ નામના દશમા પૂર્વમા શ્રી સુધર્માસ્વામીજીએ ગ્રંથિત કર્યું તેમાંથી ઉધ્ધરીને શ્રી રત્નશેખર સૂરીજીએ 'સિરિવાલ કહા' રૂપ માગધી ભાષાનો ગ્રંથ રચી દાખલ કર્યું આ આચાર્યશ્રી વિક્રમના ચૌદમા સૈકાની શરૂઆતમાં થયેલા છે. તેઓશ્રી વજ્રસેન સૂરિના પટ્ટધર અને શ્રી હેમતિલકસૂરિના શિષ્ય હતા, આ ગ્રંથમાં લગભગ ૧૩૪૨ માગધી ભાષાના શ્લોકો છે. સંસ્કૃત 'શ્રીપાલ ચરિત્ર' ત્યાર પછી બન્યું, હાલમાં નવપદજી સંબંધમાં મૂળ ગ્રંથ તરીકે 'સિરિવાલ કહા' ગણી શકાય.

ઉપરોક્ત ગ્રંથ ઉપરથી **શ્રી વિનયવિજયજીએ શ્રીપાલ રાજાનો** રાસ રચ્યો અને તે રાસના ત્રીજા ખંડની પાચમી ઢાળમાંની ૨૧ ગાથા સુધી કુલ ૭૫૦ ગાથા પર્યંત પૂર્ણ કર્યો એટલામાં આયુષ્ય પૂર્ણ થવાથી સ્વર્ગવાસી થયા શ્લોક પ્રકાશ કલ્પસુત્ર ટીકા અને અન્ય ગુજરાતી ભાષાનાં સ્તવનો છંદો તથા પદો વિ. ના રચનાર આ મહારાજશ્રી હતા. શ્રીપાળ રાસના બાકીના ચાર ખંડો, બાર ઢાળો સાથે પૂ ઉપા. શ્રી

યશોવિજયજી મહારાજે પૂણ કર્યા શ્રી રત્નશેખર સૂરિની 'સિરિવાલ કહા'ના શ્લોક ૧૧૧૮ થી ૧૧૯૮ સુધીના આધારે પ્રસ્તુત રાસમા નવપદજીની પૂજા (શ્રીપાલ રાસના છેલ્લા વિભાગ તરીકે) ગુજરાતી ભાષામા બનાવેલી છે નવપદજીને અ તગત્મા સાથે ઘટાવતી છેલ્લી ઢાળો પણ ૧૩૨૭ થી ૧૩૫૩ શ્લોકોમાથી ઉધરેલી છે આ મહાત્મા સ ૧૭૪૫ મા ડભોઇમા સ્વર્ગવાસી થયા શ્રીમદ્ દેવચદ્રજી મહારાજકે જેઓ ૧૮ મા સૈકાની આખરમા વિદ્યમાન હતા તેમની નવપદજીની દરેક પૂજામા દેશીઓ તથા છેલ્લો કળશ–એ કૃતિઓ છે ૧૮ મા સૈકામા થયેલા શ્રી જ્ઞાનવિમળસૂરિના નવપદજીની પૂજામા ભુજ ગ પ્રયાત વૃતો અને માલિની વૃતો બનાવેલા છે આ તમામ મહાત્માઓનો સાહિત્યકાળ નવપદજીની પૂજામા છે

આ નવપદજીના કુલ મળીને ૧૦૮ ગુણોની નવકારવાળી ગણવાની હોય છે અરિહ ત પદનો શ્વેત, સિધ્ધપદનો લાલ, આચાર્યપદનો પીત (પીળો), ઉ પાધ્યાય પદનો નીલ (ઉદો) સાધુ પદનો શ્યામ અને દર્શન, જ્ઞાન, ચારિત્ર, તપ એ પદોનો શ્વેત ર ગ ધ્યાન માટે કલ્પેલો છે થીઓસોફીના મૂળ પ્રણેતા પ્રો લેડવીટરે Man Visible invisible; તથા Thought of forms ના પુસ્તકોમા માનસિક વર્ણો–ધ્યાન અને તેના આભારની કલ્પના કરતા ર ગોનો વિકાશક્રમ બતાવેલો છે તે લગભગ જૈન દર્શનના સિધ્ધાન્તને મળતાજ આવે છે ઓળી–આય બિલનો તપ શારીરિક, માનસિક અને આધ્યાત્મિક આરોગ્ય આપે છે શ્રીપાલ રાજાનો કોઢ રોગ પણ નવપદના આરાધનથી ગયેલો છે હાલમા અનેક સ્થળે નવપદય ત્રની આરાધના પૂ મુનિ પ્રવરો મારફત થાય છે તે પ્રશસ્ત છે

નવપદ ય ત્રમા, ૯ પદો, ૧૬ સ્વરો, ૨૮ વ્ય જનો, ૪૮ લબ્ધિપદો ૮ ગુરુપાદુકાઓ ૮ જયા વિગેરે દેવીઓ ૪ જંભા વિગેરે દેવીઓ, ૨૪ શાસન દેવીઓ, ૧૬ વિદ્યા દેવીઓ, ૪ વીરો, ૯ ગ્રહો, ૪ પ્રતિહારો, ૧૦ દિગ્પાળ, ૯ નિધાનો, ૧ ક્ષેત્રપાળ દેવ, ૧ વિમળેશ્વર દેવ, ૧ ચક્રેશ્વરી દેવી તથા ૐ ह्रीं द्रा સ્વાહા વિગેરે મ ત્ર બીજો છે આ નવપદો અને ય ત્રની સ્થાપના દ્રવ્ય અને ભાવ સમજી સાત નયોનુ સ્વરૂપ તેમા ઉતારી જ્ઞાન મેળવવાનુ છે તે પૂ શ્રી જ્ઞાન વિમલ સૂરિજીએ સિધ્ધ કરવા કહેલું છે કે —

ईयनवपय सिद्ध, सिद्ध चक्क नमामि

શ્રીપાલ મહારાજા અને મયણા સુ દરીએ આ સિધ્ધ ચક્ર ય ત્રનુ આરાધન મન વચન અને કાયાથી કર્યું ત્યારે નવમા દેવલોકે ગયા અને નવમા ભવમા સિધ્ધ પદને પામશે આ રીતે નવપદનો સ બ ધ આપણા અ તરાત્મા સાથે મેળવી દ્રવ્ય અને ભાવથી નવપદનું આ અમુલ્ય માનવ જીવનમા આરાધન કરવુ એ આ લેખનુ રહસ્ય છે અને એટલેજ 'સિરિવાલ કહા' ના રચયિતા પૂ શ્રી રત્નશેખર સૂરિના નવપદ મહાત્મ્યવાળો મ ગળ રૂપ શ્લોક છેલ્લે છેલ્લે લખી વીરમું છુ

पय थपर यतन परम रहस्स परमम त च ।
परमथ्थ परमपय, पन्नत परम पुरिसेहि ॥

અર્થાત્ –"સર્વજ્ઞોએ કહેલા આ નવપદો પરમ તત્વ છે ઉચ્ચ રહસ્ય છે મહામ ત્ર છે પરમઅર્થ છે અને (સાક્ષાત્) મોક્ષપદ છે"

આજની વેદનાની એક છબી છે અને આ છબીની જો આપણે ઉપેક્ષા કરશું તો આવતી કાલ કેવી હશે, એની કલ્પના પણ કમ્પાવનારી જણાય છે

આજે એવી પળ છે કે જૈન સમાજના આગેવાનોએ અને નાનામાંનાના માનવીએ પણ સંશોધનની ભાવનાએ, શુદ્ધિની ભાવનાએ અને પુનરુત્થાનની ખેવનાએ ઉભા થવું જ પડશે.

નહિં તો .....

આજની વેદનાભરી છબી આવતી કાલે આપણા સર્વનાશની વિષભરી હવા બની જશે.

અવશ્ય બની જશે....

અને આવતીકાલનો ઈતિહાસકાર જગતની એક સર્વશ્રેષ્ઠ સંસ્કૃતિ પર આંસુ સારતો-સારતો આજની પેઢીને જ દોષ દેશે.
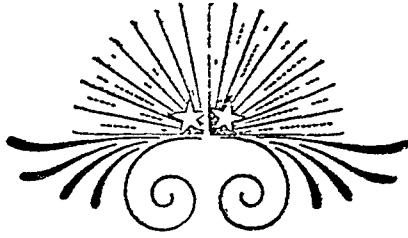
ત્રિવેણી—સ્નાન

લેખક શ્રી મોહનલાલ દીપચંદ ચોકશી

લૌકિક દર્શનો કરતા જૈન દર્શનની પ્રણાલિકા કેટલીક દૃષ્ટિયે જુદી હોવા પાછળ જે મુખ્ય કારણ છે, તે આત્મિક શ્રેય પ્રતિ લક્ષ્યને અવલબીને છે વૈદિક ધર્માવલબીઓ સરિતા સ્નાનમા ધર્મ માને છે અને કુભમેળા ટાણે તો લાખોની સખ્યા એકઠી થાય છે એમા પણ પ્રયાગગજ આગળનુ સ્નાન અતિ પવિત્ર મનાય છે, કેમ કે ત્યા ભારતવર્ષની મોટી નદીઓ–ગગા અને યમુનાનુ સરસ્વતી સાથે સગમ સ્થાન ગણાય છે

લોકોત્તર એવા જૈન દર્શનમા ત્રિવેણી સ્નાન દર્શાવેલ છે પણ પૂર્વે જણવ્યુ તેમ એ દહેને આશ્રયી નથી, પણ આત્માને આશ્રયી કેહવામા આવેલ છે આત્મ કલ્યાણનો પિપાસુ આત્મા એ પ્રકારના તત્ત્વત્રયનો આશ્રય લઈ જલ્દીથી પોતાને પવિત્ર બનાવી શકે છે એને ચૌદપૂર્વી એવા શ્રીશય્યભવ સૂરિયે ઉત્કૃષ્ટ મગળ રૂપ કહેલ છે

એ અગેના સ્વરૂપમા ઉડા ઉતરતા પૂર્વે, એ પાછળની ભૂમિકા અવધારી લઈએ તો એ અસ્થાને નહીં લેખાય સૂરિ મહારાજે દશ વૈકાલિક નામા સુત્રની રચના કરતા જે ત્રણ પદને સૌ પ્રથમ સ્થાન આપ્યુ હતુ તેજ આપણા માટે, અને અત્યારના વિષમ કાળે, ત્રિવેણીના સ્નાન સમાન છે પોતાના પુત્રનુ અલ્પાયુષ્ય નિરખી, એ આત્મકલ્યાણથી વિમુખ ન રહે તેવા આશયથી એનુ સર્જન કરાયેલ છે, છતા એક રીતે કહીયે તો એ સુત્રમા 'ગાગરમા સાગર' સમાવેલો છે થોડા કાળમા જૈન ધર્મ યાને અનેકાત દર્શનનો તાગ પામવા માટે ઉત્કૃષ્ટ મગળરૂપ મનાતા એ ત્રણ પદમા સમજપુર્વક અવગાહન કરવુ પર્યાપ્ત છે

શ્રી શય્યભવસુરિ દ્વિજ હોવા છતા ક્ષાત્રતેજથી અલકૃત હતા સત્યના કામી ને સાહસિક હતા ज्ञानस्य फल विरति જેવા વચનમા શ્રદ્ધાવાળા હતા જાણ્યુ તો જીવી જાણવુ એવા દૃઢમનોબળિ હોવાથી જ્યા 'अहो कष्टम् अहो कष्टम् तत्त्व न ज्ञायते परम' જેવા વચનો શ્રમણમુખે સાભળ્યા કે ઉઠીને ઉભા થયા—

હાથમાની તલવાર યજ્ઞ કરાવનાર આચાર્ય સામે ધરી, ગર્જી ઉઠ્યા કે—

'ગુરૂજી ' તત્વ હોય તે સત્વર કહી દો અહાથી પસાર થતા શ્રમણ યુગલે જે વચનો ઉચ્ચાર્યા તે અસત્ય નજ હોય શકે, જરાપણ ગલ્લા ગલ્લા વાળ્યા તો તો સમજી લેજો કે શીરથી ધડ જૂદુ કરી દઈશ આ પ્રકારની જિજ્ઞાસા યુકત તેજસ્વી વાણીએ યજ્ઞકૂપ હેઠળ રખાયેલી શ્રી શાન્તિનાથ પ્રભુની મૂર્તિના દર્શનનો યોગ સાધી આપ્યો વીતરાગ પ્રતિમા એટલે પ્રશમ રસ નિમગ્ન પદમાસનસ્થ મૂર્તિને જોતાજ આ સાહસ વીરે, તલવાર ફેંકી દીધી, અને શ્રમણ વસતીનો રાહ લીધો ઘેર ગર્ભિણી પત્નિ હતી, અને આસન્ન પ્રસવા હતી, એ વિચાર તેમને થભાવી શકયો નહી !

कम्मे शूरा धम्मे शूरा એ વચણ ટકશાળી છે

અંતિમ કેવળી શ્રીજંબુસ્વામીના પટ્ટધર એવા આર્ય શ્રીપ્રભવસ્વામીએ ઉપયોગ મૂકીને પોતાની પાટને માટે આ વિદ્વાન દ્વિજ પર પસંદગી ઉતારી હતી, એમણેજ શ્રમણ યુગલનેય જ્ઞસ્થળ પર મોકલ્યું હતું. એમને આવેલા જોઈ જેમ ભગવંત શ્રીમહાવીરદેવે વેદવિદ્યાના જાણ એવા શ્રી ઇંદ્રભૂતિ પ્રમુખ અગિયાર ગણધરને ત્રિપદીનું દાન કર્યું હતું. અને પોતાના પટ્ટશિષ્યો બનાવ્યા હતા. તેમ શ્રી પ્રભવસ્વામીએ પણ અર્હત્ધર્મની મર્યાદા જ્ઞાન-દર્શન ને ચારિત્રરૂપ રત્નત્રયીમાં કેવી રીતે સંકળાયેલી છે એની ચાવી બતાવી પોતાની માટે સ્થાપ્યા-સાથેસાથે ગચ્છના સ્વામી બનાવ્યા.

આવા પ્રખર વિદ્વાન્ ગચ્છાધિપતિ સામે જ્યારે પિતાની શોધમાં, વ્હાલી જનનીને શાન્ત્વન આપી પોતે કયાં કયાં ભ્રમણ કર્યું, કેવી કેવી વિટંબણાઓ વેઠી, અને અંતે આપનો મેળાપ થયો એવું વદનાર મનક (પોતાનોજ પુત્ર) આવી ખડો થાય છે, ત્યારે ઘડીભર તેઓ વિચારમગ્ન બને છે! પ્રેયસીનો પ્રેમ અને એ સ્નેહના ફળરૂપે આ સંતાન આચાર્યશ્રીની વિચારણાના વિષય બને છે. તેમની નજર સહજ અપત્ય એવા મનકના કપાળ પ્રતિ જાય છે. અને એ પછી જે મનોપ્રદેશમાં એક નિર્ધાર જોર પકડે છે એજ દશવૈકાલિક સૂત્રની રચના.

દ્વિજપુત્ર મનકે ત્રિવેણીસ્નાન દ્વારા કાયાને તો પવિત્ર બનાવી હતી, પણ એમાં વસતા હંસને પાવન કરવા માટે સરિતાના જળ કામ આવે તેમ નહોતા. એ સારૂ એવા જલદ પાણીની અગત્ય હતી કે જે અનંતકાળથી લાગેલા કર્મરૂપ મેલને ધોઈને સાફ કરી નાંખે. ચીરંજીવી મનકના સંબંધમા એક અન્ય મુશ્કેલી પણ હતી અને તે એ કે તેનું આયુષ્ય માત્ર છ માસ બાકી હતું. એ કારણે રચનામાં તત્ત્વગુંથણી સાથે આચરણની સુલભતાનો મેળ સધાય તોજ ધારી મુરાદ બર આવે.

દીર્ઘદર્શી મહાત્માનો ઇરાદો પાર પડયો. એટલુંજ નહીં પણ શ્રી સંઘે આ સૂત્રની લાભદાયીશકિત ભાવિ પેઢીઓને માટે પણ શ્રેયસાધક નિવડે એ ખાતર ગુરુમહારાજને એને કાયમરૂપ આપવાની વિનંતી કરી તેથીજ આજે એ જોવા મળે છે.

આખા સૂત્રનો નહીં પણ એના પ્રથમસૂત્ર કે જેમાં ત્રણ મહત્ત્વની વાતો દર્શાવી છે એનો સામાન્યપણે વિચાર કરીએ. એમાં અગ્રપદે અહિંસા મૂકી છે અને પછી **સંયમ** અને તપ દર્શાવ્યા છે. એક રીતે વિચારીએતો એ ત્રણેમાં જો એ દરેકનું સ્વરૂપ યથાર્થપણે અવધારી લઇ શકિત અનુસાર અવગાહન યાને સ્નાન કરવામાં આવે તો, ફળપ્રાપ્તિમા શંકા કરવાનું પ્રયોજન ન જ રહે. વળી એ સાધુસંત માટે જેટલું સાચુ તેટલુંજ સાચુ ગ્રહસ્થ જીવન જીવનાર માટે પણ છે ચાહે પુરુષ હો કે સ્ત્રી હો.

દયા એ અહિંસાનો પર્યાય વાચક શબ્દ છે. એના દ્રવ્ય, ભાવ, સ્વ, પર આદિ આઠ ભેદ બતાવવામાં આવેલાં છે. એ વિષે મનન કરતાં સહજ અનુભવાય છે કે એના પાલનમાં ત્યાગી અને સંસારી શકિત અનુસાર યત્ન સેવે તેવી ગોઠવણ છે. અલબત ઉભયના માર્ગમાં તરતમતા હોવાથી ફળપ્રાપ્તિમા ફેર પડે છે. સંસાર ત્યકત આત્મા જ્યારે શ્રમણત્વની પ્રતિજ્ઞા ગ્રહણ કરે છે ત્યારે એ પૃથ્વી આદિ છકાયના

જીવોને અભય આપવાના શપથ પ્રથમ મહાવ્રત ઉચ્ચરતા લયે છે અને એ દિવસથી દરેક કરણી જયણાપૂર્વક કરતો હોવાથી એને થનારો લાભ પુરેપુરો સોળઆના રૂપ લેખાય છે ગૃહસ્થ માટે એવા પચ્ચકખાણ શક્ય નથી એટલે એના વ્રતને અણુવ્રત નામ અપાયેલ છે એમા જુદા જુદા કારણ આશ્રયી, આરંભ-સમારંભને નજર સામે રાખી, છૂટો રખાયેલી છે, તેથી એની દયા એક આના તુલ્ય રહેવા પામે છે મહિ ત્યના પાને નોંધાયેલ છે કે મુનિની દયા વીસવસાની હોય છે જ્યારે સંસારીની સવા વસાની આમ છતા ઉભય માર્ગો ભગવંત શ્રી મહાવીરદેવે દર્શાવેલ હોઈ, એમા યથા શકિત, દત્તચિત્તથી પ્રગતિ સાધનારને મુકિત સમિપ લઇ જવાની તાકાત રહેલી છે પ્રત્યેક આત્માએ આંગ્લ ઉક્તિ-Slow but study wins the race યાદ રાખવાની છે અર્થાત્ ધીમીગતિએ છતા મક્કમતાથી આગળ વધનાર શરત જીતી જાય છે અહિંસાના પાનવેળા 'જીવો અને જીવવાદો એ ટંકશાળી વચન ચક્ષુ સામે રાખી, દરેક કરણી કરવી ઘટે એ વેળા આત્માના અંતરમા 'आत्मवत् सर्व भूतेषु य पश्यति स पश्यति એ સૂત્ર રમણ થવુ જરૂરી છે એટલે કે જેવો પોતાનો આત્મા છે તેવોજ સામે દેખાતા ભૂતમાત્રમા પણ છે જ જે કાર્યથા મને દુ ખ થાય છે અગર તો જે કામ મને ગમતુ નથી, તે કાર્ય કે કામ તેને પણ ન જ ગમે વધુ ન બને તો આટલી સામાન્ય શિક્ષા રોજની પ્રવૃત્તિમા નજર સામે રાખનાર આત્મા ઘણા કર્મોથી બચી જાય છે અને એનુ ભવભ્રમણ અવશ્ય ટુંકાય છે

સંયમને શાસ્ત્રકારોએ એ સત્તર પ્રકારે દર્શાવેલ છે છતા મુખ્ય રીતે ઇંદ્રિય અને કષાય એ બન્ને પર જો અંકુશ આવી જાય તો બેડો પાર થઈ જાય એ માટે હીંદી કહેવત 'કમખાના ઔર ગમખાના' યાદ રાખવા જેવી છે એનો અભ્યાસ પાડનાર વ્યકિત મન પર અને દેહ પર સહજ કાબુ મેળવી શકે છે એથી આંગ્લ કહેવત-'Think before you speak and Look before you leap' એના જીવનમા તાણા-વાણા માફક વણાઈ જાય છે એનુ બોલવાની ટેવ સધાય છે અને બોલવાની અગ વટાણે એ તોળીને શબ્દો ઉચ્ચારે છે વળી કોઇ કામ સ્તીમ્મૃતિથી એ કરતો નથી આ જાતના અભ્યાસી આગળ પાંચ ઇંદ્રિયોના વિકારો કે ચારકષાયના ફૂકારા જોર પકડી શકતા નથી જ્યારે એ નામશેષ થયા કે સંસારનો અંત સહજ છે જ્ઞાની ભગવંતોનુ વચન છે કે कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव।

તપને એના બાહ્ય અને અભ્યંતર એવા બે મુખ્ય ભેદ છે અને એ દરેકના ૬ પ્રકારો ગણતા બારનો અંક થાય છે એ અહર્નિશ યાદ રહે એટલા માટે રોજની આવશ્યકક્રિયામા (પ્રતિક્રમણમા) એને પાંચ આચાર અંગેના અતિચાર વેળા સ્મરણ કરાય છે

અનશન આદિ જેમ બાહ્યતપમા લેખાય છે તેમ પ્રાયશ્ચિત વિ અભ્યંતરમા સમાય છે અહિંસા, અને સંયમની સાધના પછી જે કર્મો આત્મા સાથે ઘણા જુના સમયથી ખાણમા જેમ સુવર્ણ સાથે માટી જોડાયેલી હોય છે તેમ જોડાયેલા છે એનો કાયમી છેદ ઉડાડવા સારૂ ઉપર વર્ણવ્યા તપ વિના અન્ય કોઇ જબરદ સાધન નથી એ

બાર પ્રકારનુ સ્વરૂપ અવધારતા સહજ જણાય તેમ છે કે એમાં આબાલવૃદ્ધ સૌ કોઇ છૂટથી ભાગ લઇ શકે છે. જેમ બળી ગયેલા બીજમાથી ફરીથી અંકુરો ઉગતા નથી, તેમ કર્મરૂપીબીજ આ તપદ્વારા સંપૂર્ણપણે બાળી નાંખવામાં આવે તો જીવભ્રમણરૂપ અંકુરો ઉગવાનો લેશમાત્ર સંભવ નથી. વળી તપ તો નિકાચિતકર્મોને પણ તપાવનાર કહ્યુ છે. આવા ઉત્કૃષ્ટ મંગળની સાધનામા દરેક આત્મા ઉદ્યુકત થાય એજ અભ્યર્થના!

સમાજમા ધર્મનુ સ્થાન

લેખક — શ્રી ચંદુલાલ એમ, શાહ મુંબઇ

સમાજમા કેટલાયે પ્રસંગો અમર આદર્શો અને અમૃતભરી કલ્પનાઓ બની જાય છે તે સર્વેમા ધર્મ સાથે સંકળાયેલા પ્રસંગો શ્રેષ્ટ સ્થાન જમાવી જાય છે—દ્રષ્ટિબિન્દુ બની જાય છે

ધર્મ માણસને અવળા માર્ગે જતો, કુકર્મો કરતો અને હિંસા તેમજ અનિચ્છનીય કાર્ય કરતો અટકાવી શકે છે ધર્મમા જે સામર્થ્ય છે તે કોઈપણ કાયદામા, કાયદાના ઘડનારાઓમા કે આસુરી શકિતમા પણ નથી માનવીએ ગુન્હાઓ, હિંસા અને એક બીજા પ્રત્યેની દ્વેષ બુદ્ધિને ટાળવા માટે ધર્મને જીવનમા મહત્વનુ સ્થાન આપ્યુ છે ગુન્હા કરનારાઓ કાયદાની ચુંગાળોમાથી છટકી શકે છે પણ ધર્મની ચુંગાળમાથી છટકી શકતા નથી

સમાજના સ્વચ્છ વાતાવરણનો, ન્યાય, નીતિ અને પ્રેમનો તેમજ આરોગ્યતાનો સમાવેશ ધર્મમા થઇ જાય છે

ગઈ કાલનો નકશો આજે ફરી જાય છે આજનો સત્તાધિશ કાલનો સામાન્ય માનવી બની જાય છે અને આજની ભવ્ય નગરી કાલે ભસ્મીભૂત બનીને હતી ન હતી થઈ જાય છે એવી સર્જન અને સંહારની અકળ લીલા આજે પૃથ્વી પર ખેલાઈ રહેલી હોવા છતા ધર્મને કોઇપણ પ્રકારે આંચ આવતી નથી કે આવી પણ નથી કાલના કેટલાયે સિદ્ધાંતો આજે પામર બની ગયા છે અને આજે ઉત્થાન પામેલા આદર્શોનુ આગળ જતા અધઃપતન પણ થઇ જશે છતા ધર્મની મહત્તા તો દિન પ્રતિદિન વધતી જ રહેવાની

ધર્મના મૂળભૂત સિદ્ધાંતો દરેક દેશના અને દરેક કોમના સરખાજ હોય છે પરંતુ માનવી પોતાની ઘેલછાઓને વશ બનીને તેનો અર્થ મન ફાવે તેમ કરી લે છે કોઇ પણ ધર્મમા હિંસા, અનીતિ કે ચોરી કરવાનુ જણાવ્યુ હોતુ નથી છતા માનવી પોતાની લાલસાઓને પહોચી વળવા માટે અર્થના અનર્થ કરે છે લોકોને અવળા માર્ગે દોરે છે અને પોતાની માનવતા ગૂમાવીને બીજા ધર્મને નિંદતો થઇ જાય છે

માનવીમા જો માનવધર્મ ન હોય, પ્રેમધર્મ ન હોય તો તે જે કોઇપણ પ્રકારનો ધર્મ કરે—પછી તે દાન હોય, અહિંસા હોય કે જન કલ્યાણના કાર્યો હોય-તે સાચા હૃદયનો ન જ હોઇ શકે

જેનામા પ્રેમ ભાવ નથી તેનુ કોઈપણ કાર્ય નિઃસ્વાર્થી કે હાર્દિક ભાવનાવાળુ ન હોઇ શકે

જ્યા ધર્મ અને પ્રેમની ભાવના નથી ત્યા અંદરો અંદરના ઝગડા અને સંહારના કારણે સૌંદર્ય લય પામી જાય છે, યુદ્ધ, વિનાશ, ઈર્ષ્યા, અસૂયા, અહંકાર અને મદાંધતા શોણિતની નદીઓ વહાવે છે કુટુંબ જીવનમાથી ભકિત અને ભાવના જાય છે નગરોમાથી ઉદારતા, શીલ અને સૌંદર્ય જાય છે, શૂરવીરોમાથી પરાક્રમ જાય છે

સ્ત્રીઓમાંથી સહન શીલતા, ક્ષમા અને વાત્સલ્ય જાય છે. વ્યકિતગત વૈભવનો અમાનુષી આનંદ માનવ જીવનની આજુ બાજુ ભયંકર રીતે વીંટળાઈ વળે છે અને જીવન નિસ્તેજ તેમજ નિર્જીવ બની જાય છે.

માનવી મહાન શકિતશાળી વ્યકિત છે. સિંહ જેવા ક્રૂર પ્રાણીને વશ કરવાની તેનામાં તાકાત છે. હાથી જેવા મહાન પ્રાણીને કાબૂમાં લઇ શકે છે. તો નિર્દોષ-અંકૂર ગણાતા અન્ય માનવીઓને તે અહિંસક રીતે-પ્રેમથી વશ શા માટે કરી ન શકે? જ્યાં પ્રેમથી દેવપણ વશ થઇ શકે છે; ત્યાં સામાન્ય માનવીનું શું ગજું? પરંતુ માનવી જો પોતામા રહેલું પ્રેમતત્વ જ ગુમાવી બેસે તો?

માનવી ગમે તેવું દુષ્કૃત્ય કરવા તૈયાર થશે અગર થયો હશે, છતાં તેનો આત્મા, તેની ધર્મભાવના તેનો જરૂર વિરોધ કરતી હશે. ધર્મને તે ભૂલી ગયો હોતો નથી. ધર્મ તેન પણ ભૂલી શકતો નથી દરેક કાર્યમાં બંનેનું સંઘર્ષણ થતુંજ હોય છે.

સામર્થ્ય, શીલ અને સૌમ્યતા; એ બધુંજ માનવ જીવનમાં સમાયેલું હોય છે. તે બધા પર આધિપત્ય ધર્મનુંજ હોય છે.

નાસ્તિકપણાનો ડોળ કરનાર માનવીના અંતર ભાગમાં-તે બાહ્ય રીતે કબૂલ કરતો ન હોવા છતા-ધર્મ છૂપાયેલો હોય છે. વાણીમાં કે કર્મમાં તેની છાયા સરખી યે ન આવવા દેવાની તેની ઇચ્છા હોવા છતાં એ તે તેના સામર્થ્યની બહાર હોય છે.

ધર્મના નામે કેટલાયે ગુન્હાઓ થતાં અટકે છે. જ્યારે જ્યારે હિંસા અને યુધ્ધો, પાપ અને અનાચાર વધી જતા હોય છે ત્યારે ત્યારે મહા પુરૂષો ધર્મનો ઝંડો આગળ ધરીને સદ્બોધ આપવા માટે નીકળી પડે છે. ધર્મની મહત્તા સમજાવે છે. તેનાથી થતા ફાયદા સમજાવે છે. તે વખતની તેમની મીઠી વાણી ગમે તેવા દુરાચારીને, હિંસાવાદીને અને નાસ્તિકને પણ ધર્મવાદી બનાવી મૂકે છે.

જ્યારે જ્યારે માનવી સંકટોનાં વા થી ઘેરાઇ જાય છે ત્યારે ત્યારે તે ધર્મનુ ચિંતન કરવા લાગે છે. સુખ સમયમાં ધર્મને ભૂલી જનાર અગર તે તરફ દૂર્લક્ષ કરનાર માનવી આપત્તિ વખતે તેનોજ આશરો શોધે છે.

ધર્મ માર્ગદર્શક, પ્રેરણાપ્રદ અને કલ્યાણકારક છે. તેના આશરે ગયેલાને શાતિજ મળવાની. તે સમયે ઉચ્ચ નીચના ભેદ દૂર થઇ જાય છે. શ્રીમંત કે ગરીબનો ભેદ રહેતો નથી. જ્યાં જ્યાં ધર્મ છે, ધર્મની છાયા સરખીયે છે ત્યા ત્યાં શાતિ, સત્ય અને અહિંસાજ હોવાનાં.

વિશ્વને આગણે ગમે તેવા ઉત્સવો મંડાતા હશે, પણ ધાર્મિક ઉત્સવ જેવો મહાન ઉત્સવ કોઇજ નહિ હોય તે ઉત્સવ સમયે કોઇના ચહેરાપર, કોઇના અંતરમા નિરાશા કે વિષાદ જોવામાં આવતાં નથી. ત્યાં આનંદ હોય છે, પ્રેરણા હોય છે અને અમૃત સરી ઉર્મિઓ હોય છે. ત્યાં માનવીઓ સુખ દુઃખ ભૂલી જઇને આત્મકલ્યાણની ભાવના કેળવવા લાગી જાય છે.

अन त काळथी चालतु आवतु तेनु अस्तित्व-एना प्रभावना तेज किरणो-दरेकना जीवनमा छिद्रे छिद्रे प्रवेशे छे, अणुए अणुमा प्रकाश पाथरे छे

गिरिशृ ग समी उंची अने आकाशने आरपार वीधी नाखती जेनी दृष्टि छे, प ताळना अ तरतले जेना मूळ पहोच्या छे अने आखाय विश्वमा जेनी विस्तृतता व्यापक छे, एवा धर्मना एक बी दु मात्रनु पण शरण स्वीकारवामा आव तो भवो भवना फेरा मटी जाय मानवी मानवी मटीने देव बनी जाय

समाजमा धर्मनु स्थान अनोखु छे धर्म माटे अनेक महान पुरुषोए पोताना प्राण ओछावर कर्या छे पोताना कुटु बना बलि ान आप्या छे

एवो धर्म-धर्मनी भावना आजसुधी पोतानु गौरव वधारती आवी छे अने वधार्याज करशे जे जे लोकोए धर्मनो विरोध करवानु विचार्यु छे, ते ते लोकोनो अ ते नाश ज थयो छे तेमनी कोइपण मनोकामना पूरी थइ नथी अने थई पण शकशे नहि

આત્મ સંયમ

લેખક:— શતાવધાની કવિવર્ય શ્રી જયંતમુનિ

વર્તમાનમાં નવી નવી કલ્પનાઓ રજુ કરવાનો ઘણાને મોહ થાય છે, તેના પાછળ ફક્ત પોતાના પાંડિત્યનું પ્રદર્શન કરવાનો જ હેતુ હોય છે. આવા મનુષ્યો આચારને અધિક મહત્વ આપતા નથી. તેઓ કહે છે કે પ્રભુભક્તિ, મંત્રજપ, ઉપવાસ, પૂજા આદિ પ્રકારના આચાર એ તો ગૃહસ્થાશ્રમીઓના માટે સામાન્યધર્મરૂપ છે. તેથી તેઓ સદાચારી બને, તેનું પાલન કરે તે ઠીક છે પરંતુ એ કંઇ મોક્ષપ્રાપ્તિનો માર્ગ નથી. મુમુક્ષુએ તો આત્મજ્ઞાન પ્રાપ્ત કરવું જોઇએ, આત્માને ઓળખવો જોઇએ, અને પછી આત્માને કેવી રીતે ઓળખી શકાય તેનો માર્ગ પોતાની સમ્યગ્ દૃષ્ટિથી દર્શાવવામાં આવે છે.

આધુનિક વિદ્વાનો વાણી ચાતુર્યતાથીને પોતાના કથનને પ્રભાવિત કરનારી દલીલોથી શ્રોતાને ક્ષણભર મુગ્ધ બનાવી દે છે પરંતુ એમાં એકંદરે વાણી વિલાસ સિવાય કશું જ હોતુ નથી.

આત્માને આત્મા પોતે જ પિછાને એમ કહેવું એ કેટલું હાસ્યાસ્પદ લાગે છે? દેહના આશ્રયે રહેલો આત્મા તેનાં કર્મોવડે બંધાયેલો હોય છે. તે પોતે સુકર્મોને જોર આપી, કુકર્મોથી મુક્તિ મેળવે અને એમ કરતાં ધીમે ધીમે તમામ કર્મોને ખપાવી દે છે ત્યારે જ તે આત્મા મુક્તાત્મા બને છે.

પરંતુ મનુષ્ય આત્માને ઓળખવાનો, તેની શક્તિને પિછાનવાનો યત્ન કેવી રીતે કરે? શું તે તમામ પ્રકારના આચારથી પર બની જાય? એ કર્મસત્તા આગળ પામર બની ગયેલ મનુષ્ય માટે તો અશક્ય જ છે.

ભગવાન મહાવીર જેવા સમર્થ વીતરાગી કેવલીપદને પામેલા ત્રિકાલજ્ઞાની પણ જીવનકાળ દરમ્યાન પોતાને યોગ્ય એવા આચાર પાલનને ખાસ મહત્વ આપતા હતા. તેમણે માસખમણુ આદિ વિવિધજાતની તપસ્યા કરેલી અને ત્યાગી જીવનને યોગ્ય આચારોનુ વિધિવિધાન પૂર્વક પાલન કર્યું હતું. તેમજ તેમની પાસે ઉપદેશ બોધ માટે આવતા શ્રાવક શ્રાવિકાઓને પણ આચારના પાલનનો સન્માર્ગ દર્શાવતા,

અને એથી જ કહેવાયું કે—

"आचारः प्रथमो धर्मः"

હાં, કોઇ નાસ્તિક માનવી હોય, જેને પોતાના આત્મતત્વ ઉપર શ્રદ્ધા ન હોય, સમગ્ર બ્રહ્માંડને જડ માનતો હોય અને તેના સંચાલનમાં 'મેટર' નામનું કોઈ તત્ત્વ કાર્ય કરી રહ્યું છે એમ માનતો અને કહેતો હોય એવા માનવીને જીવ અને જડનો ભેદ દર્શાવવા માટે આત્મતત્વનું રહસ્ય સમજાવવાની જરૂર અવશ્ય છે.

આત્મા અનાદિ અને અનંત છે તેમજ દરેક આત્મા સ્વતંત્ર છે. એની પ્રતીતિ એક સાધુ શ્રોતાઓને કરવતા હતા. તે પ્રસંગે જીવ અને જડનો પ્રસંગ નીકળ્યો,

જીવમા ચૈતન્ય છે, તે અનાદિ અને અનંત છે, એથી જ તેને 'સત્' કહેવામા આવે છે, ચૈતન્યયુકત, હોવાથી તેને 'ચિત્' કહેલ છે એ રીતે 'સચ્ચિત' છે, તેમજ તેના તમામ કર્મો ખપી જાય છે તે કર્મબન્ધથી મુકત બનીને મોક્ષની પ્રાપ્તિ કરે છે

એ રીતે સાધુમહારાજ શ્રોતાઓને આત્મા વિષેનુ જ્ઞાન આપી રહ્યા હતા તેમા જીવ અને જડની સમજણ આપતા જેમા જીવન એટલે કે આત્મતત્વ હોતુ નથી તેને માટે જડ "ચૈતન્યહીન" શબ્દની યોજના કરેલી હોવાનુ બતાવ્યુ એ વખતે એક શ્રોતાએ ખભા ઉપરથી અચળો ઉતારીને પ્રશ્ન કર્યો મહારાજ આ અચળો તો જડ જ છે ને?

મહારાજે કહ્યુ હા, જેનામા જીવ નથી, ચૈતન્ય નથી તેને જડ જ કહી શકાય

'ત્યારે જુઓ' એમ કહીને તેણે અચળાને બે હાથે વળ ચડાવ્યો, તેને બેવડો કરીને પુન વળ ચડાવીને મહારાજ સમક્ષ તેણે મૂકી દીધો, તત્તજ ચડેલો વળ ઉકલવા લાગ્યો, અચળો ગતિમાન થતો દેખાયો એ ક્રિયા પૂરી થયા પછી એ માણસ બોલ્યો– 'અચળો તો જડ છે, તેમા જીવ નથી એમ આપ કહો છો તો પછી તે આપ મેળે કેવી રીતે ઉકલી ગયો?

અન્ય શ્રોતાઓને પણ આશ્ચર્ય થયું, પરંતુ મહારાજ શાન્ત હતા તેમણે મંદ મંદ સ્મિત કરતા કહ્યુ–બંધુ તમે તો આત્મરૂપ છો ને? એ આત્મશકિતએ અચળાને વળ ચડાવ્યો તેથી જ તે આપો આપ ઉતરી ગયો. જો તમે પોતે તેને વળ દીધો ન હોત તો ઉકલવાનો પ્રશ્ન જ ન રહેત!

મહારાજને ઉતારી પાડવાની ઇચ્છા રાખનાર પોતે જ મૌન બની ગયો એ આત્મામા રહેલી શકિત પંચેન્દ્રિયો વડે જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરે છે અને ક્રિયા પણ કરે છે કર્મબન્ધનના કારણે તેનામા રહેલા દોષોને દૂર કરવાના અર્થે સર્વોત્તમ માર્ગ આત્મ સંયમનો છે આત્મા પોતાને સંયમિત બનાવે, પોતાની જાત ઉપર, મન ઉપર, દેહ ઉપર અંકુશ રાખે, તો આપોઆપ તેનુ જીવન સદાચાર યુકત બની જાય છે

આત્મસંયમ કોઈ પણ ધર્મનો અનુયાયી યથાવત આચાર વિચારનુ પાલન કરી સિદ્ધ કરી શકે છે તેના તમામ કાર્યો સદ્ગુણોની સુવાસને સર્વત્ર પ્રસરાવે છે આત્મસંયમ આત્મશકિતનો પણ વિકાસ કરે છે તેની વૃત્તિઓ કોઇ પણ પાપ–દોષથી પૂર્ણપણે મુકત રહે છે તેનુ મન ચલવિચલ થયા વગર તે પૂર્ણપણે નિડર અને હિંમતવાન રહે છે

આમ જેને સામાન્ય કહી શકાય તેવો નાનામા નાનો માનવી પણ આત્મસંયમી બની શકે છે તેનો આત્મસંયમ કૌટુમ્બિક જીવનમાથી તમામ પ્રકારના કલહ કંકાસને દૂર કરે છે, પડોશીઓ અને તેથી આગળ વધીને સમૃદ્ધ જીવનમા પણ આત્મસંયમ અને ચમત્કાર દર્શાવે છે

એમાં સફળતા પ્રાપ્ત કરવા માટે જૈન ધર્મશાસ્ત્રકારોએ સરળ માર્ગ સૂચવ્યો છે કાયા શ્રદ્ધાપૂર્વક મંત્ર જપ અને દૃઢ નિયમપૂર્વક 'સામાયિક'નુ નિયમિત પાલન કરવામા આવે તો આત્મા અધિકાધિક સંયમિત બનતો જાય છે

તેમનું રાજકારણ, અસાધારણ ધર્મભાવનાના સંમિશ્રણવાળું હતું. પરંતુ તે તદ્દન લોકહિતાર્થે હતું તે તેમની નીચેની સિદ્ધિઓથી ખાત્રી થશે.

૧. ગુજરાતનું દૃષ્ટિ પરિવર્તન :–અહિંસાના સિદ્ધાન્તનો પ્રચાર કરીને ગુજરાતના રાજકીય અને સાંસ્કૃતિક જીવનમાં તેમણે જબ્બર ક્રાન્તિ કરી છે. હિંસા એ મનુષ્ય સ્વભાવની વિરુદ્ધની વસ્તુ છે અને માનવતાની દૃષ્ટિએ ત્યાજ્ય છે. ધર્મ કે માનવતાથી દૃષ્ટિએ તેનો કોઈ રીતે બચાવ થઈ શકે તેમ નથી. આ મહાન સંદેશથી તેમણે સમસ્ત ગુજરાતનું દૃષ્ટિ પરિવર્તન કરી નાખ્યું. આજે પણ જૈન ધર્મની અહિંસાની વધુમા વધુ છાયા ગુજરાત ઉપર દેખાય છે. યજ્ઞ–પાત્રોમાંથી પણ મોટા ભાગે હિંસા ચાલી ગઈ. આહાર વિહારમા પણ ગુજરાત જેટલો બીજો કોઈ પ્રદેશ ભાગ્યે જ નિરામિષાહારી હશે.

૨. લોકજીવનની શુદ્ધિ :–શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યે લોકજીવનની શુદ્ધિ અને સાફસૂફી કરી તેમનાં જીવન ધોરણ ઉંચા લાવવા પ્રખર પ્રયાસો કર્યા હતા. મદિરા, જુગાર, માંસભક્ષણ આદિ પ્રજાજીવનમાં ઘર કરી બેઠેલા અનેક અનિષ્ટોને મૂળમાંથી કાઢવા તેમણે સખત આંદોલનો ગતિમાન કર્યાં હતાં રાજ્ય માર્ફતે પણ આ અનિષ્ટો ઉપર પ્રતિબંધો મૂકવામાં આવ્યા હતા.

૩. આદર્શ રાજા:–સુખી પ્રજા જીવનની ચાવી વ્યસન રહિત અને આદર્શ રાજામા રહેલી છે. તે પોતે સંયમી અને ચારિત્ર્યશીલ હોય તો જ પ્રજાજીવનનો ઉદ્ધાર શક્ય છે. કુમારપાળને પોતાના આદર્શો પ્રમાણે ઘડી ગુજરાતને તેમણે એક સંસ્કાર મૂર્તિ રાજા અને તેમનો આદર્શ સદાને માટે આપ્યા છે. ગુજરાતના રાજકીય જીવનને ઉચ્ચ બનાવનાર મહાન શક્તિ તરીકેનું તેમનું સ્થાન અદ્વિતીય છે.

૪. સ્ત્રી સ્વાતંત્ર્ય.–આજથી આઠસો વર્ષ પૂર્વે સ્ત્રી-સ્વાતંત્ર્ય અને તેમના વારસાના હક્કો સ્વીકારાવી તેમની આર્થિક અસમાનતા દૂર કરાવવાનો યશ તેમને ફાળે જાય છે. સ્ત્રીઓના આર્થિક સમાનતાના સિદ્ધાંતનો તેમણે ગુજરાતને આપેલો વારસો અમૂલ્ય છે. તેમના સમય સુધી કોઈપણ માણસ અપુત્ર મરણ પામે તો તેનું તમામ ધન રાજ્યની તિજોરીમા જતું. હેમચંદ્રાચાર્યે આ બંધ કરાવી અપુત્રિયાનું ધન તેની વિધવા કે પુત્રીને મળે તેવો ધોરણ ઘડાવ્યો. અને તેમ કરી સ્ત્રીઓના વારસા હકકનો સૌથી પ્રથમ સ્વીકાર કરાવ્યો આ કાયદાથી બોતેર લાખની આવક કુમારપાળની રાજ્ય તીજોરીમાં આવતી બંધ થઇ. પરંતુ અપુત્રિયાનું ધન રાજ્ય લઈ લે એ હડહડતો અન્યાય છે એમ તેમણે કુમારપાળને ઠસાવ્યું અને કુમારપાળે તે વાત માથે ચઢાવી.

૫ અસ્મિતા:–ગુજરાતની અસ્મિતા તેમના સમયમાંજ જન્મી એમ કહીએ તો ચાલે. રાજા ભોજદેવ કૃત વ્યાકરણ જોઇ સિદ્ધરાજ ગુજરાતની ગૌરવહીનતા અનુભવવા લાગ્યો ત્યારે હેમચંદ્રાચાર્યે ગુજરાતી અસ્મિતાનો દીપક સૌથી પ્રથમ પ્રકટાવ્યો અને ત્યારપછી અનેક સ્વરૂપે તેનો પ્રકાશ ગુજરાતને ઘેર ઘેર ફરી વળેલા આપણે આજેય જોઇ શકીએ છીએ.

ઉપરના મૂખ્ય તારણુ ઉપરથી જોઇ શકાશે કે શ્રીમદ્ હેમચદ્રાચાય માત્ર જૈન સમાજના જ નહોતા તેઓ સમસ્ત ગુજરાતના ભારતવર્ષના બલ્કે સારીયે માનવ જાતના હતા તેમણે ધર્મના ભેદભાવ સિવાય સારીયે માનવ જાતના કલ્યાણુ માટે કાર્ય કર્યું છે તેમના જેવી વિભૂતિઓ કોઇપણુ એક પથની રહી શકતી જ નથી તેમની વિશિષ્ટ શક્તિઓ અને સમદૃષ્ટિ તેમને સારાયે રાષ્ટ્રની માનવ જાતની મિલ્કત બનાવે છે એક મહાન ધર્માચાર્ય અને સાહિત્ય સ્વામિ ઉપરાત એક પ્રખર રાષ્ટ્ર અને સમાજ સુધારક તરીકે તેમનુ નામ ચિર જીવ રહેશે તેમની સર્વ શકિતઓ પ્રજાની આબાદી પાછળ જ ખર્ચાઇ છે

તેમનુ જીવન સમસ્ત પ્રજાને માટેજ ખર્ચાયું હતુ સદેહે તેઓ સમાજના હતા વિદેહ છતા તેમનો અક્ષરદેહ આજેય સમાજ માટેજ છે અને ભવિષ્યમા પણુ રહેશે

હેમચદ્રાચાર્ય રાજકારણુના તકતા ઉપર આવ્યા તે પહેલાથીજ જૈનોની લાગવગ ગુર્જરેશ્વરના દરબારમા હતી, મુજાલ મહેતા, ઉદયન, શાન્તુ મહેતા, સજ્જનમત્રી અને બીજા અનેક જૈનો રાજકારણુમા વર્ચસ્વ ભોગવતા હતા પરતુ હેમચદ્રાચાર્યના પ્રવેશ પછી સ્વાભાવિક રીતેજ જૈનોના સત્તા, પ્રભાવ અને લાગવગ વધ્યા તેમના ઉત્કર્ષ માટે તેઓ કારણુભૂત બન્યા

જૈન ધર્માવલબી છતા હેમચદ્રાચાર્ય આર્ય સસ્કૃતિના પ્રતિનિધિ હતા ધર્મના પાયાના મુળભૂત તત્વો ઉપર જૈન અને વૈદિક આદર્શોમા ભાગ્યેજ અથડામણુ હતી તેથી સિદ્ધરાજને ઉદ્દેશીને શ્રી કનૈયાલાલ મુનશી "ગુજરાત એન્ડ ઇટસ લીટરેચર" પૃષ્ટ ૪૧ ઉપર કહે છે તેમ "He was building an empire, and people of Gujarata were acquiring the proud conciousness of being a great people Jaina valour and wealth had great share in this achievement Jaina Sādhus, therefore, definitely cass their lot with this province and decided to make Gujarāta their holyland Hemchandra gave up even the peregrinations enjoined by his religious vows and with masterly skill and statesmanship, he concentrated his intellectual powers upon leaving a great literary heritage to Gujarata He assiduously fosfered a pride in the greatness of the cālukyas kings who had identified themselves with its glory In his Dvyāśrayamahākāvya, he described the glories of the Cālukyas *in the orthodox literary style, and invested the king of Paṭaṇa* with the dignity which classical poets had reseserved for the ancient royal houses of the Sun and the Moon Gujarāta Bhumi became a great country Patana rivalled the glories of ancient Pātliputra and Ayodhyā"

આ ઉપરથી જણાશે કે તે વખતના ગુજરાતના રાષ્ટ્ર ઘડતરમા હેમચદ્રાચાર્યનુ વર્ચસ્વ કેટલુ બધુ હતુ ધર્મ પ્રચાર તેમને મન મર્વોધ્ધાર mass upliftનુ સાધન હતુ અને રાજકારણુમા ભાગ લઇ આ ધ્યેયની સિદ્ધિ અર્થેજ તેમણે પ્રયત્ન કર્યો છે

કુમારપાલનાં રાજા તરીકેના ફરમાનોમાં શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યનો પ્રભાવ દ્રષ્ટિગોચર થાય છે. તે પ્રભાવ સ્વાર્થપ્રેરીત નથી પણ જનસમાજની કલ્યાણની ભાવના અને તેમના સંયમ રંગથી રંગાયેલો છે. તેમનું રાજકારણ રાજખટપટથી તદન અલિપ્ત ઉચ્ચ કોટિનું અને સામાન્ય રાજકારણથી તદ્દન નિરાળા પ્રકારનું હતું. ચાણક્યસમી તેજસ્વી બુદ્ધીની દોરવણીવાળું છતાં તે ચાણક્યની રાજરમતથી મુકત હતું. તેમના રાજકારણને ધર્મનો અવિહડ રંગ લાગેલો છે રાજ્યસૂત્ર ધર્મસિદ્ધાન્તોથી દોરવાયેલુ હોવું જોઇએ એમ તેઓ માને છે. ધર્મરાજ્ય એજ રાજ્યધર્મ, એજ રાજ્યાદર્શ. ગુજરાતમાં એ ધર્મરાજ્ય ઉતારવા પુરતુંજ તેમનું રાજકારણ હતું.

જ્યાં સત્તાની પ્રાપ્તિ માટે ખેંચતાણ ચાલતી હોય, સત્તાનાં સ્થાનો કબજે કરવાની હરિફાઇઓ થતી હોય ત્યા રાજરમતનું ગંદુ સ્વરૂપ દેખા દે છે. શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યને સત્તાનો મોહ નહોતો તેમની રાજનીતિ સ્પષ્ટ અને ખુલ્લી હતી તેમને કશુ છૂપાવવાપણુ નહોતું સત્ય અને અહિંસા ઉપરજ તેમની રાજ્યનીતિનું ખંધારણ થયેલુ હતું. સત્યને ભોગે નહિ પણ સત્યને માટે તેમનું રાજકારણ હતું. અહિંસાને ભોગે નહિ પણ અહિંસાને માટે તેમનો પ્રયત્ન હતો. જૂઠા પ્રપંચ. કુટિલતા રાજ્યમાંથી દૂર કરવા તેમની શક્તિઓ ખર્ચાઈ હતી. તેમના રાજકારણથી ગુજરાત હતું તે કરતા વધુ સમૃદ્ધ. વ્યસનોથી મુકત અને વધુ તેજસ્વી બન્યુ હતુ. ગુજરાતે તે પહેલાં અને પછી કદિ ન જોયેલા એવા સુવર્ણયુગના દર્શન કર્યાં હતાં.

કુમારપાલ અને હેમચંદ્રાચાર્યે આરભેલી રાષ્ટ્ર ઘડતરની સત્ય અને અહિંસાની, પ્રજાના ઉત્કર્ષની નીતિ ચાલુ રહે તે માટે હેમચંદ્રાચાર્યે કુમારપાળની હયાતીમાં તેને યોગ્ય સુચનાઓ આપેલી કુમારપાળને પુત્ર નહોતો તેના મૃત્યુ પછી તેના ભાઇનો પુત્ર અજયપાળ અને પોતાની પુત્રી પ્રતાપમાળાનો પુત્ર પ્રતાપમલ્લ એમ બે જણ રાજ્યગાદી ઉપર દાવો રાખતા હતા. અજયપાળ ખુલ્લી રીતે કુમારપાળની રાજ્યનીતિનો વિરોધી હતો, તુચ્છ મનોવિકારને આધીન હતો અને હેમચંદ્ર દ્વેષી હોઇ તેમની પ્રેરણાથી પોતાના કાકા કુમારપાળે ઘડેલા તમામ કાયદાઓ બાજુએ મૂકી દે તેવો હતો. પ્રતાપ-મલ્લ લોકપ્રિય અને ધર્મશ્રદ્ધાવાળો હતો. તેની લાયકાત જોઇ હેમચંદ્રાચાર્યની ભલામણ ઉપરથી કુમારપાળે પોતાના ગાદી વારસ તરીકે પ્રતાપમલ્લને જાહેર કર્યો. આ ઉપરથી અજયપાળે દ્વેષ રાખી કુમારપાળને ઝેર આપ્યું અને તેની અસર દૂર થાય તેમ નહિ હોવાથી કુમારપાળ જૈન વિધિ મુજબ અનશન કરી આહાર પાણીનો સર્વથા ત્યાગ કરી શુદ્ધિ ભાવનાપૂર્વક મરણ પામ્યો.

કુમારપાળના મરણ પછી અજયપાળ બ્રાહ્મણપક્ષના અને હેમચંદ્રાચાર્યના એક શિષ્ય બાલચન્દ્રના ટેકાથી ગાદીએ બેઠો. તેણે કુમારપાળે શરૂ કરેલી નીતિનો સર્વથા ત્યાગ કરી જૈનો સામે સખત જેહાદ જગાડી. પ્રતાપમલ્લનો પક્ષ રતા હેમચંદ્રાચાર્યના પટ્ટશિષ્ય મહા કવિ રામચંદ્રસૂરિને તપાવેલા લોઢાના આસન ઉપર બેસાડી તેમનો ઘાત કર્યો. કેટલાંય જૈન મંદિરોનો નાશ કરાવ્યો.

શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યે શરૂ કરેલી રાષ્ટ્ર વિધાનની નીતિને કુમારપાળના મૃત્યુ પછી જબરો પ્રત્યાઘાત નડયો, અને ત્યારથી સોલંકીઓની અવનતિના પણ શ્રી ગણેશ બેઠા.

ભોજનુ કીર્તિશિખર

લેખક —
શ્રી ચુનીલાલ વર્ધમાન શાહ
"અમદાવાદ

વિક્રમના અગીઆરમા શતકની-મધ્યમા જે વખતે-માળવામા ધારાપતિ ભોજ રાજાનુ કીર્તિશિખર ઊચુ ને ઊચુ ચડયે જતુ હતુ, તે વખતે થોડા વર્ષ અગાઉ જીવી ગયેલા બે રાજાઓના યશ-પરાક્રમ ભારતમા સારી પેઠે ગવાઈ રહ્યા હતા એક હતો ડાહલ દેશનો (ચેદિનો-બુદેલખડનો) હૈહય વશનો રાજા ગાગેય દેવ અને બીજો હતો તૈલગણમા માન્યખેટનો ચાલુક્ય વશીય રાજા તૈલપદેવ

ભોજ અને ગાગેયનો સસ્કૃત પ્રબધ ભોજના કીર્તિગાન સાભળીને ઈર્ષાથી બળતા ગાગેયનુ ચિત્ર દોરી આપે છે ભોજ અને ગાગેય વચ્ચે કોઇ વૈર-વિરોધનુ ખાસ પ્રકરણી કારણ ન હોવા છતા ગાગેય ૧૪૦૦ હાથી, પાચ લાખ ઘોડા અને ૨૧ લાખ પાયદળ સાથે ભોજની સામે ચડે છે અને ગોદાવરીને તીરે પડાવ નાખે છે ભોજ પણ વળતો જવાબ આપવા પ્રમાણમા પોતાનુ નાનુ નરખુ લશ્કર લઈને જાય છે ગાગેય પોતાના પડિત પરિમલને ભોજને ડગાવવા અને પોતાના મોટા લશ્કરનો ખ્યાલ આપવા મોકલે છે, ત્યારે ભોજ પોતાના મત્રી છિત્તિપને ગાગેય પાસે સધિ કરવા મોકલે છે ગાગેય છિત્તિપ પાસે પોતાના જગી સેનાની ગર્વપૂર્વક વાતો કરે છે છિત્તિપ એને નમ્રતાથી સમજાવવા અને સૈન્યનો ગર્વ છોડી દેવા વિનતિ કરે છે એવામા ગાગેયની છાવણીમા એક વિચિત્ર બનાવ બને છે એક ગાડો થયેલો હાથી છાવણીમા દોડાદોડી કરી રહ્યો છે, સૈનિકોને કચડી રહ્યો છે, તબૂ રાવટી વગેરેનો નાશ કરી રહ્યો છે અને તેથી ચોમેર કોલાહલ પ્રસરી રહ્યો છે ગાગેય કોલાહલનુ કારણ પૂછે છે ત્યારે તેને કહેવામા આવે છે કે ગાડો હાથી છાવણીનો ઘાણ કાઢતો ઘુમી રહ્યો છે, તુરત ગાગેય પોતાની જાનની સલામતી માટે લાકડાના મોટા પિજરામા પેસી જાય છે અને પિજરની અર્ગલા બધ કરી દેવામા આવે છે

આ તક જોઈને છિત્તિપ પોતાના એક માણસને તેના પગરખા પર છુપો સદેશો લખી આપીને ભોજ પાસે મોકલે છે, ભોજ એ સદેશો વાચી ગાગેયના સૈન્ય પર ઓચિતો તૂટી પડે છે, અને કાષ્ટ પિજરમા પુરાયેલા ગાગેયને પકડી લઇ સોનાની બેડી પહેરાવી ધારામા લઇ જાય છે એ વખતે પડિત પરિમલ એક શ્લોક કહી ભોજને પ્રસન્ન કરે છે અને તેની વિનતિથી ગાગેયને છોડીને સહીસલામત રીતે તેના દેશમા જવા દેવામા આવે છે ગાગેયદેવની રાજધાનીનુ નગર એ કાળે સુપ્રસિદ્ધ તીર્થક્ષેત્ર કાશીનગરી હતુ

ગાગેયના મૃત્યુ પછી એનો ગર્વ એના પુત્ર કર્ણદેવમા ઉતર્યો હતો પિતાની કીર્તિ સુવાસ ભોજના કીર્તિ શિખરને જમીનદોસ્ત કરી ન શકી તેનુ તેના મનમા વેર વસ્યુ હતુ તે ભોજની પેઠે પોતાના દરબારમા પડિતો રાખતો, જો પડિતોની બ્રહ્મસભા ભરતો, કાવ્યશાસ્ત્ર વિનોદ ચલાવતો, દાનો આપતો અને પોતાને નામે કર્ણ [illegible]ના

તેથી કુન્તાસુત કર્ણના જેવો પોતાને દાનેશ્વરી કહાવતો. તેની પરાયણતાના તેના કવિઓએ રચેલા શ્લોકો મળી પણ આવે છે. પદ્માકર, શુકલાંબર અને કાત્યાયન નામના ત્રણ વિદ્વાનોને કર્ણે ભોજની સભામાં વિવાદ ચલાવી ભોજના પંડિતોને હરાવવા મોકલેલા, પણ ઉલ્ટા તેઓને હારીને ઘેર પાછા ફરવું પડેલું. એ હારેલા પંડિતોને પણ ભોજે મોટાં દાનો આપી પોતાની દાન પરાયણતા તથા સૌજન્યની સીમાનું દર્શન કરાવ્યું હતું.

આથી નાશીપાસ થયેલા કર્ણે ભોજરાજાનું કીર્તિશિખર તોડી પાડવા બીજો યત્ન કર્યો. તેણે ભોજને આહ્વાન કર્યું, કે તમે ધારામાં અને હું કાશીમાં એક સરખાં મંદિરો બાંધીએ અને જેનુ મદિર વહેલું પૂરૂં થાય તેને મોડું પૂરૂં કરનાર છત્ર-ચામર મોકલી સન્માને ભોજે શરત માન્ય કરીને મદિર બંધાવવા માંડયું. પરંતુ તે પૂરૂં થાય તે પહેલાં કર્ણનું મંદિર પૂરૂં થઈ ગયું હતું, તેથી કર્ણની ગર્વોકિત સાર્થક થવા પામી. ઇતિહાસ એમ પણ કહે છે કે ગુજરાતના ભીમ અને ચંદીના કર્ણે મળી જઇને માળવા પર આક્રમણ કરી ભોજને હરાવ્યો હતો અને દંડમા તેની રત્નજડિત મંડપિકા કબજે લીધી હતી. આ સંયુક્ત યત્નથીયે ભોજનું કીર્તિશિખર તૂટવા પામ્યું નહતું.

ભોજની કીર્તિ તેના ધનવૈભવને આભારી નહોતી. તેની વિદ્યા પ્રીતિ, પાંડિત્ય અને દાનપરાયણતાને આભારી હતી. એ કીર્તિની સુવાસે ગાંગેય અને કર્ણ જેવા રાજાઓને ઇર્ષ્યાળુ બનાવ્યા હતા.

એ કાળે એવો જ બીજો મહાન રાજા તૈલંગણનો ચાલુકયવંશી રાજા તૈલપદેવ હતો માન્યખેટ (માલખેડ) માં તેની રાજધાની હતી તૈલપ પરાક્રમી રાજા હતો. મૂળરાજ સોલંકી જ્યારે ગુજરાતની ગાદી પર હતો ત્યારે તૈલપે તૈલંગણના રાઠોડ રાજાને હરાવીને ત્યાં ચાલુકયવંશનું રાજ્ય સ્થાપ્યું હતું. લાટનો બારપ જેને મૂળરાજના યુવરાજ ચામુંડે હરાવીને માર્યો હતો તે એ તૈલપનોજ લાટમાંનો સામંત હતો. તૈલપે માળવા સાથે લાંબો વિગ્રહ ચલાવેલો અને તેમાં તેણે સારી પેઠે પરાભવો અનુભવેલા, પણ છેલ્લે તેણે માળવાના મુંજને હરાવી તેને કેદ કરેલો અને પછી તેનો વધ કરેલો. એ મુંજની પછી ભોજ માળવાનો રાજા થયેલો, પણ તૈલપ અને ભોજ વચ્ચે કોઇ યુદ્ધનો સંભવજ નહોતો. કારણકે ભોજ ગાદી પર આવ્યો ત્યારે તે કુમાર વયનો હતો, અને એ અરસામાંજ તૈલપનું મૃત્યુ થયેલું. માળવા જીત્યુ ત્યારથી તૈલપની મહત્તાની કીર્તિ તે કાળે પ્રસરેલી હતી. અને પરાક્રમી રાજાઓમાં તેની ગણના થવા લાગી હતી.

પણ ભોજની કીર્તિ તો અનેરી હતી. તેણે વિજેતા તરીકેની કીર્તિ માટે યુધ્ધો કર્યાં નહોતાં, કે રાજ્યની સીમા વધારવાની લોલુપતા ધરાવી નહોતી. યોગ્ય લાગ્યું ત્યારે યુધ્ધ ટાળવાને શત્રુઓને ધનથી પણ તેણે સંતોષી લીધા હતા અને પ્રજા પરની આપત્તિને ટાળી હતી. તેનો પ્રાતઃસ્મરણનો શ્લોક હતો.

अयमवसरः सरस्ते सलिलैरुपकर्तुमर्थिना मनिशम् ।
इदमपि सुलभम् चाम्भोभवति पुरा जलधराभ्युदये ॥

અર્થાત -હે સરોવર! અત્યાર તુ જળથી ભરપૂર છે, અટલે જળવડે તૃષાતુરોની તૃષા સતોષવાનો તારે માટે આજ અવસર છે ભવિષ્યમા આટલુ બધુ જળ તો ત્યારેજ મળવા પામે કે જ્યારે વાદળા વરસે (અને ન વરસે તો તને જળનુ દાન કરવાનો અવસર નજ મળવા પામે). તાત્પર્ય એ છે કે ધનનો સગ્રહ કરવાનુ તેને કદાપિ મન થતુ નહિ ભવિષ્યમા સકટને સમયે ધન જોઇએ તેટલા માટે તેનો સગ્રહ કરવાનો એકવાર તેના પ્રધાને તેને ઉપદેશ આપેલો, ત્યારે તેણે જવાબ આપેલો કે દુર્દૈવ આવે છે ત્યારે સગ્રહેલુ ધન પણ ઉપયોગમા આવવાને બદલે નાશ પામે છે માટે તેનો તો સ્વહસ્તે ઉપયોગ કરવો ઘટિત છે

ભોજે વિદ્યાને ઘટતુ મહત્વ અને ઉત્તેજન આપ્યુ, જાતે વિદ્યા સસ્કાર ગ્રહણ કરીને સાહિત્ય નિર્માણ કર્યુ ધન એ સગ્રહવાની નહિ પણ ત્યજવાની વસ્તુ છે એ સત્યને તેણે આખા જીવન દરમિયાન આચરી બતાવ્યુ અને પ્રજામા સસ્કાર ધન સિચવાને અત સુધી મથન કર્યુ એ ચાર વસ્તુઓના ચતુષ્કોણીય મદિર ઉપર ભોજનુ કીર્તિ-શિખર ઉભુ છે, અને એજ કાળની એક કિંવદન્તીની સજીવતાથી આજસુધી રક્ષાતુ રહ્યુ છે એ કિવદતી છે ‘ કયા રાજા ભોજ અને કયા ગાગેય–તઈલ ”

આ કિવદન્તી અનેક ભ્રષ્ટ રૂપાતરોદ્વારા પણ આજ સુધી સજીવ–પ્રવાહિત રહી છે તે એટલે સુધી કે ભોજનો લોહનો વિજયસ્તભ જે ધારામા રાજપ્રાસાદની સામે ઉભો કરવામા આવ્યો હતો અને જે આજે જુમા મસ્જીદ પાસે ભાગેલી હાલતમા પડયો છે તેને લોકો ‘ગાગલી ઘાચણના ત્રાજવાની દાડી કહે છે, અને મુળ કિવદન્તીને ‘ કયા રાજા ભોજ ને કયા ગાગો તેલી અથવા ‘ ગાગલી ઘાચણ ’ એવા વિકૃત સ્વરૂપમા ઉચ્ચારે છે જુદા જુદા પ્રાતોમા એજ કિવદન્તીના જુદા જુદા વિકૃત સ્વરૂપો પ્રચલિત છે મહારાષ્ટ્રમા કહેવાય છે ‘ કોઠે રાજા ભોજ આણિ કોઠે ગગા તેલી ’ માળવામા ‘કહા રાજા ભોજ ઔર કહા ગાગલી તેલણ પ્રચલિત છે ઉત્તર પ્રદેશમા ‘કહા રાજા ભોજ ઔર કહા ભજવા તેલી એવુ કહેવત ઘડાયુ છે બુદેલખડમા ‘કહા રાજા ભોજ ઔર કહા દૂટા તેલી’ એમ બોલાય છે બગાળ-બિહારમા ‘કહા ગાગિયા તેલિની’ એમ બોલાય છે પચમહાલમા પ્રચલિત કહેવત “ કહા રાજા ભોજ અને કહા ગાગો તેલી કયા સોનામહોર અને કયા અધેલી ’ એ તો પૂરી રીતે ગાગેય અને તઈલનુ સાચુ મૂલ્યાકન કરી તત્કાલીન રાજાઓમા ભોજરાજાના કીર્તિશિખર પર સોનાનો કળશ ચઢાવે છે

જેને આજના ઇતિહાસકારો પણ ભૂલી ગયા

પ્રાચીન તીર્થક્ષેત્ર શ્રી લક્ષ્મણીજી

લે.:-લક્ષ્મણીતીર્થોધ્ધારક જૈનાચાર્ય શ્રી મદ્વિજય યતીન્દ્રસૂરિ શિષ્ય.
મુનિ જયંતવિજય, ખાચરોદ.

પ્રકૃતિ અને પરિવર્તન

પ્રકૃતિનું ચક્કર પોતાના ઉન્નતિ અને અવનતિના નિયમ પ્રમાણે અસ્ખલિત ગતિથી ચાલતું આવ્યું અને ચાલી રહ્યું છે. જે પ્રગતિના પંથ ઉપર પ્રયાણ કરી જાય છે તેને પણ બીજી પળે અધોગતિને અનુરૂપ બની જવું પડે છે. એક સમય જે અતુલ વૈભવશીલ અને ગૌરવવાન મનાય છે તેને બીજી ક્ષણે પ્રકૃતિના પરિવર્તનશીલ સ્વભાવનો શિકાર થવું પડે છે.

પરમ પવિત્ર ભારત વસુંધરા ઉપર હુણ અને યવનલોકોના અનેક આક્રમણો થયા. એ વિદેશી લોકોએ ભારતીય સંસ્કૃતિના આધારસમા કીર્તિસ્તંભો અને ભારતીયજનોના હૃદયાધારસમા ધર્મસ્થાનો તોડવાનું કાર્ય આરંભ્યું. ભારતભૂમિને તે વખતે સમરાંગણ બનવું પડયું! યવન ઔરંગઝેબના શાસન કાળમા ધર્માંધતાની એટલી જબ્બર ભૂતાવળ ચાલી કે પ્રત્યેક વ્યક્તિને સંસ્કૃતિ અને સાહિત્યના સંરક્ષણની ચિંતા થઇ પડી યવન લોકોએ એ આક્રમણો દરમિયાન આપણા ગગનચુંબી દેવાલયો તોડીને ભૂમિગ્રસ્ત કર્યાં, એ મન્દિરોના પત્થરથી મસ્જિદો બનાવવામાં આવી, જેના એક નહિ પણ ઘણા પ્રમાણો પ્રત્યક્ષ છે.

મેદપાટ (મેવાડ) દેશીય રાજનગર ગામની પૂર્વ દિશાએ એક ટેકરી ઉપર મેવાડ રાણા રાજસિંહના મંત્રી શ્રેષ્ઠિવર્ય દયાલશાહે શ્રીયુગાદિદેવનું ભવ્ય પ્રાસાદ કરાવ્યું, ટેકરીની તળેટીમાં રાણા રાજસિંહે રાજસમુદ્ર નામક એક મોટું સરોવર બંધાવ્યું, જે હાલ પણ વિદ્યમાન છે, કહેવાય છે કે આ મંદિર પૂર્વકાળમાં નવ માળનું હતું, યવન લોકોએ તોપો અને અન્ય હથિયારોદ્વારો એ મંદિરના સાત માળ તોડી તેના પત્થરથી પાસેની ટેકરી ઉપર જ પોતાની મસ્જિદ બંધાવી

રાજસ્થાન પ્રાંતીય સ્વર્ણગિરિ (જાલોર દુર્ગ) નું નામ ચારે બાજુ પ્રખ્યાત છે. અહિં પણ જૈન મંદિરો વિશાળ પ્રમાણમાં હતાં, યવન લોકોએ આ મંદિરો તોડીને ધરાશયી કર્યાં અને તેના જ પત્થરથી પોતાની મસ્જિદો બનાવી

માલવભૂમિના પ્રસિધ્ધતીર્થ માંડવગઢ (માંડુ) મા પૂર્વકાળમાં જૈનોના ૭૦૦ મંદિરો હતાં. ચૌદમી શતાબ્દિમાં જ્યારે આ નગર અલાઉદ્દીન ખીલજીના આધિપત્ય

મા આવ્યુ ત્યારથી જ અહિં મોગલશાહીના પગરણુ મંડાયા, મોગલ સામ્રાજ્યમા ધમાંધ ઔરંગઝેબે અવશિષ્ટ ગગનસ્પર્શી પ્રાસાદોને તોડાવ્યા અને તે પત્થરથી મસ્જિદ, મહેલ, મિનારા અને મકબરા કરાવ્યા આવા આપત્તિમય સમયમા જૈન ધર્માવલંબી ઓએ પોતાના ઇષ્ટદેવની મૂર્તિઓ ભૂગર્ભમા મૂકીને તેમની સુરક્ષા કરી, જેના પ્રમાણુ રૂપમા આજ અનેક જગ્યાએથી નાના મોટા જિનબિંબો મળી આવે છે

પ્રાચીન તીર્થ લક્ષ્મણી –

અહિં આપણે જે તીર્થનુ વર્ણન કરવાનુ છે તે લક્ષ્મણી તીર્થ વિક્રમની સોળમી સદીમા આબાદ અને સમૃદ્ધ હતુ, આ તીર્થની પ્રાચીનતા ઓછામા ઓછા ૨૦૦૦ વર્ષથી પણુ વધુ પૂર્વકાળની સિદ્ધ થાય છે, જેને આગળ દેવામા આવેલા લેખો અને પ્રમાણોથી જાણી શકીશુ

જ્યારે માંડવગઢ યવન લોકોનુ સમરાંગણુ બન્યુ ત્યારે આ બૃહદ્તીર્થ ઉપર પણુ તેમણે આક્રમણુ કર્યું અને મંદિરાદિ ધર્મસ્થાનો તોડવા, ત્યારથી જ આ તીર્થની વિધ્વંશતાના પગરણુ મંડાયા અને વિક્રમની ઓગણીશમી સદીમા આનુ કેવળ 'લખમણી' નામ માત્ર જ અસ્તિત્વમા રહી ગયુ, જ્યા ભીલ ભીલાલા લોકોના ૨૦–૨૫ ઝૂંપડા જ દ્રષ્ટિપથમા આવવા લાગ્યા

એક સમયની વાત છે, એક ખેડૂત પોતાના ખેતરમા વાવેતર કરવા માટે ખેડી રહ્યો હતો, થોડીવારમા અચાનક તેનુ હળ અટકી પડયુ તેણે બે ત્રણુ હાથ ઉંડી જમીન ખોદી તો તેમાથી સર્વાંગ સુંદર ૧૧ જિન પ્રતિમાઓ નીકળી આવી, ખેડૂતે બીજે દિવસે પ્રાતઃકાળ થતા જ આલીરાજપુર મૂર્તિપૂજક જૈન સંઘ તથા નરેશને સમાચાર દીધા, સપરિવાર નરેશ અને જૈન જૈનેતર માનવ મહેરામણુ લક્ષ્મણી બાજુ ઉમટયો, ભગવાનના દર્શન કરી બધાય પોતાને ભાગ્યશાળી માનવા લાગ્યા થોડા દિવસો વ્યતિત થયા પછી જે જગ્યાએથી ૧૧ જિન પ્રતિમાઓ મળી હતી ત્યાથી બે ત્રણુ હાથ છેટેથી જ બે પ્રતિમાઓ ફરી મળી અને એક પ્રતિમાજી પહેલેથી જ નિકળેલા હતા જેને ભીલાલા લોકો પોતના ઇષ્ટદેવ માનીને તેલ સિંદુરથી પૂજતા હતા ભૂગર્ભમાથી નિકળેલા ૧૪ જિનબિંબોના નામ તથા લેખ આ પ્રમાણે છે

નં	નામ	ઇંચ	નં	નામ	ઇંચ
૧	શ્રી પદ્મપ્રભ સ્વામી	૩૭	૮	શ્રી ઋષભદેવજી	૧૩
૨	શ્રી આદિનાથજી	૨૭	૯	શ્રી સંભવનાથજી	૧૦॥
૩	શ્રી મહાવીર સ્વામીજી	૩૨	૧૦	શ્રી ચંદ્રપ્રભ સ્વામીજી	૧૩॥
૪	શ્રી મલ્લીનાથજી	૨૬	૧૧	શ્રી અનંતનાથજી	૧૩॥
૫	શ્રી નમિનાથજી	૨૬	૧૨	શ્રી ચૌમુખજી	૧૫
૬	શ્રી ઋષભદેવજી	૧૩	૧૩	શ્રી અભિનંદન સ્વામીજી (ખં)	૯॥
૭	શ્રી અજિતનાથજી	૧૫	૧૪	શ્રી મહાવીર સ્વામીજી (ખં)	૧૦

ચરમતીર્થાધિપતિ શ્રી મહાવીરસ્વામીજીની ૩૨ ઇંચ મોટી પ્રતિમા સર્વાંગ સુંદર અને શ્વેતવર્ણી છે, તેના ઉપર લેખ નથી છતાં તે ઉપર રહેલાં પ્રતિકો સૂચિત કરે છે કે આ પ્રતિમાજી મહારાજા સમ્રાટ સંપ્રતિના સમયની પ્રતિષ્ઠિત હોવી જોઇએ.

શ્રી અજીતનાથ પ્રભુની ૧૫ ઇંચ પ્રતિમા વેળુ રેતીની બનાવેલ છે, જે દર્શનીય અને પ્રાચીન દેખાય છે.

શ્રી પદ્મપ્રભુજીની પ્રતિમા ૩૭ ઇંચ મોટી શ્વેતવર્ણી પરિપૂર્ણાંગ અને ભવ્ય છે. તેના ઉપરનો લેખ ઝાંખો પડી જવાથી 'संवत १०१३ वर्षे वैशाख सुदी सतम्यां' માત્ર આટલુજ વંચાય છે શ્રી મલ્લીનાથજી અને શ્યામ શ્રી નમિનાથજી, બન્ને પ્રતિમા ૨૬, ૨૬ ઇંચ મોટી અને તે પણ તેજ સમયે પ્રતિષ્ઠિત થઇ હોય તેવો આભાસ થાય છે. આમ આ લેખ ઉપરથી ત્રણે પ્રતિમાઓ એક હજાર વર્ષની પ્રાચીન છે.

શ્રી આદિનાથજીની ૨૭ ઇંચી અને શ્રી ઋષભદેવજીની ૧૩/૧૩ ઇંચી બદામી વર્ણની પ્રતિમાઓ પણ ઓછામા ઓછી ૭૦૦ વર્ષની પ્રાચીન છે, અને આ ત્રણે પ્રતિમાઓ એક જ સમયની બનેલ હોય તેવી પ્રતીતિ થાય છે.

શ્રી આદિનાથ સ્વામિની પ્રતિમા ઉપર લેખ આ પ્રમાણે છેઃ—

'संवत १३१० वर्षे माघ सुदि ५ सोमदिने प्राग्वाटज्ञातीय मंत्री गोसल तस्य चि. मंत्री आलिमदेव. तस्यपुत्र गंगदेव, तस्यपत्नी गांगदेवी. तस्यापुत्र मंत्री पद्म तस्य भार्या मागल्या प्र ॥

શેષ પાષાણ પ્રતિમાઓ ઉપરના લેખ બહુ જ ઝાંખા પડી ગયા છે. પરંતુ તેમની બનાવટથી જાણી શકાય છે કે એ ૧૨૦૦ વર્ષોપરાંતની પ્રાચીન છે ઉપરોકત પ્રતિમાઓ ભુગર્ભમાથી પ્રાપ્ત થયા પછી શ્રી પાર્શ્વનાથ સ્વામીજીની એક નાની ચાર આંગળ પ્રમાણની ધાતુ પ્રતિમા નિકળી, જેના પૃષ્ઠ ભાગ પર લખેલ છે કે सं. ११८३ आ. सु ४ ललित सा.' તેથી આ બિંબ પણ ૭૦૦ વર્ષ પ્રાચીન છે

વિક્રમ સંવત્સર ૧૪૨૭ ના માગશર માસમાં "જયનંદ" નામક જૈન મુનિરાજ પોતાના ગુરૂદેવના સાથે નેમાડ પ્રાંતીય તીર્થક્ષેત્રોની યાત્રાર્થ પધાર્યા. તેની યાદગિરિમાં તેમણે બે છંદોમા વિભકત 'નેમાડ પ્રવાસ ગીતિકા' બનાવી તે છંદો ઉપરથી પણ જાણી શકાય છે કે તે સમયમાં નેમાડ પ્રદેશ કેટલો સમૃદ્ધિશાળી હતો અને લક્ષ્મણી તીર્થ કેટલુ વૈભવશીલ હતું.

मांडव नगोवरी सग नया, पंच ताराउर वरा.
विस—इग सिंगारी—तारण. नंदुरी द्वादश पगा।
हत्थिणी सग लखमणी उर, इक्कसय सुह ज़िणहरा.
भेटिया अणुवजणवए, मुनि जयाणंद पवरा ॥ १ ॥

ऽक्खातिय सहस तिपणसय, पण सहस्स सग सया,
मय इगविस दुसहसि मयल, दुन्नि सहस कणय मया।
गाम गामि भत्ति परायणा, धम्माधम्म सुजाणगा,
मुणि जयाणद निरक्खिया, सयल समणो वासगा ॥ २॥

મડપાચલ (માડવગઢ)મા ૭૦૦ જિન મદિર અને ૩ લાખ જૈનોના ઘર, તારાપુરમા ૫ જિન મદિર અને ૫૦૦૦ શ્રાવકોના ઘર, તારણપુરમા ૨૧ જિન મદિર અને ૭૦ જૈન ધર્માવલમ્બીઓના ઘર, હસ્તિનીપત્તનમા ૭ મદિર, ૨૦૦૦ શ્રાવકોના ઘર, અને લક્ષ્મણીમા ૧૦૧ જિન મદિર તથા ૨૦૦૦ જૈન ધર્માનુયાયીઓના ઘર, ધન, ધાન્યથી સપન્ન, ધર્મનો મર્મ સમજવાવાળા ભકિતપરાયણ દેખ્યા, આત્મામા પ્રસન્નતા થઈ

આ ઉપરથી પણ લક્ષ્મણીની વૈભવશીલતાનો ખ્યાલ થઈ આવે છે આ તીર્થના લક્ષ્મણીપુર, લક્ષ્મણપુર, લક્ષ્મણી આદિ પ્રાચીન નામ છે જે અહિ અસ્ત વ્યસ્ત પડેલા પત્થરાથી જાણી શકાય છે

લક્ષ્મણીજીનો પુનરૂધ્ધાર અને પ્રસિધ્ધિ

પૂર્વે લખેલ પૃષ્ટ પંકિતઓથી એ તો સારી પેઠે સમજાઇ ગયુ કે અહિ ભીલાલાના ખેતરમાથી ૧૪ જિન પ્રતિમાઓ નીકળી હતી પછી એ પ્રતિમાઓ આલીરાજપુર નરેશે તત્રસ્થ શ્રી જૈન શ્વેતામ્બર મૂર્તિપૂજક સંઘને આપી દીધી શ્રી સઘનો એ વિચાર હતો કે આ જિન બિબોને આલીરાજપુર લાવવામા આવે પરતુ નરેશના અભિપ્રાયથી સઘે ત્યા જ મદિર બનાવરાવીને મૂર્તિઓને સ્થાપિત કરવાનો વિચાર રાખ્યો, જેથી એ સ્થાનનુ ઐતિહાસિક મહત્વ પ્રસિધ્ધિમા આવે

તે વખતે શ્રીમદુપાધ્યાયજી શ્રી યતીન્દ્ર વિજયજી (વર્તમાન આચાર્યશ્રી) ત્યા બિરાજમાન હતા પૂ ઉપાધ્યાજીના પ્રભાવશાળી ઉપદેશથી નરેશે શ્રી લક્ષ્મણીજીના માટે (મદિર, કૂવા, બાગ, બગીચા, ખેતર આદિ બનાવવા, માટે) પુર્વ પશ્ચિમ ૫૧૧ ફૂટ, ઉત્તર દક્ષિણ ૨૧૧ ફૂટ જમીનની શ્રી સઘને અમૂલ્ય ભેટ દીધી અને આજીવન પર્યત મદિરના ખર્ચ માટે ૭૧) રૂપિયા પ્રતિવર્ષ આપવાનુ પણ કહ્યુ

મહારાજશ્રીનો સદુપદેશ, નરેશની પ્રભુભકિત અને શ્રી સઘનો ઉત્સાહ આમ ત્રિવેણી સગમ થતા થોડા દિવસમા જ ભવ્ય ત્રિશિખરી પ્રાસાદ બનીને તૈયાર થયુ આલિરાજપુર બાગ, કુક્ષી, ટાડા આદિ આજુબાજુના ગામોમા રહેતા સદ્ગૃહસ્થોએ લક્ષ્મીનો સદ્વ્યય કરી વિશાળ ધર્મશાળા, ઉપાશ્રય, ઓફિસ, કૂવા, વાવડી આદિ બનાવ્યા, સાથે જ ત્યાની સુદરતા વિશેષ વિકસિત કરવા એક બાગ બનાવી તેમા ગુલાબ, મોગરો, ચપા, આબા આદિના ઝાડ લગાવવામા આવ્યા

જે એક સમય અદૃશ્ય તીર્થ હતુ તે પુન ઉદ્ધરિત થઇને જગતમા પ્રસિદ્ધ થયુ

માટીના ટેકરાઓ ખોદાવ્યા તો તેમાંથી પ્રાચીન ઐતિહાસિક સામગ્રી પ્રાપ્ત થઈ જેમાં પ્રાચીન સમયના વાસણો આદિ છે. બગીચાના નિકટવર્ત્તી ખેતરમાંથી ૪, ૫ મંદિરોના પબાસણ પણ નિકળી આવ્યાં, અસ્તુ.

પ્રતિષ્ઠા કાર્ય.

વર્તમાન આચાર્ય શ્રી મદ્વિજય યતીન્દ્રસૂરીશ્વરજીએ (જે તે વખતે ઉપાધ્યાયજી હતા.) વિ. સં. ૧૯૯૪ માગશર સુદિ ૧૦ના રોજ અષ્ટાન્હિકા મહોત્સવના સાથે ખુબ જ હર્ષોલ્લાસથી શુભ લગ્નાંશમાં નવનિર્મિત મંદિરની પ્રતિષ્ઠા કરી. તીર્થાધિપતિ શ્રી પદ્મપ્રભુ સ્વામિજીને ગાદીનશીન કર્યા અને અન્ય પ્રભુ પ્રતિમાઓ પણ યથાસ્થાન બિરાજમાન કરવામા આવી, ધ્વજદંડ, કલશ આરોપણ કરવામા આવ્યા પ્રતિષ્ઠાના દિવસે નરેશે ૨૦૦૧) રૂપિયા રોકડાથી એક ચાંદીનો થાળ ભરીને ચઢાવ્યો અને મંદિર રક્ષાની જવાબદારી પોતાના ઉપર લીધી. ખરેખર સર પ્રતાપસિંહજી નરેશની પ્રભુ ભક્તિ અને તીર્થ પ્રેમ પ્રશંસનીય છે.

પ્રતિષ્ઠાના સમયે મંદિરના મુખ્યદ્વાર ગભારાની જમણી બાજુએ એક શીલાલેખ સંગેમરમર પર કોતરાવીને લગાવવામાં આવ્યો જે નીચે પ્રમાણે છે.—

श्री लक्ष्मणीतीर्थे प्रतिष्ठा — प्रशस्तिः

तीर्थाधिप श्रीपद्मप्रभस्वामी जिनेश्वरेभ्यो नमः ।

"श्रीविक्रमीयनिधि वसुनन्देन्दुतमे वत्सरे कार्तिकाऽसिताऽमावास्यायां शनिवासरेऽति प्राचीने श्रीलक्ष्मणी जैन महातीर्थे वालुकिरातस्य क्षेत्रतः श्रीपद्म प्रभजिनादि तीर्थेश्वराणामनुपम प्रभावशालिन्योऽति सुन्दरतमाश्चतुर्दश प्रतिमाः प्रादुरभवन् । तत्पूजार्थं प्रतिवर्षमेक सप्तति रूप्यक प्रदान युतं श्रीजिनालय धर्मशालाऽऽरामादि निर्माणार्थं श्वेताम्बर जैन श्रीसंघस्याऽऽलीराजपुराधिपतिना राष्ट्रकूट वंशीयेन के, सी. आई, ई, इत्युपाधिधारिणा सर् प्रतापसिंह बहादुर भूपतिना पूर्व पश्चिमे ५११ दक्षिणोत्तर ६११ फूट् परिमितं भूमि समर्पणं व्याधायि. तीर्थरक्षार्थमेकं सुभटं (पुलिसं) नियोजितञ्च ।

तत्राऽलीराजपुर निवासिना श्वेताम्बर जैन संघेन धर्मशालाऽऽराम कूप द्वय समन्वितं पुरातमत्रिशिखरि जिनालयस्य जिर्णोद्धारमकार यत् । प्रतिष्ठा चास्य वेदनिधिनन्देन्दु तमे विक्रमादित्यवत्सरे मार्गशीर्ष शुक्ल दशम्यां चन्द्रवासरेऽतिवलवत्तर शुभ लग्न नवांशेऽष्टाह्निक महोत्सवैः सहाऽऽलीराजपुर जैन श्रीसंघेनैव सूरिशक्र चक्र तिलकायमानानां श्रीसौधर्म बृहत्तपोगच्छांवतं सकानां विश्वपूज्यानामावालब्रह्मचारिणां प्रभुश्री मद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वराणामन्तेवासिनां व्याख्यान वाचस्पति महोपाध्याय विरुदधारिणां श्रीमद् यतीन्द्रविजय मुनिपुङ्गवानां करकमलेना कारयत् ।"

ચડતી પડતીના નિયમાનુસાર લક્ષ્મણીતીર્થનો ફરી ઉદ્ધાર થયો અને તેની પ્રસિદ્ધિ થઇ આ તીર્થના ઉદ્ધારનો સંપૂર્ણ શ્રેય આચાર્યપ્રવર શ્રીમદ્વિજય યતીન્દ્રસુરીશ્વરજી મહારાજને જ છે, કારણ તેઓશ્રીએ સંઘને તીર્થોદ્ધારનું મહત્ત્વ સમજાવીને આ તીર્થના માટે પોતાની પીયૂષવાહિની દેશનાનો પ્રવાહ ચાલુ રાખ્યો હતો, શ્રી સંઘ પણ અતીવ ધન્યવાદને પાત્ર છે કે જેણે તીર્થોદ્ધારના મહત્વને સમજી પોતાના તન મન, ધનથી પૂર્ણતં સહયોગ આપ્યો

વર્તમાનમાં આ તીર્થની સ્થિતિ બહુ જ સારી છે, દર્શનાર્થે જવા ઇચ્છનારાઓને દાહોદ સ્ટેશનથી મોટર મારફત આલિરાજપુર આવવું પડે છે ત્યાં યાત્રીઓને દરેક જાતની વ્યવસ્થા મળી જાય છે, બળદગાડી અથવા મોટરદ્વારા લક્ષ્મણી જઇ શકાય છે, તીર્થ પર મુનીમજી રહે છે, યાત્રીઓ માટે રહેવા ઓરડીઓ, રસોઈ બનાવવા વાસણો અને સુવા બેસવા માટે પથારી આદિની વ્યવસ્થા પેઢી તરફથી કરી આપવામાં આવે છે.

શ્રી લક્ષ્મણીજી તીર્થનો ઉધ્ધાર પૂ આચાર્ય શ્રીમદ્વિજય યતીન્દ્ર સૂરિશ્વરજી મહારાજના સદુપદેશથી સંપૂર્ણ સફળતાને પામ્યો અને તીર્થોધ્ધારનું એક મહાન કાર્ય થયું જે આપણા ઇતિહાસના પાને સૂવર્ણાક્ષરે લખાવું જોઇએ છતાં આપણા ઈતિહાસકારો કે જેઓ જૈન સાહિત્ય અને જૈન તીર્થ વિષે સઘળી માહીતિ એકઠી કરવા પ્રયત્નશીલ રહ્યા કરે છે તેઓને આ એક અતિ મહત્વની વાત જાણમાં પણ નથી અને એટલેજ અમારે અહીં પ્રકાશિત કરવી પડી છે કે અજાણ વિદ્વાનો જાણકાર થાય

અહિંસા અને વિશ્વશાંતિ

ફુલચંદ હરીચંદ, દોશી "મહુવાકર."

એક વીર તો એ ગણાય છે જે તલવારના બળ પર શાસન કરે છે. અને સામ્રાજ્યો મેળવે છે. તલવારના બળ પર એ દુષ્ટ મનાતા હજારો લાખોનો વિગ્રહ કરે છે. આ જાતની વીરતા તો હજારો વર્ષથી ચાલી આવે છે. આજે તો હવે વિજ્ઞાનની વિવિધ શોધોએ સંહારક શસ્ત્રોમાં હાઇડ્રોજન બોમ્બ શોધી કાઢયો છે. અને જગતનો સંહાર કરવાના શસ્ત્રોની શોધ પણ ચાલી રહી છે; પણ એ તલવારની ધારોને બુઠ્ઠી બનાવવા અને હાઇડ્રોજન બોમ્બ જેવા કાતિલ શસ્ત્રોને નાકામીયાબ બનાવવા કોઇ મહાવીર બુદ્ધ કે ગાંધી ઉત્પન્ન થાય છે તે શસ્ત્રાસ્ત્રોને નકામાં ઠરાવેછે. અને પ્રાકૃતિક શસ્ત્ર અહિંસા-દ્વારા દુષ્ટોનો વિગ્રહ નહિ પણ અનુગ્રહ કરે છે. અને ઉજ્જડ થઈ ગયેલી જગતની ફુલવાડીમાં શાંતિ સુધા વરસાથી એ ગુલશનને હર્યોભર્યો બનાવે છે.

આજથી ૨૫૦૦ વર્ષ પહેલાં ભગવાન મહાવીરે અહિંસામય આચરણદ્વારા આત્મ પ્રકાશ મેળવીને જગતને અહિંસાની ભેટ આપી. અહિંસાના સામ્રાજ્યમાં નથી થતા વિગ્રહો, નથી થતા કલેશો, તેમાં પરની પીડા નથી, બીજાની શાન્તિનો નાશ કરવાની ઈચ્છા નથી. દરેક વ્યકિત સંસારને પોતાનું કુટુંબ સમજે છે. શાન્તિનું વાતાવરણ જગતમાં નવનિર્માણ કરે છે.

ભગવાન મહાવીરની અહિંસા તો માનવ માનવ માટે તો શું પણ પશુ પંખી અને નાના જંતુઓની દયાને માટે મહાન સંદેશ આપી જાય છે.

ભગવાન બુધ્ધે પણ યજ્ઞ યાગાદિ માટે જેહાદ જગાવી હતી અને અહિંસાનો જગતના ખુણે ખુણે પ્રચાર કર્યો હતો.

અહિંસા કોટિ કોટિ માનવોને પ્રેમ શ્રદ્ધાપૂર્વક ભેટે છે. ને બધાને સમાન અધિકાર આપે છે. જીવનનું કોઈ પણ કાર્ય અહિંસા વિના થઇ શકતું નથી, અહિંસા જીવનનો મૂળ મંત્ર છે, દૈવી શકિત છે. અહિંસાના રાજ્યમાં જગતના તમામ જીવો પ્રાણી માત્રને સુખશાંતિ અને સંતોષપૂર્વક જીવવાનો અધિકાર છે. 'જીવો અને જીવવા દો' એ અહિંસાનું મહાન સૂત્ર છે. જો આપણે કોઇને પ્રાણ આપી શકતા નથી તો કોઈના પણ પ્રાણ લેવાનો આપણને કશો અધિકાર નથી.

પડતાને ઉઠાવવા, દલિત-પતિતને ગળે લગાડવા, બીજાને ઉન્નત બનાવવા, પ્રત્યેકને અનુકુળ સહયોગ આપવો, બધાંની સાથે પ્રેમ અને શાન્તિ તેમજ વાત્સલ્યભર્યો વર્તાવ

ન્નો અને બધા વિશ્વના માનવી એક કુટુંબી છીએ એવી ભાવનાઓ જાગ્રત રાખવી એ અહિંસાનુ રૂપ છે અહિંસાનો પાઠ છે

ભગવાન મહાવીરે કહ્યુ છે કે અહિંસાના હાર્દને સમજો, માનવ થઈ જવાથી આત્મ કલ્યાણ નથી થઈ જવાનુ, પણ માનવતાના ગુણો જીવનમા વણી લેવા પડશે માનવ માનવ વચ્ચેના મોહો મટશે અને માનવમા સાચી માનવતા પ્રગટશે, ત્યારે તો તે તલવારોના ટુકડા કરી ફેંકી દેશે, યજ્ઞોનુ વિસર્જન કરી દેશે, તે કોઇના પેટ પર પગ મૂકીને ચાલશે નહિ, અનીતિ અને અનાધિકાર તરફ કદમ પણ નહિ ઉઠાવે, જગતના પ્રાણી માત્ર તરફ પ્રેમભાવથી જોશે અને તોજ જગતમા શાતિ સ્થપાશે

અહિંસાજ જીવન સુધારની કુંચી છે એટલુજ નહિ તે વ્યક્તિના વિકાસ સાથે સમાજ, ગામ, શહેર, દેશ રાષ્ટ્ર ક જગતની સાચી સમુન્નતિ સાધે છે

જૈન ધર્મે તો અહિંસાનો મહામૂલો સદેશ જગતને હજારો વર્ષ પહેલા આપ્યો છે

જૈન સૂત્રના શાતિપાઠમા વિશ્વના પ્રાણી માત્ર માટેની શાતિભાવના કેવી ઉદાત્ત છે

✠ શ્રી શ્રમણ સઘની શાતિ થાઓ	✠ દેશની શાતિ થાઓ
✠ મહાન રાજાઓની શાતિ થાઓ	✠ રાજાઓના ઉપદેશ સ્થાપકોને વિષે શાતિ થાઓ
✠ નિવાસસ્થાનોમા શાતિ થાઓ	
✠ ધર્મસભાના લોકોને શાતિ થાઓ	✠ શહેરના લોકોને શાતિ થાઓ
✠ સમસ્ત જીવલોકને શાતિ થાઓ	✠ સર્વ જગતનુ કલ્યાણ થાઓ

આપણે તો આ અહિંસાની અમોઘ શકિતના સાક્ષી છીએ કે જે મહાત્માજીને જગત ધુની કહેતા હતા તે ૧૫ઃર ઓગસ્ટ ૧૯૪૭ના દિવસે તે જગતના લાખો લોકોનુ મસ્તક મહાત્માજી અને ભારતીય અહિંસા પ્રત્યે નમી પડયુ સમગ્ર રાષ્ટ્રે રાષ્ટ્ર તો આ ચમત્કાર જોઈને ચકિત થઈ ગયા જગતના ઇતિહાસમા જે કદી બન્યુ નથી તે અહિંસાદ્વારા મહાત્મા ગાધીજીએ કરી બતાવ્યુ લોહીનુ એક પણ ટીપુ પડયુ નહિ, ન મ્યાનમાથી તલવાર નીકળી, ન શસ્ત્રાસ્ત્રોની જરૂર પડી, બોમ્બગોળા નાકામીયાબ ગન્યા અને માત્ર અહિંસાની શક્તિદ્વારા લાખો જાગી ગયા એજ ચાલીસ કરોડ માનવો ૨૦૦ વર્ષની ગુલામીમાથી મુક્ત થઈ ગયા

આજે તો જગતનુ રાષ્ટ્રે રાષ્ટ્ર, પ્રજાએ પ્રજા અને દેશે દેશ અહિંસા, પચશીલ અને સહઅસ્તિત્વદ્વારા વિશ્વશાતી તરફ પગલા માડી રહેલ છે આજે નહિ તો આવતી કાલે જગતને સ્વીકારવુ પડશે કે મનુષ્ય જાતિનો સાચો ઉત્કર્ષ અહિંસાને વ્યવહારિક રૂપ આપ્યા વિના શકય નથી

મહાત્મા ગાંધીજીના પ્રાણ પ્રેરક વચનો જગતને અહિંસાનો મહાન સંદેશ આપી જાય છે. આ રહ્યો તે સંદેશ.

"જ્યારે અહિંસા ગતિમાન બને છે ત્યારે તે અતિશય ગતિથી આગળ ધપે છે અને ત્યારે તે ચમત્કાર સર્જાવે છે. જ્યારે અહિંસાનો આત્મા બધા લોકોમાં વ્યાપક બને છે, અને કાર્ય કરવા લાગે છે ત્યારે તેની અસર બધાને દેખાય છે. જેમ પૂરતા પ્રમાણમાં ગરમી મળે તો કઠણમાં કઠણ ધાતુ પણ ઓગળી જાય છે. એજ પ્રમાણે કઠણમાં કઠણ હૃદય પણ અહિંસાની ગરમીથી પીગળે છે. હું તો આ અહિંસા રાષ્ટ્રીય અને આંતર રાષ્ટ્રીય ક્ષેત્ર સુધી વિસ્તાર પામે એવું માગી રહ્યો છું ત્યારેજ વિશ્વશાંતિનાં દર્શન થશે."

અહિંસાના પ્રચાર અને પ્રકાશ માટે આપણે બધા પ્રયત્નશીલ રહીએ અને વિશ્વશાંતિનો સંદેશ ગામે ગામ, શહેરે શહેર, પ્રજાએ પ્રજા અને રાષ્ટ્રે રાષ્ટ્રમા પહોંચાડવાનું કાર્ય ભારતના નવયુવાનો અને ઘડવૈયાઓ ઉપાડી લ્યે તો આવતી કાલનું જગત્ અનુપમ અને અદ્વતીય હશે.

અહિંસા, રાષ્ટ્રભાષા અને સમજ

લેખક—શાહ રતિલાલ મફાભાઈ, માંડલ

અર્થ વિગ્રહમા ઘેરાયલુ આજનુ જગત જ્યારે ભડકો પેદા કરી એમા હોમાઇ મરે એવી કટોકટીનાશી પમાર થઇ રહ્યુ છે ત્યારે એ ઉઠતી આગને ઠારી જગતને બચાવી લેવાનો જો કોઇ યોગ્ય ઉપાય આપણી પાસે હોય તો તે પ્રેમ, ત્યાગ અને સમજ મમજાવટનો છે, અર્થાત્ એક બીજાના દૃષ્ટિ બિંદુઓ, એમની મુશ્કેલીઓ—નમસ્યાઓ સમજી એવાઓ માટે પ્રેમપૂર્વક કંઇક ઘસાવાનો છે અને એ રીતે સુખની વહેંચણી કર્યા સિવાય જગતમા કદી સુખ શાતિ પ્રાપ્ત થઇ શકવાની નથી આ પ્રેમ, ત્યાગ અને સમજ—નમજાવટના માર્ગને જૈન પરિભાષામા અહિંસા, અપરિગ્રહ અને અનેકાંત દૃષ્ટિરૂપે ઓળખવામા આવે છે, જે જૈન દર્શનનો મૂખ્ય પ્રાણ છે એના પર જ સમગ્ર જૈન દર્શનની ઇમારત ઉભી કરવામા આવી છે

પ્રાચીન યુગમા જ્યારે ભૌતિક સુખોને જીવનનુ ધ્યેય માનનારા આર્યોનુ ધ્યાન બ્રહ્મવિદ્યા મેળવવા તરફ વળ્યુ ત્યારે તેઓમાના બ્રાહ્મણવર્ગે અરણ્યવાસ સ્વીકારી ચિંતનનો માર્ગ અપનાવ્યો હતો, જેથી એ ચિંતનના પરિણામે વૈદિક ઋષિઓએ એ વિષયમા ઠીકઠીક પ્રગતિ સાધી હતી પણ જીવ અને જગતની ખરી શાતિ અહિંસામા છે એનુ રહસ્ય તો એ પ્રાચીન યુગના શ્રમણ—જિનો—એજ શોધી કાઢ્યુ હતુ એમણે જોયુ કે 'જીવ માત્ર સુખને વાંછે છે દુ:ખ કોઇનેય ગમતુ નથી પણ અજ્ઞાનતાને કારણે સ્વાર્થવશ બની જીવ જ્યારે સુખને પોતીકુ કરવા અને અન્યનું સુખ લૂંટવા ઇચ્છે છે ત્યારે સંહાર જાળમા ફસાઇને નથી એય સુખ નિરાતે ભોગવી શકતો કે નથી બીજાનેય ભોગવવા દઈ શકતો પરિણામે એ તો દુ:ખ ભોગવે છે બીજાને પણ ત્રાસ આપે છે' આ પ્રકારના ચિંતનમાથી અહિંસા—પ્રેમનો સુવર્ણમંત્ર એમને હાથ લાગ્યો હતો સાથે ત્યાગ ભાવના પણ એની સાથે સંલગ્ન કરનામા આવી હતી કારણકે ઘસાવાની ત્યાગ—વૃત્તિ વિના અહિંસા ફળદાયી પરિણામ ઉપજાવવા જેટલી સમર્થ બની શકે તેમ નહોતી આ કારણે અહિંસાના વિકાસ સાથો સાથ ત્યાગવૃત્તિના વિકાસ માટે વ્યક્તિગત પ્રયત્નો ઉપરાત અહિંસક અને ત્યાગી સંઘો નિર્માણ કરવામા આવ્યા હતા જેના પ્રથમ નિર્માણનો યશ ઇતિહાસકારો ભગવાન પાર્શ્વનાથને આપે છે આમ જૈન દર્શનમા મૂળથીજ અહિંસા અને ત્યાગનુ મહત્વ પ્રસ્થાપિત થયુ છે

ગીતા એ ભારતીય અધ્યાત્મ વિદ્યાનો શબ્દકોષ મનાય છે, પણ અહિંસા અને ત્યાગનો સુમેળ સધાયો ન હોઈ કુરૂક્ષેત્રની ભૂમિ પર માનવ સંહારનુ જે ક્રુર નાટક ભજવાયુ હતુ એમા ખુદ ગીતાના ગાયક શ્રી કૃષ્ણને પોતાને પણ એના સાક્ષી બની નિષ્કામ કર્મયોગના નામે સમર્થક બનવું પડયુ હતુ જે પ્રસંગ વર્તમાન યુગના વાતાવરણમા બંધબેસતો ન લાગવાથી આજના યુગપુરૂષો એને કાલ્પનિક કહેવા લાગ્યા છે કારણકે ઉચ્ચ અધ્યાત્મ સાથે માનવ સંહાર ઘટેજ નહી, નિષ્કામ કર્મયોગ પણ

અહિંસાના પાયા પરજ પ્રતિષ્ઠિત હોવો જોઇએ. એવું એમનું માનવું છે. કહેવાની મતલબ એ કે અહિંસાની સાધના ત્યાગવાની પ્રથમ શરત સ્વીકારે છે.

આમ જૈન દર્શન એ અહિંસા પ્રધાન ધર્મ છે. પણ એની અહિંસા હિંસા ન કરવા રૂપ કેવળ વિષેધાત્મક નથી પણ જીવ માત્રનું કલ્યાણ ઇચ્છતી એક વિધયાત્મક ક્રિયા પણ છે. જગતના સર્વ ધર્મોમાં ઓછાવત્તા અંશે અહિંસાની મર્યાદા સ્વીકારવામાં આવી છે. પણ જૈન દર્શન એમાં ખુબજ આગળ જાય છે કોઇપણ જીવની ચાહે એ સૂક્ષ્માતિસૂક્ષ્મ હોય તોપણ એની હિંસાને એ હિંસા તો કહેજ છે, સાથે એવા જીવની મનથી-વચનથી કે કાયાથી હિંસા કરવી કરાવવી કે એને અનુમોદના, ઉત્તેજન કે પ્રેરણા આપવી એ પણ હિંસાજ છે એટલી મર્યાદા સુધી વ્યાખ્યા લંબાય છે.

આમ એક બાજુ એની Negative નિષેધાત્મક અહિંસા વિસ્તરે છે તો બીજી બાજુ એની Positive વિધેયાત્મક અહિંસા પણ અનેકરૂપે વિવિધ ક્ષેત્રોમાં ફાલી ઉઠે છે વિશ્વપ્રેમરૂપે સતત્ વેદાતી એ હૃદયભાવના હોઇ જ્યાં આ પ્રકારની અહિંસા હોય ત્યાં જુદાગરો નહોય, ભેદભાવ નહોય, અસ્પૃશ્યતા કે ઉંચ નીચના ભેદો નહોય, તેમજ તિરસ્કાર કે અણગમાનો ભાવ પણ કોઇ પ્રત્યે નહોય. એવો ભાવ નહોય ત્યાં ન્યાય-સમાનતાનું સામ્રાજ્ય પ્રવર્તે, લોકશાહી પ્રગટે, ઉદારતા આવે અને વિરોધીઓનું દ્રષ્ટિબિંદુ સમજી એમના પ્રત્યે સહિષ્ણું બનવાની અને એમને સમજવાની ઉદાર બુદ્ધિ પણ પ્રગટે. પરિણામે સંકુચિત મનોભાવ, અલગતાની વૃત્તિ કે પોતાનોજ કક્કો ખરો માનવાની કદાગ્રહ બુધ્ધિ પછી સંભવી જ ન શકે.

આ પ્રકારની અહિંસાની ઉંડી સાધનાને કારણે જૈન દર્શને મૌલિક મંતવ્યો જગતને ભેટ આપ્યા છે; સાથે આચાર વિચારના ક્ષેત્રોમાં પણ મૌલિક દર્શન કરાવ્યું છે. ત્યાગ, વૈરાગ્ય, અપરિગ્રહ, બ્રહ્મચર્ય, સ્યાદ્વાદ, લોકશાહીપણું, વિચાર સ્વાતંત્ર્ય, ન્યાય, સમાનતા, નિસલંબદશા, નારી સ્વાતંત્ર્ય, નિરામિષાપણું, રાત્રિ ભોજન ત્યાગ, સ્વચ્છતાના નિયમો ઉપરાંત રાષ્ટ્રભક્તિ, વર્ણ-જાતિ પ્રથાનો ઇન્કાર, રાષ્ટ્રભાષા તથા વૈજ્ઞાનિકતા સંબંધી એના સ્વતંત્ર અને ઉદ્દાત પ્રગતિશીલ વિચારો છે. તપશ્ચર્યાને પુરૂષાર્થ તો એનું ખાસ બળ છે, વ્યકિતપુજાનો એમાં બહુ અંશે અભાવ છે. છતાં જીવન શુદ્ધિ-ચારિત્ર્યશુધ્ધિ એનું પરમ ધ્યેય રહ્યું છે.

આ નાનકડા નિબંધમાં જૈન દર્શનની વિશિષ્ઠ મૌલિકતાઓ વર્ણવવા જેટલી અનુકૂળતા નથી. એમ છતાં જે વિષયો તરફ જગતનું હજુ ધ્યાન પણ ખેંચાયું નથી એવા એકાદ-બે વિષયો તરફ આ મંગલ અવસરે બે શબ્દો રજુ કરીનેજ સંતોષ માનું એવા વિષયોમાં એક છે:-

રાષ્ટ્રભાષા:-જનતા પોતાનો ધર્મસંદેશ ઝીલી શકે એ માટે મહાવીર અને બુધ્ધ બન્નેએ એ સમયમાં પંડિત માન્ય દેવભાષા સંસ્કૃતને સ્થાને લોકભાષાનો પ્રથમ આદર કર્યો હતો. જેથી એ સમયના મગધની પ્રચલિત માગધી ભાષામાં બન્નેના ઉપદેશ પ્રવાહો શરૂ થયા હતા. પણ મહાવીરનો મૂળ ઝોક જનતામાં અહિંસાનો પ્રચાર વિકાશ થાય એ જોવાનો હોઈ, એમણે જોયું કે જ્યાંસુધી જનતા એક બીજાની ભાષા ન સમજી

શકે ત્યાંસુધી એ એક બીજાની નજીક ન આવી શકે એથી જો જનતામા અરસપરસ પ્રેમનો વિકાસ સાધવો હોય તો પ્રજા સમુહના ભિન્ન ભિન્ન વર્ગો એક બીજાને સમજે એ ભાન જરૂરનુ છે આ કારણે ભગવાન મહાવીરે એ સમયના ભારતમા પ્રચલિત એવી મુખ્ય મુખ્ય ૧૮ ભાષાઓના શબ્દો તથા રૂઢિપ્રયોગો અપનાવી માગધીને એવુ રૂપ આપવાનો પ્રયત્ન કર્યો હતો કે જેથી એ ભારતની સામાન્ય ભાષા બની પરિણામે ભિન્ન ભિન્ન પ્રાતના લોકો સરળતાથી એને સમજતા થયા હતા આ કારણે એ ભાષા ત્યારે રાષ્ટ્રભાષાનો આકાર લેતી થઇ હતી જે અર્ધમાગધીના નામથી પાછળથી પ્રસિધ્ધ થઇ છે દિગબર શાસ્ત્રોમા ટીકાકારો આ વિષયમા લખે છે કે ‘ अर्ध मगध देश भाषात्मक, अर्धंच सत्र भाषात्मक ’ ભગવાન અર્ધી ભાષા માગધી અને અર્ધી બીજી ભાષાઓના સમુહરૂપ ભાષા વાપરે છે જેને બધા લોકો સમજી શકે છે આ પ્રકારે મિત્રતા-નિકટતા કેળવાનુ સાધન બની જવાથી એ ભાષા અતિશય અને પાછળથી ‘ पार स्परिकमित्रता ’ એવુ નામ પ્રાપ્ત થયુ હતુ આ પ્રકારે અર્ધમાગધીનો પ્રચાર એ એને રાષ્ટ્રભાષાનુ રૂપ આપવાનો પ્રયત્ન હતો જેથી રાષ્ટ્રભાષાના પ્રથમ પ્રચારક ભગવાન મહાવીરજ હતા (આ અગે વાચો મારો ‘રાષ્ટ્રભાષા અને ભગવાન મહાવીર’ વિષેનો લેખ તા ૧૫-૭-૫૧ પ્રબુદ્ધ જૈન)

રાષ્ટ્રભક્તિ -આજના રાષ્ટ્રના દૃષ્ટિબિંદુથી જોઈએ તો મહાવીરના ‘રાષ્ટ્ર’ પાછળ આજની જેમ ચોકખો રાજકારણી હેતુ ન પણ હોય તેમજ એની ભૌગોલિક મર્યાદા પણ એ કાળને અનુરૂપ સહેજ ફેરફારવાળી હોય એમ છતા પણ રાષ્ટ્રપ્રત્યેની વ્યકિતની શી ફરજ હોય એ બાબતમા દશાશ્રૂત સ્કધમા ભગવાન મહાવીર જણાવે છે કે जे नायग च रहस्य हन्ता महामोह पकुव्वई ’ જે રાષ્ટ્રનો નેતા છે તેનુ જે મૃત્યુ ઉપજાવે છે એ ભયકર એવુ મહામોહનીય કર્મ ઉપાર્જન કરે છે ’ આ પ્રકારે રાષ્ટ્રનેતા પ્રત્યેની ફરજદ્વારા રાષ્ટ્ર ધર્મનુ એમણે ભાન કરાવ્યુ છે અને એ રીતે એમણે રાષ્ટ્ર ભકિત શીખવી છે

લોકશાહી ધર્મ -જૈન ધર્મ સપૂર્ણ લોકશાહી ધમ હોઈ એમા એકહથ્થુ સત્તાની જેમ ઉશ્વરનુ અધિપત્ય નથી તેમજ ‘समरथको नही दोष गोंसाई’ ની જેમ કોઇને પણ વિશિષ્ટ અધિકારો પ્રાપ્ત થતા નથી ખુદ તીર્થકર ભગવાનો પણ વિશિષ્ટ હકકો ધરાવતા નથી, કે જેથી એ ઇચ્છે ત્યારે ભકતોને સહાય કરી શકે કે દુષ્ટોને દડ આપી શકે વિશ્વનિયમ સહુ કોઇને માટે સરખોજ છે તેમજ ઇશ્વરત્ન પ્રાપ્તિનો અધિકાર પણ સર્વને માટે ખુલ્લોજ છે આ કારણે એની શાસન વ્યવસ્થા પણ લોકશાહી ઢબેજ ચાલે છે ચાહે રાજપુત્ર હોય કે ચાહે રસ્તાનો રખડતો કગાલ ભિખારી હોય, નથી ત્યા કોઇની ખુશામત કે નથી કોઈ પ્રત્યે અણગમો મહારાજા શ્રેણિક (બિબિસાર) નો રાજપુત્ર મેઘનાદ ક્રમ પ્રમાણે, જતા આવતા સાધુઓના ઠેબા ખાતો છેલ્લો પડયો રહે છે એ શાસનના લોકશાહી નિયમને કારણે, આ પ્રકારે જૈન દર્શનમા અનેક મૌલિક તત્વો પડેલા છે, ફકત જૈન સમાજ કુભકર્ણની નિદ્રામા ઘોરી રહ્યો છે ત્યા ધુળમા દટાયેલા અણમોલ રત્નો કોણ બહાર લાવે ?

પરિગ્રહ પરિમાણ વ્રત અને સમાજવાદી સમાજ રચના

(લેખક–સાહિત્યચંદ્ર શ્રી બાલચંદ હીરાચંદ "બાલેન્દુ" માલેગામ)

ભારત સરકારે ભારતમાં સમાજવાદી સમાજ રચના કરવાનું ધ્યેય સ્વીકારેલું છે. અને તેને અનુસરીને બધી ઘટનાઓ થઈ રહી છે. વિકાસ યોજનાઓ અને સર્વોદયના કાર્યક્રમો તે દૃષ્ટિએજ યોજવામાં આવે છે. એટલે હાલમાં ભારત દેશમાં સમાજવાદી સમાજ રચનાના જ ગુણગાન થઇ રહેલા છે. જગતના ઘણા દેશોએ એ પદ્ધતીની મુક્તકંઠે પ્રશંસા કરેલી છે. અને સામ્યવાદ જેવી પદ્ધતીથી દૂર રહેવું હોય અને અત્યાચાર ટાળવા હોય તો સમાજવાદી સમાજ રચના કર્યા વગર બીજો સુલભ અને સરળ ઉપાય જોવામાં આવતો નથી પ્રજાનો રોષ વહોરી લેવા વિના એ માર્ગે દેશની પ્રગતિ સાધી શકાય છે. અને દેશને ઉચ્ચ કક્ષાએ પહોંચાડી શકાય એ વાત સહુ કોઇએ સ્વીકારેલી છે અને એના પ્રત્યક્ષ પરિણામો પણ અનુભવમાં આવવા માંડયા છે, એ પદ્ધતીની પાછળ કેવળ આધિભૌતિકતા કામ કરતી નથી. પણ આધ્યામિક શકિતની તેને ખાસ જરૂર હોય છે. તેની પાછળ આધ્યાત્મિક શક્તિ કામ કરતી નહીં હોય તો તે સફળ થવાનો સંભવ ઘણો ઓછો હોય છે. એટલે સમાજવાદી સમાજ રચના અમલમાં આવવવાનીજ હોય તો તેની પાછળ પ્રજાની મનોભૂમિકા શુદ્ધ થઈ તેને આધ્યામિક રૂપ અપાવુ જોઇએ. ફકત કાયદા ઘડવાથી એ કાર્ય પૂરૂં થવાનો સંભવ નથી. એટલા માટે જ રાજકર્તાઓ વારંવાર જનતા સમક્ષ સહકારની માગણી કરતા રહેલા છે.

સમાજવાદી સમાજ રચનાનું આ તત્વ નવું જ શોધાયું છે શું? ભારત દેશની પ્રજાની પ્રકૃતિ જ એવી છે કે, એમાં આધ્યાત્મિકતાના બીજો ઉંડા રોપાઈ ગએલા છે. ધાર્મિક ભાવનાથી દરેક વસ્તુનું અવલોકન કરી સમજે કે વગર સમજે તેવું આચરણ કરવાની ટેવ ભારતની પ્રજાને પડી ગએલી છે. દરેક આચરણમાં અને વ્યવહારમા ઉંડે ઉંડે પણ આત્મિક ભાવનાનો આવિસ્કાર થએલો જોવામાં આવેલો છે, કેટલીએક ઘટનાઓમા જડવાદ જોવામાં આવે છે તેના કારણો પણ સ્પષ્ટ જોવામાં આવે છે. મુસલમાન રાજકર્તાઓનું ઝનુની આક્રમક જોર જ્યાં સુધી ભારતમાં રહ્યું તેટલા વખતમાં ઘણા હિંદુઓએ મુસલમાન ધર્મને અંગિકાર કર્યો. એ ધર્મ સારો સમજીને કે તત્વની માન્યતાને લેઇ નહી, પણ નિરૂપાયે કે સ્વાર્થ સાધવાને કારણે તેઓ મુસલમાન થયા તોપણ અંતઃકરણથી તેઓ અંશતઃ આત્મવાદી રહ્યા. પણ લગભગ પોણા બસો વરસના દીર્ઘકાલમા પશ્ચિમાહ્ય સંસ્કૃતિનું ભારત દેશ ઉપર ઘણું વિપરીત પરિણામ થયુ એ દેખીતી વસ્તુસ્થિતિ છે તેમનો ઉપયુકતતાવાદ અને બુદ્ધિવાદ ઉપલા વર્ગમાં ખુબ ફાલ્યો ફુલ્યો. અને અધ્યાત્મવાદને તેથી મોટું નુકશાન પહોંચ્યું. ધર્માચારો અને રૂઢ આચારોને મોટો ધક્કો બેઠો. પાશ્ચાત્યોએ આપણું ધન લુટયું તેના કરતાં આપણી મનોવૃત્તીને જે મોટો ધક્કો આપ્યો તે અત્યંત નુકશાનકારક નિવડયો. એમ છતાં પણ ભારતભરમાં હજુ આત્મવાદ જીવતો જાગતો રહ્યો છે. અને એને લીધે જ ભારતમાં સમાજવાદી સમાજ રચનાના બીજારોપણ થઇ રહ્યા છે.

સમાજવાદી સમાજ રચનાની કલ્પના કોઈ બહારથી આવેલી નવી શોધ નથી પણ ભારતની પ્રકૃતિમાજ દૃઢમૂલ થએલી એ ભાવના છે, જૈનોના પંચવ્રતોમાંના પરિગ્રહ પરિણામ નામક વ્રતમાજ સમાવિષ્ટ થએલ છે. એ અતિ પ્રાચીન સમાજવાદ છે

જગતમા જીવવુ અને જીવવા દેવુ એ શાંતિ રાખવાનો ઉંચો ન્યાય છે એ દૃષ્ટિએ આપણા કાર્યથી બીજા કોઇને પીડા થાય કે બીજાના સુખમા ખામી ઉત્પન્ન થાય એવુ કોઈ કાર્ય આપણા હાથે ન થઇ જાય એની સાવચેતી રાખવી જોઇએ એ સનાતન ધર્મ છે. એ કાંઈ જૈનોનો સ્વતંત્ર ધર્મ નથી જગતની પ્રત્યેક વ્યક્તિનો અલિખિત ધર્મ છે અને અનંતકાળ પહેલા જૈનોએ એ પરિગ્રહ પરિમાણનો ધર્મ પ્રરૂપેલો છે અને જે જે વ્યક્તિએ, કુટુંબે કે દેશે એ ધર્મનું જાણતા કે અજાણતા ઉલ્લંઘન કર્યું તેને એના કડવા ફળો ચાખવા પડયા છે અને કલહનુ એ બીજ છે જગતમા જે સંઘર્ષો જાગ્યા, ખંડ પોકરાયા, કે રાજ્ય ક્રાંતિઓ સર્જાઈ અને યુધ્ધો જાગી અસંખ્ય માનવોનો સંહાર થયો, એના મૂળમા પરિગ્રહનો અપરિમિત સંગ્રહ અને ભોગવટો એજ છે એ ઉપરથી જ પરિગ્રહનુ પરિમાણ આંકી તેની મર્યાદા બાંધવી જોઇએ એ ધર્મ ગણાયો છે હાલનો સમાજવાદ એ જૈનોના પરિગ્રહ પરિમાણ ધર્મનો સ્વીકાર નહીં કરવાને લીધે જે કડવા પરિણામો આવ્યા તેના અનુભવ પછી પરિણત થએલી ઘટના છે અને પરિગ્રહનુ પરિમાણ બાંધવાની હાલના સમાજવાદની હાકલ છે

જે વ્યક્તિ કેવળ પોતાના સ્વાર્થમા લોલુપ થઈ સંગ્રહ કરે જ જાય છે, અને આસપાસ વસતા બીજા કોઈની પર્વા કર્યા વગર પોતાની જ સુખ સગવડામા ઉમેરો કરે જ જાય છે, ત્યારે આજુબાજુના લોકોમા તેના માટે ઇર્ષ્યા અને દ્વેષની લાગણી ફેલાતી જાય છે અને એ વ્યક્તિનો નાશ જલદી કેમ થાય એની ઝંખના થવા માંડે છે અને પરિણામે એનો નાશ થાય છે ઘણા કાળ સુધી પોતાની આસપાસ કેવા કાંટાઓ પથરાઈ રહ્યા છે એની એને કલ્પના સરખી પણ હોતી નથી અને આખરે પોતાની સંગ્રહખોરીનો જવાબ રડતે મુખે આપવો પડે છે અત્યારસુધી જગતમા અનેક સામ્રાજ્યો સ્થપાયા અને કેટલાએક કાળ સુધી તે ફાલ્યા ફૂલ્યા અને લોકપ્રિય પણ થયા પણ જ્યારે તેમણે સ્વાર્થ લોલુપતાની મર્યાદા મૂકી અને લોક કલ્યાણના ભોગે સંગ્રહખોરી કરી પ્રજાના હિતનુ બલિદાન લેવા માંડયુ, ત્યારે જ તેવા સામ્રાજ્યો પણ નષ્ટ ભ્રષ્ટ થઈ ગયા અને ખુદ રાજાઓને પણ દેશ ત્યાગ કરવો પડયો અગર પ્રજાના કોપથી પોતાના જીવનુ પણ બલિદાન આપવુ પડયુ જે ન્યાય સામ્રાજ્યોને લાગુ પડે છે તેજ ન્યાય નાના સંખ્યા રાજ્યોને પણ લાગુ પડે છે જ જેના પતનના દાખલાઓ તો હજુ આપણી નજર સંમે તાજા જ બની ગએલા છે પરિગ્રહનો ત્યાગ તો બાજુ પર રહ્યો, ઉલટા પ્રજાને નિચોવી ઘણા રાજા કહેવડાવતા માનવો પ્રજાને લૂટી પરદેશમા મોજ મજા ભોગવતા હતા અને એમ કરી પોતે જાણે જરાય ભૂલ કે દોષ કરીએ છીએ એવુ માનતા ન હતા ઘોડાઓ નચાવવા અને કુતરાઓના પણ લગ્ન કરવામા એ પોતાનો કુદરતી હક્ક જ સમજતા હતા એઓ પોતે પ્રજાના જાણે માલિક જ છે અને પ્રજાનુ ધન એ

જાણે પોતાનું ધન છે અને એને ગમે તે રીતે વેડફી નાખવાનો પોતાનો પૂર્ણ અધિકાર છે એવુ એઓ માનતા હતા. છેવટ પરિણામ જે આવવાનું હતું તેજ આવ્યું. પરિગ્રહનુ પરિમાણુ નહીં કરવાનું જ એ ફળ હતું એમાં સંદેહ નથી.

કોઇ ધાર્મિક કે સામાજીક અથવા લોકોપયોગી સંસ્થા હોય છે અને તેના સંચાલન માટે કોઇ વ્યકિત કે સમિતીની નિમણૂંક કરવામાં આવે છે, ત્યારે તે સંચાલકો નિસ્વર્થભાવે તેનું સંચાલન કરે છે. ત્યારે તે સંચાલકોને તે સંસ્થાના ટ્રસ્ટી કે વિશ્વસ્ત ગણુવામાં આવે છે. એવા વિશ્વસ્તો પોતાના તાબે રહેલ ટ્રસ્ટની દેખરેખ રાખે છે. અને તેનુ સચાલન બરાબર થાય છે કે નહી તેની દેખરેખ રાખે છે. અને એ વિશ્વસ્ત નિધિમાંથી એક પાઈનો પણ દુરૂપયોગ ન થાય તેની ચિંતા રાખે છે. એવી જ ભાવનાથી જો ખાનગી મિલ્કત સાચવવામાં આવે તો અનેક સંઘર્ષોનો તરતજ અંત આવી જાય.

દરેક ધાર્મિક કાર્યમાં હો કે સામાજીક રિવાજમાં હો, વેપારમાં હો કે ઉદ્યોગમા હો નિયમબદ્ધતા તો પાળવી પડે છે. અનિયમિત રીતે દરેક ક્રિયા કરવામાં આવે તેથી કાર્ય નિષ્પત્તિ તો થતી જ નથી. ઉલટી કેટલીએક આપત્તિઓ આવી ઉભી થઇ જાય છે. મતલબ કે દરેક કાર્યમાં તેના વિશિષ્ટ નિયમો પાડવા જ પડે છે જ્યારે નીતિ નિયમો અને પદ્ધતિની અનિવાર્યતા પ્રત્યક્ષ સિદ્ધ થાય છે, ત્યારે દરેકે પોતા માટે કાંઇ ને કાઇ નિયમો અને મર્યાદાઓ બાંધી લેવી જ પડશે. અને એ નિયમબદ્ધતાને જ પરિગ્રહ પરિમાણુ વ્રતનું પવિત્ર નામાભિધાન આપવામાં આવ્યું છે.

પરિગ્રહ વધતોજ રહે અને મર્યાદા જેવું કાંઇ નહોય તો તેના કેવા કેવા અનર્થો જન્મે છે એ આપણે ઉપર જોઇ ગયા. તેનો આપણા મન સાથે અવશ્ય વિચાર કરવો જોઇએ. આપણા ત્યાં મોજ, નાચરંગ કે ભોજન સમારંભો નિરંકુશપણે ચાલતા હોય હોય, મોટા વરઘોડાઓ નિકળતા રહે, હજારો રૂપિયા છુટે હાથે ખર્ચાતા હોય અને એવે વખતે બહાર હજારો આપણાજ ભાઇ ભાંડુઓ ઘરબાર વગર રખડતા હોય અને નોકરી માટે ભુખે પેટ ઘેર ઘેર આંટા મારતા હોય ત્યારે આપણો એ ઉડાઉ ખરચ આપણને આનંદ આપે કે દુઃખ? વરઘોડાઓથી આપણે ફુલાવું જોઇએ કે શરમાવું જોઇએ? પરિગ્રહના પરિમાણની એટલા માટેજ અત્યંત જરૂર છે.

આપણે આપણી કમાણી કે મિલકત ઉપર આપણી માલીકીની સાથે વિશ્વસ્ત ટ્રસ્ટી)ની ભૂમિકા સ્વીકારવાની કેટલી જરૂર છે એનો આપણે વિચાર કરવો જોઇએ. આપણે આપણી આવડત અને કુશલતાથી કમાણી કરેલી હોય તેટલા ઉપરથી આપણે તેનો આપણી મરજી મુજબ આપણા એકલા માટે જ સ્વચ્છંદ ઉપયોગ કરવાનો આપણને હક પેદા થતો નથી. આપણે અનેકો સાથે અને અનેકોની સહાયથી જ જગતમાં રહીએ છીએ. અને અનેકોદ્વારાએ જ કમાણી કરીએ છીએ ત્યારે આપણી એકલાની જ

અનિર્બંધ માલીકી શી રીતે સિદ્ધ થઈ શકે ? માટેજ આપણી કમાણીમા અન્યોનો પણ અશત હિત સબધ છે એ સમજી રાખવુ જોઇએ અને આપણે જેમ જીવવાનો હક છે તેમ બીજાઓને પણ જીવવાનો હક છે એ ધ્યાનમા રાખવુ જોઇએ એ વસ્તુ ધ્યાનમા રાખવાથી આપણા સ્વાર્થમા બીજાનો પણ હિસ્સો છે એ ભૂલી શકાય તેમ નથી અને એમ છે ત્યારે આપણે પરિગ્રહનુ પરિમાણ કરવુ જ પડશે એ સ્વયસિધ્ધ છે

એ વિવેચન ઉપરથી એ તરી આવે છે કે, આપણી મિલકત અને આપણા ધનના પણ આપણે ટ્રસ્ટી કે વિશ્વસ્તજ છીએ એમ સમજી આપણુ કાર્ય ચલાવવુ જોઇએ અને આપણી મિલકત ઉપર બીજાઓનુ ઋણ છે એ વસ્તુ ધ્યાનમા રાખી તે ચુકવવાની કાળજી રાખવી જોઇએ ધર્મના નામે આપણે જે ક્રિયાઓ કરીએ છીએ તેમા પરોપકારની ભાવનાની મુખ્યતયા રાખતા આપણે શીખવુ જોઇએ શ્રાવકના અને સાધુઓના વ્રતોમા પચ અણુવ્રતો અને મહાવ્રતોને મુખ્ય સ્થાન છે અને તેમા પરિગ્રહ પરિમાણનુ સ્થાન જો કે પાચમુ છે તો પણ તેની ઉપયુક્તતા સહુથી વધી જાય તેમ છે કારણ પરિગ્રહ ઓછો થાય ત્યારે બીજા વ્રતો પોતાની મેળે પાળવા સુલભ થઈ જાય છે પરિગ્રહનુ પરિમાણ ન જ હોય ત્યારે સ્વાર્થ અને લોભની મર્યાદા વધતી જ જાય છે અને પરિણામે બીજા વ્રતોનો ભગ થવાનો સભવ નિર્માણ થાય છે ત્યારે શ્રાવકપણુ ટકાવવુ હોય અને અશત પણ ધર્મી જીવન જીવવાની ઇચ્છા હોય તો આપણે પરિગ્રહનુ પરિમાણ બાધ્યા વિના ચાલે તેમ નથી એ રીતે પરિગ્રહનો સકોચ કરવાની વૃત્તિ આપણામા જાગે અને આપણુ જીવન સુમ વાદી બને એજ અભ્યર્થના રાખી વિરમિએ છીએ

જૈનનું જીવન

મફતલાલ સંઘવી, થરાદ.

પરમ ઉપકારી, કરુણા નિધાન શ્રી તીર્થંકર ભગવંતોએ ભુવન ત્રયના સર્વ જીવોના કલ્યાણની પરમ મંગલ ભાવનાપૂર્વક કવેલાં સ્તોત્રજન્ય શાસ્ત્રોના પ્રત્યેક વાકય, શબ્દ, અક્ષરની અમોઘ સંજીવિની શકિત, જેને અપાર પુણ્યોદયે અપૂર્વ વારસારૂપે મળી છે, તે જૈન સાસનની આજ્ઞામાં રહીને અવશ્યમેવ સ્વ અને પરના કલ્યાણના કારણ રૂપ આરાધનામય જીવનમાં પરમ સંતોષ અનુભવે .. !

ભૌતિકતાનાં મોહક ભડકામણાં દ્રશ્યોથી લવલેશ ચલિત થયા સિવાય, તે મહા વિશ્વશાસનના શાશ્વત રાજમાર્ગ પર અટલ નેમપૂર્વક ડગલાં ભરે. ચોમેર પથરાએલી પ્રાગતિક સાનુકૂળતાઓની રેશમી જાળમાં ફસાયા વિના, જેના પાલનમાં સ્વ અને પરનુ ઘણુ મોટુ હિત રહેલું છે, તેવું આચારમય જીવન, તે વિતાવે.

આગળ વધવાના સંસારવ્યાપી બનતા જતા રોગના હુમલાનો ભોગ બન્યા સિવાય તે શાસનમાન્ય સિદ્ધાન્તોના સહારા વડે, યથાશકિત સમતુલા જાળવી, ભવ ઘટાડવાની વાસ્તવિક પ્રગતિની આરાધના કરે.

સમ્યગ્ દર્શન, જ્ઞાન અને ચારિત્રરૂપ રત્નત્રયીની સન્નિષ્ઠાપૂર્વકની આરાધનાદ્વારા; આ સંસારમા ઝડપભેર વિસ્તરતા જતા હિંસા, પાપ, અનાચાર અને પાશવતાભર્યા વાતાવરણને ખાળવામા, તે આજીવન યોદ્ધાની અદાથી વર્તે.

સફળતામાં ન તે ફૂલાય, નિષ્ફળતા જેવું કશું........તેને હોય નહિ. કારણકે પરમ જીવનની આરાધના એજ જેનું લક્ષ્ય છે. એવો મહા પુણ્યવંત આત્મા, આ સંસારમા ડગલે-પગલે સાંપડતા સર્વ નિમિત્તોનો, તે આરાધનામાં સહાયક બળ તરીકે જ ઉપયોગ કરે.

દાન-શીલ-તપ-ભાવના, પૂજા, પ્રતિક્રમણ, પોષહ, સામાયિક, દેવ-વંદન, ગુરૂ-વંદન, સ્વાધ્યાય આદિને પોતાના નિત્યના જીવનક્રમમાં અવ્યકતપણે ગૂંથી લઈ, તે આમતેમ ભટકવા તલસતા મન-બુદ્ધિ અને ઇન્દ્રિયોના વિષયોને નિયમતળે સ્થાપે, તેમજ ભૂલાએલા આરાધનાના મહારાજપથ પર અપ્રમત્તપણે આગળ વધે

આજના વિજ્ઞાનના માત્ર કળાતા વિશ્વવ્યાપી પ્રતાપમાં અંજાયા સિવાય, તે આત્માની અનંત કલ્યાણકર શક્તિને પામવાના શાસન સ્થાપિત માર્ગના આલંબનદ્વારા સ્વ-પરના કલ્યાણમાં બનતી સાચી સહાય કરે.

વ્રત, નિયમ અને પચ્ચક્ખાણના મનાતા બંધનને આદરપૂર્વક સ્વીકારી, તે અંગમમા ઉ ણ આદરે

સ્વય તીર્થંકર પરમાત્માઓને પ્રગટાવનાર અનંત ઉપકારી મહાવિશ્વશાસનની પરમ કલ્યાણમય છત્રછાયા તળે વિહરવાનુ આપડયુ છે સદભાગ્ય જેને, એવો જૈન ઐહિક બંધનોની સુવાળી સેજ ઉપર કાળાંતરે પણ એશપૂર્વક ન આળોટે તેના વિચાર વાણી અને વર્તનમા અહર્નિશ ગુંજતુ હોય સુમધુર સંગીત પંચ પરમેષ્ઠિ મહામંત્રનુ સ્વામીબંધુની સેવાને, તે જીવનનો અપૂર્વ પુણ્ય પ્રસંગ માને ગુરુની સેવા શુશ્રૂષામા તે પરમ કૃત્ય કૃત્યતા અનુભવે જીનેશ્વર ભગવંતના દર્શન, પૂજન સમયે, તે પોતાને સૌધર્મેન્દ્રીય અધિક સુખી અને પુણ્યશાળી સમજે અમોઘ સંજીવિની શક્તિ તુલ્ય શાસ્ત્રોમાના સૂત્રોના એક શ્લોક બદલે એમાના એક શબ્દની અપભ્રાજના કરતા તે, કંપી ઉઠે, તેને અસાર વ્યથા ઉપજે, દુર્લભ માનવભવ હારી ગયા જેટલુ દુ ખ થાય

અનાત્મવાદી વર્તમાન શિક્ષણ અને તેના પ્રચારક બળોની અસર તળે આવ્યા, સિવાય આરાધક જીવનની જતનની જેમા સર્વ જોગવાઈ છે એવા શાસન માન્ય સિદ્ધાન્તોના સંસ્કાર વડે તે સાચા માનવજીવનની વધુને વધુ નજીક જવાની કોશિષ કરે

પરમ જીવનની આરાધનાની સર્વ બંધારણીય જોગવાઈઓને શિક્ષણ-પ્રચાર અને છેવટે કાયદાકાનૂન કુંઠિત કરવામા પ્રજાની પ્રગતિ અને વિકાસ જોતા આંતરરાષ્ટ્રીય [illegible] રાજનીતિનોની કુટનીતિની સીધી તેમજ આડકતરી અસર તળે આવેલા-આપણા દેશના ગવર્નર, અને સામાજિક આગેવાનોની અભારતીય બનતી જતી, ભૌતિક વિજ્ઞાનમૂલક પ્રગતિના ચેપવાળી રાજનીતિ અને સમાજનીતિને પડકારવાનુ પોતાનુ કર્તવ્ય, તે આચરણદ્વારા અમલમા મૂકે

ઐહિક આપત્તિઓના દુ ખ કરતા, આરાધનામા નડતા અંતરાયનુ દુ ખ, તેને વધુ સાલે, શરીર, સંતાનો અન મકાન, બંગલાઓની સાનુકૂળતાઓના વિચારની સાથો સાથ, આત્મા, સ્વામીબંધુ અને તીર્થોની પ્રતિકૂળતાઓ દૂર કરવાના યોજનાત્મક વિચારોમા તે સહેજ પણ અળગો ન રહે સીનેમા, વર્તમાનનો, અદ્યતન સાહિત્ય નાટકો, સંમેલનો અને પ્રદર્શનો પાછળ મળતા સમયનો ઉપયોગ કરતા, તેનો આત્મા જરૂર કચવાય એવી કોઈ પણ પ્રત્યક્ષ યા પરોક્ષ પ્રવૃત્તિ કે જેનાથી ઘણું મોટુ અહિત અને થોડકનુ નાનુ હિત સધાતુ હોય, તેમા તે કોઈ કાળે સાથ સહકાર ન જ આપે આપે તો અતિ ભયાનક સંસારનો ભાગીદાર બને

મહા પુણ્યોદયે મળેલા અતિ દુર્લભ માનવદેહનો, પરમ મંગલ જૈન શાસનના પાનનો આત્મા કદી દુરુપયોગ ન જ કરે જીવમાત્રના જીવનની સાનુકૂળતાઓ વધારવામા અને પ્રતિકૂળતાઓ ઘટાડવામા જ તે ખુશી અનુભવે, વેર-વિરોધની કાળી વાદળી તેના અંતર વ્યોમને આવરી ન જ શકે

દુષમ આ પંચમકાળમા, અધર્મના વધતા જતા ભાવ-પ્રભાવથી ગર્વિત થયા સિવાય, સર્વ મંગલકર શ્રી જૈન શાસનનુ શરણુ પામેલો જીવ, સ્વકલ્યાણની ભાવના પૂર્વક જીવન જીવી, બીજાને પણ તેના અનન્ય શરણ તળે લાવી, કલ્યાણભાવી બનાવે '

પરમપદદાયક, જૈન માટે કશુ જ અશક્ય નથી

શરીરના વીર્યનો ધ્વંશ એ ત્રણે પ્રકારે નુકશાની ખમનાર મૂર્ખ માનવીની શી વાત કરવી ? 'જૈન' નામધારી આ રસ્તા તરફ નજર સરખી પણ ન કરે. આ વ્રત પાળતા પણ પાંચ મહાન દોષો તરફ ન જ વળવા શાસ્ત્રો ફરમાન કરે છે. આ વ્રત ' સ્થુલ મૈથુન વિરમણ ' નામે પ્રસિદ્ધ છે.

જગતમાં અનેક પ્રકારની ભોગોપયોગની સામગ્રી મળી રહે છે, માનવ અમુક વસ્તુઓ એકજ વખત વાપરી તજી દે તે ભોગ, અને વારંવાર તેનો ઉપયોગ કરે જ જાય તે ઉપભોગ સોનું, રૂપું, ધન, ધાન્ય દારા (સ્ત્રી) દાસી, મકાન, દુકાન, જમીન આદિ અનેક વસ્તુઓનું સ્વામીત્વ માનવનુ હોય છે. પોતાના પૂણ્ય બળે પ્રાપ્ત થયેલી આ અનેક સામગ્રીને ભોગવવાનો તે હકદાર છે. છતાં પણ તેમાજ રચ્યો પચ્યો રહી અનેક અધર્મી કૃત્યો કરવા પાછળ માનવ જૈનપણું ભૂલી જાય છે. અભક્ષ્ય વસ્તુનું સેવન કર્મ ઉત્પન્ન કરનાર ધંધા આદિ પાછળ લોભ–લાલચ પાછળ ઘસડાઇ જાય છે. તે માટે શાસ્ત્રમા નિયમ દર્શાવ્યા છે તે મુજબ પોતાના જીવનમાં ગણત્રીપૂર્વક તે વસ્તુઓ વાપરવાનું પ્રમાણ બાંધવાથી આત્મા નિર્લેપ રહે છે કસોટીની એરણે ચઢયા છતાં પરિગ્રહથી મુકત બનેલ આત્મા સંસારમુકત બની મોક્ષ સુંદરીની વરમાળા પહેરવા કદાચ ભાગ્યશાળી બને છે.

દિશા–મર્યાદા એ પણ ગ્રહસ્થવ્રતનો એક અલગ પ્રકાર છે. આ નિયમથી પણ ઇન્દ્રિય પર સંયમ કેળવાય છે. નિયમ સિવાયના ક્ષેત્રના જીવોને અભયદાન આપમેળે અપાય છે. ચાર દિશા, ઉપર નીચે રોજ જવા આવવા માટેની હદ બાંધી તે ક્ષેત્રથી બહાર ન જ ફરવું એ આ નિયમનું સૂચન છે. સંસારી આત્માને જ્ઞાન, આજીવિકા ધન મેળવવા દેશ પરદેશની મુસાફરી કરવાની આવશ્યકતા છે છતા દિશા મર્યાદામાં રહીને ફરવાથી ઇન્દ્રિય સંયમ કેળવાય તે ધાર્મિક દૃષ્ટિએ વધુ લાયદાયક છે. આને માટે પણ પાંચ પ્રકારના દોષો શાસ્ત્રજ્ઞાનીઓ ફરમાવે છે.

અનર્થદંડ વિરમણાવ્રત એટલે સંસારી જીવો નિરપરાધ હોવા છતાં તેમને આપણા સ્વાર્થ, લોભ, લાલસા અને સંતોષ ખાતર દંડ આપવો એ અન્યાયી પગલું ગણાય. આ પ્રમાણે સમાજમાં પણ કોઇનું આચરણ હોય તો તે પ્રત્યે ગુન્હેગાર ગણી રાજકિય સત્તા પણ યોગ્ય સજા કરી શકે છે જ્યારે સમસ્ત વિશ્વના નિરપરાધીઓ પ્રત્યે અવિચારી પગલું ભરનાર અન્યાયી માનવના આત્માની અધોગતિ કેમ નહિ થાય? આર્તરૌદ્ર ધ્યાન, પાપોપદેશ. હિંસાનો આદેશ, પ્રમાદાચરણ એ ચાર અનર્થ દંડ ઉત્પન્ન કરનાર કારણો છે એથી સાચા ' જૈન ' તરીકે જીવનારે જરૂર અટકવું જોઇએ. શાસ્ત્રમાં આ માટેના પાંચ મહાન દોષો વર્ણવ્યા છે.

સંસારની ગડમથલમાં રચ્યો પચ્યો રહેલ આત્મા કંઇક શાંતિની ઝંખના અવશ્ય કરતો હોય છે પણ આવી શાંતિ તેના જીવન દરમ્યાન તેને મળવાની નથી જ. અને

જીવન પુરૂ થતા તેના કર્માનુસાર તે શાતિ મેળવશે કે આથી પણ વધુ કાનીલ અશાતિ એ કોણ કહી શકે? શાસ્ત્રમા બે ઘડી જેટલો કાળ પણ દરરોજ પોતાના જીવનમાથી શાતિ તરફ વળવા માનવ ધારે તો તેટલા સમય માટે શ્રાવક 'સામાયિક' લઈ બેસી શકે છે સામાયિકના સમય દરમિયાન અન્ય વિચારોને તિલાજલી આપી ફક્ત આત્માને જીનેશ્વર દેવે ભાખેલ પચ પરમેષ્ટિ સ્વરૂપ નવકાર મહામત્રના જાપ તરફ વાળવા ખાસ આગ્રહ રાખવો એ આ વ્રતનો ઉદેશ ચિતની એકાગ્રતા, લીનતા, અડગતા અને જવે સ્થિરતા કેળવશે તો એકમાથી બે, ચાર ને વધતા વધતા ધર્મના સારથિ તીર્થ-કર ભગવાને ભાખેલ જીવનપર્યતના સામાયિક તરફ આત્મા વળી જશે તો આત્મા અખડ શાતિ તરફ જઈ શકશે આ વ્રતને 'સામાયિક વ્રત' ના ઉત્તમ નામથી જૈનો ઓળખે છે

દેશાવગાસિક વ્રત દિશા મર્યાદા વ્રતની સક્ષેપમા જ આ વ્રત છે દિશા પરિમાણ વર્ષભર કે જીવનભર માટે કરવામા આવે છે ત્યારે આ વ્રત અમુક સમયથી શરૂ કરી અમુક દિવસો સુધી છોડીને ક્યાય ન જવુ એવા અભિગ્રહ સાથે આવો સમય સામાયિકમા પસાર કરે છે આ વ્રતથી પણ ઇન્દ્રિયો પર સયમ કેળવાય છે બીજા વ્રતોને પુષ્ટિ આપનાર બને છે ગૃહસ્થી પોતાના જીવનના અમુક અમુક સમયમા આ વ્રતને ધારણ કરી નિસ્પૃહિ, નિર્લોભી અને ત્યાગ ભાવનાના ઉત્કર્ષ પાછળ ખેચાય છે અને પરિણામે તેમા મહાન લાભનો ઉત્પાદક બની શકે છે

અગ્યારમુ વ્રત પૌષધ અને ઉપવાસ ને સયુક્ત કરવાથી બન્યુ છે પર્વતિથિના દિનસોમા ધર્મની પુષ્ટિ એટલે (પોષ) માટે ઉપવાસ કરી પૌષધ લેવાય છે બે ઘડીનુ સામાયિક લેનાર વ્યક્તિ તેટલા સમયની શાતિ ઇચ્છી સસારની આટીઘુટીથી મુક્ત રહે છે તેમ પૌષધ લેનાર વ્યક્તિ ચાર પહોર, આઠ પહોર કે વધુ દિવસો લગી ધર્મપુષ્ટિ અર્થે 'પૌષધોપવાસ' વ્રત ધારણ કરે છે તેટલો સમય તે વધુને વધુ સસારથી વિરક્ત અને સાધુ જીવન તરફ ગતિ બનતો જાય છે આ સમય દરમિયાન તેના આત્માને સસારની મલીનતાની કોઈ પ્રકારની રજ ન લાગવાથી શુદ્ધ આયનામા મુખ જોવાય તેમ આત્માને નિહાળવાની શક્તિ પ્રાપ્ત કરી શકે છે ઇન્દ્રિયસયમ વધુ કેળવાતા ભવિષ્યમા તીર્થંકર ભગવતની ભાખેલ ભાગવતી દિક્ષાનો અગિકાર કરવા પાછળ ત્યાગ ભાવનાની ખીલવણી કરી શકે છે

અતિથિ દેવો ભવ એ પ્રાચીન સૂત્ર જૈન જનેતર તમામ કોમો માટે મહાનતા દર્શક પુરવો છે સસારમા અતિથિ મહેમાન એક બીજાના સબધ પ્રમાણે આવજા કરે છે તેમની સેવા સુશ્રુષા પરમ પ્રેમના ભ્રાતૃભાવ ઉત્પન્ન કરાવે છે જૈન ગૃહસ્થીની સામે આ સુત્રાનુસાર અતિથિ તરીકે જૈન સાધુ સાધ્વીઓ જ કલ્પેલા છે તેમને આવવાનુ ચોકકસ નિશ્ચિત ન જ હોય પણ જ્યારે જ્યારે કોઇ પુણ્યબળે તેવા મહાન આત્માના પગલા થાય ત્યારે તેમને દોષરહિત ખોરાક ભકિત ભાવપૂર્વક આપવો તેમની

સેવા સુશ્રુષા કરી આત્મ કલ્યાણની ચિંતવના એ શ્રાવકનો મહાન ધર્મ છે. આ માટે પણ વર્ષ દરમિયાન નિયમ ગ્રહણ કરવાથી ધર્મ માર્ગને પુષ્ટિ મળે છે. આ માટે પાંચ દોષો ગણાવ્યા છે.

એકંદર બાર મહાન વ્રતો પૈકી પહેલાં પાંચ વ્રત સાધુ–સાધ્વી અને શ્રાવકો માટે એકજ પ્રકારનાં બતાવ્યાં છે પરંતુ શ્રાવકને તે જુજ પ્રમાણમાં આચરવાનાં હોવાથી તેને અણુવ્રત કહેવાય છે. જ્યારે સાધુ માટે આ વ્રતો 'મહાવ્રત' કહેવાય છે.

દિશા પરિમાણ આદિ ૬, ૭. ૮, એ ત્રણ વ્રત અણુવ્રતને વધુ ગુણ કરનાર હોઇ ગ્રહસ્થ જીવનને ઉત્તમ બનાવવા સહાયભૂત બને છે માટે તેને ગુણવ્રત કહેવાય છે.

સામાયિક આદી ચાર વ્રત ૯, ૧૦, ૧૧, ૧૨, એ જૈન ધર્મના સિદ્ધાંતોને વધુ પુષ્ટિ આપનાર-તાલીમ આપનાર શિક્ષકની ગરજ સારે છે. તે શિખામણરૂપ અથવા અભ્યાસરૂપે સૂચવેલાં હોવાથી તેને શિક્ષાવ્રત તરીકે ગણાવેલાં છે.

આજે જૈન સમાજ અધોગતિ તરફ ધકેલાતો જાય છે. પ્રભુ મહાવીર ને ઋષભદેવના સમયકાળમાં જૈન ધર્મની સંખ્યાને આજના દશ બાર લાખ ગણ્યા ગાંઠ્યા જૈનોની સરખામણીએ એક છીછરા ખાબોચિયા સરખા તેના અનુયાયીઓ થઇ ગયા છે એ અધોગતિની નિશાની છે.

શુદ્ધ સમ્યકત્વના જાણકાર મહાન આચાર્યોની અલ્પ દોરવણી સાથે માનવની સંકુચિતતા આનું મુખ્ય કારણ જણાય છે. જૈન ધર્મ એ એકજ જ્ઞાતિનો એક હથ્થુ ઇજારો નથી· એ સત્ય સ્વીકારી તેના ઉચ્ચ સિદ્ધાંતોને વ્યવહાર દ્રષ્ટિએ ઉપયોગી થાય એવો પ્રચાર વર્તમાનાચાર્યો એકમત થઇ કરશે તો જૈન સમાજનો ઉત્કર્ષ ગણત્રીના દિવસોમાં આપણી સમક્ષ આવી પહોંચ્યો જ સમજો.

માનવ માત્ર શુધ્ધ સમ્યકત્વને પીછાનવા પ્રયત્ન કરે. જૈન વ્યકિત તો જરૂર પોતાના શુધ્ધ આચારોને જાણે અને તે પ્રમાણે પોતાની જીવન સરણી દોરવા યત્ન કરે તે વધુ અગત્યનું છે; અને આ પ્રમાણે થાય તો આત્મા ઉચ્ચ શ્રેણીએ ચઢતો પરમાત્માના અમર ધામનાં દર્શન કરવા કોઇક કાળે જરૂર ભાગ્યશાળી થશે એ પણ નિર્વિવાદ સત્ય દરેકે સમજવાનું છે.

લેખક શ્રી જગજીવનદાસ કપાસી,
ચુડા

(શ્રી પ્રીતિકુમાર વોરા તરફથી, પૂજ્ય આચાર્ય દેવેશ શ્રીમદ્ વિજય યતીન્દ્ર સૂરીશ્વરજી મહારાજ સાહેબના હીરક જયંતિ મહોત્સવ પ્રસંગે એક અભિનંદન ગ્રંથનુ પ્રકાશન કરવાનુ હોઇ તે માટે એક લેખ લખી મોકલવાનુ આગ્રહભર્યુ આમંત્રણ આવ્યુ ત્યારે સ્વાભાવિક રીતે મને થયુ કે મારે શુ લખવુ ? આમ તો સામાન્ય રીતે મારૂ જીવન નિવૃતિ પરાયણ જેવું છે, જો કે વર્ષોથી ગળે વળગેલી નોકરી તો ચાલુ જ છે, તેવી માનસીક પરિસ્થિતિમા મન તો લાબા લાબા લેખો, ટુકી વાતાઓ અને નવલકથા લખવાના ઘોડા ગણ્યા કરે છે, પરંતુ કોણ જાણે શાથી કલમ પકડી કાગળ ઉપર હાથ ચલાવવાનુ બનતુ નથી હા, કોઇ વખત કોઈ સજ્જન કે મિત્ર પત્રદ્વારા પ્રેરણા આપે છે, ત્યારે કદિક એકાદ લેખ કે ટુકી વાર્તા લખી નાખુ છુ, પણ પછી પાછો જ્યાનો ત્યા)

માનસિક અવસ્થામા એક વખત હુ બહારગામ રેલદ્વારાએ જતો હતો શિયાળાનો દિવસ હતો અને ગાડી સનાનમા ચાલી જતી હતી, એટલે મન પ્રફુલ્લ હતું સહન થાય તેવી ઠડી હતી, જેથી ડબાની બારીથી પ્રભાતના સોનેરી તડકામા બેસી સૃષ્ટિ-સૌન્દર્યનુ અવલોકન કરતો હતો એકાદ સ્ટેશન આવતા ગાડી ઉભી રહી અને બે-ચાર ઉતારૂઓ મારા ખાનામા આવીને બેસી ગયા ગાડી સ્ટેશન છોડીને ચાલુ થતા તેમના વચ્ચે વાતચિત ચાલુ થઇ તેમની વાત ઉપરથી તેઓ જૈન હોવાનુ જણાતા હતા દેરાવાસી હતા કે સ્થાનકવાસી, તે જાણવાની મને ઉત્કઠા નહોતી, કારણકે મારા મનથી દેરાવાસી કે સ્થાનકવાસીનો ભેદ ઘણોજ નજીવો હતો વળી હુ તો મૌન રહી તેમનો વાર્તાલાપ સાભળતો હતો એટલે તેમની સાથે કોઈ વાતમા ઉતરવાની ઈચ્છા નહોતી તેઓ વેપારી હતા અને સામાન્યત તેમની વચ્ચે વેપાર અગેની જ વાત ચાલતી હતી તેમની વાતચિત મુખ્યત્વે ચીજ વસ્તુઓના ભાવ-તાલ, તેજી-મદીના કારણો, સોદા અને નફાની વાતો તથા અમુક ભાઈ ગરીબમાથી તવગર અને અમુક ભાઈ તવગરમાથી ગરીબ થઈ ગયાના દાખલા તેમજ અમુક ભાઇએ અમુક સસ્થામા મોટી રકમનુ દાન કર્યુ અને પોતાના નામની તખ્તી ચોડાવી તથા અમુક ભાઇએ તેમની દીકરી કે દીકરાના લગ્નમા અમુક હજાર રૂપિયાનુ ખર્ચ કરી વાહવાહ કહેવરાવી, એવા પ્રકારની વાતો ચાલતી હતી હુ એક ધ્યાને આ બધુ સાભળી રહ્યો હતો મને થયું કે આ બધુ સાભળી રહ્યો હતો મને થયુ કે આ ભાઇઓને કેવળ વેપારની અને તેમાથી કઈ રીતે ધનોપાર્જન થઈ શકે અને કીર્તિ પ્રાપ્ત કરી શકાય તે સિવાય બીજી કોઈ વાતની પડી નથી વેપારી-વૃત્તિ જ સ્વાર્થથી ભરેલી છે, એમ કહુ તો રખે વેપારી ભાઇએ નારાજ થાય ! પણ એટલુ તો કહી શકાય કે જૈન મદિર માટે જે વિકટ સમસ્યા ઉભી

થઇ છે. તેની માહિતી તેમને લાગતી નથી. રાજસ્થાનમાં અનુપ મંડળ જૈનો પ્રત્યે અસાધારણ દ્વેષ ધરાવી તેમની નિરર્થક કનડગત કરવામાં જ અગ્ર ભાગ ભજવે છે, તેની જાણ તેમને હોવાનો લેશ પણ સંભવ નથી. તેમને તો પોતે ભલા, પોતાનું કુટુંબ ભલું અને પોતાનો વેપાર ભલો, એવી સાંકડી મનોદશામાં તેઓ જીવનની ઇતિ કર્તવ્યતા માનતા લાગે છે. પણ તેમની વ્યાપારી મનોદશાની સમીક્ષા કરતાં મને લાગે છે કે તેમનો એકલાનો જ દોષ શા માટે કાઢવો જોઇએ? જેઓ જૈન સમાજના આગેવાનો હોવાનો દાવો ધરાવે છે, જેઓ જૈનોની મહાન સંસ્થાના કાર્યકર્તા હોવામાં ગર્વ ધરાવે છે અને જેઓ પોતાનાં ધન અને તે દ્વારા મળતી સસ્તી કીર્તિમાં રાચતા હોય છે. તેમનો વર્તમાન જૈન સમાજની સ્થિતિ પરત્વે થોડો દોષ અને જવાબદારી નથી. સમાજના નાવનું સુકાન તે નેતાઓના હાથમા હોય છે અને જો તેઓ સુકાનને વ્યવસ્થિત રાખીને નાવને પાર ઉતારવામાં બેકાળજી રાખે, તો નાવ જરૂર ડુબી જાય છે આવી જ સ્થિતિ આપણા સમાજના નાવની છે સુકાનીઓ તો છેજ, પણ સમાજનાં નાવને સુખરૂપ પાર ઉતારવામાં કાંતો તેઓ ઘણાભાગે બેદરકાર છે અથવા તો નાવને પાર ઉતારવાની તેમને પડી નથી. તેમાંના મોટા ભાગને જેટલો વેપારમા રસ છે, યેનકેન પ્રકારે શ્રીમંત બની જવાની જેટલી ઉત્કંઠા છે, થોડાક રૂપાના સીક્કાઓ અને કાગળના ટુકડાઓનુ દાન કરીને કીર્તિ કમાવાની જેટલી લાલસા છે અને પછી છાપામાં પોતાના ગુણગાન વાચવાની અને પોતાના છપાયેલ ફોટા જોવાની જેટલી તમન્ના છે. તેટલો રસ, તેટલી ઉત્કંઠા, તેટલી લાલસા અને તેટલી તમન્ના સમાજની સ્થિતિ સુધારવામાં, કલેષ અને કંકાસનું વાતાવરણ દૂર કરી સમાજનું સંગઠ્ઠન કરવામા, દ્વેષી મંડળ કે માણસોના આક્રમણ અને આક્ષેપોથી સમાજને બચાવી લેવામાં, સમાજના મધ્યમવર્ગના પોતાનાજ સ્વામીભાઇઓની ભયંકર બેકારી મીટાવવામાં અને સાધનહિન વિદ્યાર્થીઓને કેળવણી માટે ઉત્તેજન આપવામા નથી, એમ કોઇ પણ વિચારકને જણાયા વિના રહેશે નહિ અલબત તેમાના ઘણા હજારો અને લાખો કમાય છે. હજારો અને લાખો પોતાના અહંભાવને પોષવા લગ્ન કે બીજાં વ્યાવહારિક કાર્યોમા ખર્ચે છે અને પોતાના માની લીધેલા ગુરૂઓના વચનની ખાતર ધાર્મિક જલસામા વાપરે છે; પરંતુ આપણા સમાજમાં જે સુષ્યત. કુસંપ અને બેકારીનો મહાભયંકર રોગ લાગુ પડી ગયો છે, તેની આ સાચી દવા નથી.

મને આ પ્રસંગે એક દાખલો યાદ આવે છે. ત્રણેક વર્ષ પહેલા આપણા એક જૈન વિદ્યાર્થીએ એક જૈન ગૃહસ્થને અરજી કરી વિનંતિ કરી કે તેને આગળ અભ્યાસ માટે કોલેજમા દાખલ થવું છે, તેની આર્થિક સ્થિતિ તદ્દન કફોડી છે, અને તેને મદદરૂપે સ્કોલરશીપ અને તેમ ન બની શકે તો અમુક રકમ લોનરૂપે આપવા કૃપા કરવી પણ સ્કોલરશીપ અને લોનની વાત તો એક બાજુએ રહી; માત્ર ખાલી જવાબ પણ ન મળ્યો ત્યારે મને ખરેખર આશ્ચર્ય થયુ. ત્યાર પછી તો આ વિદ્યાર્થીને એક પાટીદાર સમાજ–સેવક ભાઇએ કોઇ પણ જાતની ઓળખાણ વિના મદદ કરી અને તે

વિદ્યાર્થી કોલેજમા દાખલ થઇ શકયો આ તો એક સાદો, સામાન્ય અને સાધારણ દાખલો છે, જે કોઇ પણ પ્રકારના ટીકા કે વિવેચન વિના હુ આ લેખના વાચક મહાશયો પાસે રજુ કરૂ છુ, પણ એક અજાણ્યા અને અણઓળખીતા પાટીદારભાઇએ એક જૈન વિદ્યાર્થીને અભ્યાસમા સહાય કરી એ વાત મારા મનથી ખરેખર આશ્ચર્યજનક તો છેજ, એટલુ કહ્યા શિવાય હુ રહી શકતો નથી

હવે થોડુક કડવુ સત્ય આ તકે મારે કહેવુ પડે છે, અને તે પણ પ પૂ આચાર્યશ્રીના હીરક જયતિ મહોત્સવ પ્રસગે પ્રગટ થતા અભિનદન ગ્રથમા લખવુ પડે છે તેનો મને જરૂર ખ્યાલ છે, પરતુ મારે શુ લખવુ એ વિષય પરત્વે મે જ્યારે કલમને પકડી છે, ત્યારે મારા વિચારો કાગળ ઉપર ચિત વામા મારી કલમને હુ રોકી શકતો નથી, એ વાતનુ મને ખરેખર દુ ખ પણ છે સાધુ, સાધ્વી, શ્રાવક અને શ્રાવિકા એ ચતુર્વિધ સમાજના યોગક્ષેમનો મુખ્ય આધાર આપણા પૂજ્ય સાધુ મહારાજો ઉપર રહેલો છે, એ સત્ય વાતની કોઇથી ના પાડી શકાય તેમ નથી પણ મારે ઘણી જ દીલગીરી સાથે પૂછવુ પડે છે કે આ વાતનો આપણા ઘણા પૂજ્ય મહારાજોને સાચો ખ્યાલ છે ખરો? મને લાગે છે કે તેમાના ઘણાને નથી જ આપણે જ્યારે સમાજની વર્તમાન દશા વિશે અવલોકન કરીએ છીએ, ત્યારે આપણને-ઘણાને નહિ તો થોડા વિચારકોને સ્પષ્ટ જણાય છે કે તેમાના કેટલાક જૂદા જૂદા ચોકા જમાવીને બેસી રહ્યા છે, તિથિ-ચર્ચામા અમે સાચા અને તમે ખોટા, એ રીતે પોતાના મમત્વને વળગી રહ્યા છે પાટ ઉપર બેસીને માત્ર સ્વર્ગ અને નર્કની આકર્ષક અને ભયકર વાતોનો ઉલ્લેખ કરી પોતાનુ પાડિત્ય દર્શાવવામા જ ઇતિકર્તવ્યતા માની બેઠા છે પોતાના જીહજુરિયા શ્રાવકોનુ જુથ કરીને પોતાની અહભાવના પોષવામા રાચવા લાગ્યા છે અને ઉપધાનો વરઘોડા પ્રવેશ મહોત્સવો, જમણવારો, તથા વાજા-ગાજા મા શાસનની ઉન્નતિ માની બેઠા છે તેમાના કેટલાકના અરે! મોટા ભાગનાના ચાતુર્માસ અને વિહાર માટે પણ શુ લખવુ અને શુ ન લખવુ, તેની સમજણ પડતી નથી ચાતુર્માસ મોટા શહેરોમા જ થાય, જ્યા પોતાના રાગી શ્રાવકો તેમની દરેક પ્રકારની સગવડતા સાચવવામા પરમ ગુરૂભકિત માનતા હોય અને વિહાર પણ મોટા શહેરોને અનુલક્ષીને થાય વચમા ગામડા તો આવે જ પણ ત્યા સ્થિરતાની વાત નહિ, કારણ કે ગામડાના ગરીબ અને અજ્ઞાન (?) માણસોથી ધર્મના ધુરધરોની સગવડતા સચવાય નહિ! તેમનો અમુલ્ય અને અમાપ્ય ઉપદેશ ગામડાના લોકો સમજી શકે નહિ! તમને વદન કરનારા શ્રીમતો જોઇએ, તમના ઉપદેશામૃતનુ પાન કરનારા ધનપતિઓ જોઇએ કે જેઓ ઉપદેશામૃતનુ પાન કરી જેમના ગુરૂદેવના અમોઘ વચનની ખાતર ધનની મૂર્છા ઉતારી નાખતા હોય અને એ રીતે શાસન ઉન્નતિના સુભટો બની શકતા હોય અને જ્યા ધન્ય ગુરૂદેવ, ધન્ય શિષ્યો અને ધન્ય નગરીનુ ચોથા આરાનુ વાતાવરણ વર્તાતુ હોય, તેવી નગરીમા ચાતુર્માસ કરી શકાય અને તેવી નગરીઓને લક્ષ્યમા રાખીને વિહાર થઇ શકે તો જ શાસનની શોભામા વૃધ્ધિ કરી શકાય!

प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्र सूरिश्वरजी गुरुभ्यो नमः

श्रीमद्-विजय-यतीन्द्र-सूरीश्वरजी

महाराज साहब के

"हीरक-जयंती"

महोत्सव की एक झलक

खाचरोद

लेखक—श्री बालचंद्र जैन
" साहित्य रत्न "
राजगढ (धार)

— हीरक-जयति —

प्रत्येक देशमें वहाँ के महा पुरुषों के आदर्श जीवन पर उनकी अमूल्य सेवाओं के फल स्वरुप वहाँ का जनमानस उन महापुरुषों के सम्मान् हेतु; उनके जन्मदिन, निर्वाणदिन, तथा जीवन के क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण घटना हुई हो वहदिन; उस महापुरुष का अनुयायी सारा समाज एकत्रित होकर उनके महत्व-पूर्ण जीवन का जन-समाज के सन्मुख विशेष रूप से उत्सव आदि करके मनाते हैं ।

हमारे भारतदेश में तो यह प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है । भारतवर्ष का समाज अपने उन महापुरुषों का सम्मान् जिन्होंने कि जन कल्याण के हेतु अपना जीवन लगा दिया है । लाखों वर्षों से करता आया है और करता रहेगा ।

आज का पश्चिमी जगत भी इस रूप को लिये हुए है । वहाँ पर भी उनदेशों के महापुरुष की, डायमंड जुबिली, गोल्डन जुबिली, सिल्व्हर जुबिली आदि मनाई जाती है । यह सारे कार्यक्रम उनकी स्मृति बनी रहे इसलिये है ।

भारत के जैन-समाज भी अपने धार्मिक महापुरुषों का जिन्होंने कि जैन धर्म, संस्कृति और समाज कल्याण का कार्य किया है उनका सन्मान् विशेष रुप से करता है ।

जिन धर्म में त्याग को विशेष महत्व दिया गया है । जैनाचार्य आज के जगत को केवलियों की वाणी सुनाते हैं; आदर्श त्याग मय जीवन बिताते हैं पण्डित हैं तथा धर्म का सच्चे रुप में प्ररुपण करते हैं । इसी कारण आज का जैन-जगत इन धार्मिक सम्राटों का विशेष रुप से सन्मान करता है ।

पूज्यवर ! यतीन्द्र सूरिश्वरजी महाराज भी आज के जैनाचार्यों में विशेष स्थान रखते हैं । आपका उज्ज्वल जीवन समाज में दीपक के समान हैं और आपके गुरुवर पू. पाद् राजेन्द्र सूरिश्वरजी महाराज जगत् प्रसिद्ध व्यक्ति थे ।

त्रिस्तुतिक-समाज आज पूज्यवर ! राजेन्द्र सूरिश्वरजी महाराज की पाट परंपरा का अनुयायी है और वर्तमानाचार्य जो इस समय हैं वे आपही की पाट गादी पर विराजित हैं । अतएव समाज ने अपने गुरुदेव श्री के पाट पर विराजित पूज्यवर ! यतीन्द्र सूरिश्वरजी महाराज का हीरक जयति महोत्सव मनाया और आपके सम्मान् हेतु एक अभिनंदन-ग्रंथ भेट किया है जिसमें आपके शुद्धतर जीवन व कार्यों का वर्णन है ।

हीरक-जयति का उद्भव

माल्वा-संघ के आग्रह से पूज्य गुरुदेव श्रीमद्विजययतीन्द्रसूरिश्वरजी महाराज सा. की निश्रा में एक "अखिलभारतीय त्रिस्तुतिक-समाज" का प्रतिनिधि सम्मेलन

वड़नगर में हुआ। यह सम्मेलन पूज्य-पाद स्वर्गस्थ आचार्य देव श्री राजेन्द्रसूरिश्वरजी महाराज का "अर्ध-शतब्दि" महोत्सव कहाँ मनाया जावे! इस सम्बन्ध मे विचार करने के हेतु एकत्रित हुआ था। उसी समय मुनि समुदाय की ओर से समाज के प्रतिनिधियों के सन्मुख यह प्रस्ताव आया था कि वर्तमान् आचार्य श्री का हरिक-जयंति महोत्सव मनाया जाना चाहिये।

किन्तु उस समय का प्रमुख विषय अर्ध-शताब्दि महोत्सव था इस कारण उस विषय पर विशेष विचार न हो सका। पूज्य गुरुदेव श्री ने भी उस समय इस कार्य के लिये आदेश नहीं दिया अतएव स्मृति-रूप में ही वह विचार रह गया।

जब अर्ध शताब्दि महोत्सव "मोहनखेड़ा-तीर्थ" पर विशाल जन-समुदाय के साथ सफलता-पूर्वक सम्पन्न हो गया तब श्री संघ एवं सन्त समुदाय के सन्मुख "हरिक-जयंति" उत्सव मनाने का कार्य उपस्थित हुआ।

जब राणापुर में आचार्य-देव श्री का चातुर्मास हो रहा था उसी अवसर पर श्री संघ के प्रमुख सज्जन वहाँ पर एकत्रित हुए और यह निश्चय किया कि "हरिक-जयंति-उत्सव" मनाया जावे और इस सम्बन्ध में "अभिनंदन-ग्रन्थ" के प्रकाशन हेतु ७००१) रुपये की धन-राशि दी जाना स्वीकृत की। स्मरण रहे यह रुपया अर्ध-शताब्दि-महोत्सव के वचत कोष में से दिया गया।

नागदा-जंकशन में प्रतिष्ठा महोत्सव की समाप्ती पर आप खाचरोद पधारे और वहीं पर आपका हरिक-जयंति महोत्सव मनाया गया।

नव-पद-आराधन

जैन-शासन में नव-पद-आराधन का विशेष महत्व है। जैनियों के लिये ही नहीं किन्तु प्रत्येक जातियों के लोगों के लिये यह आराधन लाभ-प्रद सिद्ध हुआ है। प्राचीन काल में श्रीपाळ राजा और मैना सुंदरी के अपार कष्ट इसी अमोध मंत्र के जाप से मिटे।

आयंबिल की उत्कृष्ट क्रियाऐं आत्मशुद्धि व स्वास्थय को लाभ करती हैं। आज भी जैन-समाज का बहुत बड़ा विश्वास इन क्रियाओं पर है और उनका पालन भी होता है।

खाचरोद नगर मे श्री मोतीलालजी सा-बनवट भी सिद्ध-चक्र आराधक व्यक्ति हैं। प्रतिवर्ष आपही की ओर से इस महोत्सव का आयोजन होता है और उसका सारा व्ययभार भी आपही सहन करते हैं। इस वर्ष पूज्य गुरुदेव श्री का योग प्राप्त हुआ और इसी अवसर पर "हरिक-जयंति-महोत्सव" भी मनाया जानेवाला था इस कारण विशेष आनंद रहा।

मंडप की सजावट

जिस स्थान पर धार्मिय क्रियाऐं होतीथीं उसे बहुत ही आकर्षक बनाया गया था। एक तरफ श्रीपाल राजा का पूरा जीवन चित्र व इतिहास सहित दिखाई देता था। उस दृश्य

को जब कोई देखता था तो लगभग १।-२ घंटे उसी को देखने में उसे लग जाते थे। क्योंकि जीवन की प्रमुख घटनाओं का वर्णन उन चित्रों में तादृश्य बताया गया था।

दूसरी भगवान महावीर के जीवन की मुख्य घटनाओं का और चित्र था। राजा मेघरथ की दान शीलता दिखाई गई थी। जांघ से माँस काटता हुआ मेघरथ व तराजू पर उछलता हुआ कबूतर विद्युत गति से सचलित थे इस कारण से यह दृश्य बहुत ही प्रशंसनीय रहे। प्रतिदिन हजारों की तादाद में उस आध्यात्मिक प्रदर्शनी के दर्शन हेतु जन समाज उमड़ पड़ता था और कुछ न कुछ जीवन में प्रेरणा युक्त संदेश लेकर जाता था। मंडप के नीचे चाँदी से मंडित उस छोटेसे मंदिर में जिन प्रतिमा विराजमान थी। जहाँ पर पूजा पाठ व धार्मिक अनुष्ठान होते थे।

— कार्य-क्रम —

प्रातः स्मरणीय भगवान् महावीर-स्वामीजी का जन्म कल्याणक महोत्सव चैत्र सु १३ के दिन था और उसी दिन से हीरक जयंति के कार्यक्रम प्रारम्भ हुए।

महावीर-जन्म-कल्याणक महोत्सव के उपलक्ष में दिन में एक विशाल चल समारोह निकला जिसमें हजारों स्त्रि पुरुष, साधु एवं साध्वी थीं। नगर के प्रमुख बाजारों में यह विशाल चल समारोह जब बैंड की मधुर आवाज के साथ चलना प्रारम्भ हुआ उस समय वहाँ का समस्त जन-समुदाय उस महापुरुष की जय जयकार मना रहा था।

रात्रि को पं श्री जुहारमलजी की अध्यक्षता में विद्वद् सम्मेलन का आयोजन किया गया जिस में पं रमाकान्तजी शास्त्री, पं राजमलजी लोढा शास्त्री, पं मदनलालजी जोशी शास्त्री, पं परमलालजी शास्त्री, श्री दौलतसिंहजी लोढा थी एवं मुनि समुदाय में से मुनिश्री विद्याविजयजी मुनिश्री कल्याण विजयजी, मुनि जयन्तीविजयजी आदि के सारगर्भित सामाजिक, सैधान्तिक एवं सांस्कृतिक ओजस्वी भाषण हुए। जिस को श्रवण करने के लिये हजारों की संख्या में जनता उमड पड़ी थी।

कवि-सम्मेलन

चैत्र शुक्ल चतुर्दशी के दिन रात्रि को कवि सम्मेलन हुआ उसमें कई स्थानों के कवियों की उपस्थिति थी। जोड़ तोड़ की कविताएँ हुई। राजस्थानी और मालवी कवियों का कविता सम्बन्धी होड़ भी हुई। उसदिन की रात्रि को लगभग ४ बजे तक सारा जन समुदाय स्तब्ध बैठा रहा। कवियों ने अपनी अपनी कला का विशेष रूप में प्रदर्शन किया और जनता का स्वस्थ मनोरंजन हुआ।

पौर्णिमा का चतुर्विध संघ सहित चल-समारोह निकला। हाथी पर भगवान की प्रतिमा विराजमान थी और हजारों स्त्री पुरुष अपने प्रभु का गुण-गान करते हुए नगर के प्रमुख बाजारों में घूम रहे थे। उस दिन का दृश्य भी देखने लायक था।

हरिक-जयंति तथा अभिनंदन ग्रन्थ भेंट समारोह

आज वैसाख वदि १ का दिन था। प्रातःकाल से ही सभी लोग अपने पूज्य गुरुदेव श्री का सन्मान करने के हेतु तयारी कर रहे थे; प्रातःकाल ही श्री मोतीलालजी वनवट १३०१) रुपये की वोली वोळकर हाथी पर ग्रन्थ लेकर विराजमान हुए और शहर में वरघोड़ा (चल-समारोह) निकला। सभी वाजारों में जैन-जनता हजारों की संख्या में उपस्थित थी और इस दृश्य को देखकर आनंद का अनुभव करती थी।

६० वर्ष पूर्व भी इसी नगरी में पूज्य गुलदेव श्री का दीक्षा महोत्सव हुआ था और उसी स्थान पर हरिक जयंति भी मनाई जा रही है। खाचरोद संघ धर्म कार्य में विशेष रुप से अग्रणी रहा हुआ है।

जव समारोह नगर में घूमकर धर्मशाळा पर आया तो वहीं सभा में परिवर्तित हो गया। सारा पेंडाल स्त्री-पुरुषों से खचाखच भर गया था। कहीं भी खाली जगह नहीं दिखाई देती थी कितने ही लोग जगह के अभाव में पेंडाळ के वाहर वैठे हुए थे।

सभी लोग इस समय पूज्य "गुरुदेव श्री के आगमन की वाट जो रहे थे। थोड़ी ही देरी के उपरांत पूज्य गुरुदेव श्री पधारे और जनता ने जय-जयकार के नारों से सभा-मंडप को गुंजा दिया।

मंगल-गीत

जसे ही पूज्य गुरुदेव श्री उपस्थित जन समुदाय के सन्मुख विराजमान हुए तव का वह दृश्य अत्यन्तही सुखप्रद था। पश्चात् डॉ. प्रेमसिंहजी की अध्यक्षता मे समारोह की शुरुआत हुई सर्व प्रथम इस समय जीवन-भर निःस्वार्थ-भावसे जिन-शासन की सेवा करने वाले उन महान् विभूति का "स्वागत-गीत" मालकोंश राग में वाद्य यन्त्रों सहित जव श्री सेठ धर्मचंदजी नागदा निवासी खाचरोदने गाया, जनता मंत्र-मुग्ध सी वैठी रही वह भाव-र्णपू वंदना चिरस्मरणीय रहेगी।

पूज्य गुरुदेव श्री का यह "हीरक-जयंति" महोत्सव था, इस कारण सभी भक्त-जन अपनी अपनी भावना से गुरुदेवश्री की अर्चना, वंदना कर रहे थे। पंडित-जुहारमलजी निवासी ईंदौर ने जव अपना वक्तव्य प्रारम्भ किया तो आपने उस सभा को तीर्थंकरों की सभा से उपमा दी और वतलाया कि यह सभा केवल नर-नारियों के लिये ही नहीं वल्कि पशु-पक्षी भी इस सभा मे आये हैं और अपनी-अपनी भाषा मे जिनेश्वर वाणी समझ रहे हैं। कारण यह था कि जव मालकोस राग मे वंदना गीत हुआ, तो यह राग जव तीर्थंकरों की सभा भरती है तव देवता लोक उनकी वंदना में गाया करते हैं। इसी कारण उस ओपमा के लायक वह सभा थी। यद्यपि तीर्थंकरों के अतिशय व उनकी वाणी तो सात नारकी के जीवों को भी संतोष अनुभव कराती है, और उन्हीं तीर्थंकरों की वाणी का

प्रचार और प्रसार करनेवाले यही महामुनीन्द्र हैं जो आज तक तीर्थंकरों के मार्ग को ग्रहण कर अपना जीवन बिता रहे हैं। पडितजी ने अपने भाषण में गुरुदेव श्रीकी अमूल्य सेवाओं का सक्षेप में वर्णन किया और श्रद्धाजली समर्पण करते हुए चिरायु होने की शुभ कामना प्रकट की।

श्रीयुत्-शास्त्री मदनलालजी जोशी निवासी मदसौर ने अपने भाषण में गुरुदेव श्री के पाडित्यपूर्ण-जीवन का वर्णन किया और यह कहाकि मैं भी आपही की कृपा दृष्टि से कुछ उज्ज्वल मार्ग पा सकाहूं।

श्री राजमलजी सम्पादक दैनिक 'ध्वज' मदसौर ने अपने ओजस्वी भाषण में गुरुदेव श्रीके जीवन के कुछ महत्वपूर्ण अशों को बतलाया और कहा कि आपने अपना सारा समय साहित्य-सेवा मेंही लगा दिया। यह आदर्श मूर्ति हमारे लिये प्रेरणा का श्रोत है। आज भी अपनी वृद्धावस्था होते हुए भी आप अपनी लेखनी किसी न किसी विषय पर चलाया ही करते हैं।

श्री अरविंद-ने गुरुदेव श्री के महत्वपूर्ण जीवन पर प्रकाश डाला और कहा कि अपनी उन्नति जोकर पाया हूँ, अपनी कवित्व शक्ति जो बढा पाया हूँ-सभी आपकी ही कृपा का फळ है। मैं पूज्यवर गुरुदेव श्रीको शत-शत वदन करते हुए, चिरायु होने की शुभ कामना प्रकट करते हुए एक पुस्तक समर्पित करता हूँ! श्री लक्ष्मीचंदजी सरोज-ने अपनी एक कविता के द्वारा गुरुदेव श्रीकी वन्दना की। आप जैन-समाज के एक सफल लेखक व कवि हैं।

मुनि-समुदाय में से-पू श्री विद्या-विजयजी, श्री कल्याण विजयजी, देवेन्द्रविजयजी, जयतविजयजी, जयप्रभविजयजी आदि मुनियरों ने गुरुदेवश्रीके महत्वपूर्ण जीवन पर प्रकाश डाला और वदना कर चिरायु होने की शुभ-कामनायें प्रकट की।

श्रीसघ में से अनेक प्रमुख सज्जनों ने खडे होकर अपने विचार रखे। उनमें श्री घेवर मलजी मेहता इन्दौर श्री धनराजजी इन्दौर, श्री छजलाणीजी महिदपुर, श्री मांगीलालजी धार, सेठ-पन्नालालजी टाडा आदि महानुभावों ने गुरुदेव श्री की वदना करते हुए आपके साधु-जीवन पर प्रकाश डाला। श्री कीर्तिकुमार-हालचद बोराने जो गुजरात संघ की ओर से इस महोत्सव में आये थे अपने भाषण में गुरुदेव श्री का गुणगान करते हुए बतलाने लगे कि समस्त गुजरात आपश्री की वाणी पर न्योछावर है और गुजरात सघ की ओरसे वदना कर गुरुदेव श्री के चिरायु होने की शुभ कामना प्रकट करता हूँ।

भाई शान्तिलाल जैन, बडनगरने भी अपने एक गीत के द्वारा गुरुदेव को वंदना कर दीर्घायु की कामना की। श्री बालचन्दजी "मास्टर" निवासी राजगढ ने भी अपना सक्षिप्त भाषण गुरुदेव श्री की अमूल्य सेवाओं का वर्णन करते हुए दिया और बतलाया कि जब

गुरुदेव श्री मालवा में पधारे तबही से आपने श्री संघ के सन्मुख एकही बात रक्खी थी। आप यदि मुझे प्रसन्न देखना चाहते हैं तो अपनी समाज के लिये एक आदर्श "गुरुकुळ" स्थापित करें। गुरुदेव श्री के इस वचन को लेकर मैं श्री संघ के सन्मुख गया। कई महानुभावों ने इस महत्वपूर्ण कार्य मे सहयोग दिया और गुरुकुळ भी प्रारम्भ कर दिया गया। परन्तु मेरा दुर्भाग्य था कि मैं वह कार्य पूर्ण न कर पाया और बीच में ही मुझे उसे छोड़ना पड़ा। ऐसा क्यों हुआ? इसका मूळ कारण समाज के लोगों का आन्तरिक वैर था और यही वैर इस वस्तु को डस गया है। यदि पुनः समाज मुझे सम्पूर्ण जिम्मेदारी के साथ इस कार्य को सोपता है तो मैं समाज के सन्मुख यह विश्वास दिलाता हूँ कि केवळ अपना कौटुम्बिक खर्च लेकर पूर्ण इमानदारी से इस समाज के कार्य को करने को तैयार हूँ। क्योंकि यह कार्य मैंने अपनी भावना से उठाया था और आज भी इस कार्य पर मेरा आन्तरिक स्नेह है। अन्त में पूज्य गुरुदेव श्री को वंदन कर चिरायु होने की शुभ कामना प्रकट करता हूँ।

तत्पश्चात्! जिन-जिन महानुभावों के संदेश आये थे वे पढ़कर सुनाये गये!

पूज्य श्री विद्या-विजयजी ने कहा कि गुरुदेव श्रीने इस अवसर पर एक शिक्षा-फंड खोलने की योजना रखी और समाज को बतलाया कि आप पूज्यवर आचार्य प्रवर का "हीरक-जयंति" महोत्सव मनाने आये हैं। ऐसे अवसर पर एक ऐसी योजना निर्माण करते जाइये जिससे समाज उत्थान का कोई कार्य हो सके। हम पू. गुरुदेव श्री का दीक्षा पर्याय ६० वर्ष का पूर्ण होने पर ही यह हीरक-जयंति महोत्सव मना रहे हैं। अब गुरुदेव श्री का ६१ वें वर्ष में प्रवेश होगा अतएव समाज का प्रत्येक विचारवान व्यक्ति यदि ६१) रुपये की धन-राशि इस शिक्षा-फंड में डाल देगा तो एक बहुत बड़ी धन-राशि सहजही समाज के शिक्षा-क्षेत्र के लिये प्राप्त हो जावेगी। कई महानुभावों ने उसी समय उस योजना में दान दिया।

पश्चात् इन्दौर निवासी पं श्री जुहारमळजी जैन न्याय. काव्यतीर्थ को अ भा राजेन्द्र जैन समाज की ओर से श्री अभिधान राजेन्द्र कोष इस उत्सव के उपलक्ष में भेंट किया गया! जो त्रिस्तुतिक समाज में संस्कृत, प्राकृत और सैद्धान्तिक प्रकाण्ड पण्डित हैं।

गुरुदेव श्री का संदेश

——:o:——

महानुभावो! आज आप सब एकत्रित होकर जो मेरा सन्मान कर रहे हैं यह मेरा सन्मान नहीं, अपितु जिन-शासन का सन्मान है। जिन-जिन महान् आत्माओं ने जिन-शासन की सेवाएँ की हैं वे सन्मान के पात्र तो हैं ही, परन्तु उनका सच्चा सन्मान तो उनका अनुयायी समाज धर्म-कर्म में सुदृढ़ रहे, चारित्र सम्पन्नही, अपना आदर्शवाद स्थापित रखे और भगवान् महावीर के शासन को दिपावे यही संतों का सच्चा सन्मान है।

आप श्री सघ ने जो मुझे अभिनदन ग्रन्थ भेंट किया है उसे मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ। पूज्य गुरुदेव श्री अत्यन्त वृद्ध ह उनसे अधिक देर नहीं बोला जाता इस कारण उनका एक मुद्रित सदेश उन्हीं के एक शिष्य मुनि श्री जयत विजयजी महाराज ने पढकर सुनाया। जो शाश्वत-धर्म मासिक पत्रिका में अक्षरस मुद्रित किया गया था।

बाद में राजेन्द्र पाठशाला की बालिकाओं ने "गुरुवर अमर रहो" गीत के द्वारा गुणानुवाद किया।

सपूर्ण समारोह की अध्यक्षता रतलाम निवासी डॉ प्रेमसिहजी राठोड "जैन भूषण" ने की।